दर्शन के प्रकार

लेखक

विलियम अर्न्स्ट हॉकिंग
अल्फोर्ड प्रोफ़ेसर ऑव फिलॉसोफि एट हारवर्ड यूनिवर्सिटी

अनुवादक

रमेशचन्द्र
दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर



राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर-4

शिक्षा तथा समाज कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थ निर्माण योजना के अन्तर्गत राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा प्रकाशित ।

This book is the Hindi translation of the Revised edition of the original English book entitled Types of Philosophy' by William Ernst Hocking and published by Charles Scribners Sons The translation rights were obtained by the Commission for Scientific and Technical Terminology It has been brought out under the Scheme of Production of University level books sponsored by Government of India, Ministry of Education & Social Welfare

प्रथम सस्करण १६७४
Types of Philosophy

सामान्य सस्करण 12 00
पुस्तकालय सस्करण 16 00

प्रकाशक
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
ए–२६/२, विद्यालय मार्ग, तिलकनगर
जयपुर–४

मुद्रक
अणिमा प्रिंटर्स,
पुलिस स्मारक,
जयपुर–४

प्रस्तावना

केन्द्रीय सरकार ने १६६६ मे पाँच हिन्दी भाषी राज्यो मे हिन्दी ग्रथ अकादमियो की स्थापना की थी। इन अकादमियो का निर्माण स्वायत्तशासी सस्थाओ के रूप मे हमारे विश्वविद्यालयो के विद्यार्थियों और अध्यापको के लिए उच्च स्तर के ग्रथ-निर्माण के निमित्त किया गया था। इस योजना के अतर्गत स्थापित हमारी अकादमी इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सतत प्रयत्नशील है।

इस योजना मे दर्शनशास्त्र और विज्ञान के सभी विषयो पर ग्रंथ-निर्माण करवाया जा रहा है। विशिष्ट विषयो पर मोनोग्राफ लिखवाए जा रहे हैं और व्यापकतर प्रसगो पर बडी पुस्तकें तैयार करवाई जा रही हैं।

प्रस्तुत पुस्तक मे दर्शन के विभिन्न प्रकारो का परिचय प्रस्तुत किया गया है। डॉ० रमेश दर्शन के प्राध्यापक हैं और इस पुस्तक का अनुवाद करने के लिए विशेष रूप से उपयुक्त हैं। उन्होंने अकादमी के लिए अनुवाद हेतु समय निकाला, इसके लिए हम उनके प्रति बहुत आभारी हैं।

प्रकाशन से पूर्व इस पुस्तक की पाण्डुलिपि डॉ० राजेन्द्रस्वरूप भटनागर ने पढी और अपने परामर्श दिये। तदर्थ अकादमी उनके प्रति कृतज्ञ है। हमे विश्वास है कि यह पुस्तक हिन्दी दार्शनिक वाड्मय मे महत्त्वपूर्ण योगदान करेगी और दार्शनिक जगत् इसका समुचित स्वागत करेगा।

खेतसिंह राठौड़
शिक्षा मत्री, राजस्थान सरकार एव
अध्यक्ष, राजस्थान हिन्दी ग्रथ अकादमी, जयपुर

गोपीकृष्ण व्यास
निदेशक

तीन युवा दार्शनिकों को

एच.

आर.   जे

एच.

अनुवादक का निवेदन

प्रस्तुत पुस्तक के संबंध में हमारे कुछ साथियों का विचार था कि यह पुरानी पड़ चुकी है इसलिए इसका अनुवाद उतना उपयोगी नहीं होगा। किन्तु हमारे विचार में हमारे विद्यार्थियों के लिये यह पुस्तक आज भी बहुत उपयोगी है, इसलिए इसके अनुवाद में हमारा परिश्रम व्यर्थ नहीं हुआ है। डा० दयाकृष्ण के अनुसार, उनके एक अमरीकी मित्र ने उन्हें बताया कि यह पुस्तक अमरीका के बहुत से विश्वविद्यालयों में भी पढ़ाई जाती है।

इसके अनुवाद के परिमार्जन में मुझे डा० राजेन्द्रस्वरूप भटनागर का बहुत सहयोग मिला, डा० प्रकाशकुमार श्रीवास्तव का सहयोग भी यत्रतत्र मिला और उससे मुझे बहुत लाभ हुआ। इसके लिए मैं इन दोनों मित्रों के प्रति बहुत आभारी हूँ। पुस्तक में प्रयुक्त फ्रेंच पदों के अनुवाद में मुझे डा० दयाकृष्ण की सहायता मिली, जिसके लिये मैं उनके प्रति अनुगृहीत हूँ।

पाण्डुलिपि तैयार करने में मुझे मेरी छात्राओं सुश्री विमला पोद्दार तथा सुश्री इन्द्रा शर्मा का और मेरी पत्नी गीता का सहयोग मिला, जिसके लिए मैं उनके प्रति आभारी हूँ। श्री दामोदर पारीक ने पाण्डुलिपि का टंकण किया तथा अनुक्रमणिका तैयार करने में मेरे मित्र श्री चन्द्रकांत दवे ने मेरी सहायता की, जिसके लिए मैं इनके प्रति बहुत आभारी हूँ।

मूल पुस्तक में सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची प्रत्येक खण्ड के साथ ही दी गई किन्तु यहाँ हमने सुविधा की दृष्टि से उन सभी को मिलाकर पुस्तक के अंत में ही दिया है। हाकिंग की पाद-टिप्पणियों को *,†,‡ प्रकार के चिह्नों से दर्शाया गया है। हमने अपनी टिप्पणियों के लिये अंकों का प्रयोग किया है और ये टिप्पणियाँ भी पुस्तक के अंत में दी गई हैं। अनुवाद में वाक्य-निर्माण की सरलता को ध्यान में रखते हुए हमने जहाँ कहीं अपनी ओर से कोई पद या वाक्यांश जोड़ा है वहाँ उसे दीर्घ कोष्ठक [ ] में कर दिया है। मूल पुस्तक में प्राचीन तथा नवीन नामों की अनुक्रमणिकाएँ पृथक्-पृथक् थी, यहाँ हमने एक कर दी हैं।

गुरु पूर्णिमा, १९७४
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर।

रमेशचन्द्र

संशोधित संस्करण की भूमिका

प्रारम्भ से ही इस पुस्तक के संशोधन की आवश्यकता रही है। दस वर्ष पूर्व, यह स्वीकार करते हुए कि यह अभी पूर्ण नहीं है, यह मानकर इसे मुद्रित होने दिया कि इसका उपयोग एक पाठ्य-पुस्तक नहीं अपितु एक पाठ्यक्रम के रूप मे किया जा सकता है। पिछले दस वर्षों मे भी इसके संशोधन की आवश्यकता में कोई कमी नहीं आई है, क्योंकि इस मिथ्या प्रसार के विरुद्ध कि दर्शन मे कोई प्रगति नही होती, प्रगति होती है। दार्शनिक विचार-विमर्श के स्वभाव और स्थिति मे स्पष्ट अन्तर पाया है। और इससे भी अधिक स्पष्ट अन्तर लोगों की दार्शनिक रुचि मे आया है।

दर्शन को यदि उसके विशिष्ट अर्थ मे लें तो जिन परिवर्तनों से, प्रकारो के विषय मे हमारी स्थापना प्रभावित होनी चाहिए, वे मुझे ये प्रतीत होते हैं : नव्य यथार्थवाद का सम्प्रदाय [स्कूल] के रूप मे विघटन, तार्किक-विध्यात्मकवाद [लॉजिकल पॉजिटिविज्म] जिसने उस मत की उस धारा को आंशिक उत्तराधिकार के रूप मे पाया है जो, तत्त्वमीमांसा को निस्सार करते हुए, परिभाषा तथा अनुमान की अतिसावधान चिन्ता मे सब कुछ दाव पर लगा देता है, ह्वाइटहैट की तत्त्वमीमांसा की पूर्ण [की हुई] रूपरेखा, ड्यूई और साथ ही साथ ह्वाइटहैड के द्वारा उनके बाद के चिन्तन मे प्रकृतिवाद मे प्रत्ययवाद के तत्त्वों को समाविष्ट करने का निश्चित प्रयास।

यहाँ स्पष्टतः दो दलो के बीच विभाजन हुआ प्रतीत होता है। जो दो दलों के बीच सम्प्रेषण में घपला उत्पन्न कर सकता है। इनमे से एक दल मे वे हैं जिनका (उन्नीसवीं शताब्दी के विचारको के साथ) यह विश्वास है कि दर्शन की प्रगति तर्कशास्त्र और ज्ञान-मीमांसा मे प्रगति पर निर्भर होती है, और दूसरे वे हैं जो यह मानते हैं कि प्रत्येक ज्ञान-मीमांसा किसी तत्त्व-मीमांसा पर आधारित होती है, और जो सीधे दर्शन के उस मौलिक कार्य की ओर अग्रसर हो जाते हैं जिसके अनुसार मानव मात्र को जीवन के निर्णयों और व्यवस्था के विषय मे निर्देशित करना है। किन्तु दर्शन तब तक सुचारु रूप से कार्य नही कर सकेगा जब तक इसके उक्त दोनो कार्य-व्यापारो मे कार्यकारी सामञ्जस्य स्थापित न हो जाए, और न ही यह उस परिवर्तन की चुनौती का सामना कर सकेगा जो लोगो की दार्शनिक अभिरुचि में दृष्टिगोचर होने लगा है।

क्योंकि जैसे-जैसे जन-मानस विचार मे प्रवृत्त होने लगा है वैसे-वैसे ही उसके समक्ष यह बात स्पष्ट होने लगी है कि दर्शन उनकी आवश्यकताओं और जरूरतो से सम्बन्धित है। विज्ञान के प्रति वह उतना ही उत्सुक है जितना सदा था, और अब तो लोगो ने मनोविज्ञान एवं समाजशास्त्र के अपने अध्ययन का (विश्वास की प्रवृत्ति को नियंत्रित करते हुए) और भी विस्तार कर लिया है। किन्तु अब इसने यह भी समझ लिया है कि विज्ञानो, विशेषतः मानव से सम्बन्धित विज्ञानो, को किसी पूरक की आवश्यकता है, जिससे हमें प्रकाश देते हुए

भी, वे हमें पथभ्रष्ट न करें। क्योंकि, मानव का मनस् किसी विश्व में ही कार्यरत रहता है और जिस विश्व मे वह रहता है उसके सभी अन्य विचारों मे उसका विचार समाया रहता है : अतः जब तक हम विश्व के स्वरूप पर ध्यान नहीं देंगे (और यही दर्शन का कार्य है) तब तक हमारा मनोविज्ञान या समाजशास्त्र विकृत और पंगु रहेगा। अत लोग स्नातक-स्तर से ही, एक ऐसे दर्शन के लिये तैयार हैं जो (परा) भौतिकी भी हो और (परा) मनोविज्ञान भी हो और जो पग-पग पर विज्ञानो के निष्कर्षों के प्रति सचेत हो।

अनुपात सम्बन्धी कतिपय दोषो के कारण भी मूलपाठ में संशोधन की आवश्यकता है। प्रकृतिवाद का विकास प्रकार विशेष से और आगे हो गया है। उसका विकसित रूप अधिक अवसादपूर्ण एवं बुद्धिमत्तापूर्ण है और पुस्तक में कम स्थान पाता है। प्रयोजनवाद को अत्यधिक रूप मे एक ही शाखा से ले लिया गया। 'जानने की प्रणालियों' तथा तत्त्वमीमांसा के भेद पर भी बहुत जोर दे दिया गया। विशेषतः, प्रत्ययवाद पर अनेक छोटे-छोटे अध्यायों मे बहुत कम प्रकाश डाला गया था। मैंने जानबूझ कर उनका खाकामात्र ही खींचा था क्योंकि मैंने यह सोच लिया कि इसको पढ़ाने वाला अपनी इच्छानुसार इसके विस्तार का आनन्द लेगा। किन्तु मैं यह भूल गया कि, यदि पढाने वाले ने ठीक स्थान पर उसका विस्तार नही किया तो वह इस असावधानी का दोष लेखक के मत्थे मंढेगा और यह न्यायोचित भी होगा। अत इस वर्तमान सस्करण से मैं संशोधन की एक ऐसी प्रक्रिया प्रारभ कर रहा हूँ जिससे इन दोषो का परिहार हो।

फिर भी हठधर्मी से इस पुस्तक मे मैंने एक गुण को रखने का प्रयास किया है जो कम से कम आधा अवगुण भी है—और वह है अपूर्णता। मैं सिद्धान्तो के समस्त प्राप्य (उससे भी कम ऐतिहासिक) प्रकारो की विस्तृत समीक्षा नहीं करना चाहता। मेरे ध्यान में वह छात्र है, जिसे सत्य प्राप्त करने का मार्ग खोजना है, और जिसे पहले मूल समस्याओ को *आत्मसात् करना है, जिससे कि वह विभिन्न 'वादों' के विभिन्न तथा सूक्ष्म प्रकारो मे रुचि* ले सके। इस सिद्धान्त पर चलते हुए यह स्पष्ट है कि किसी भी विशिष्ट विचारक के साथ समुचित न्याय नही किया जा सकता। इसी बात को यो भी कहा जा सकता है : सभी प्रकार एकांगी हैं, [परन्तु] किसी का भी दर्शन एक 'प्रकार' मा नहीं है, और इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यहाँ (मेरे अतिरिक्त) किसी भी अन्य व्यक्ति के दर्शन का प्रतिपादन नही किया गया है। इसके लिए मैं अपने साथियो से क्षमाप्रार्थी हूँ, क्योंकि यह दोष कार्य मे ही अन्तर्निहित है, इसका अर्थ यह कदापि नही है कि लेखक उनके प्रति सजग नही है। मुझे आशा है कि वे इस दोष को सहिष्णुता और सहृदयता से समझेंगे। विशेषतः इसलिए कि वे इसमें जहाँ चाहे वहाँ, विस्तार के लिए अवसर पा लेंगे।

मैडीसन, एन० एच०　　　*विलियम अर्नेस्ट हॉकिंग*
अगस्त, १९३९

भूमिका

दर्शन का विचारपूर्वक और विस्तार से अध्ययन प्रारम्भ करने के लिए तीन उपयुक्त तरीके हैं। प्रथम है उसका ऐतिहासिक अध्ययन। यदि भाग्य से किसी को इस महान् कहानी का सही मार्गदर्शक मिल जाय, तो वह चिन्तन को जीवन-चरित तथा सामाजिक परिवर्तन के इसके जीवन्त सन्दर्भ में खोज लेगा, और सत्य के प्रति उसकी दिलचस्पी उन प्रेरणाओं के ससर्ग से गहरी हो जाएगी जिन्होंने मानवीय चिन्तन के नायकों को अनुप्राणित किया था। इस मार्ग के अपने खतरे हैं, वे अधिकांश मे प्रतिभा के उस बाहुल्य से उठे हैं जिसे दर्शन में दो हजार वर्षों के चिन्तन के दौरान उँडेला गया है। ऐसे चिन्तकों, का, जो ध्यान के योग्य हैं, का बाहुल्य है और यह बढ़ता ही जा रहा है। दर्शन की इस सम्पन्नता से मनस् श्रान्त-सा हो जाता है और [यह बात] विरोधाभासात्मक लगती है कि उसके फलस्वरूप दर्शन का अध्ययन निस्सार प्रतीत होता है। प्रारम्भ करने वाले के लिए इतिहास को ठीक ढग से समझना कठिन हो सकता है, विशेष रूप से यदि वह कर्तव्यपरायण होकर पढ़ता है तो: जो कुछ विद्वानों ने सोचा है उस सबको जानने के दायित्व के रूप मे नहीं, यह उपलब्धि किसी को नही होती, अपितु कतिपय स्थायी तथा महत्त्वपूर्ण बौद्धिक ससर्ग प्राप्त करने के अवसर के रूप मे। यदि चालीस महान् नामो मे से पाँच भी व्यक्तिगत आकर्षण से प्रदीप्त हो जाएँ तो अध्येता को दार्शनिको मे अपने मित्र मिल गए हैं, और उसका इतिहास का अध्ययन सफल हो गया है [ऐसा माना जा सकता है]। मेरे मत मे किसी अमरीकी छात्र द्वारा इस उपलब्धि की सभावना और बढ जाती है यदि इतिहास उसके लिए प्रथम पाठ्यक्रम के स्थान पर द्वितीय का विषय हो।

दूसरी विधि दर्शन की समस्याओं पर सीधे आक्रमण की है: मनस् क्या है? यह शरीर से किस प्रकार सम्बन्धित है? क्या मनुष्यों का व्यवहार प्रकृति की यान्त्रिकी का भाग है? क्या कोई आत्मा है? क्या यह अमर है? वे कौन से गुण हैं जिन्हे हम शुभ तथा अशुभ कहते हैं? हमें इनके विषय मे क्या करना चाहिए? हम जिसे विज्ञान कहते हैं उसके परे हम कितना जान सकते हैं, यदि उसके परे जाना सभव है तो? इन प्रश्नों और इसी प्रकार के अन्यो के उत्तरों से किसी व्यक्ति के दर्शन की रचना होती है: ये ही वे बातें हैं जिन्हें वह जानना चाहता है।

उस सर्वोत्तम प्रकाश में जो आज उपलब्ध है इन प्रश्नो पर अन्य कालो के अन्य मनुष्यों के चिन्तन के लम्बे विवरण द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से पहुँचने की अपेक्षा सीधे ही डुबकी क्यों न लगाई जाए। मेरा विचार है कि हमारे वैज्ञानिक मनस् वाले युवा लोगो मे से अधिक की यही मन स्थिति है; यही नही, बेसब्री और शुभ उत्साह भी उसमे मिल गए हैं, और मेरा यह विश्वास है कि उत्साह का लाभ तभी ले लेना चाहिए जब यह तीव्र हो। इतिहास का आनन्द इस खोज के साथ आएगा कि दर्शन जातिगत चरम [redacted] कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने

दर्शन के निर्माण के लिए प्लेटो की अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता है, और कि जो प्लेटो कहना चाहता है उसे न तो कोई अन्य रिपोर्ट कर सकता है और न ही उसके तत्त्व को प्रस्तुत कर सकता है।

तीसरी विधि, जो हमारी वर्तमान विधि है, ऐतिहासिक तथा व्यवस्थित रुचि दोनों का योग है। किन्हीं विशेष प्रकार की विश्वदृष्टियों के चयन के द्वारा, जिनकी चिन्तन के इतिहास में पुनरावृत्ति होती है, तन्त्रों का विस्मयकारी वैविध्य कम हो जाता है। हमारी प्राथमिक रुचि विश्व दृष्टि की वैधता में है, इसकी ऐतिहासिक भूमिका में नहीं, वस्तुतः हम दर्शन की समस्याओं पर आक्रमण उनसे किसी भिन्न उद्देश्य के लिए नहीं करेंगे। साथ ही हम प्रतिनिधि विचारकों से परिचित होंगे, और हम [उनसे] ऐसी अवस्था में [परिचित] होंगे जो कम से कम एक तरह से ऐतिहासिक-क्रम की अपेक्षा अधिक अनुकूल है। क्योंकि उनसे हमारा संसर्ग तब होता है जब हम किसी दार्शनिक समस्या में अत्यन्त तीव्र रूप से संलग्न रहते हैं, और उनके विचारों से हमें सहज ही प्रकाश मिलता है। हम कह सकते हैं *कि ऐतिहासिक अनुशीलन में स्वतन्त्र-संकल्पेच्छा की समस्या पर [विचार करते हुए] उत्साह रख पाना अनुपात में उतना ही कठिन है जितना कि इस विषय पर कुछ कहने वाले दार्शनिक हैं। सामान्य रूप से ऐसा हमें एक बार ही करना होता है।* *

फिर भी, मुख्य लाभ यह है कि अधिक लोगों के लिए, जो अपने जीवन को दर्शन के अध्ययन में नहीं लगा रहे हैं, वे जहाँ कहीं भी हैं, विचारों को आसानी से ग्रहण करने का यही रास्ता सबसे अधिक उपयुक्त दिखलाई पड़ता है। हमारे मनस्, अध्येताओं एवं श्रोताओं के रूप में, दर्शन के अश वचनों से भरे पड़े हैं जो सभी दिशाओं से आए हैं। प्रत्येक शिक्षक, चाहे उसका विषय कुछ भी हो, किसी दर्शन को व्यक्त करता है अंग्रेजी, इतिहास, अर्थशास्त्र, विज्ञान का शिक्षण साथ ही साथ दर्शन का भी शिक्षण है, क्योंकि शिक्षक एक व्यक्ति है और वह अपने विषय के माध्यम से स्वयं को संप्रेषित किए बिना नहीं रह सकता। इसी प्रकार हमारे सम्पादक, हमारे उपन्यासकार हमारे धर्मोपदेशक तथा हमारे पादरी, हमारे कवि तथा नाटककार, हमारे राजनीतिज्ञ तथा व्यापारी, हमारी मानसिक शिराओं में चेतन अथवा अचेतन रूप से, दर्शन की धाराओं को प्रवाहित कर रहे हैं। हमारी अवस्था दार्शनिक व्यामोह की है इस प्रकार हम जिन सिद्धान्तों को अंश के रूप में ग्रहण करते हैं वे [परस्पर] संगत नहीं होते। किसी प्रस्तावित दृष्टिकोण अथवा विश्वास को उसी रूप में पहचानने की योग्यता जैसा वह है, और यह देखना कि वह हमें किस दिशा में ले जाता है, मानसिक सन्तुलन की ओर प्रथम आचरण है। 'टाइप्स' [दर्शन के प्रकार] का प्रथम कार्य स्व-रक्षण के लिए, और फिर स्व-ग्रहण के लिए आवश्यक साधन प्रदान करना है, जिससे चिन्तन के इतिहास में हम स्वयं से किसी निकटता को खोज सकें और जिससे हम अधिक से अधिक अपने कतिपय ऐसे प्रश्नों का समाधान खोज सकें जो हमें अस्थिर किए रहते हैं।

इस विधि में वही हानि है जो सभी समन्वयों में होती है। हमें इतिहासज्ञ [के प्रयास] की अपेक्षा इतिहास कम मिलेगा, और व्यवस्थित अन्वीक्षक [की चेष्टा] की अपेक्षा थोड़ी ही व्यवस्था मिलेगी। केवल आपकी अपनी प्रत्युत्पन्न प्रतिभा ही आपको यह बताएगी कि यह मार्ग आपकी आवश्यकताओं के लिए सर्वोचित है या नहीं।

* * * *

दर्शन के प्रकार

यह पुस्तक, जो प्रथमत. केवल उन्हीं छात्रो के लिए लिखी गई थी जो मेरी कक्षा मे दर्शन का अध्ययन आरंभ कर रहे थे, अब इसी रूप मे पाठ्यक्रम के स्तर से उभर रही है। कठोरता तथा अनुपात की दृष्टि से उसमे कुछ शिथिलता है, साथ ही इसमें 'वर्कशॉप' [कर्म-स्थल] की जैसी बहुत सी अव्यवस्था भी है। मैं इसे इसी अवस्था मे अशत तो इसलिए प्रकाशित कर रहा हूँ क्योंकि मुझे या तो इसे इसी अवस्था मे प्रकाशित करना होगा या फिर इस कार्य को स्थगित करना होगा, [और] अशत इसलिए कि किसी कच्ची सडक की भाँति इस पुस्तक मे जो अपरिष्कृतता है वह हमे तन्द्रावस्था से बचाएगी, [और] अशत इसलिए भी कि इसका उद्देश्य उत्तेजित करना है, सन्तोष प्रदान करना नहीं—किसी बस्ती के स्थान पर यह ऐसी पहाडी है जिससे पर्वतारोही उच्चतर चोटियो की ओर अभियान करता है।

यद्यपि स्पष्ट रूप से यह पुस्तक [दर्शन का अध्ययन] आरम्भ करने वालो के लिए ही है, किन्तु मेरा विश्वास है कि उसी कारण से यह उन लोगो के लिए निरर्थक नही है जो दर्शन मे अधिक निष्णात हैं। 'टाइप्स' के क्रम मे एक तर्क है जिसका दीक्षित के द्वारा सर्वोत्तम रूप से मूल्याकन किया जा सकता है। यही नहीं, जबकि दर्शन मे हम प्राथमिक सिद्धान्तो से परे जा सकते हैं, यह नही हो सकता कि हम उन्हें पीछे छोड दें। हमारा समस्त कार्य यथार्थ के तथा जीवन की कला के "प्रथम सिद्धान्तों" से ही सम्बन्धित है नवीनतम अन्वीक्षण एव समकालीन अन्तरानुभूतियों मे गहनतम, वे ज्ञान के इन्हीं शाश्वत आरंभिक बिन्दुओं मे योगदान करते हैं।

* * * *

कुमारी जार्जिया हार्कनैस के प्रति—जो एलमीरा मे दर्शन की प्राध्यापिका हैं और जिन्होंने इस पुस्तक की स्पष्टता तथा इसे पढाने योग्य बनाने के लिए अनेक सुझाव दिए हैं—आभार व्यक्त करते हुए मुझे अत्यन्त हर्ष हो रहा है, इन्होंने मेरे साथ उस समय सहयोग किया जब इस पाठ्यक्रम को रैडक्लिफ कॉलेज मे प्रस्तुत किया गया था। डॉ० जे० डब्ल्यू० मिलर तथा श्रीमन् जार्ज मार्गन का आभारी हूँ जिन्होंने हारवर्ड मे मुझे विचार तथा अभिव्यक्ति मे सहयोग दिया, तथा जिन्होंने अनेक सुझाव—विशेष रूप से यथार्थवाद के अध्यायों में—सुझाए। इन अध्यायो का असन्तुलित विस्तार नव्य-यथार्थवादी आन्दोलन की शिक्षाप्रद जटिलता का, और इसके स्रोतो की बिखरी हुई अवस्था का परिणाम है। आरंभ करने वाले यदि इसमे गोता लगाएँ तो उन्हें इसमें सहायता देनी चाहिए।

—विलियम अर्नस्ट हॉकिंग

विषय-सूची

अध्याय १

दर्शन क्या है ?

(१) स्थानीय भाषा मे जब हम किसी व्यक्ति के दर्शन की चर्चा करते हैं तो उससे हमारा तात्पर्य केवल उसके विश्वासो की सहति से होता है। इस अर्थ मे, प्रत्येक व्यक्ति का या कम से कम प्रत्येक परिपक्व बुद्धि वाले व्यक्ति का, निश्चित ही कोई न कोई दर्शन होता है, क्योकि कोई भी व्यक्ति विश्वासो के आलबन बिना अपने जीवन को व्यवस्थित नही कर सकता।

यहाँ हम 'विश्वास' शब्द का उपयोग इसके विस्तृत अर्थ मे कर रहे हैं जिस अर्थ मे यह विश्व के उन समस्त दृष्टिकोणो को अपने मे समाविष्ट कर लेता है जिनके अनुसार कोई व्यक्ति वस्तुत अपने कार्यों को दिशा देता है। यह आवश्यक नही है कि ये मत अनिवार्यतया विवादास्पद हो। कोई भी चिकित्सक साधारणत न तो इस बात पर बहस करता है और न ही यह सिद्ध करने का प्रयत्न करता है कि जीवन रक्षा के योग्य है : यह तो उसका वह विश्वास है जिसके अनुसार वह जीवन यापन करता है, और वह इसे लगभग स्वय-सिद्ध सत्य मानकर चल सकता है। दूसरी ओर, वह उदारवादी दल की राजनीति मे विश्वास करने वाला हो सकता है, या उसकी यह मान्यता हो सकती है कि चित्रकला का नया सम्प्रदाय एक कलाविहीन अतिक्रमण (अनैतिक कार्य) है, जबकि वह इस बात को मानता है कि उसके विचार बहुत अधिक विवादास्पद हैं। किसी मनुष्य के विश्वासो से हमारा आशय उन समस्त निर्णयो से है जिसके एक छोर पर निश्चयात्मक विचार और दृढ विश्वास होते हैं और दूसरे छोर पर मात्र प्रतीतियाँ होती हैं—जिनके अनुरूप, वह सस्कारो के अधीन होकर कार्य करता है। विश्वास के अन्तर्गत वे मत आते हैं जिनके अनुसार व्यक्ति अपना जीवन बिताता है, इससे भिन्न ऐसे मत भी होते हैं जिनके बारे मे वह केवल बात करता है' इस अर्थ मे वे उसके दर्शन का निर्माण करते हैं और इसी अर्थ मे हम चैस्टर्टन की इस उक्ति को समझ सकते हैं कि "किसी भी मनुष्य के लिए जो अधिक व्यावहारिक और महत्वपूर्ण बात है वह उसका विश्वास के बारे मे दृष्टिकोण"—अर्थात् उसका दर्शन है। नौकरी करने वाला व्यक्ति अपने मालिक के दर्शन की दया पर निर्भर करता है और मालिक अपने व्यवसाय को अपने कार्यकर्त्ताओ के दर्शन के भरोसे दाव पर लगा देता है,—क्या वे ईमानदारी से कार्य करते रहते हैं—चाहे कोई निरीक्षण करने वाला हो या न हो ?

(२) किन्तु जब हम दर्शन को विज्ञान मानते हैं, तो, इससे हमारा तात्पर्य विश्वास के परीक्षण से होता है—यह प्रयास विश्वासों के भलीभाँति अधिष्ठित पुज तक पहुँचना है

[अर्थात् हमारा प्रयास जो कुछ माना जाता है उस सब के यथोचित आधार तक पहुँचना होता है।]

सामान्यतया हम उन विश्वासों की ओर निर्देश करते हैं जिनका क्षेत्र (स्कोप) अत्यन्त व्यापक होता है। इन विश्वासों के अन्तर्गत वे विश्वास आते हैं, जो किसी धार्मिक पन्थ के होते हैं (परमात्मा का अस्तित्व या अनस्तित्व, आत्मा की अमरता या मरणोपरान्त उसका पूर्ण विनाश), वे जो उचित और अनुचित की संहिता से सम्बन्धित होते हैं दस धर्मादेश [मूसा के टैन कमान्डमैण्ट्स][1] एवं वकील की आचार-संहिता तथा वह जो निश्छल प्रतिस्पर्धा कही जा सकती है)। इनके अन्तर्गत राजनैतिक विश्वास [कन्विक्शन्ज] (गणतन्त्र अथवा उदार तानाशाही, व्यक्तियों, जातियों एवं राष्ट्रों की समानता या असमानता) तथा अत्यन्त सामान्य वैज्ञानिक सिद्धान्त (विकास, प्रकृति की एकरूपता, ऊर्जा की अविनाशिता) भी आते हैं।

इस प्रकार दर्शन का क्षेत्र विशिष्ट विज्ञानों से पृथक् है। प्रत्येक विज्ञान में ज्ञान के क्षेत्र के किसी एक भाग पर विचार होता है, किन्तु दर्शन सम्पूर्ण का चित्र बनाने का प्रयत्न करता है,—एक विश्व दृष्टि का निर्माण करता है। हर्बर्ट स्पेन्सर विज्ञान को आंशिक रूप से एकीकृत ज्ञान के रूप में परिभाषित करता है जबकि दर्शन को वह पूर्णरूप से एकीकृत-ज्ञान मानता है।* तो क्या इससे मिथ्याभिमान की गन्ध आती है जब हम दर्शन को 'विज्ञान से परे विज्ञान' की संज्ञा देते हैं ?

इस उच्च मानसिक महत्त्वाकांक्षा में जो दर्शन शब्द के सामान्य अर्थ (कॉनोटेशन) से जुड़ी हुई है 'दार्शनिक' संज्ञा को विशिष्ट रूप से मनुष्यों में कतिपय श्रेष्ठ प्रतिभासम्पन्न बुद्धिजीवियों के लिए ही सीमित कर लिया गया है। स्वयं प्लेटो और अरस्तू को भी इस आलोचना का सामना करना पड़ा था कि वे ज्ञान के एक ऐसे लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं जो केवल देवों के लिए ही सुलभ था। वस्तुतः उनका उत्तर यह था कि वे तो केवल मात्र दार्शनिक हैं, अर्थात्, शब्दशः 'ज्ञान के प्रेमी' (लवर्स ऑव विज़्डम) ही हैं, इसमें अरस्तू ने इस विचार को ओर जोड़ दिया कि मानवीय बुद्धि (रीज़न) तो मनुष्य में एक दैवी तत्त्व है, यदि हम अपने प्रति न्याय करें तो हमें इस प्रकार रहना होगा मानो समस्त ज्ञान हमारे अधिकार क्षेत्र में है। वस्तुओं के पूर्ण ज्ञान की खोज करने में कुछ भी विशिष्टतया दुस्साहस जैसा नहीं है अपने चित्र में विभिन्न अंगों को भरने के पूर्व उसकी एक पूरी रूपरेखा खींचने में, कलाकार (चित्रकार) कोई धृष्टता नहीं करता यदि उसे अपनी मेहनत को अकारथ नहीं करना है तो, यह चयन कोई स्वेच्छा (रुचि) का प्रश्न नहीं है वरन् यह तो आवश्यक है, कि चित्र का बनाते समय उसके मन में किसी न किसी अर्थ में सम्पूर्ण चित्र का विचार विद्यमान रहे। सम्पूर्ण का खाका साधारणतः स्थूल रूप से खींच लिया जाता है और जैसे-जैसे चित्र पूर्णता की ओर बढ़ता है वैसे-वैसे उसमें परिवर्तन की संभावना को स्वीकार किया जाता है इसी प्रकार दर्शन को भी ऐसे उत्तरों से सन्तुष्ट होना पड़ता है जो एक सीमा तक ठीक होते हैं अथवा जो कुछ लोगों की दृष्टि में

---

* फर्स्ट प्रिन्सिपल्ज [प्रथम सिद्धान्त] भाग दो, पहला अध्याय।

(यद्यपि यहाँ मैं एक ऐसे क्षेत्र में प्रवेश कर रहा हूँ जहाँ आपत्तियाँ उठेंगी**) केवल प्रादेशिक उत्तर होते हैं और जिनके निरन्तर अधिकाधिक पूर्ण होने की संभावना रहती है। परन्तु सम्पूर्ण का कुछ बोध हमें सदैव रहता है। आप केवल एक सरल से प्रश्न, कि "आप कहाँ हैं ?", का उत्तर देने का प्रयत्न करें और तब आप देखेंगे कि इसमें दिक् में व्याप्त सम्पूर्ण विश्व की अवधारणा सन्निविष्ट है। दर्शन देवों तथा विशिष्टत. प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियों का ही विशिष्ट कार्य नहीं है, यह तो मानवोचित कार्य है, यह तो प्रत्येक व्यक्ति का कार्य है।

तो इसका अर्थ हुआ कि सम्पूर्ण विश्व के बारे में हमारे विश्वास हैं, परन्तु अपनी मानसिक सामर्थ्य को बहुत अधिक महत्त्व दिये बिना ही क्या हम उन्हें तार्किक परीक्षण के द्वारा किसी सैद्धान्तिक रूप में ला सकते हैं ?

(३) सामान्यरूप में हम अपने मुख्य विश्वासों को तर्कना की प्रक्रिया के द्वारा प्राप्त नहीं करते हैं। ये पहले हमें किसी अधिकृत सत्ता या सुझाव के द्वारा प्राप्त होते हैं,—अधिकृत सत्ता के रूप में माता पिता और गुरुजनों के द्वारा, सुझावों के रूप में उन प्रशंसित व्यक्तियों से जिन्हें बाल्यकाल का भोर-पूजक मस्तिष्क ग्रहण कर चुका होता है, अथवा सामाजिक परिवेश से, विशेषतौर पर उन निकट के समूहों से जिनके मत केवल इसीलिए स्वीकार किये जाते हैं या ले लिए जाते हैं कि वे उन समूहों या वर्गों में वस्तुओं पर विचार करने के प्रचलित और स्वीकृत तरीके होते हैं। इस रूप में प्राप्त एवं बिना किसी और जाँच के स्वीकृत विश्वासों को पूर्वाग्रह कहा जा सकता है, किसी अनादरपूर्ण अर्थ में नहीं अपितु शाब्दिक अर्थ के रूप में।

साहित्य और नाटक विश्वास के सामान्य और प्रभावशाली स्रोत हैं। प्रेमलीला (रोमांस) या नाटक किसी ऐसे मत के स्वीकार के लिए मूक निमन्त्रण को प्रस्तुत करते हैं जिसे लेखक अपने पात्रों द्वारा सूक्ष्म रूप में दर्शकों तक पहुँचाना चाहता है।

सारी बातचीत (संलाप) दर्शन के प्रेषण की ओर अभिमुख है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति किसी विचार को बिना अपनी सामान्य वृत्ति और दृष्टि को प्रेषित किये—चाहे अपनी आँख के संकेत [आँख को टिमटिमाकर] अथवा अपनी किसी अन्य मुद्रा द्वारा,—अभिव्यक्त नहीं कर सकता, फिर चाहे वह उसका आशावाद हो या निराशावाद हो, चाहे अमूर्त अवधारणाओं में उसका विश्वास हो या उसकी पक्की व्यवहार-कुशलता हो, चाहे उसकी आत्म केन्द्रित घृणा हो या उसकी उदार सहानुभूति हो और यह प्रक्रिया जब एक पीढ़ी और दूसरी पीढ़ी में संवाद बन जाती है जिसे हम 'परम्परा' कहते हैं, जिसमें से प्रत्येक व्यक्ति उसका चयन कर लेता है जो उसे प्रामाणिक या उपयुक्त प्रतीत होता है, तो यह 'परम्परा' ही हमारे पूर्वाग्रहमूलक विश्वासों का मुख्य और मूल स्रोत बन जाती है।

(४) दार्शनिक ज्ञान के इस प्रस्ताव के विरुद्ध कि विश्वास की परीक्षा की जानी चाहिए, पूर्वाग्रह के पक्ष में भी कुछ कहा जा सकता है।

अपने विश्वासों के उचित अनुचित के औचित्य की खोज में, उनकी जड़ों के चारों ओर

** इस विषय में अन्तिम अध्याय देखिए।

खोदने के फलस्वरूप एक अच्छा स्वस्थ विश्वास नष्ट हो सकता है। या, हम स्वयं को यह मानकर धोखे मे रख रहे हैं कि हमने किसी सिद्धान्त को 'सिद्ध' कर दिया है अथवा 'स्थापित' कर दिया हैं जबकि उसे वास्तव मे हम इसलिए मानते हैं कि वह हमारे लिए अनुकूल पडता है अर्थात्-हम अपने पूर्वाग्रहों की 'बुद्धिसगत व्याख्या' देने लगते हैं। एफ एच ब्रैडलि ने कहा कि 'तत्त्वमीमासा उन बातो के लिए कारण ढूँढने का प्रयास करती है जिन पर हम अपनी सहज प्रवृत्ति (इन्स्टिक्ट) के कारण[४] विश्वास करते हैं", और साथ ही यह टिप्पणी भी जोड दी कि "उन कारणो का पता लगाना भी अपने-आप मे एक नैसर्गिक प्रवृत्ति ही है"। प्रत्येक व्यक्ति सहजभाव से ही ऊहापोह पर अविश्वास करता है, साधारणतया हमारे विश्वासो का औचित्य स्पष्ट करने वाले कारण, स्वय अविश्वासो की अपेक्षा निर्बल और कम महत्त्वपूर्ण होते हैं। अत हम किसी विश्वास के लिए दिए गए तथाकथित समस्त हेतुओ का—बिना उस विश्वास का खण्डन किये, या उसको मानने वाले के दृढ विश्वास को हिलाये—खण्डन कर सकते हैं।

एडमड बर्क ने, जो फ्रान्स की क्रान्ति (फ्रेन्च रेवोल्यूशन) की उन ज्यादतियों से भयभीत हो गया था जिन्हे तर्कोचितता (रीज़न) के नाम पर किया गया था, ऐसे पूर्वाग्रह की प्रशसा की थी जो 'किसी सज्जन की आत्मा और धर्म की आत्मा" का आधार हो। उसका विचार था कि इसीसे इग्लैण्ड की सभ्यता का निर्माण हुआ है।

'इस प्रबुद्ध युग मे मैं इस बात को अगीकार करने का साहस करता हूँ कि सामान्यत हम अपरिष्कृत भावनाओ वाले लोग हैं, और अपने पुरान पूर्वाग्रहो को छोडने के स्थान पर हम उन्हें एक बडी सीमा तक सँजोकर रखते हैं, और, अधिक लज्जा की बात यह है कि हम उनको इसलिए सँजोते हैं कि वे पूर्वाग्रह हैं, और वे जितने अधिक दिनो तक बने रहते हैं, और जितने अधिक सामान्य रूप म वे प्रचलित होते हैं उतने ही अधिक हम उन्हें सँजोकर रखते हैं। हमे इस बात का भय रहता है कि लोग अपनी बुद्धि के निजी सचय के सहारे जियें और आदान-प्रदान करें, क्योकि हमे यह शका है कि प्रत्येक व्यक्ति मे यह सचय बहुत ही कम है और लोग अधिक अच्छी स्थिति मे होंगे यदि वे युगो के और राष्ट्रो के सामान्य कोष एव पूँजी का उपयोग करें। हमारे अनेको विचारक, सामान्य पूर्वाग्रहो को खण्डन करने के स्थान पर उनमे उपलब्ध छिपे ज्ञान को उद्घाटित करने के लिए अपनी मेधा का प्रयोग करते हैं। यदि उन्हे वह मिल जाता है जिसकी वे खोज मे होते हैं, और इसमे वे बहुत कम ही असफल होत हैं, तो उन्हें यह अधिक उचित प्रतीत होता है कि वे उसी मे बुद्धि को भी सन्निविष्ट करते हुए उसी पूर्वाग्रह को मानते रहें, बजाय इसके कि वे पूर्वाग्रह के आवरण को उतार फेंके, और मात्र बुद्धि को ही स्वीकार करें, क्योकि पूर्वाग्रह मे अपनी युक्ति को क्रियान्वित करने तथा उसे स्थायित्व देन की प्रवृत्ति होती है। आपत्काल मे पूर्वाग्रह को तुरन्त लागू किया जा सकता है, यह पहले से ही मनस् को स्थायी प्रज्ञा और सद्गुण मे नियोजित कर देता है और व्यक्ति को फैसला करने के क्षण मे घबराहट की स्थिति मे नही छोडता और न ही उसे सशय, उलझन एव अनिश्चय की अवस्था में रहने देता है। पूर्वाग्रह मनुष्य के सद्गुण को असम्बद्ध कृत्यो की शृ खला मे नही अपितु उसको आदत में

परिवर्तित कर देता है। उचित पूर्वाग्रह के फलस्वरूप कर्तव्य उसकी प्रकृति का अंग बन जाता है।*

(५) किन्तु हमें इस बारे में स्पष्ट होना चाहिए कि दर्शन का उद्देश्य क्या है? यह आवश्यक रूप से इस बात पर जोर नहीं देता कि प्रत्येक विश्वास को बुद्धि के द्वारा स्थापित किया जाय। इसका यह आग्रह नहीं है कि हमें उस बात को मानने का कोई अधिकार नहीं है जिसको हम सिद्ध नहीं कर सकते। उसका कार्य यह पता चलाना है कि अमुक विश्वास किन आधारों पर माने जा रहे हैं और कौन से आधार अच्छे आधार हैं। यह पूर्वाग्रह के लिए एक सही (नॉरमल) स्थान की खोज कर सकता है, न्यायसंगत (समर्थनीय) पूर्वाग्रहों का तर्कविहीन पूर्वाग्रहों से भेद करते हुए किन्हीं स्थितियों में विश्वास के आधार के रूप में प्रामाण्य को स्वीकृति दे सकता है। सही या गलत प्रामाण्य में भेद करने में मदद करते हुए अन्य परिस्थितियों में हमारे सम्मुख सच्चे और झूठे सहजबोध का भेद बताने का कोई मार्ग प्रस्तुत करके यह हमें अन्तर्दृष्टि (सहजबोध) का आश्रय लेने की सम्मति दे सकता है। इसके कार्य का एक बहुत बड़ा अंश यह पता लगाने में निहित है कि विश्वास को आधार प्रदान करने में बुद्धि क्या कर सकती और क्या नहीं कर सकती है। यह हमारे स्वयं के अध्ययन का एक भाग होगा (परिच्छेद आठ और आठवें से पन्द्रहवें अध्याय तक देखिए)। किन्तु किसी भी अवस्था में यह [दर्शन] मानता है कि मनुष्य के रूप में हम कभी भी अपने विश्वासों को धारण करने में अनकहे दुराग्रह से सन्तुष्ट नहीं रह सकते हैं। जब तक झूठे विश्वास की सम्भावना बनी हुई है, और महत्त्वपूर्ण मामलों में ऐसे झूठे विश्वास खतरनाक विलासिताएँ हैं, तब तक विश्वासों के आधार के विषय में विचार करना अस्वीकार करना कोई गुण की बात नहीं है।

इस विचार का कि दर्शन महत्त्वाकांक्षी है, केवल यही अर्थ हो सकता है कि इतने विशाल विश्व में किसी बौद्धिक आधार पर जीने का प्रयास करना अत्यधिक महत्त्व का विषय है, और इसमें किसी तरह से बिना सोचे-समझे ही रहना अधिक मर्यादित है। निश्चय ही यह कल्पना करना बेतुकी बात है कि सोचने की सामर्थ्य आभ्यन्तरिक रूप में बुरी है। चाहने पर भी हम अपने जीवन की नियति, सिद्धान्त और स्वरूप के विषय में सोचने से अपने आप को नहीं रोक सकेंगे, और हमें विश्वास है कि बुद्धि का सही उपयोग हमें सत्य के अधिक निकट लाता है, इससे दूर नहीं ले जाता। अतः यह कहा जा सकता है कि स्वयं दर्शन भी किसी विश्वास पर आधारित है। यह विश्वास बहुत पहले सुकरात द्वारा अभिव्यक्त किया गया था, कि अपरीक्षित (अनएक्जामिण्ड) जीवन 'किसी भी मनुष्य के द्वारा जीने योग्य नहीं है।"**

वे विभिन्न विश्वास जिनसे दर्शन विशेष रूप से सम्बद्ध है

(६) सत् के बारे में विश्वास तत्त्वमीमांसा का विषय—जीवन के साधारण व्यापार का एक बहुत बड़ा अंश इस बात में निहित है कि हम "आभास" और विषय की वास्तविक

* रिफ़्लैक्शन ऑन द रिवोल्यूशन इन फ्रान्स, [फ्रान्स की क्रान्ति पर चिन्तन] मध्य में।

** प्लेटो, एपॉलोजि, ३७।

स्थिति—"सत्" के बीच भेद करें। यदि लोमड़ी के लिए शिकारी द्वारा उसे फँसाने के लिए जो जाल चतुराईपूर्वक बिछाये जाते हैं उनको भेदना उसके जीवन-मरण का प्रश्न है तो मनुष्य के लिए भी यह जानना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि कब वह सत् से सम्बन्धित है और कब उसकी प्रतीति मात्र से। सम्भवतया उसे अपने जाल में जान-बूझकर फुसानेवाला कोई चैतन्य शिकारी नहीं है वास्तव म सत् और असत् मे (यथार्थ और काल्पनिक मे) भेद करने मे उसे जो बहुत आनन्द होता है वह मुख्यतया सामाजिक सघर्षों एव प्रलोभनों पर आच्छादित धोखो और सच्चाइयों पर निर्भर होता है। इसके अतिरिक्त प्रकृति स्वय अनेकों भ्रामक आभास प्रस्तुत करती है,—जैसे तारो का स्थायित्व, पृथ्वी की स्थिर निश्चयता, आकाश का 'महाव्योम' और अन्य सहस्रों। पानी मे डूबी हुई छड़ी तिरछी दिखलाई पड़ती है, 'वास्तव' मे वह सीधी होती है। लकड़ी का या धातु का कोई एक टुकड़ा ठोस द्रव्य प्रतीत होता है, 'वास्तव' मे वह उन अणुओ (मालक्यूल्स) का झिलमिलाता हुआ नृत्य हो सकता है जो किसी अनुपात म एक दूसरे से बहुत अधिक दिक् द्वारा पृथक्कृत हों अथवा अणु स्वय ऐसे अवयवो (एलीमेन्ट्स) के बने हुए हों जो मूल ठोस के प्रत्येक अवशेष से रहित हैं। मनुष्य और भौतिक विज्ञान का यह कार्य है कि वे उन स्वरूप सत्ताओ का पता लगाएँ जिन्हें ऐसे आभास छिपा लेते हैं।

स्वय भौतिक ससार को ही लें क्या यह उतना ही अन्तिम एव ठोस है जितना वह प्रतीत होता है? मृत्यु मानव के व्यक्तित्व का अन्त प्रतीत होती है: क्या यह सत्य है? हम स्वय को स्वतन्त्र कर्ता मानते हैं क्या ऐसा है? ससार अनेकों प्रकार की अनेकों वस्तुओं का सग्रह प्रतीत होता है क्या वस्तुस्थिति यही है, या सभी वस्तुएँ किसी एकाकी छुपी हुई सत्ता की अभिव्यक्तियाँ हैं? यहाँ सत् की खोज तत्त्वमीमासा का व्यापार है। सभी गलतियों और भ्रमो के निराकरण के पश्चात् वस्तुओ का यथावत् समष्टि रूप ही सत् है। एक पक्ष से सत् को 'द्रव्य' कहा जाता है, जो एक ऐसा आधारभूत या मौलिक तत्त्व है जिसके विभिन्न रूपान्तरण वस्तुओं की प्रतीतियो की व्याख्या करते हैं।

ऐसे दो प्रकार के विषय हैं जिन्हें हम निश्चय रूप मे सत् मानने की ओर प्रवृत्त हो सकते हैं। हम भौतिक विषयो को सत् मानते हैं और मनस् की विभिन्न मनोदशाओ को सत् मानते हैं। हम कह सकते हैं कि कोई भी वस्तु सत् है यदि वह चट्टान की भाँति वास्तविक है या वह पीड़ा की भाँति वास्तविक है। कभी-कभी चट्टान अधिक निश्चित रूप से वास्तविक प्रतीत होती है। स्वय चट्टानों के अस्तित्व पर सदेह करना कभी-कभी पीड़ा की वास्तविकता पर सदेह करने की तुलना मे सरल प्रतीत होता है।

किन्तु ऐसे क्षण भी हो सकते हैं जब हमे ऐसा प्रतीत होता है कि भौतिक सत् ही एकमात्र सत्य द्रव्य है और मानसिक प्रतीतियाँ इसी सत् द्वारा स्पष्ट की जा सकती हैं। अथवा, यह प्रतीत हो सकता है कि भौतिक [वस्तुओं की] प्रतीतियों[3] को समझाने के लिए मानसिक सत् ही पर्याप्त है कि केवल मनस् ही वास्तव मे सत् है। विचारों का इतिहास बहुत हद तक इस तथ्य से नियन्त्रित हुआ है जबकि कतिपय मनुष्यों के लिए चट्टान सत् का प्रभावशाली और उपयुक्त प्रकार है दूसरो के लिए अनुभूति या 'मनस्' (माइन्ड) ही सत्

है। प्रथमोक्त जड़वादी या प्रकृतिवादी बनने की ओर प्रवृत्त होते हैं, उत्तरोक्त अध्यात्मवादी (या प्रत्ययवादी) बनने की ओर प्रवृत्त होते हैं। पहलों के लिए, मनस् भौतिक सत् की प्रतीति है, जबकि बाद वालों के लिए प्रकृति मानसिक सत् की प्रतीति है। यदि हम इस पर विचार करें कि जो कुछ भी तत्त्वमीमांसीय रूप में सत् है वह अनिवार्यतया बराबर बना रहता है, जबकि प्रतीतियाँ परिवर्तित हो सकती हैं, या अदृश्य हो सकती हैं, तो यह भेद महत्त्वहीन प्रतीत नहीं होगा।

इसके अतिरिक्त तार्किक रूप से संभावित अन्य विकल्प भी हैं। मनस् और भौतिक प्रकृति दोनों ही किसी तीसरे द्रव्य की अभिव्यक्ति हो सकते हैं जो कि स्वयं न तो मानसिक ही हो और न ही भौतिक। या सत् दो प्रकार का हो सकता है, भौतिक और मानसिक—शाश्वत रूप से सुनिश्चित एवं अपरिवर्तनीय—जो द्वैतवाद का मत है। क्या इसके अतिरिक्त अन्य विकल्प भी है ?

यदि कोई व्यक्ति सत् के स्वरूप के बारे में ऐसे प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करने में लगा हो और किसी समाधान की संभावना न हो तो भी उसकी जिज्ञासा को व्यर्थ कहकर उसे दोषी नहीं ठहरा सकते। अपने जीवन और प्रकृति में अन्य प्राणियों के समस्त जीवन और चेतना के मूल के बारे में सोचने की (हम सभी में) स्वाभाविक अभिरुचि होती है, यदि श्रद्धा की बात को अलग भी रखें, तो भी जीते-जागते संसार की अन्तिम नियति की ओर देखने में हम सभी की स्वाभाविक दिलचस्पी है। और एक ऐसा स्वाभाविक आश्चर्य है, जिससे अनेकों विज्ञान अछूते रह गये हैं और जो बिना किसी अन्य प्रेरणा के हमें तत्त्व-मीमांसीय खोज की ओर ले जाता है। जगत् जानने योग्य है।

किन्तु दर्शन जीवन के आचार के विषय में भी ज्ञान की खोज करता है : यह कहना कठिन होगा कि कौन सी रुचि अधिक मौलिक है—सैद्धान्तिक या व्यावहारिक। अतः दूसरे स्थान पर :

(७) अपेक्षाकृत अच्छे और बुरे तथा उचित और अनुचित के बारे में विश्वास : नीतिशास्त्र का मूल विषय

दर्शन शब्द के कतिपय प्रयोगों में दर्शन को इस व्यावहारिक रुचि से अभिन्न मान लिया जाता है। किसी "बात को दार्शनिक रूप में ग्रहण करना", उसे मन की अनावश्यकता अस्थिरता के बिना ग्रहण करना है, अर्थात् विपत्ति आन पड़े तो उसे बिना अधिक विषाद के, उसके विपरीत स्थिति हो तो बिना बहुत अधिक उल्लास के ग्रहण करना चाहिए। और वस्तुस्थिति को इस प्रकार से लेने [या समझने] का तात्पर्य यह नहीं है कि वह व्यक्ति असंवेदनशील हो गया है वरन् यह है कि उस व्यक्ति ने जीवन के विभिन्न उद्देश्यों का एक सही मूल्यांकन प्राप्त कर लिया है, कि क्या अपेक्षाकृत अच्छा और क्या बुरा है, और पर्याप्त कारणों की वजह से वह उन कष्टों या हानियों को सहने योग्य मानने के लिए तैयार रहता है जो अपेक्षाकृत तुच्छ निर्णायकों को अभिभूत कर देते हैं।

मुख्यतः स्टोइक लोग (सीटियम का जीनो, एपिक्टिटस, मारकुस औरेलियस और अन्य लोग) ही मुहावरे को इस रंग में रंगने के लिए उत्तरदायी हैं। उनका लक्ष्य, प्राकृतिक

घटनाओ अथवा भाग्य अथवा कर्तव्य के निर्वाह के परिणामो के फलस्वरूप जो कुछ भी हो उसे पूर्णतया शान्तरूप मे स्वीकार करने की सामर्थ्य की प्राप्ति के द्वारा अपने को पूर्ण निर्भीकता के जीवन के अनुकूल बनाना, 'सहना तथा धैर्य रखना," खेद अथवा क्रोध से ऊपर उठना, तथा समदृष्टि को प्राप्त करना था। बोयथियस का, जिसने रोम की जेल मे "ऑन द कन्सोलेशन्स ऑव फिलॉसफि" (दर्शन की सान्त्वनाओं पर) लिखा, इस अर्थ को अग्रेजी प्रयोग तक पहुँचाने मे बहुत हाथ है, क्योंकि उसकी रचनाओ को एल्फ्रेड महान् द्वारा एग्लो-सैक्सन मे और चॉसर एव उसके उत्तराधिकारियो की एक पूरी शृखला द्वारा अग्रेजी गद्य मे अनूदित कर दिया गया था।

विपत्ति की उदात्त सहनशीलता जीवन के सम्यक् व्यवहार का केवल एक पक्ष है और वह भी निषेधात्मक। मूलभूत प्रश्न यह है कि हम जीवन को किस रूप मे ग्रहण करें? कुछ लोग ऐसे हैं जो मानवीय जीवन की अवस्थाओ को तात्विक रूप से, बुरा मानते हैं। प्रकृति ने हमे जो इच्छाएँ दी हैं, जो सकल्पेच्छा तथा बुद्धि के अकुश मे सुख, कदाचित् आनन्द की ओर ले जाने वाली हैं, वे विश्वास के योग्य नही हैं। प्रकृति की सम्पूर्ण योजना मे जैसे बुद्धि के लिए भ्रम है वैसे सकल्प के लिए भी भ्रम है। ज्ञानी अपनी इच्छाओं और आशाओ को वश मे रखता है और उसे अपना प्रमुख श्रेयस् पहले तो चिन्तन-मनन मे दिखाई देता है और बाद मे ज्ञान की अन्तिम असभावना मे। निराशावाद के इस दृष्टिकोण को, जो कि पूर्व के देशों मे ब्रह्मवाद और बुद्ध के उपदेशो मे फैला हुआ है, पश्चिम मे शोपेनहॉवर, फॉन हार्टमान आदि के द्वारा अभिव्यक्ति मिली। इसके विपरीत जीवन की अभिपुष्टि की प्रचलित प्रवृत्ति है—आशावाद की प्रवृत्ति, जिसका यह विश्वास है कि मनुष्य और ससार को इस तरह से समायोजित किया गया है कि आनन्द की प्राप्ति सामान्य रूप से ही हो जाती है। सकल्प और पर्यावरण—जिसमे सकल्प की गतिविधि होती है—परस्पर अनुकूल होते हैं: और अब हम स्वय को उचित रूप से कर्म के प्रवृत्यात्मक लक्ष्यो के अध्ययन मे लगा सकते हैं, चाहे यह हमारे व्यक्तिगत भोग से सम्बन्धित (ईगोइज़्म) हो अथवा दूसरो के हित से सम्बन्धित (ऐलट्रूइज़्म) हो।

अभी तक हम आनन्द या श्रेयस् (शुभ) की खोज के विषय मे चर्चा कर रहे थे। किन्तु 'कर्तव्य' के बारे मे क्या कहा जाय? क्या यह श्रेयस् की खोज मे विवेक को प्रयोग करने के सामान्य दायित्व के समान ही है? या कि ऐसे नियम हैं, जो खेल के नियमों के समान ही, हमारे आचरण को बिना इसकी विषय-वस्तुओ को बदले स्वरूप प्रदान करते हैं, और हमारे लक्ष्य को प्राप्त करने या उस तक पहुँचने के लिए कतिपय मार्गों को निश्चिततः सही या गलत ठहराते हैं? यदि ऐसा है तो सही या गलत के इन नियमों या मापदण्डों का स्रोत क्या है?

और क्या ये नियम वस्तुओ के स्वभाव मे ही निहित हैं या कि लोकप्रथा अथवा सामाजिक प्रयोग के विभिन्न स्तरो के अनुसार बदलते भी हैं? परिवर्तन की व्यापकता हमारे कानों मे कोलाहल कर रही है। यहां यह ध्यान मे आता है कि "राजनीति और कानून (लॉ), धर्म और रति, कला और साहित्य के पुराने नियमो अर्थात् सस्कृति के समस्त

क्षेत्र को यन्त्र और विज्ञान के कठोर दबाव के सम्मुख या तो झुकना पड़ेगा या टूटना पड़ेगा।" यदि प्रज्ञा हमें यही सलाह देती है कि विज्ञान और यन्त्र हमारे लिए जो भी करना चाहे हमे तुरन्त उसके सम्मुख झुक जाना चाहिए तो इससे अनेको कठिन प्रश्न सरल बन जायेगे और यदि यह बात सत्य हुई तो महत्त्वपूर्ण भी होगी। किन्तु शायद उत्तरदायित्व के इनसे भी अधिक चिरस्थायी अन्य स्रोत हैं, और शायद सही और गलत के कुछ सिद्धान्त भी हैं जो वस्तुओ के स्वभाव मे और मानवीय स्वभाव पर आधारित होते है, और जिनका सम्प्रयोग प्रत्येक युग मे बदलता रहता है, किन्तु फिर भी इनका मुख्य अर्थ चिरस्थायी होता है। इस समय इस प्रश्न के उत्तर को जानने के अतिरिक्त और कोई बात जानने योग्य नही है।

शायद कर्त्तव्य मे भी कुछ ऐसा है जो लक्ष्यो तथा उन्हें प्राप्त करने वाले हमारे उपायों पर प्रभाव डालता है। जैसाकि अरस्तू के बाद के अनेक विचारको ने ससार को देखा था, उनका विचार था कि एक ऐसे सिद्धान्त के द्वारा जिसे हम आजकल विकास का सिद्धान्त कहते हैं, प्रकृति स्वय एक पूर्णता की ओर बढ़ने मे सतत प्रयत्नशील है, और ऐसे महान प्रयास मे हमारा भी एक निश्चित योगदान अपेक्षित है। देर सवेर अनुभव प्रत्येक व्यक्ति के सम्मुख ऐसे प्रश्न उपस्थित करता है, और ये ऐसे प्रश्न हैं जिन पर दर्शन नीतिशास्त्र के अन्तर्गत विचार करता है।

(८) अब जरा सोचिए : कि इस समय आपके कौन से अधिक निश्चित विश्वास हैं ? आप अपने विश्वासो को अपने निरर्थक और निष्क्रिय मतो से अलग कीजिए। आप अपने तत्त्वमीमासा या नीतिशास्त्र, राजनीतिशास्त्र या धर्म, या विज्ञान के मुख्य विश्वासो मे से किसी एक को लीजिए और उस पर थोड़ा विचार कीजिए। और आप स्वय अपने से पूछिए कि आप किन आधारो पर उस विश्वास को मानते हैं। ये आधार निम्नाकित सूची मे से एक या अधिक हो सकते हैं : या आपको लग सकता है कि वे आधार जिन्होंने आपको प्रभावित किया है यहाँ सम्मिलित नहीं किये गये हैं।

पूर्वाग्रह

परम्परा अथवा बड़ो के अधिकार (का प्रामाण्य);
सामाजिक परिवेश से प्राप्त सुझाव;
साहित्य के अथवा नाटक के सुझाव।

सहजज्ञान (अन्तर्बोध)

निश्चितता की अनुभूति जो अन्तर्दृष्टि के व्यक्तिगत अनुभव पर आधारित है मानो कोई यह कहे कि मैं स्वतन्त्र सकल्प मे विश्वास करता हूँ क्योंकि कभी-कभी मुझे स्वतन्त्रता की अपरोक्ष चेतना होती है।

अच्छे (शुभ) परिणाम :

हम किसी विश्वास को इसलिए मानते हैं क्योंकि कुल मिलाकर इसको मानना कार्यसाधक होता है, क्योकि यह उसकी चिन्तन और रहन-सहन की योजना मे ठीक तरह

से अनुकूल (फिट) बैठता है, क्योंकि यह हमारे अस्तित्व को अधिक आशावान या सन्तोषजनक बनाता है, या क्योंकि यह मानव जाति के कल्याण के लिए वाछनीय प्रतीत होता है। विश्वास को जाँचने के इस तरीके को प्रयोजनवाद कहा जाता है।

'बुद्धि' एक द्वयर्थक पद है, उससे भिन्न प्रकार के औचित्यो मे से किसी एक अथवा अनेक को ग्रहण किया जा सकता है, जैसे :

स्वय-सिद्ध सत्य और उनसे जो निगमित हो

जैसे जब यह स्वय सिद्ध सत्य माना जाता है कि सभी मनुष्य जन्मत: समान हैं और इस बात से यह निगमित किया जाता है कि सभी मनुष्यो को कानून की रक्षा मे शासकों को चुनने मे समान रूप से भागीदार होना चाहिए। वे लोग जो यह मानते हैं कि हमारे महत्त्वपूर्ण विश्वास इसी तरह से स्थापित किये जा सकते हैं या किये जाने चाहिए, बुद्धिवादी कहलाते हैं।

अनुभव

अर्थात्, तथ्यो का अवलोकन (आब्जर्वेशन) और ऐसे अवलोकनो से सामान्यीकरण (या आगमन), जैसे जब कोई व्यक्ति जो यह देखता है कि मनस् की अवस्था शरीर की अवस्था के साथ बराबर बदलती रहती है तो वह यह अनुमान करता है कि ऐसा सर्वदा घटित होगा, और यह कि जब शरीर का अन्त होगा तब उसके साथ मनस् का भी अन्त होगा (अर्थात् कि शरीर के साथ मनस् भी समाप्त हो जायगा)। वे लोग जो यह मानते हैं कि कोई स्वय-सिद्ध सामान्य सत्य नहीं होते (या महत्त्व के नहीं होते) और यह कि हमारे महत्त्वपूर्ण विश्वास तभी उचित रूप से स्थापित होते हैं जब वे अनुभव पर आधारित होते हैं, अनुभववादी कहे जाते हैं।*

आपके विश्वासों के आधारों के बारे मे हमने जो प्रश्न यहाँ उठाये हैं वे दर्शन की उस शाखा से सम्बन्धित हैं जिसे ज्ञान का सिद्धान्त या ज्ञान मीमासा (एपिस्टिमोलॉजी) कहा जाता है। ये प्रश्न तब पैदा होते हैं जब मनुष्य अपने तत्त्वमीमासा और नीतिशास्त्र में अपने विश्वासों का परीक्षण करना आरम्भ करता है, जब वह निश्चितता को प्राप्त करने मे कठिनाई का अनुभव करता है, और फलस्वरूप इस बात का निश्चय करता है कि वह

---

* स्पष्ट ही ऐसे कोई बुद्धिवादी नहीं हैं जिन्होंने सभी मनुष्यों की तरह अपना बहुत सा दर्शन अनुभव के माध्यम से प्राप्त नहीं किया हो। और ऐसे अनुभववादी भी नहीं हैं जिन्होंने, जैसा कि यहाँ उद्धृत उदाहरण में दिखाया गया है, निगमन का निरन्तर उपयोग नहीं किया हो। उनके बीच जो समस्या है वह यह है कि क्या ऐसा कोई सामान्य सत्य है जो अनुभव से किसी भी रूप में उत्पन्न नहीं होता। अनुभववादी तथा बुद्धिवादी दोनों ही तर्क के उपयोग, (जो निगमनात्मक या आगमनात्मक दोनों ही प्रकार का हो सकता है) के लिए प्रतिबद्ध होते हैं, और इसलिए विशद् अर्थ में शिथिल रूप में उन्हें कभी-कभी बुद्धिवादी कह दिया जाता है। तर्क के इन विभिन्न उपयोगों का विस्तारपूर्वक विवेचन करना ही तर्कविज्ञान का कार्य है।

दर्शन में निश्चित ज्ञान प्राप्त करने की सम्भावना के बारे में ध्यानपूर्वक एक प्रारम्भिक खोज करेगा। इस प्रकार हम किसी विश्वास और उसको प्राप्त करने के बारे में विश्वासों के एक समूह की रचना कर डालते हैं।

अब हमने दर्शन की तीन मुख्य शाखाओं को जान लिया है : तत्त्वमीमांसा, नीतिशास्त्र और ज्ञानमीमांसा। अधिक पूर्ण (वैचारिक) रूपरेखा में तर्कशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र और मनोविज्ञान को भी सम्मिलित किया जा सकता है तथा उसका मानचित्र निम्न प्रकार से बनाया जा सकता है :

सैद्धान्तिक दर्शन :

तत्त्वमीमांसा : सत् के बारे में विश्वास,

ज्ञानमीमांसा : विश्वास के बारे में विश्वास,

तर्कशास्त्र : तर्कना की विशिष्ट पद्धति जिसका समावेश कभी-कभी व्यावहारिक दर्शन या मूल्यों के दर्शन में भी होता है

नीतिशास्त्र : आचार-सिद्धान्तों के बारे में विश्वास,

सौन्दर्यशास्त्र : सौन्दर्य के सिद्धान्तों के बारे में विश्वास,

मनोविज्ञान : मनस् का प्रकृति-विज्ञान जो दर्शन की सभी शाखाओं से सम्बन्धित है तथा जो उन पर आश्रित होता है।

(२) **दर्शन के प्रकार**—सत् के विषय में हमारे विश्वास इस अर्थ में बहुत महत्व के होते हैं कि उनके साथ अधिकांश में अन्य विश्वास भी चले आते हैं, जैसे धार्मिक विश्वास, नीतिशास्त्र के विश्वास आदि। यह वैसा ही है जैसा इसे होना चाहिए : क्योंकि ऐसा नहीं हो सकता कि किसी व्यक्ति के व्यावहारिक सिद्धान्तों की व्यवस्था 'किसी सीमा तक उस तरह के' विश्व से सचालित न हो जिससे वह अपने को सम्बन्धित मानता है। और इसके विलोम के रूप में वे वस्तुएँ जिनसे वह किसी रूप में सम्बद्ध होता है चाहे वे चट्टानें हों, रग हों, रुपये हों या मनुष्य हों उसे वास्तविक प्रतीत होंगे और सत् के विषय में उसके निर्णयों को प्रभावित करेंगे।

इस तरह हमारे विश्वास एक दूसरे से जुड़ने लगते हैं तथा वे किसी मूल विश्वास पर आश्रित होते हैं : विचारों के ऐसे पुंज, दर्शन के प्रकार कहलाते हैं। स्पष्टत. प्रकृतिवाद और प्रत्ययवाद (आइडियालिज्म) ऐसे दो प्रकार हैं। पहले तो वे तत्त्वमीमासीय विश्वास होते हैं, किन्तु ये अपने साथ नीतिशास्त्र, मनोविज्ञान एव सौन्दर्यशास्त्र में विभिन्न दृष्टिकोणों को लेकर चलते हैं। जीवन के जिससे हम सम्बन्धित हैं, ये हमारे सामान्य दृष्टिकोण में सबसे अधिक मूल विरोध को प्रस्तुत करते हैं।

ज्ञान के विभिन्न सिद्धान्तों के अनुरूप ही विश्वासों के अन्य पुंज बनते हैं अर्थात् विश्वासों को किस प्रकार प्राप्त करें और उन्हें कैसे स्थापित करें इसके सम्बन्ध में अनेक विश्वास (परस्पर जुड़ने लगते हैं) क्योंकि सत्य को प्राप्त करने की हमारी विधि इस सत्य पर निश्चय ही कुछ प्रभाव डालती है जो हमें प्राप्त होता है। इस प्रकार जब 'बुद्धिवाद' या 'प्रयोजन-

वाद' या 'सहजबोधवाद' यह अन्तिम रूप से निश्चित नहीं करते कि कोई विचारक तत्त्वमीमासा या नीतिशास्त्र मे किन निष्कर्षों पर पहुँचेगा, तो भी इनकी कुछ विशिष्ट प्रवृत्तियाँ होती हैं और इसी कारण इन्हे दर्शन के प्रकारो के रूप मे ग्रहण किया जाता है।

(१०) यदि हम दर्शन के ऐतिहासिक या सभव प्रकारों को किसी एक सम्पूर्ण योजना में रखना चाहे तो हमे विचार के ऐसे अनेको भेदो और पारस्परिक सम्बन्धो पर ध्यान देना होगा जिनकी मैं यहाँ अवहेलना करूँगा।

(उदाहरण के लिए यह मानना बड़ा रोचक होगा कि दर्शन का व्यावहारिक पक्ष कुछ आधारभूत विश्वासो को प्रदान करता है और फिर यह देखना कि किस सीमा तक सकल्प की विविध अभिवृत्तियाँ (ऐटीट्यूड्स) तत्त्वमीमासा और ज्ञान के सिद्धान्त के भेदों पर प्रभाव डालती हैं। क्योकि इस बात मे कोई सदेह नही है कि कोई व्यक्ति जिस भाव या सकल्प की जिस दिशा में सोचना आरम्भ करता है उससे उसकी वह विश्वदृष्टि अवश्य प्रभावित होती है जिसे वह प्राप्त करता है। फिश्टे के इस व्यग्यात्मक कथन में कि 'किस व्यक्ति के द्वारा किस प्रकार का दर्शन अपनाया जाता है यह इस बात पर निर्भर करता है कि वह किस तरह का व्यक्ति है' कम से कम इतना सत्य तो है ही। विलियम जेम्स का विचार था कि विपरीत विश्वदृष्टियों मे मतभेद का स्थान मानव स्वभाव के विरोध मे है: "कोमल-हृदय वाले" को सुन्दर ढग से निर्मित बुद्धिवादी और प्रत्ययवादी दर्शन चाहिए जबकि "कठोर-हृदयवाले" एक ऐसे दृष्टिकोण या विश्वदृष्टि को स्वीकार करते हैं जो खुला हुआ (लूज-एन्डेड), प्रानुभाविक एव यथार्थवादी हो।* कार्ल मार्क्स के अनुसार, नैतिक एव सौन्दर्यात्मक नही अपितु सकल्प का आर्थिक पक्ष ही, दूरदर्शितापूर्ण और साधनों से सम्बन्धित हित ही हमारे समस्त चिन्तन को सचालित करते हैं। यदि इन विचारको का सकल्प के भेदो मे, दर्शन के सभी भेदो के मूल का देखना ठीक है तो दर्शन के प्रकार अत्यन्त स्पष्ट रूप मे इस प्रकार के विरोधी पदो से परिभाषित होने चाहिए जैसे आशावाद और निराशावाद, या एपीक्यूरसवादी और स्टोइकवादी, या सुखवादी-नीतिशास्त्र (हैडोनैस्टिक इथिक्स) और आकारिक नियमवादी नीतिशास्त्र (फॉरमल-लॉ इथिक्स)। मुझे यह जानकर आश्चर्य होता है कि दर्शन के इतिहास मे इस बात को प्रमाणित करने के लिए हमे कितनी कम सामग्री उपलब्ध होती है। नैतिक भिन्नताओ के तत्त्वमीमासीय भिन्नताओ को प्रभावित करने की तुलना मे तत्त्वमीमासीय प्रकारो ने नैतिक प्रकारों पर कहीं अधिक स्पष्ट रूप मे प्रभाव डाला है।)**

---

* प्रैग्मैटिज्म, पृ० १२।

** एक व्यक्ति ने अपने पत्र में हमारा इस ओर ध्यान आकर्षित किया है कि अल्बर्ट श्वाइट्जर ने 'इथिक्स एण्ड सिविलिजेशन' मे यह दिखाया है कि दर्शन का इतिहास नीतिशास्त्र का परिणाम है। ब बोसाके ने भी अपनी कृति 'द मीटिंग ऑव एक्सट्रीम्स इन कान्टम्पोररी फिलॉसोफि' में इसी प्रकार के संबध को दिखाया है। किसी सीमा तक आधुनिक दर्शन का वर्णन "आशावाद के मनमाने पोषण" के रूप मे किया जा सकता है: परन्तु तत्त्वमीमासा में हमारे जो स्वाभाविक पूर्वाग्रह हैं उन पर प्रच्छन्न शका, हमे, उन्हें आधार वाक्यों के रूप में स्वीकार करने से मुक्ति दे देती है।

अत मैं प्रारम्भ मे ही यह अगीकार करता हूं कि मेरी रुचि पूर्णता मे नहीं है : 'प्रकारों' की इस धारणा से यह अभीष्ट है कि वह हमे 'अनुपयुक्त सर्वेक्षण' के उलझे हुए पारस्परिक अन्तरो एव उस विस्तार से बचने मे योग देगा जिसको व्यवस्था में लाना सभव नहीं और जो मेरी समझ मे विचार का शत्रु है और जो अमरीकी शिक्षा के प्रमुख अभिशापो मे से एक है। मेरा लक्ष्य उन महान् और शाश्वत प्रश्नो को यथेष्ट मात्रा मे प्रस्तुत करना है जिससे विद्यार्थी अपने विचारों को पहचानें एव उन्हे यथोचित स्थान दे सकें, जाति के महान विचारको की अनुशसा के लिए तैयार हो सकें और अपने लिए एक ऐसी विश्वदृष्टि का निर्माण करने में समर्थ हो सकें जो अनुभवहीन चिन्तन के फलस्वरूप अबोध एवं प्रतीत्यात्मक घोटाले की तुलना मे अधिक ठीक समझा जा सकता है। हम दर्शन के सभी प्रकारो पर नही अपितु प्रमुख रूप मे केवल ऐसे ही प्रकारों पर विचार करना चाहते हैं जो प्रकृत (नैचुरल) हैं—'प्रकृत' इस अर्थ मे कि मानवीय विचार के सभी महान युगो मे हमे उनके पक्ष मे मत प्राप्त होगे, और इस अर्थ मे भी कि प्रत्येक व्यक्तिगत मानवीय मनस् मे वस्तुओं को उस तरह से देखने की प्रवृत्ति होगी।

यदि आप इन प्रकारों को भलीभांति समझते हैं तो, हम जैसे-जैसे उनकी समीक्षा करेंगे वैसे-वैसे ही आप पायेंगे कि आपमे उनमे से प्रत्येक की ओर कुछ झुकाव है : और यह झुकाव पूर्णत निराधार नहीं होगा। क्योंकि हम किसी भी ऐसे प्रकार पर यहाँ ध्यान नहीं देंगे जिसमें बहुत अधिक सत्य न हो। जब हम अपनी समीक्षा समाप्त कर लेंगे, तो हमें इस प्रश्न का उत्तर देना होगा—और हम उत्तर देने का प्रयत्न करेंगे—कि इन विभिन्न आंशिक सत्यों को किसी एक सगतिपूर्ण दर्शन मे कैसे समायोजित किया जा सकता है।

□□□

अध्याय २

दर्शन का मौलिक रूप : अध्यात्मवाद

(११) ऐसा कोई युग नहीं था जब उस विश्व के विषयमे जिस मे हम रहते हैं विश्वासों के पुज के रूप म कोई दर्शन न रहा हो। इन विश्वासो का परीक्षण अपेक्षाकृत आधुनिक है, जो सभवतया केवल दो या तीन हजार वर्ष पुराना ही है।

पहले के लम्बे और आध्यात्मक काल मे, जिसमे दर्शन की समालोचना नहीं हुई थी, बहुत कुछ ऐसा है जिस पर हमे ध्यान देना चाहिए। क्या आपको ऐसा प्रतीत होता है कि हम कभी भी आदिम दृष्टिकोणों से दूर हुए हैं, या हम उनसे होना चाहिए ? जो व्यक्ति हाँ' मे उत्तर देता है उसे यह सोचने के लिये तैयार रहना चाहिए कि किसी महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर मनुष्य का सामान्य विश्वास पूर्णत गलत हो सकता है। जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मैं इस पर विश्वास नहीं कर सकता ऐसी अवस्थाओ मे मुझे ऐसा लगता है कि भ्रान्ति केवल परिधि का नाश करती है, किन्तु केन्द्र ज्यो का त्यो बना रहता है। इन युगों में अपनी मानसिक प्रक्रियाएँ तो उन्नत हुई हैं, किन्तु हमने उन्हें विपरीत दिशा नही दी है और इस उन्नति के लिए भी कुछ कीमत चुकानी पडी है कुछ अगलियो की स्मृति अथवा अवलोकन की शक्ति के लिए हम क्या देंगे ? हमने ध्यान की स्वेच्छित एकाग्रता की शक्ति का विकास किया जो पहले के मनुष्य को अज्ञात थी और जगत् के बारे मे हमारी जो सामान्य प्रतीति है उसमे हमने उस सन्तुलन को खोया है जो उसके लिये नैसर्गिक था। कभी कभी हम अपनी कृत्रिमता का परित्याग करके ससार को आदिम मनुष्य के सरल दृष्टिकोण से देखना चाहते हैं। [ऐसा समझा जाता है कि] विश्लेषण के महत्त्वपूर्ण अश में दार्शनिक लोग इस खोज मे लगे हुये हैं कि उस सबके अतिरिक्त जो हमारा अर्जित ज्ञान उस पर आरोपित करता है वह क्या है जो हम अनुभव में 'प्रदत्त' होता है। यह ठीक उसी प्रकार का प्रयत्न होगा जैसा आधा घण्टा 'दरियाई घोडे' शब्द के बारे मे एक बार भी सोचे बिना आप व्यतीत करने मे करें। दृष्टिकोण की शुद्ध ताजगी के लिए हमे वस्तुओ को परोक्षत आदिम मनुष्य की दृष्टि से देखना होगा। निस्सन्देह हम लोग जगत् को युक्तियुक्त रूप से आँकने के लिए उस आदिम मनुष्य की अपेक्षा बहुत अधिक अच्छी स्थिति मे हैं। मैं केवल यह कह रहा हूँ कि शायद वह पूर्ण रूप से गलत नही था और इसका अर्थ यह होगा कि हम लोग भी पूर्ण रूप से तब तक सही नहीं होंगे जब तक कि हमारे और उसके बीच कुछ समान न हो। उसके विचार सर्वदा स्फूर्तिदायक होंगे और इसलिये वे हमेशा हमारे सम्मान के पात्र होंगे।

(१२) दर्शन का आद्यरूप धर्म मे निहित था, अर्थात् उसमें जिसे हम धर्म (रिलीजन)

कहते हैं। परन्तु उन युगों में जबकि विवेचन नहीं किया जाता था, धर्म उस रूप में एक विशिष्ट दृष्टिकोण या जीवनचर्या नहीं था जैसा यह हमारे समय में है जिसे किसी समुदाय के कुछ सदस्य अंगीकार करते हैं और दूसरे नहीं। यह सामूहिक जीवन का एक सामान्य अंग था। अत हम कह सकते हैं कि धर्म, जीवन का दैविक शक्तियों की ओर स्वाभाविक निर्देश है : उस आदि विश्वास की ओर जिसके अनुसार ये शक्तियाँ अदृश्य होने पर भी निस्सन्दिग्ध रूप में हैं। ये अनेकों दृश्य कार्यों के कारण हैं और उन्हें सामान्य व्यावहारिक ज्ञान का अंग माना जाता है।

धर्म का सबसे अधिक स्पष्ट भाग, जीवन का इन शक्तियों की ओर व्यावहारिक निर्देश है, जो कर्मकाण्ड और आचार में प्रकट होता है। अच्छे भाग्य के लिए वैज्ञानिक प्रणाली के साथ-साथ जादू को भी प्रणाली के रूप में अपनाया गया है। जीवन के संकटों से अपने को सुरक्षित रखने के लिए प्रार्थना इन शक्तियों के प्रति सौदे-समझौते के रूप में अथवा उनकी परमशक्ति के एक अंश को स्वय के लिए प्राप्त करने में निवेदन है। सत्ता की संकटावस्था—संकट के अवसरों—पर विशेष यन्त्र-तन्त्र और झाड़-फूंक जैसे तरीके अपनायें जाते हैं। मृत्यु, विवाह, जन्म, राजतिलक, विजय एवं सार्वजनिक-प्रायश्चित्त के अवसर पर महान् उत्सव किये जाते हैं। ये निष्ठा के किसी ऐसे विषय के प्रति श्रद्धाभाव जगाकर समुदायों को नजदीक लाते हैं, जो शासक और कानून दोनों का आधार होता है, दोनों की शक्ति को उत्प्रेरित करता है और सामाजिक-संबद्धता के प्रारम्भिक प्रयासों में सहायता करता है।

धर्म के इस व्यावहारिक और प्रकट पक्ष में जीवन के, इन शक्तियों से सैद्धान्तिक सम्बन्ध की बात निहित होती है, जिसे किन्हीं विश्वासों की एक परम्परा के रूप में ले सकते हैं। विश्वास सम्बन्धी ये धारणाएँ वह दर्शन है जिसका अर्थ आचार-संहिता और कर्मकाण्ड [धार्मिक कृत्यों] में प्रस्तुत होता है। प्राचीन धार्मिक विश्वासों (क्रीड्स) को व्यक्त सूत्रों के रूप में यदा-कदा ही प्रस्तुत किया गया है, उन्हें मिथक एवं कविता में या अधिक मूकरूप से केवल पारम्परिक प्रथाओं में अभिव्यक्त किया जा सकता है। जो भी हो, अभी हम इन्हीं विचारों से सम्बन्धित हैं। यही उस पृष्ठभूमि का निर्माण करते हैं जिसमें समस्त मानवीय दार्शनिक चिन्तन-विचार होता है।

(१३) इन विचारों के—लोकोत्तर क्षेत्र के विचार जिसमें अतिमानवीय शक्तियों का निवास है यथा प्रेतात्माएँ, आत्माएँ, देवात्माएँ जो दृश्य-जगत् से भिन्न होने पर भी उससे सक्रिय रूप से सम्बन्धित हैं—सामान्य रूप से प्रत्येक व्यक्ति परिचित है।

प्राग् सभ्य कल्पनाओं की सभी कथाओं, प्राचीन काल के बहुदेववाद यत्र-तत्र एकदेववाद का उद्भव, महान जातीय धर्मों का विकास और आज के सार्वजनीन धर्म, लोकोत्तर जगत् की विविध काल्पनिक ऐसी धारणाओं की हम अवहेलना करेंगे जो विभिन्न धर्मों एवं धर्म के विभिन्न स्तरों में भेद दर्शाती हैं। इस दार्शनिक वैविध्य में समान बातें क्या हैं, इसे बताने के लिए एक प्रकार के असाधारण कौशल की आवश्यकता होगी, फिर भी समानताएँ तो हैं ही। यदि इनके संक्षिप्तीकरण का निम्नलिखित प्रयास किया जाय तो ?

इन्द्रियों के द्वारा प्रकट इस जगत् से भिन्न एक और भी जगत् है।

यह दूसरा जगत् किसी तरह से हमारे साधारण प्रत्यक्षों से गुप्त रहता है; और फिर भी यह प्रकृति से अविच्छिन्न है और यदि किसी को सही मार्ग का पता हो तो वह दोनों दिशाओं से इसमें आसानी से पहुँच सकता है;

यह उन दैवी शक्तियों अथवा सत्ताओं का निवास है, जो यह सदैव जानती हैं कि हम तक कैसे पहुँचा जा सकता है, किन्तु हमें यह इतना स्पष्ट नहीं होता कि हम उन तक कैसे पहुँचें; यह 'दैवी' शब्द शक्ति (या यथार्थ) और महत्त्व में उत्कृष्टता का संकेत करता है; इस दूसरे शाश्वत जगत् से व्युत्पन्न तथा इस पर निरन्तर आश्रित और उसकी ओर आज्ञा पालन एवं आराधना की वृत्ति रखने के लिए बाध्य मानवीय जगत् सदैव रहेगा ऐसा नहीं कहा जा सकता;

जीने के ऐसे तरीके हैं जो दैवी शक्तियों से सामञ्जस्य रखते हैं, और अन्य तरीके हैं जो पूर्णतः असामञ्जस्य रखते हैं, इन तरीकों को जाना जा सकता है; मरने पर मनुष्यों की आत्माएँ अथवा उनमें से कुछ की आत्माएँ, इस अन्य जगत् में पहुँच जाती हैं।

इस आद्य दर्शन को जो विकसित धर्म में परमात्मा (ईश्वर) तथा अमरता के विचारों के चारों ओर केन्द्रित हो जाता है, हम अध्यात्मवाद कहेंगे।

(१४) यह कोई नहीं जानता कि ये विचार आरम्भ में (मूल रूप में) कैसे उत्पन्न हुए : और एक दृष्टिकोण से यह प्रश्न निरर्थक है। इस विषय में चिन्तन की स्वतन्त्र गतिविधि को अवरुद्ध करने (रोकने) के लिए ऐतिहासिक रूप से स्पष्टतः कुछ भी नहीं है और चिन्तन ने अपनी स्वतन्त्रता का पूरा लाभ उठाया है। इस प्रश्न पर ध्यान देने से पूर्व प्रायः कोई भी, धर्म के आरम्भ के बारे में व्याख्या कर सकता है। किन्तु धार्मिक विचारों (प्रत्ययों) के मूल के बारे में कतिपय न्यूनाधिक उपयुक्त धारणाओं को प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाय, इसके कुछ विशिष्ट कारण हैं, अर्थात् ये विचार स्वयं ही दुर्ग्राह्य हैं, वे शब्द जिनका हम प्रयोग करते हैं, इस जगत् के हमारे अनुभव से लिए जाते हैं और इस 'अन्य' जगत् पर ठीक-ठीक प्रयुक्त नहीं होते, इनके अर्थ को जानने का सर्वोत्तम संकेत, यदि हम उसे प्राप्त कर सकें तो, अनुभव का वह सन्दर्भ होगा जिसमें वे उत्पन्न हुए थे।

इन आरम्भ-बिन्दुओं के बारे में जिन अनेकों सिद्धान्तों को माना जाता रहा है और माना जाता है वे मुझे इस बात का संकेत करते हैं कि उनका कोई एक स्रोत नहीं है, अपितु अनेकों मूल कारण हैं, जिनका हम चिन्तनात्मक, भावात्मक और नीतिपरक नामों से उल्लेख कर सकते हैं।

(१५) चिन्तनात्मक मूल : इससे अधिक और कुछ निश्चित नहीं है कि धार्मिक विचार मूल 'कार्य-कारण के सिद्धान्त' के रूप में उदित नहीं होते (जैसा कि किसी असावधानी के क्षण में हरबर्ट स्पेन्सर ने सुझाया है)। हम आदिमकालीन मनुष्य को इस रूप में चित्रित नहीं कर सकते कि वह ध्यान लगाकर बैठा है और इस बात पर सोच रहा

है कि वह स्वय और प्रकृतिजगत् कहाँ से उद्भूत हुये। आपातत आश्चर्य इतने व्यापक रूप म प्रकट नहीं हुआ अपितु वह पहले, शक्ति के उन निकट के प्रदर्शनो के अवसर पर आरम्भ होता है जो अनुशसा अथवा आशका को उत्पन्न [उद्दीप्त] करते हैं।

फिर भी जब तक मानवीय प्राणी रहा है तब तक वैचारिक जिज्ञासा की मुक्त क्रीडा भी होती रही है। मन प्राकृतिक घटनाओ के साथ दौडन और अनुसरणीय कारणता के किनारे पहुँचने की ओर प्रवृत्त होता है और तब जो अप्रत्यक्ष होता है उसमे झुकाव भरता है। ग्रहो की परिक्रमा का रहस्य और पुनरुत्पत्ति के सामयिक रूप म शेष होने पर उसकी चमत्कारी उत्पत्ति ने कुछ ही जातियों को जिज्ञासा से अछूता छोडा है।

ऐसा माना गया है कि स्वप्नों तथा विभ्रमो[1] से किसी ऐसे दूसरे जगत् की प्रतीति के विषय में कुछ बोध होता है जिसमे आत्माएं[1] मृत्यु के बाद जीवित रह सकती हैं और असाधारण शक्ति का उपभोग कर सकती हैं। शायद कुछ ही बोध होता है। किन्तु सभी दैवी शक्तियो के बारे मे आदिम मनुष्य ने और उससे भी कम बाद मे आने वाले मनुष्य ने कल्पना नहीं की थी, चाहे उन्होंने कितनी ही चित्रात्मक भाषा का प्रयोग क्यों न किया हो। मन, वाकोन्डा आदि एक अवैयक्तिक शक्ति के नाम हैं, वे किसी अर्ध-मानवीय (मानुषिक) आकार के लिए नहीं हैं, जैसे कि किसी स्वप्न मे प्रस्तुत हो सकते हैं। आदिम मनुष्य के देवता उसके जाग्रत और स्वप्न दोनो अवस्थाओ की शक्ति होते हैं। ऐसा सम्भव हो सकता है कि दैवी शक्ति के कतिपय विचार गहन-सामाजिक अनुभव से प्राप्त हुए हों, क्योंकि मानव समूह की चेतना किसी अवसर पर अपने सदस्यो को प्रेरित तथा अधिशासित करती है और उन्हे उनके सामान्य अस्तित्व से बहुत ऊँचा उठा देती है।

परन्तु इस विचार का बिम्ब-विधान उस दृढ विश्वास से कम महत्वपूर्ण है जो वह व्यक्त करता है और जो समय के साथ अधिक दृढ होता जाता है। जिस प्रकार जगत् की अनेकों वस्तुएँ, बातें और घटनाएँ जो स्वत घटित नहीं हो सकती, अपितु वे किसी स्रष्टा की ओर सकेत करती हैं, इसी प्रकार स्वय जगत् और इसमे हमारी उपस्थिति सजन अथवा उत्तर-दायित्व की समस्या को उत्पन्न करते हैं जिसकी मानवीय चिन्तन अवहेलना नही कर सकता। बुद्धि का ऐसा आग्रह प्रतीत होता है कि जगत् का या तो कोई एक स्रष्टा होना चाहिए अथवा अनेक सहयोगी स्रष्टा होने चाहिए।

(१६) भावात्मक मूल—दैवी सत्ता एक शक्ति है और इस रूप मे वह एक तथ्य है, परन्तु वह तथ्य से सर्वदा अधिक अर्थात् एक गुण होती है। इसे 'पवित्र' अथवा 'पावन' माना जाता है। इस प्रकार के विचार हमारे चिन्तन की शान्त अवस्थाओ के नही अपितु भावना के फल हैं।

अत यह पुराना सिद्धान्त कि 'देवताओ की सृष्टि भय ने की' ऐसे किसी भी अन्य सिद्धान्त से अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त है जो शुद्ध चिन्तन पर आश्रित हो। परन्तु इससे सबद्ध सवेग कदाचित ही भय का रहा हो, क्योंकि, इस बात के प्रमाण मिलने पर भी, कि आरम्भ म [हमे] प्रेतात्माओ का भय रहा है, धर्म की आदिम भाषा अनुशसा एव आश्चर्य की पदावलियो पर आश्रित है दैवी सत्ता सूर्य अथवा अग्नि की भांति 'श्रेष्ठ' अथवा

'द्युनिमान' और आभायुक्त (दीप्त) है। स्पष्टतया धर्म मे कुछ ऐसा है (जैसे भूतो का भय) जिसने आरम्भ के मनुष्य को जगत् मे उससे अधिक भीरु बना दिया जितना वह इसके बिना होता। उतने ही स्पष्ट रूप मे धर्म मे और कुछ भी है (जैसे—सरक्षक आत्माएँ, टोटेम [गए चिह्न] जड वस्तु पूजा[२]) जिसने उसे अपेक्षाकृत अधिक विश्वास प्रदान किया है, उसकी तुलना मे जितना उसमे उसके बिना होता। तो, यहाँ मान्यता यह है कि धर्म किसी भावात्मक अनुभव की वजह से है जिसमे मनुष्य यह देख लेता प्रतीत होता है कि वे शक्तियाँ जो प्रकृति के आवरण के पीछे वास्तव मे वस्तुओ को नियन्त्रित कर रही थी, और जिनकी विशालता एव रहस्यमय स्वभाव के परिणामस्वरूप हमे भयभीत होना चाहिए, वस्तुत अनुकूल अथवा मागलिक हैं।

अब, आदिम मनुष्य की ऐसी कोई भी धारणा कम से कम ध्यान देने योग्य तो है ही। क्योकि हमारी अपेक्षा उसके पास जगत् को अनुकूल मानने का बहुत कम कारण था। उसके पास मृत्यु रोग अथवा दुर्भिक्ष से बचने के बहुत कम उपाय थे उसके पास शायद, जीने के साधन भी बहुत कम थे, मात्र अस्तित्व के लिए उसका सघर्ष निरन्तर जारी था, और भौतिक प्रकृति बहुधा उसको मिटा देने की चुनौती देती रहती थी। फिर भी उसके पास धर्म था जो बहुत बडे अश मे प्रकृति के उस दावे के विरुद्ध एक व्यवस्थित चुनौती का रूप रखता था, जिसमे वह स्वय को मनुष्य की स्वामिनी मानती थी। आरभिक धर्म की, यदि सब धर्मों की नही तो, एक महान् रीति मृतको को रखने की रीति थी. और वह रीति उस प्रत्यक्षगत स्पष्ट तथ्य की सस्थागत अस्वीकृति थी कि प्रकृति की विजय हो गई है। लगभग सभी जगह, बहुधा भारी भौतिक बलि दे के, दूसरे लोको मे गमन करने वाली जीवात्मा के लिए जो मृत्यु के बाद भी बची रहती है, कुछ प्रबन्ध किया जाता है। [उत्तरजीविता मरणोपरान्त आत्मा की सत्ता] मे विश्वास की आप व्याख्या कैसे करते हैं? क्या यह हमारी उस प्रवृत्ति का परिणाम है जिसकी वजह से हम जिसमे विश्वास करना चाहते हैं उसे सत्य मान लेते हैं? यदि ऐसा है तो यह विलास महँगा है। अथवा यह ध्यान मे रखते हुए कि अनुभूति के सकट अत्यन्त गहन मानसिक क्रिया के क्षण भी हैं, क्या यह वस्तुओ के वस्तुनिष्ठ विस्तार मे उस समय किसी परिवर्तन का परिणाम है (घृणा की अनुभूति से अनुकूलता रखत हुए) जब दारुण दु ख अथवा आक्रोश के प्रभाव के अन्तर्गत अधिक कुशाग्र सूझ रखने वाले व्यक्ति यह देखते हैं कि प्रकृति विश्व का केवल एक अश है और उसके कठोर आवरण के पीछे एक कृपालु सत्ता है?

दोनो ही स्थितियो मे धार्मिक विचार का अर्थ इस बात का बोध अथवा प्रकाशन है कि वस्तुओं को देखने का एक ऐसा भी तरीका है जो अत्यन्त बुरे अनुभवो के विषय मे भी हमारी दृष्टि को मोड देता है यदि हम एक ऐसी अलौकिक पूरक सत्ता को लें जिसमे वर्तमान जीवन की अपूर्णता पूर्ण हो जाती है और हमारे गहनतम मूल्यो का सरक्षण भी हो जाता है।

(१७) नैतिक मूल—मित्रता अथवा सभव मित्रता देवताओ के दैवी गुण का केवल एक अश है, दूसरा अश नैतिक आवश्यकता के स्रोत के रूप मे उनकी कठोरता है। यह

विचार जिस सन्दर्भ में उठता है वह यह परिस्थिति हो सकती है कि मनुष्य को अपना जीवन ऐसे प्रतिबन्धों एवं निषेधों के दौर में होकर गुजारना पड़ता है जो उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति की स्वतन्त्र क्रिया को सीमित कर देते हैं। नैसर्गिक युयुत्सा, लोभ और काम प्रवृत्ति के कुछ दमन के बिना किसी भी तरह का सामाजिक जीवन सम्भव नहीं है और इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि यह विश्वास कि देवता लोग 'तू यह नहीं करेगा" जैसे आदेशों के साथ इन माँगों के पक्ष में हैं क्योंकि आत्म-नियन्त्रण ने सामाजिक विकास के प्रारम्भिक चरणों में बहुत योगदान किया है। परन्तु यह कैसे हुआ कि देवता उस ओर थे अथवा इस विषय के सम्बन्ध में किंचित भी चिन्तित थे।

इस सम्बन्ध में दो मत हैं। कुछ लोग मानते हैं कि यह सम्बन्ध मनुष्यकृत था। आरम्भ में नेताओं अथवा शासकों का जिन पर यह उत्तरदायित्व था कि वे नियमों का पालन करवाएँ अलौकिक सत्ता की पूर्व स्थापित प्रतिष्ठा के प्रति अपील करने का कोई हेतु रहा होगा। नियम की अत्यन्त प्राचीन संहिताएँ वास्तव में इस परिचय के साथ आरम्भ होती हैं कि 'प्रभु ने ऐसा कहा' : रूसो अपने सोशियल कान्ट्रैक्ट[3] में इस बात की ओर संकेत करता है कि किसी महान् विधायक को कितने गहन रूप से इस प्रकार के आधार की आवश्यकता है—शुद्ध प्रजातन्त्र के इस समर्थक का कहना था कि 'मनुष्यों को कानून प्रदान करने के लिए देवताओं की आवश्यकता है।" दूसरा मत यह है कि प्रत्येक व्यक्ति न्यूनाधिक अस्पष्ट रूप से यह अनुभव करता है कि आत्म नियन्त्रण के लिए आदेश उसके अपने विकास की दिशा में [अग्रसर होना] है, और यह तब भी होगा जबकि कोई भी कृत्रिम सामाजिक आवश्यकता नहीं होगी। चाहे विधायक हो या न हो व्यक्तिगत स्नेह में कुछ ऐसा है जो स्वभावतः स्वार्थपरता और विषयासक्ति को सीमित कर देता है। आत्म नियन्त्रण की जो यह धारणा है कि उसे स्नेह के सीमित वृत्त के परे समाज के सभी सदस्यों, अथवा सभी मनुष्यों के सन्दर्भ में भी प्रयुक्त होना चाहिए, उस समय हमारे ध्यान में आती है जब हम लौकिक एवं अलौकिक सभी वस्तुओं को व्यापक रूप में देखने का प्रयास करते हैं। मेरी दृष्टि में केवल बाद का मत ही अधिक युक्तियुक्त है। जब तक लोग इस बात के प्रति संवेदनशील नहीं होते कि जगत् की सनातन गति में कुछ ऐसा था जो उन्हें शालीनता और अपने पड़ोसियों के प्रति सम्मान की भावना में प्रेरित करता है, तब तक इस राजनैतिक घोषणा को कि "प्रभु ने ऐसा कहा है" गंभीरता से नहीं लिया गया होता। प्रत्येक मनुष्य में उत्तरदायित्व का एक स्पष्ट बोध होता है जिसका निर्देश बाह्योन्मुख होता है, और यह नैसर्गिक रूप से उसकी दैविक सत्ता की धारणाओं से यदि उसमें वे विद्यमान हैं तो, सम्बन्धित है, अथवा यह हो सकता है कि उत्तरदायित्व का बोध इतना प्रबल हो कि वह ऐसी धारणाओं को उत्पन्न कर दे। यह 'पवित्र' [सत्ता] ऐसी है जो हमसे दूर है, जो यथार्थ है और हम उसके सम्मुख विनम्र होने के लिए बाध्य हैं, और यह पश्चात्ताप के लिए आवश्यक है। निश्चय ही जो लोग यह समझते हैं कि इन आधारभूत नियमों का लोग पालन नहीं करेंगे यदि धर्म का राजनैतिक रूप में उपयोग न किया जाय, मानवीय स्वभाव के कुछ स्पष्टतम तथ्यों के प्रति असंवेदनशील होते हैं।

(१८) इस प्रकार धार्मिक विचारों के मूल अनेकों होते हैं और ये विचार स्वयं भी अनेकों होते हैं केवल बहुत लम्बे और कष्टमय संघर्ष के पश्चात् ही वे व्यवस्थित पन्थों के रूप में प्रकट होते हैं। प्रारम्भ में धर्म बिना अधिक विवेक के जीवन के समस्त उदात्त एवं उत्तेजक अनुभवों को अलौकिक के एक अस्पष्ट अर्थ में समाविष्ट कर लेता है और उसका रीतिपरक उत्साह या तो उच्च कलात्मक एवं नैतिक उपलब्धियों की दिशा में अर्थात् नृत्य, नाटक, वास्तुकला के विकास में अथवा उच्छृंखलित अतिक्रमण, नशे, युद्धोन्मत्तता, कट्टरवादिता एवं मानवीय शक्ति के सामान्य ह्रास की दिशा में व्यक्त होता है।

धर्म का सैद्धान्तिक स्पष्टीकरण देवताओं के जगत् के एकीकरण की दिशा में अग्रसर होता है, और सृष्टि, चमत्कार, दैवी विधान की धारणाओं के अन्तर्गत ईश्वर एवं जगत् के सम्बन्धों को ग्रहण करता है। चमत्कार जो कि दैवी सत्ता का प्राकृतिक मामलों में समय-समय पर हस्तक्षेप है, स्वयं को दैवी विधाता की धारणा में परिसमाप्त करने की ओर उन्मुख होता प्रतीत होता है, क्योंकि जब ईश्वर ही सब कुछ करता है तो कुछ भी विशिष्टतः अलौकिक दिखलाई नहीं देता। प्रारम्भिक अवस्थाओं में धर्मों में दैवी कर्म स्थानीय होता है, परन्तु ऐसी असंख्य शक्तियाँ होती हैं और इसलिए प्रत्येक कार्य किसी न किसी शक्ति के द्वारा किया हुआ माना जा सकता है। अत्यन्त विकसित धर्मों में भी इस सार्वभौम दैवी कर्म की धारणा तो बनी रहती है किन्तु तब भी एक ईश्वर ही सर्वत्र होता है। उसका कर्म चमत्कारपूर्ण तो होता है, किन्तु रहस्यपूर्ण ढंग से मूक एवं अप्रत्यक्ष होता है।

चमत्कार और दैवी विधान की इन धारणाओं में ही, अध्यात्मवाद को सर्वप्रथम व्यवस्थित विज्ञान की ओर उन्मुख प्रथम प्रयासों से प्रतिकूल विरोध का सामना करना पड़ता है।

(१९) धर्म की सैद्धान्तिक हानियों से पूर्व उसकी व्यावहारिक हानियों को महसूस किया गया, क्योंकि जब विज्ञान अपनी अपेक्षाकृत अपरिपक्व अवस्थाओं में था, वह भौतिक तथ्यों का केवल घटना स्थलीय सम्बन्धी था, और बिना किसी अशान्ति के अलौकिक हस्तक्षेप के साथ रह सकता था। मृतकों के प्रबन्ध करने में हुई महत् हानियाँ, विशाल मन्दिरों और पुजारियों के खर्च के लिए सामान्य सामाजिक पूँजी में से धन लिया जाना, लड़ाई आरम्भ करने या जहाज को खेने से पूर्व अनुकूल मुहूर्त की प्रतीक्षा में स्पष्ट अवसर को खो देने से होने वाली हानियाँ, धर्म के कारण होने वाली इस प्रकार की व्यावहारिक अपव्ययता को लोगों ने बहुत पहले ही महसूस कर लिया था। इस जगत् से हटाकर किसी दूसरे जगत् से मानवीय लगाव को जोड़ना, अदृश्य के व्यर्थ ध्यान में चिन्ता का अपव्यय जैसी अधिक सूक्ष्म हानियाँ प्राचीन सभ्यताओं को कम महत्त्वपूर्ण प्रतीत हुईं।

परन्तु विज्ञान की जब व्यवस्थित उन्नति हुई, जैसा यूनान में हुआ, तो इसका अध्यात्मवाद की सैद्धान्तिक संरचना से विरोध अवश्यम्भावी था। प्राकृतिक नियम का विचार और चमत्कार सहज ही साथ नहीं रह सकते थे। स्वास्थ्य विज्ञान और औषध के द्वारा रोग के निदान का संघर्ष मन्त्र-तन्त्र और जादू टोने द्वारा रोग के निदान से होना ही चाहिए। शायद

हिप्पोक्रिटीज ने ही, जो कि पाश्चात्य औषध-विज्ञान का जनक था, इस संघर्ष की सबसे पहले घोषणा की थी। ४०० ई० पूर्व के अपने एक ग्रन्थ मे, एपिलेप्सि (मिरगी)* जो उस समय सामान्यत पवित्र रोग कहा जाता था—के विषय मे विचार करते हुए वह कहता है—

"वह पवित्र कहलाने वाला रोग, मुझे अन्य रोगों से अधिक दैवी प्रतीत नहीं होता, अन्य रोगों की भांति ही इसकी भी एक भौतिक प्रकृति (फाइसिस) है।* मनुष्य अपने अज्ञान और आश्चर्य के वशीभूत होकर इसके मूल को दैवी मान लेते हैं, क्योंकि यह एक विशिष्ट अवस्था होती है और उसे सहज ही नही समझा जाता। इस पर भी इसे यदि केवल इसलिए दैवी मान लिया जाय कि वह अद्भुत है, तो एक नही अनेक पवित्र रोगो को मानना पडेगा। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि वे लोग जो इन अवस्थाओ के लिए देवताओ की ओर संकेत करते हैं कतिपय उन नीम हकीमो के समान हैं जो अत्यधिक धार्मिक होने का और उसे जानने का दावा करते हैं जो अन्यों के लिए छुपा हुआ है।"*

यूनानी विचार मे यह संघर्ष पूर्णतया व्यक्त नही हुआ था और जिसे हम आधुनिक युग कहते हैं उसके प्रारम्भ मे ही यह पुनरुज्जीवित हो गया और इसे अन्त तक लडा गया। सौ वर्षों की छोटी सी अवधि कॉपरनिकस (१४७३-१५४३) से गैलिलियो (१५६४-१६४२) तक मे उस कार्य को सिद्धान्तत पूरा कर लिया गया जिसने भौतिक विज्ञान को स्वायत्तता प्रदान की।

(२०) परन्तु यह कौनसा संघर्ष है? क्या यह विज्ञान का धर्म के साथ संघर्ष है? नहीं, क्योंकि धर्म तो जीवन पद्धति है, सिद्धान्त नही। क्या विज्ञान का ईश्वर विज्ञान के साथ संघर्ष है? किसी हद तक, यद्यपि विज्ञान और ईश्वर विज्ञान दोनो ही एक दूसरे की पूरी सीमा मे कहीं भी एक दूसरे से सम्बन्धित नही होते। क्या यह विज्ञान का अन्ध विश्वास के साथ [संघर्ष] है? हाँ। परन्तु मान लीजिए हम घोषणा कर दें जैसा कि मैं सोचता हूँ हम कर देनी चाहिए, कि ऐसी किसी भी प्रतियोगिता (संघर्ष) मे विज्ञान को वह सब कुछ दे दिया जाना चाहिए जिसके लिए वह दावा करता है, तो क्या अध्यात्मवाद की सैद्धान्तिक संरचना में भी कुछ शेष रहता है?

सुकरात ने, जो यूनानी तर्क के मध्य जीवित रहा, सोचा कि कुछ बचा रहता है। उसके अनुसार जीवन के क्रियाकलाप का संचालन तीन निर्देशक तत्त्वों द्वारा होता था: साधारण तकनीक का विज्ञान द्वारा, नैतिक सिद्धान्तो का बुद्धिवादी दर्शन द्वारा और अपेक्षाकृत महान् निर्णयों का दैवी प्रबोधको एव आप्तपुरुषो द्वारा। क्योंकि जैसा कि उसने कहा था 'देवताओं ने अत्यधिक महत्वपूर्ण घटनाओ को स्वय के लिए आरक्षित कर रखा था।"** अत्यधिक संख्या मे अन्यों ने इस बात पर विचार किया है कि विज्ञान ने दैवी शक्तियों की ओर जीवन

---

* साइंस, रिलीजन एण्ड रियलिटी [विज्ञान, धर्म तथा वास्तविकता] (सम्पादक—जे नीडहैम पृ ९६ और आगे) में चार्ल्स सिंगर द्वारा उद्धृत एव अनूदित।

** जीनोफोन- मैमोरिबिलिया, कैंसल द्वारा सम्पादित, पृष्ठ ११।

के निर्देश को निरर्थक बना दिया है, क्योंकि तथाकथित अलौकिक जगत् का कोई अस्तित्व नहीं है। ये लोग प्रकृतिवादी होते हैं,* और इन लोगों की विश्व-दृष्टि दर्शन का वह प्रथम प्रकार है जिसकी हम विस्तार से परीक्षा करेंगे।

□□□

---

* इस बात पर निरन्तर बिना अधिक बल दिये यह नोट करना पर्याप्त होगा कि प्रत्येक प्रकृतिवादी 'प्रकृतिवादी' नहीं है और प्रत्येक 'प्रकृतिवादी' प्रकृतिवादी नहीं है।

अध्याय ३

जगत् का प्रकृतिवादी दृष्टिकोण

(२१) दार्शनिक सन्दर्भ मे 'प्रकृति' शब्द का अर्थ काफी व्यापक है। यह 'प्रकृति' केवल वन, पहाड, वन्य-पशुओ की ही नही है। देश एव काल के विशाल प्रसार मे यह खगोल-विज्ञान की और अपने परमाणवीय एव उप-परमाणवीय विश्लेषणो मे यह भौतिकी एव रसायनशास्त्र की प्रकृति भी है। इस परिप्रेक्ष्य मे यह सभव है कि मानवीय जीवन लघु एव अपेक्षत आकस्मिक प्रतीत हो, फिर भी 'प्रकृति' पद, जिस प्रकार यहाँ इसका प्रयोग हुआ है, मनुष्य की कृतियो एव उसकी सस्कृति से विरोध नहीं रखता है—अपितु उसके अर्थ मे ये सब भी उसके एक अविभाज्य सस्थान मे सन्निविष्ट हैं। हम भौतिक एव मानवीय प्रकृति मे बहुधा जो भेद करते है उसका एक स्पष्ट व्यावहारिक मूल्य होने पर भी वह प्रकृति की उस अवधारणा का हनन करता है जिसका हम यहाँ निर्माण कर रहे हैं : क्योंकि 'प्रकृति' समस्त घटनाओ मे सातत्य को, उनके एक दूसरे पर आश्रित होने को और घटनाओं के एक सस्थान से एक दूसरे के उद्भव एव एक दूसरे मे परिवर्तित हो जाने को उपलक्षित करती है। इस अर्थ मे, प्रकृति, 'विश्व' अथवा 'जगत्' जैसे विषय को ही निर्दिष्ट करती है, परन्तु एक विशेष अर्थ मे। यह वह नाम है जो हम विश्व को तब देते हैं जब हम इसे नियमितता के क्षेत्र के रूप मे मानते हैं, यह जगत् जिसका एक स्वरूप (नेचर) अथवा फाइसिस[१] है, यह व्यवहार का एक ऐसा ढग है जिस पर हम भरोसा करना सीखते हैं। विशेषतया प्रकृति के इस चित्र से यह बात सम्बन्धित है कि उसकी वृत्ति उत्पादनशील है इसकी व्यवस्थित प्रक्रियाओ का चाहे कोई भी रहस्य रहा हो, इसकी एक क्रिया के परिणाम स्वरूप जीवित प्राणी तथा अन्तत. हम स्वय उत्पन्न हुए हैं। प्रकृति विशाल, पहेली रूप, कठोर, तथा दीखने मे उदासीन है, वह जीवन के सम्मुख दुर्जेय कठिनाईयाँ प्रस्तुत करती हुई समय-समय पर बाहुल्य लिए हुए है, परन्तु कुछ भी हो इसने मानवीय अस्तित्व को और शनै शनैः विकासशील मानवीय प्रणाली को सभव बना दिया है कठोर और वास्तविक अर्थ में प्रकृति मातृवत् रही है। प्रकृति हमारे लिये स्थायी पहेली है, हमारे लिये स्थायी बाधा (अवरोध) है, हमारा स्थायी भण्डार है, प्रकृति हमारा जन्मस्थान है, हमारा घर है, हमारा आकर्षण है और शायद हमारी जाति की और उस समस्त जीवन की जिसे उसने उत्पन्न किया है शाश्वत कब्र है।

ये उन असख्य पक्षो मे से कुछ हैं जिन्हे प्रकृति हमारे एव हमारी रुचियों के सदर्भ में प्रस्तुत करती है। परन्तु स्वय प्रकृति क्या है ? अनगिनत वस्तुओं की बहुलता जो स्पष्टतया

अनवरत बदल रही है और अज्ञात दिक् में चारों ओर छितरी हुई है। हम प्रकृति की कितनी ही दूर तक छानबीन क्यों न करें हम तब भी उसी दिक् में होते हैं : और चाहे हम वैश्व परिवर्तनों की शृंखला की कितनी ही अधिक खोजबीन क्यों न करें—पीछे की ओर भूतकाल में और आगे की ओर भविष्य में—हम फिर भी उसी काल-क्रम में होते हैं। शाब्दिक अर्थ में, प्रकृति को हम एक ही देश एवं काल की वस्तुओं एवं घटनाओं की ऐसी समष्टि के रूप में परिभाषित कर सकते हैं जो कार्यकारण सम्बन्ध के नियमों के एक संधान के अधीन है।

प्रकृतिवाद दर्शन का वह प्रकार है जो इस अर्थ में प्रकृति को सम्पूर्ण यथार्थ [सत्] के रूप में मानता है। प्रकृतिवाद प्रकृति से परे, प्रकृति के पीछे, प्रकृति के अतिरिक्त ऐसी किसी भी सत्ता को अस्वीकार करता है, जो अलौकिक अथवा अन्य जगत् से सम्बन्धित हो, अथवा इस व्यवस्था में किसी भी अन्य नयी शक्ति या अन्य नये उपादान का, नयी या पुरानी सृष्टि, स्वत स्फूर्त आरम्भ, शाब्दिक अर्थ में संयोग का प्रच्छन्न एवं अनधिकार प्रवेश हो। यदि जगत् में कोई ऐसी वस्तु है जिसकी प्रवृत्ति स्वयं को प्रकृति से अलग या दूर रखने की है—जो कार्य कारण के नियमों के अधीन नहीं है फिर चाहे वह मानवीय संकल्प का स्वतंत्र निश्चय हो, चाहे सर्जनात्मक कल्पना की उत्पत्ति हो यथा कविता, गीत या स्वयं मानवीय बुद्धि हो,—प्रकृतिवाद उसको भी प्रकृति की योजना का एक अंग घोषित कर देता है : निपुण होना, कलात्मक होना और कृत्रिम होना मनुष्य की प्रकृति में निहित है। और यदि आप पूछें कि स्वयं प्रकृति को उत्पन्न करने वाला कौन है, तो उत्तर यह है कि—प्रकृति ही कारणों का एक समग्र तन्त्र है, विश्व का प्रत्येक चरण अगले चरण की ओर अग्रसर है और उसकी व्याख्या भी करता है, अत अब प्रकृति जैसी है उसकी पूर्ण व्याख्या उस प्रकृति से हो जाती है जैसी वह पहले थी। प्रकृति के बाहर प्रकृति के कारण को 'प्रथम कारण' अथवा 'परमात्मा' के रूप में खोजना अर्थहीन है।

अन्तिम विश्लेषण में, देश-कालावस्थित वस्तुओं की विभिन्न अवधारणाओं के अनुसार ही प्रकृतिवाद के भी विभिन्न प्रकार हैं। जैसा कि पहले समझा जाता था, यदि गतिशील पदार्थ को परमाणु माना जाय अर्थात् प्रत्येक घटना या वस्तु बस गतिशील पदार्थ हो तो, यह जड़वाद है। यदि जड़ स्वयं ऊर्जा का ही एक रूप हो और शेष अन्य प्रत्येक वस्तु को ऊर्जा के किसी न किसी रूप में अन्तर्भूत किया जा सके तो यह ऊर्जावाद (इनरजिज्म) अथवा गत्यात्मवाद (डायनामिज्म) होगा। अन्तिम तत्त्व क्या है, इस सम्बन्ध में यदि हम कोई निश्चय नहीं करना चाहें, अपितु इस बात पर बल दें कि वह प्रत्येक वस्तु जो यथार्थ [सत्] है, कार्य कारण व्यवस्था में अन्य वस्तुओं से जुड़ी हुई है और इसीलिए किसी न किसी विध्यात्मक विज्ञान के अध्ययन के अन्तर्गत आ जाती है, तो यह ऐन्द्रिय प्रत्यक्षवाद (पॉज़िटिविज्म) होगा।

इस प्रकार के सभी मतों के लिए कभी कभी 'जड़वाद' सामान्य नाम के रूप में प्रयुक्त किया जाता है और यह प्रकृतिवाद के समतुल्य होता है। इस में, देश के अप्रत्यक्ष माध्यम में जगत् की अन्तिम सत्ताओं की गतिविधि की शाश्वत परिवर्तनशीलता के द्वारा अनुभव के स्थूल रूप की व्याख्या निहित है। यह दृष्टि 'स्थूल' नहीं है किसी भी अवस्था में ये अन्तिम

सत्ताएँ प्रचिन्त्य रूप से सूक्ष्म हैं। अपने तत्व में मृत्पिण्ड की अपेक्षा प्रकाश की रश्मियों के वे अधिक सदृश हैं। उनके अपरिमित रूप में सूक्ष्म स्पन्दनों के सम्बन्ध में गणितमूलक अन्वीक्षण सर्वदा प्रासंगिक होता है। क्योंकि कम से कम परम्परावादी चित्र में, प्रकृति की क्षुद्रतम दरारों में भी एक निर्दोष विधि सगतता होती है।

(२२) प्रकृतिवाद जिनका निषेध करता है—प्रकृतिवाद का विशिष्ट बल किन्हीं बातों को अस्वीकार करने में है। धार्मिक सकल्पना के द्वारा ऐन्द्रिय अनुभव के क्षेत्र में जो बढ़ा हुआ काल्पनिक भाग होता है वह सिद्धान्ततः ऐसे आकार में सकुचित हो जाता है जिसको मापा जा सकता है एवं जिसे नियन्त्रण में लाया जा सकता है और समग्र तत्त्वमीमासीय क्षितिज तत्काल सरल और सीमित हो जाता है।

'अन्य जगत्' के लुप्त हो जाने में यह निहित है कि कोई ईश्वर नहीं है (जब तक प्रकृति स्वय, या मानवता ही आराधना का विषय न बन जाए)। जब तक स्वय के जीवन और कार्यों के चिरस्थायी परिणामों, अथवा बाद की (आने वाली) पीढ़ियों के द्वारा स्वय की स्मृति को हृदय में सँजोये रखने को एक प्रकार की अमरता न मान लिया जाय तब तक न तो कोई अमरता होती है और न कोई मृत्योपरान्त जीवन। जिसे मनुष्य उन प्राकृतिक कारणों से प्राप्त करता है जिन्होंने उसे उत्पन्न किया है उससे अधिक उसमें कुछ नहीं है। यदि हमारा 'आत्मा' से तात्पर्य किसी ऐसी वस्तु से है जो मनुष्य में प्रकृति से भिन्न है, तो कोई आत्मा नहीं होती है।

क्योंकि ऐसा कुछ नहीं है जो प्रकृति की नियमित प्रक्रियाओं में हस्तक्षेप कर सके, इसलिए चमत्कार और दैवी विधान बहिष्कृत हो जाते हैं और यदि प्रार्थना को रसात्मक, अनुशासनीय, अथवा चिकित्सा सम्बन्धी प्रभाव के लिए स्वीकार नहीं किया जाय तो वह भी एक अर्थहीन क्रिया हो जाती है।

'सकल्पेच्छा की स्वतन्त्रता' भी नहीं हो सकती, यदि हम इसका तात्पर्य मनुष्य की उस सामर्थ्य से लें जिसके कारण वह उस रस्सी से दूर हट जाता है जो उन कारणात्मक प्रक्रियाओं से निमित हुई है जो उस मनुष्य के भीतर बाहर सक्रिय रहते हैं। प्रकृतिवाद में (प्रकारतः) नियतिवाद अन्तर्निहित है। "मनुष्य के व्यवहार, तारों एवं परमाणुओं की गति को नियन्त्रित करने वाले नियम समान ही हैं।" भविष्य के बारे में सोचते हुए आपमें स्वतन्त्र सकल्प की अनुभूति होती है। आप कहते हैं, "मैंने अभी तक निश्चय नहीं किया है कि मैं क्या करूँगा" शेष जगत् के साथ आपके परमाणुओं ने यह निश्चय कर लिया है कि आप वही करेंगे जो आपको करना पड़ेगा।

यदि स्वतन्त्रता का यह अर्थ हो कि आप अपने चुनाव के अनुसार कार्य करें तो आप स्वतन्त्र हैं। परन्तु जैसाकि स्पेन्सर हमें याद दिलाते हैं, आप सदैव वही करते हैं जो आप करना चाहते हैं, आप उसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं कर सकते। यहीं प्रकृति ने हम जकड़ लिया है: आप जो करना चाहते हैं यह वही है जो प्रकृति करवाना चाहती है। "आप जैसा चाहें वैसा कर सकते हैं परन्तु आप जो मन में आए वह नहीं चाह सकते।" आपकी इच्छा आप क्या अधिक पसन्द करते हैं? ये माध्यम हैं जिनके द्वारा प्रकृति आपके व्यवहार में अपने सकल्प को नियान्वित करती है।

अन्त में एक बात और है : चेतन बुद्धि जगत् के मौलिक एवं स्थायी तथ्यों में से कोई एक नहीं है। मानव प्राणियों में जिस प्रकार की मानसिकता होती है वह वस्तुओं का ऐसा अस्थायी लक्षण होता है, जो निम्नतर प्राणियों से विकसित होता है और अन्ततः यह उन भौतिक वस्तुओं से उत्पन्न होता है जिन्हें पूर्ण रूप से अचेतन माना जाता है और जहाँ तक समझ में आता है, ऐसा लगता है कि बुद्धि पुन अचेतन में समा जायेगी। स्थायी सत्ताएँ न तो सोचती हैं और न योजना बनाती हैं, समग्र रूप में जगत् में न तो कोई कारण है और न ही कोई उद्देश्य।

(२३) प्रकृतिवाद एवं अनुभव—प्रकृतिवाद की ओर गहन झुकाव से कोई नहीं बच सकता। सत् को स्थूल रूप से इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है जिससे हमारे भ्रम दूर हो जायें। प्रकृति के मूलभूत तथ्य हमेशा यही करते रहते हैं, वे हमारी कल्पनाओं की प्रति का प्रतिकार करते हैं और हमारी व्यक्तिगत इच्छाओं द्वारा निर्मित गढ़ों को धराशायी करते हैं। सतुलन एव भ्रम निवारण के कार्य को वे उस समय अत्युत्तम ढग से करते हैं जब हम क्रियाशील होते हैं। हम मरुस्थल में निष्क्रिय बैठे रह सकते हैं और उस अवस्था में हमारी मृगतृष्णा का कोई प्रतिकार सभव नहीं, किन्तु गति इस स्वप्न को नष्ट कर देती है। युगो की अवधि मे मनुष्य अधिकाधिक उद्यमशील एव गतिशील हुआ है और अब उसका अधिकाश चिन्तन भी उसके कार्यों से गहरा सम्बन्ध रखता है। हमारे व्यवसाय हमारे लिए, सत् के किसी पक्ष को सर्वदा परिभाषित कर देते हैं, हम यथार्थ उसको मानते हैं जिससे हम नित्य सम्बन्धित रहते हैं एव जिससे सफलता पूर्वक व्यवहार कर सकते हैं और जिसे हम अपने सकल्पो का उत्तर देने के लिए बाध्य कर सकते हैं। महाजन के लिए उसके बहीखाते के थोथे आँकड़े ही यथार्थ का प्रतिनिधित्व करते हैं, कलाकार के लिए उसके रग एव सुन्दरता को वे वस्तुएँ जिन्हे वह उन रगों से बना सकता है परन्तु एक ऐसा सार्वजनीन व्यवसाय भी है— भौतिक वस्तुएँ, स्थान एव गति, आहार एव शारीरिक श्रम से सम्बन्धित व्यवसाय मे हमारा अधिकार—जिससे भाग्यवश कोई भी नहीं बच सकता। अत उन विषयो को मनुष्यो के विशिष्ट वर्गों द्वारा ही नहीं अपितु मनुष्य जाति द्वारा भी यथार्थ माना जाता है जिनके चारो ओर आरम्भिक असफलताओं एव सुधारो के पश्चात् हम अपनी सफल आदतो का निर्माण कर लेते हैं।

और फिर कोई भी इस बात के निरन्तर स्मरण से बच नहीं सकता कि मनस् कितना कोमल है और यह भौतिक जगत् पर निरन्तर कितना निर्भर है। प्रकृति को कोई इस सीमा तक तो चुनौती दे सकता है कि वह अपने भोजन को दिन में तीन बार की अपेक्षा एक तक ही सीमित कर दे, परन्तु भोजन करे ही नहीं ऐसा नहीं हो सकता · अपनी निद्रा को तीन घण्टे तक तो सीमित कर सकता है परन्तु ऐसा नहीं हो सकता कि बिल्कुल ही नहीं सोये; वह दीर्घायु तो हो सकता है किन्तु मृत्यु से नहीं बच सकता। अधिकाशत अपनी जनतान्त्रिकता के कारण भोजन सामाजिक अवसर बन जाते हैं, भोजन एक ऐसी आवश्यकता को अगीकार करना है जिसके सम्मुख सभी वर्गों को झुकना पड़ता है। इसके अतिरिक्त भोजन, तापक्रम शक्ति अथवा थकावट, अवस्था विशेष, स्वास्थ्य आदि के परिवर्तन

से मनस् की स्थिति पर प्रभाव पड़ता है। मनस शरीर के साथ विकसित होता है और वृद्धावस्था दोनों को जर्जर कर देती है, व्यक्तित्व के साथ हमारे सम्पर्क को मृत्यु समाप्त कर देती है और फिर हमारे पास इस बात का कोई सुनिश्चित साक्ष्य नहीं रह जाता कि इसकी वही गति नहीं हुई है जो शरीर की होती है।

बाह्य जगत् मे जो शक्तियाँ कार्य कर रही हैं उनमे यदि कोई देवता हो तो उसकी उपस्थिति को स्पष्ट करने वाले प्रभाव दुर्ग्राह्य होते है। जगत् पर शासन करने वाली शक्तियाँ व्यक्तिगत मानवीय रुचियो और समस्त मानव जाति की आशाओ के प्रति समान रूप से उदासीन प्रतीत होती हैं। यदि ऐसा कुछ है जो प्रकृति के कठोर नियमो को क्रूर अथवा लाभकारी होने से रोकता है तो जहाँ तक हम समझ सकते हैं, ऐसा मानवीय सकल्प के कारण ही हो सकता है। विपत्ति को रोकने के लिए कोई भी दैवी हस्तक्षेप नही होता।

तो हम स्वय से प्रश्न करते हैं कि क्या हमारी इच्छाओ एव कल्पनाओं के अतिरिक्त विश्व की तटस्थ बौद्धिक व्याख्या अवैयक्तिक, भौतिक नियम नही है और मनुष्य का बौद्धिक इतिहास इस ग्रह पर उसका इत्यगत जीवन मात्र है—इसके अतिरिक्त कुछ नही। मानवीय जीवन उपमानवीय पैढ़ी पर स्थित है और इस निर्वाक् और मनस्हीन विश्व के केन्द्र में अपनी गति के लिए एकाकी है। यदि हम भाग्यवानो मे से हैं और यदि हम उन अनेको को भूल सकते है जिनके लिए जीवन दु:ख और हार ही लाता है तो जीवन का अपना औचित्य है। जैसे जैसे मानव-सभ्यता धीरे धीरे ऊपर उठती है वैसे वैसे जीवन का अपना गौरव भी बढ़ता है। 'प्रकृति' मे ऐसा कुछ नही होता जो रखने अथवा याद करने के योग्य हो यदि उसे कठिनाई के साथ जय किया गया हो। इस बात की पूरी सभावना है कि किसी दिन जीवन इस ग्रह से पूर्णतया लुप्त हो जाय और उसके समस्त अवशेष विश्व की चक्की मे पुन मथ जाएँ। हमारा वर्तमान है, हमारे साथी हैं, श्रेयस् की बुद्धि एव भविष्य को कम करने की हमे समान रूप मे चिन्ता है: अन्त के अधकार को हम पहचानें परन्तु भूल जाएँ। प्रकृतिवाद हमारे निर्भ्रम का दर्शन है कदाचित् हमारी सयत परिपक्वता का भी।

(२४) प्रकृतिवाद एवं विज्ञान—जगत् की प्रकृतिवादी तस्वीर मे जो भौतिक वस्तुओं का वैविध्य है वह उस समस्त सत्य की समग्रता है जो प्राकृतिक विज्ञानों के क्षेत्र के अन्तर्गत आती है परन्तु क्योंकि दर्शन का ऐसा कोई प्रकार नहीं है जो विज्ञान के सत्य पर सन्देह करता हो, अत यह प्रकृतिवाद की विशिष्टता नहीं है।

विशिष्ट विज्ञानों—जैसे भौतिकी, रसायन विज्ञान, जीवन विज्ञान—के पास प्रकृतिवाद के पक्ष या विपक्ष में कुछ भी कहने को नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण जगत् के बारे में उनके पास कहने को कुछ भी नही है। उनमे से प्रत्येक एक आंशिक क्षेत्र से सम्बन्धित होता है। वे न तो अकेले और न सब मिलकर किसी दर्शन का निर्माण करते हैं। उनमे से कोई भी अपने क्षेत्र के बाहर के विषयो के अस्तित्व के बारे में कोई कथन नहीं करता है और न वे सब ही मिलकर इस आशय का कोई ऐसा कथन करते हैं कि समस्त सत् उन्ही में निहित है, जिसकर

वे सर्वेक्षण करते हैं। विज्ञान प्रकृतिवाद को ग्रहण नही करता अपितु प्रकृतिवाद विज्ञान को तत्त्वमीमांसीय पथप्रदर्शक के रूप मे स्वीकार करता है। प्रकृतिवाद के समर्थन के लिए साक्ष्य के रूप मे विज्ञान को आगे नही लाया जा सकता—[कम से कम] प्रत्यक्ष रूप मे नही।

परन्तु वैज्ञानिक अध्ययन मे इस आशय की यह दृढ धारणा निहित प्रतीत होती है कि प्राकृतिक नियम बिना किसी अपवाद के सभी घटनाओ का नियन्त्रण करता है। यह केवल "वैज्ञानिक विधि" की बढती हुई वह आशातीत सफलता नही है, कि उसने एक के बाद एक अनुभव के तथाकथित अव्याख्येय पक्षो को समझने योग्य और भविष्यवाणी करने योग्य नियन्त्रण मे ला दिया है। जब हम इस विषय पर ध्यान पूर्वक विचार करते हैं तो हम किसी भी ऐसी घटना को उद्धृत नही कर सकते जिसके बारे मे हम निश्चित रूप से यह कह सकें कि वह इस प्रकार की व्याख्या की पहुँच के परे है। हक्सले ने कहा है कि "किसी भी ऐसी घटना की स्वीकृति जो तात्कालिक पूर्ववर्ती घटनाओ का तार्किक परिणाम न हो विज्ञान के द्वारा एक आत्म समर्पण होगा।" यह मान्यता कि प्रत्येक घटना वस्तुओ की किसी पूर्ववर्ती अवस्था का परिणाम होती है एक ऐसी धारणा है जिसे मानने को वैज्ञानिक वैज्ञानिक-अनुसधान की प्रकृति के कारण ही बाध्य है।

अत विज्ञान अप्रत्यक्ष रूप से प्राकृतिक से-अधिक (अर्थात् अलौकिक) जो भी है उसको बाहर निकालकर उसके लिए कोई स्थान नही छोडते हुए, प्रकृतिवाद के पुष्टिकरण की ओर उन्मुख होता है। इस दृष्टिकोण से स्वतन्त्र सकल्प, जीवनी शक्ति, दैवी कार्य की परिकल्पनाएँ निरर्थक ही नही अपितु निश्चित रूप से मार्ग मे बाधक होती हैं। यदि कोई अलौकिक मे अपने विश्वास को, अनुभव के उन क्षेत्रो पर अवलम्बित करता है जिनकी अभी तक वैज्ञानिक रूप से व्याख्या नही की गई है, तो यह स्पष्ट है कि वह विश्वास एक ऐसे आधार पर अवलम्बित है जो तेजी से सकुचित होता जा रहा है और विज्ञान जो निरन्तर प्रगति कर रहा है ऐसी किसी भी बात को कोई स्थान नही देगा जो सदा के लिए अव्याख्येय रहे। क्या आप किसी ऐसे [विश्वास] का सुझाव दे सकते हैं?

वैज्ञानिक व्याख्या के क्षेत्र की इस पूर्णता को अणुवीक्षक और उप अणुवीक्षक मापों की अविश्वसनीय सुनिश्चितता से और अधिक बल मिलता है जिनका उपयोग भौतिकी अन्तिम गुह्यस्थल तक सत्ता का पता लगाने के लिए करती है। आजकल विज्ञान की नई खोजें सामान्यतया उन सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवशेषों के परीक्षण द्वारा होती है जिन्हें अपेक्षाकृत पुरानी व्याख्याओ ने बिना वर्णन किये छोड दिया था। अन्वीक्षक निश्चय ही उस दकियानूसी (आब्सक्यूरेन्टिस्ट) के लिए उन सूक्ष्म अवशेषो को स्वेच्छा से नही छोडेगा जो उसके लिए महत्वपूर्ण सकेतों का रूप रखते हैं—जो उन्हे किसी अलौकिक कर्त्ता की युक्ति के आधार [पोषण] के रूप मे चाहता है।

चिन्तन के सामान्य सिद्धान्त के रूप मे विलियम ऑव ओकम (मृत्यु १३४७) ने आने वाली पीढ़ी के लिए लाघव का नियम दिया जिसका आशय यह था कि यदि किसी बात को एक तरह से भलीभाँति व्याख्यायित कर दिया जाय तो उसके लिए किसी अन्य व्याख्या की

आवश्यकता नहीं रहती। वस्तुओं को आवश्यकता से अधिक नहीं बढ़ना चाहिए। सिद्धान्ततः यदि ऐसा कुछ नहीं है जिसकी व्याख्या प्राकृतिक कारण नहीं कर सकते हैं तो अलौकिक कारणों का त्याग किया जा सकता है।

(२५) प्रकृतिवाद एवं विकास—जीवन और मनस् ऐसे तथ्य हैं जिन्होंने वैज्ञानिक व्याख्या को सबसे अधिक कठिनाई में डाला है। ये अन्य वस्तुओं से अलग प्रतीत होते हैं, जिससे उनकी उत्पत्ति प्रकृति के उस सामान्य नियम का अपवाद प्रतीत होती है कि सदृश्य सर्वदा सदृश्य को उत्पन्न करता है। ईश्वर-विज्ञान उनकी उत्पत्ति की व्याख्या के लिए एक दैवी सर्जनात्मक कृत्य का आह्वान करने के लिए तत्पर रहता है। यह सत्य है कि, जहाँ तक अनुभव की पहुँच है जीवित वस्तुऐं कभी भी पूर्व-जीवित वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य किसी से उत्पन्न नहीं हुई है यद्यपि प्रयोगशाला के उत्पादन प्रत्येक वर्ष एक जीवित कोषाणु की रचना के अधिक नजदीक आते जा रहे हैं। परन्तु यदि प्रकृतिवाद सही है तो जीवित एवं सप्राण वस्तु किसी न किसी तरह से निष्प्राण वस्तु से उत्पन्न हुई होनी चाहिए। जो भी जीवित और निर्जीव के स्पष्ट वैषम्य को देख सकता है वह इस बात को समझ सकता है कि उन वैज्ञानिकों की पीढ़ियाँ, जो यह विश्वास करते थे कि जगत् की यान्त्रिकी सभी अन्य वस्तुओं की व्याख्या कर सकती है, अभी तक इस मत का प्रतिरोध करने के लिए क्यों तैयार नहीं हैं कि कोई न कोई दैवी कृत्य अनेकों जातियों के जीवों और मानवीय आत्मा को उत्पन्न करने के लिए आवश्यक था।

फिर भी आज के दर्शन के विद्यार्थी के लिए, इस वैषम्य का समुचित अर्थ प्राप्त करना कठिन हो सकता है। हम एक ऐसे युग में रह रहे हैं जिसमें इस प्रकार के स्पष्ट भेद नवीन रूप में आविष्कृत मध्य में आने वाली सत्ताओं के कारण इतने अधिक धूमिल हो जाते हैं कि ऐसे अनेक लोग जो स्पष्टतापूर्वक नहीं सोच सकते निर्जीव से सजीव के और अचेतन से चेतन के क्रमिक परिवर्तन में किसी प्रकार की कोई कठिनाई नहीं देख पाते। तो पहले हमें यह प्रश्न उठाना चाहिए कि जीवन की और मनस् की क्या विशिष्टताएँ हैं?

जीवित वस्तुओं की सबसे अधिक ध्यान आकृष्ट करने वाली विशेषता को सबसे अधिक अच्छे ढंग से 'आत्मा' शब्द की सहायता से कहा जा सकता है ये वस्तुऐं स्वयं की रचना करने वाली, स्वयं का सुधार करने वाली, स्वयं का नियमन करने वाली और स्वयं के सदृश्य सत्ताओं को जन्म देने वाली होती हैं। ऐसी मशीनें होती हैं जो स्वयं का पोषण कर लेती हैं, किन्तु ऐसी मशीनें नहीं होती जो उस पोषण से विकसित होती हों। ऐसे यन्त्र हैं जो स्वयं को ठीक कर लेते हैं। स्वचालित सन्तुलन कर देने वाले यन्त्र हैं। ऐसे हवाई जहाज हैं जो स्वयं की क्षतिपूर्ति भी कर लें, या जो स्वयं को परिवर्तनशील अवस्थाओं में असीमित विस्तार से समायोजित कर लें। परन्तु जहाँ तक स्व-प्रजनन का प्रश्न है, ऐसा कोई यन्त्र या रासायनिक पदार्थ नहीं है जो स्वयं के भीतर किसी ऐसे जीवाणु को विकसित करता हो जो मूल जीवाणु की भाँति ही किसी दूसरे जीवाणु को उत्पन्न करने की सामर्थ्य रखता हो और उतनी भी कम उस दूसरे जीवाणु में उसी सामर्थ्य का एक अन्य जीवाणु उत्पन्न करने की सामर्थ्य रखता हो और इसी तरह हमेशा के लिए आगे इस शक्ति में—कोषाणुओं के

अन्दर कोषाणुओं को—पूर्णतः विशिष्ट परिपक्व व्यक्तियों को एकत्रित कर दिया हो। अन्वीक्षक की दृष्टि से, जीवित प्राणी के 'आत्म' का अर्थ उस रूपरेखा से है जिसे जाना जा सके और जिसमें होकर पदार्थ और शक्ति का सनातन प्रवाह होता हो, अर्थात् इसका चयापचय[1] उपादान की एकात्मकता में नहीं रहता पर भी विभिन्न क्षणों में व्यक्ति विशेष वही रहता है जब यह क्रिया करता है तो यह समग्र रूप में क्रियाशील होता है और मानो तब यह स्वयं के और अपने समान अन्य व्यक्तियों की अनन्त शृंखला के अस्तित्व की रक्षा का प्रयत्न कर रहा होता है। स्पेंसर की परिभाषा के शब्दों में इसके जीवन का कार्यक्षेत्र "आन्तरिक सम्बन्धों की बाह्य सम्बन्धों से सतत व्यवस्था" में निहित रहता है। यदि बाह्य-जगत् में परिवर्तन होता है तो उसकी प्रतिक्रिया में, प्राणी के शरीर में भी परिवर्तन होता है और यह इस तरह होता है जिससे यह स्वयं को उपयुक्त अवस्था में रख सके।

फिर 'मनस्' 'जीवन' से किस प्रकार भिन्न है? हमने उसके विशिष्ट यद्यपि निरीक्षणीय कार्यों अथवा क्रियाओं से जीवन का स्वरूप स्पष्ट किया है, हमें मनस् की विशिष्टता एक ऐसे गुण—अनुभूति के रूप में समझनी चाहिए जिसका निरीक्षण नहीं किया जा सके। जीवित प्राणी क्रिया इस प्रकार करता है मानो यह स्वयं में ही रुचि रखता हो, मनस् (यदि प्राणी के पास मनस् है तो) रुचि की प्रतीति में रुचि की तथ्यात्मकता को जोड़ता है। मनस् की विशेषता लाभ या हानि की वह संवेदना है जिसे हम सुख अथवा दुःख कहते हैं। यह निश्चित नहीं है कि इस संवेदना के बिना भी कोई प्राणी है, जीवन का साथ सर्वदा मनस् का साथ हो सकता है, यह निश्चित नहीं है कि वृक्ष कट जाने के प्रति उदासीन होता है। परन्तु कम से कम कुछ प्राणी 'चेतन' होते हैं। और अपेक्षाकृत उच्च प्राणी केवल संवेदनशील ही नहीं होते अपितु विचार भी करते हैं, अर्थात् विषयों के प्रत्यय बनाते हैं, उनकी प्रकृति के बारे में सिद्धान्त बनाते हैं, उद्देश्यों की कल्पना करते हैं और योजनाओं को क्रियान्वित करते हैं। 'मनस्' पद में इन चेतन एवं उद्देश्यात्मक क्रियाओं का पूर्ण विस्तार अन्तर्निहित है।

प्रकृतिवाद के लिए अब उलझन यह है कि पहले तो निर्जीव वस्तुओं के जगत् से जीवित आत्म-परिरक्षणशील वस्तुएँ कैसे उत्पन्न हो जाती हैं और दूसरे कि आत्म-परिरक्षण का तथ्य आत्म-परिरक्षण का बोध कैसे बन जाता है अर्थात् 'मनस्' का प्रवेश कैसे हो जाता है। क्योंकि किसी कर्म में तथा इस चेतना में कि वह कर्म मेरे द्वारा हुआ है, मौलिक अन्तर है। हम कह सकते हैं कि यह भेद उस तीर—लक्ष्य की ओर यान्त्रिक रूप में गतिमान तीर—और दूसरे काल्पनिक तीर में होता है जो लक्ष्य की ओर पहुँचने का इरादा एवं प्रयास करे तथा जब वह लक्ष्य तक पहुँच जाये तो सन्तोष का अनुभव करे। ऐसे लोग भी हैं जो चेतना को महत्त्वहीन मानते हुए प्रतीत होते हैं, परन्तु ऐसा देखने में नहीं आया कि शल्य-चिकित्सा के समय इन लोगों ने निश्चेतन करने वाली औषधि[2] के प्रयोग को अस्वीकार किया हो। क्योंकि चेतना के अनुपस्थित होने पर मूल्य तथा जो जगत् की सुनिश्चित विशेषताएँ हैं पूर्णतया नष्ट हो जाती हैं, यह बात भलीभाँति कही जा सकती है कि चेतना विश्व का एकमात्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य है। इसके बिना न तो प्रत्यक्ष न निर्णय न ज्ञान और न ही आनन्द होता

। इसकी उपस्थिति प्रकृतिवाद के लिए एक बड़ी समस्या उत्पन्न कर देती है, इसका अर्थ समस्त दर्शन की एक प्रमुख समस्या है।

यही वह बिन्दु है जहाँ पर विकास का सिद्धान्त प्रकृतिवादी दृष्टिकोण की पूर्णता में सहायता देता है। इसका उद्देश्य जीवन और मनस् के मूल की व्याख्या करना है। डार्विन के सिद्धान्त ने ऐसा कोई प्रयत्न नहीं किया उसका कार्य विभिन्न प्रकार के जीवन में जो परिवर्तन घटित होते हैं उन्हीं तक सीमित था, अर्थात् जातियों के उद्गम, मनुष्य के आविर्भाव तक। वह जीवन को मानकर चला, यह मानते हुए कि जीवन हमेशा जीवन से आता है किन्तु उसने जातियों के बीच की रेखाओं को तोड़ा और इस प्रकार जीवन की अपेक्षाकृत निम्नतर अवस्थाओं और उच्चतर अवस्थाओं के बीच के भेद को समाप्त कर दिया। यह विकास के सामान्यीकृत सिद्धान्त का कार्य था कि वह निर्जीव से सजीव की ओर तथा अमानसिक से मानसिक की ओर संक्रमण की व्याख्या प्रस्तुत करे।

इस सामान्यीकृत सिद्धान्त के दार्शनिक स्वरूप के लिए मुख्यतया हम हरबर्ट स्पेन्सर के ऋणी हैं। उसने अपने समय के बिखरे हुए वैज्ञानिक कार्य को एक ऐसे चित्र में बाँध दिया जो इतना विशाल और जो विविक्त सूक्ष्म विशेषताओं के एकीकरण में इतना प्रभावशाली था। यह चित्र 'विभेदीकरण तथा एकीकरण (समाकलन)" के द्वारा विकास के सार्वभौम नियम को पुष्ट करता है। फलस्वरूप यह मानना अधिक सरल हो गया कि शेष कठिनाईयाँ भी अन्ततः हल हो जायेंगी। निर्जीव और सजीव के बीच की रेखा से निपटने का कार्य मुख्य रूप से रसायन शास्त्रियों के साथ मिलकर जीव-वैज्ञानिकों का था। समस्त जीवित पदार्थ मुख्यतः पाँच सामान्य तत्वों से बना होता है, ऑक्सीजन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन, कार्बन (कोयला) और सल्फर (गन्धक) ऐसा कोई तत्व नहीं है जो जीवित वस्तुओं की दृष्टि से विशिष्ट हो, ऐसा माना जाता था कि 'जीवन' का होना किसी व्यवस्थित स्वरूप का होना है, जिस की कृत्रिम रूप में पुनः रचना की जा सकती है। १८२७ में वोयलर ने गौटिंगेन में स्थित अपनी प्रयोगशाला में यूरिया[3] का संश्लेषण किया, तब से इस बात में विश्वास बढ़ा कि शरीर क्रिया विज्ञान की विशिष्ट प्रक्रियाओं को रासायनिक नियम* के विस्तार के रूप में समझा जा सकता है। अंगूर से बनी हुई चीनी, अम्ल, नील और अन्य जैव (कार्बनिक) पदार्थों का निर्माण किया जा सकता है। स्पेन्सर को यह स्पष्ट होना सहज ही था कि सजीव और निर्जीव का भेद अब वस्तुतः जीवद्रव्य के अणु के जटिलता की मात्रा तथा नाइट्रोजन के यौगिकों की अत्यधिक अस्थिरता की ही बात है। इस बात पर विद्यार्थी को स्वयं सावधानीपूर्वक विचार करना होगा कि य वैज्ञानिक शोध उन रासायनिक प्रक्रियाओं के विशिष्ट संयोजन के द्वारा जो कि अलग-अलग रासायनिक रूप में साधारण हो सकते हैं, जैव जीवन की प्रक्रियाओं व स्वदिशता की विशेषता पर, समग्र व्यक्ति का सुरक्षित रहना

---

* शरीर क्रिया विज्ञान के रासायनिक आधार की खोज में प्रमुख बिन्दुओं की रूपरेखा के लिए देखिये जोसेफ नीडहम का लेख "मकैनिस्टिक बायोलॉजी इन साइंस, रिलीजन एण्ड रीयलिटी;" जे० ए० थाम्सन का लेख, "कन्सर्निंग इवोल्यूशन" [विकासवाद से सम्बन्धित], पृ. ४२-५१।

की प्रवृत्ति पर, ध्यान देती हैं या नहीं, (इस प्रश्न पर हम सातवें अध्याय मे पुन विचार करेंगे ।)४

अमानसिक एव मानसिक के बीच की रेखा ने स्पेन्सर को बहुत परेशानी मे डाला। पहले उसका झुकाव चेतना को एक प्रकार की शक्ति मानने की ओर था—शक्ति के उन परिवर्तनों की श्रृ खला मे से एक जो ताप से विद्युत, प्रकाश, स्थानान्तरीय गति के रूप मे हो सकते हैं। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है जैसे अन्य प्रकार की शक्तियो को गतियुक्त कणों की मात्रा तथा वेग द्वारा मापा जा सकता है वैसे मानसिक शक्तियो को नहीं मापा जा सकता। न ही इस बात के लिए कोई प्रमाण है कि जब मानसिक शक्ति बढ़ती है तो मस्तिष्क की क्रिया की भौतिक शक्ति घटती है।* इन और अन्य कारणों की वजह से चेतना को उसने बाद में एक ऐसी सत्ता माना जो मस्तिष्क में हो रहे परिवर्तनो से सलग्न रहती है तथा जिसकी व्याख्या देना तो सम्भव नहीं जान पड़ता परन्तु जिसकी सत्ता को हम स्वीकार करना पडता है (इसका अर्थ है समस्या के हल के प्रयास को छोड़ देना)। उसका विचार था कि मनस् को ऐसी सूक्ष्म अनुभूतियों की अत्यन्त जटिल व्यवस्था के रूप म समझा जा सकता है जो "उनके समान होती है जिन्हें हम स्नायविक आघात के रूप मे जानते हैं" किन्तु इससे उसका यह अर्थ नहीं था कि "स्नायविक आघात" (जो कि एक भौतिक तथ्य है) अनुभूति (जो कि मानसिक तथ्य है) से अभिन्न है, अत अभी भी यह एक रहस्य की ही बात है कि मानसिक तत्त्व किस प्रकार उन स्नायविक घटनाओं के साथ रहते हैं। अर्स्ट हैकेल ने इस प्रश्न को द रिडिल ऑव द यूनिवर्स मे एक सुविधाजनक पद 'क्रमश' के उपयोग द्वारा सुलझाया है वह कहता है कि 'चेतना क्रमश मानसिक प्रतिवर्ती क्रिया से विकसित हुई है।"× उसके मत मे प्रतिवर्ती क्रिया मानसिक तो है परन्तु चेतन नहीं है, यह एक ऐसा भेद है जिसको समझने के लिए एक विशिष्ट योग्यता की आवश्यकता है। मैं यह नहीं कह सकता कि आप कदाचित्, 'अवचेतन' के प्रचलित सिद्धान्तो की सहायता से निर्जीव एव सजीव के बीच किसी सेतु का निर्माण कर सकते हैं अथवा नहीं परन्तु इस बात पर ध्यान दें कि यह विकास के किसी भी ऐसे सिद्धान्त म एक सक्रमण स्थल है, शायद एकमात्र सक्रमण स्थल है, जो स्वय को अध्यात्मवाद की सहायता के लिए प्रस्तुत करता है। हैकेल के शब्द 'पहेली' (रिडिल) म यह निहित था कि उसके लिए भी स्पेन्सर के समान ही हल अपूर्ण था।

इस बात मे कोई सन्देह नहीं है कि प्राणी जगत् म मनस् का विकास, एक बार इसके उपस्थित हो जाने पर देह के विकास के साथ हुआ होगा। डार्विन ने इस तथ्य के लिए महत्वपूर्ण प्रमाण (जैसे ओरिजिन ऑव स्पेशीज के सातवें अध्याय म और १८७२ मे लिखे एक्सप्रेशन ऑव द इमोशन्स म दिये और तुलनात्मक मनोविज्ञान के अनेको योग्य अन्वेषको—

× द रिडिल ऑव द यूनिवर्स, अध्याय सात, मानसिक क्रमगत स्तर (आइकिन प्रेषेशन)

जार्ज रोमेन्स, लायड मार्गन मैक्स वरवॉर्न, लोएब, वाक्जि तथा अन्यों—ने इस खोज पर बल दिया है कि जैव शृंखला में किस बिन्दु पर हम यह मान सकते हैं कि चेतना का उदय हो गया है तथा इसका मौलिक स्वरूप क्या है। जैसा कि कोई भी सरलता से देख सकता है इन खोज करने वालों के सामने यह कठिनाई रहती है कि चेतना अदृश्य होती है, और ज्यों-ज्यों हम मानसिकता के मानवीय स्तर से दूर हटते हैं वैसे-वैसे उस अभिव्यक्ति में मनस् की उपस्थिति के प्रमाण के रूप में कुछ पाने की सम्भावना कम हो जाती है। सिद्धान्त के रूप में, हम केवल यही कह सकते हैं कि यदि हम इस बात से सन्तुष्ट हैं कि मनस् निर्जीव जगत् से भी उत्पन्न [विकसित] हो सकता है, तो इस प्रकार के सभी शोध इस बात में हमारी सहायता करते हैं कि हम प्रारम्भिक अवस्थाओं में इसके क्रमिक विकास के स्तरों का चित्रण कर सकें, जो अभी भी कल्पना के स्तर पर ही रहती हैं।×

(२६) उद्गामी विकास—विकास किस तरह से होता है इस सम्बन्ध में हमारी जो धारणाएँ हैं उनमें डार्विन और स्पेन्सर के लेखन के पश्चात् अनेक परिवर्तन हो चुके हैं। 'क्रमश' शब्द अन्य शब्दों से दब गया है क्योंकि यह प्राकृतिक चयन द्वारा थोड़ी बहुत विविधता के संरक्षण में विश्वास करने वाले डार्विन के युग के लिए ही उपयुक्त था अब यह सिद्ध हो गया है कि विकास के कई चरण 'उत्परिवर्तन' (म्यूटेशन) द्वारा अधानक घटित होते हैं। ऐसा संकेत किया गया है कि मनस् ने इस परिवर्तन की प्रक्रिया में ऐसे किसी उत्परिवर्तन के समय प्रवेश किया होगा।

यह बहुत पहले से ज्ञात है कि प्रकृति में दो प्रकार के प्रभाव हैं जिन्हें जार्ज हेनरी लेविस ने 'परिणामी' तथा 'उद्गामी' कहकर प्रतिष्ठित किया है।* 'परिणामी' वे प्रभाव हैं जिन्हें हम कारणों से निगमित कर सकते हैं जैसे जब हम यह कहते हैं कि नमक का भार सोडियम तथा क्लोरीन के भारों के योग के बराबर है जिनसे मिलकर यह बनता है। 'उद्गामी' ऐसे प्रभाव होते हैं जिनके बारे में भविष्यवाणी नहीं की जा सकती, जो मानों, 'परिणामी' के साथ बीच में आ टपकते हैं जैसे कि नमक का स्वाद, इसका मणिभीय आकार तथा रंग, जो न तो सोडियम के और न ही क्लोरीन के गुणों से समानता रखता है, इस परिस्थिति में पूर्णतः नया तथा कुछ अतिरिक्त जुड़ गया प्रतीत होता है। ऐसे उद्गामी गुण अवयवों के विन्यास अथवा संरचना के तरीके पर निर्भर करते हैं।

तो अब, क्या यह हो सकता है कि जीवन तथा मनस् ऐसे आकस्मिक तरीके से प्रकट होते हों कि जब कभी भी भौतिक तत्त्वों की पुनर्व्यवस्था से सही तरह की पुनर्व्यवस्था अथवा रचना प्रभावित होती हो। यह श्रीमन् लॉयड मार्गन का सुझाव है (इमर्जेण्ट इवोल्यूशन (उद्गामी विकास), १९२३)। श्रीमन् मार्गन स्वयं कोई दार्शनिक प्रकृतिवादी नहीं हैं,

× देखें एल टी हॉब हाउस, 'माइन्ड इन इवोल्यूशन' [मनस विकास की प्रक्रिया में], लायड मार्गन, 'इन्सटिन्क्ट एण्ड एक्सपीरीयन्स' [सहजवृत्ति एवं अनुभव] चौथा अध्याय।

* प्राब्लम्ज ऑव लाइफ एण्ड माइण्ड, १८७५, पृ ४१२। सी लायड मार्गन द्वारा 'जरनल ऑव फिलासोफिकल स्टडीज' जनवरी, १९२९, के एक निबन्ध 'दि केस फॉर इमरजेण्ट इवोल्यूशन' के पृ. ३३ पर उद्धृत। यह निबन्ध ध्यान से पढ़ने योग्य है।

बल्कि उनका तो यह विश्वास है कि सामान्य रूप से इस विश्व मे, प्राणियो मे चेतना के उद्गम के लिए कोई मानसिक कारण है। इस आनुभविक तथ्य की ओर सकेत करने के लिए कि कुछ नया घटित हो गया है जिसकी व्याख्या के लिए वैज्ञानिक का अब इसके आगे और कोई उत्तरदायित्व नही है कि वह उन परिस्थितियो पर ध्यान दे जिनमे यह घटित हुआ है, उसने 'उद्गामी' को वैज्ञानिक अवलोकनकर्त्ता के लिए केवल एक शब्द माना। परन्तु यह शब्द अच्छा था, प्रकृति मे उद्गम की इतनी अधिक घटनाएँ हैं कि ये एक नये नियम को जन्म देती प्रतीत होती हैं, अर्थात् कि उपयुक्त परिस्थितियो मे ऐसे गुण उत्पन्न होते है जिनके बारे मे भविष्यवाणी नही की जा सकती और उनका अस्तित्व बना रहता है। (क्या पाठक को ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ व्याख्या की अनुपस्थिति को, एक नाम देकर, और इसके अनेक उदाहरण पाकर उसे किसी व्याख्या के रूप मे प्रयुक्त किया जा रहा है। यह बताना कि प्रकृति के अधिकाश तथाकथित नियम यही करते हैं एक उत्तर तो है परन्तु वह शायद पूर्णत सन्तोषजनक उत्तर नही है। हम गुरुत्वाकर्षण की एक भी घटना को नही समझते हैं, परन्तु जब सभी वस्तुएँ एक दूसरी को उसी एक समान अव्याख्येय तरीके से आकर्षित करती हैं, जिसे हम पूरी तरह से सूत्रबद्ध कर सकते है तो हमारा इन घटनाओ के पूरे समूह के यदि क्यो पर नही तो कैसे पर अवश्य अधिकार हो जाता है—और इस कैसे के साथ ही आधुनिक विज्ञान अपने काय को समाप्त हुआ मान लेता है। इस प्रकार श्रीमद् मार्गन की इस अवधारणा का प्रकृतिवादी विकास द्वारा तुरन्त उपयोग किया गया, जैसे श्रीमद् अलैक्जेण्डर की पुस्तक स्पेस, टाइम एण्ड डिइटि (दिक, काल एव देवता) मे।* प्रोफेसर आर० डब्ल्यू० सैलर्ज ने भी इसी विचार का उपयोग अपनी पुस्तक इवोल्यूशनरी नेचुरैलिज्म (विकासवादी प्रकृतिवाद) मे किया। विकास के इस चित्रण ने जिस अभी प्रस्तुत किया गया उस पुरानी अवधारणा को पुन स्थापित किया जिसमे यह माना गया था कि जीवन, मनस, बुद्धि एक ऐसी शृंखला की कड़ियाँ है जिन्हे घटनाओ के समूहों के रूप मे स्पष्ट भेद द्वारा अलग किया जा सकता है। क्या यह सभव है कि विकास के तथ्यो के व्यवस्थित करने के इस तरीके के द्वारा उन कठिनाईयो पर विजय प्राप्त कर ली जाय जिनसे स्पेंसर तथा हैकेल जूझ रहे थे?

इसका कम से कम यह लाभ है अपेक्षाकृत पुरानी धारणाओ ने इस विचार को सप्रचित किया कि जो कुछ भी विकसित होता है वह इसीलिए, उस अधिक अपरिष्कृत वस्तु से सरचित होता है जिससे वह उत्पन्न होता है विकास (जैसा कि इसकी व्युत्पत्ति बताती है) किसी मूल जीवाणु की अन्तर्वस्तुओ का उद्घटित होना अथवा खुलना है, मनस् अपने पैतृक बीजकोष, अथवा धूल की आन्तरिकता के उद्घाटन के अतिरिक्त कुछ भी नही है। उद्गामी विकासवादी के लिए, सत्ता का प्रत्येक नया स्तर एक आगमन है, जिसके आगमन के लिए चारो ओर की घटनाओं ने सहयोग किया है। यह किसी भी पहले की आकृति मे

* १९२० में यह पुस्तक प्रकाशित हुई और अलैक्जेण्डर ने उसमें मार्गन के अपेक्षाकृत पहले के विचारों के प्रति अपना आभार व्यक्त किया।

'अन्तर्विष्ट' नही है, और यदि यह उतना वास्तविक नही है जितने वे तत्व जिनकी सरचना से इसका उद्गम हुआ है, तो इसे उनमे रूपान्तरित नहीं किया जा सकता। 'इसके अतिरिक्त कुछ नही वाक्याश उपयुक्त नहो रहता। थोडी सी भी नियमपूर्णता तथा निर्धारितता का त्याग किये बिना भी विश्व नूतनता को जन्म देने मे, अर्थात् एक अर्थ मे ऊपर की ओर अग्रसर होने मे समर्थ है।

(२७) प्रकृतिवाद तथा मानव प्रकृति—मनस् के विकास का प्रश्न इस प्रश्न से जुडा हुआ है कि मनस् क्या है। यदि प्रकृतिवाद मानव प्रकृति की पर्याप्त व्याख्या देने मे समर्थ है तो यह पता लगाने मे कोई अन्तिम व्यवधान नही रहेगा कि जैसी वह है ऐसी वह कैसे बनी। मानव प्रकृति की वैज्ञानिक व्याख्या मनोविज्ञान है और मनोविज्ञान उस प्रत्येक निर्णय की, जो हम मनस् और जगत् मे इसकी स्थिति के बारे मे देते है, आवश्यक रूप से परीक्षा करेगा और उससे परीक्षित होगा। मनोविज्ञान प्रकृतिवाद और जगत् के बारे मे अन्य दृष्टिकोणो के बीच मुख्य युद्धस्थल है और होना चाहिए।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से मनोविज्ञान को अधिकाशत शरीर-क्रिया विज्ञान के दृष्टिकोण से लिखा गया है। अर्थात् मनस् को मस्तिष्क (ब्रेन) की, जो स्वय मे [शरीर का] एक अग है, क्रिया के रूप मे माना गया है। वह शेष शरीर की भाँति कारण और कार्य के नियमो के अधीन है और ये नियम इस शरीर को भौतिक प्रकृति के क्षेत्र मे ही ले आते हैं। पहल तो प्रकृतिवादी के पास 'प्रतिवर्त चाप' (रिफ्लेक्स आर्क)* (इसके विषय मे अन्यत्र देखें) के रूप म व्याख्या का एक मुख्य साधन था सक्रिय घटना के रूप म मनस् को उद्दीपन और प्रतिक्रिया की घटना के रूप म ग्रहण किया गया। जब अगुली गर्म लोहे को छूती है तो यान्त्रिक रूप से हम उसे तुरन्त वापस हटा लेते हैं " यह प्रतिक्रिया इस विशिष्ट रूप मे इसलिए घटती है क्योकि स्नायविक विद्युत शरीर सस्थान मे एक ऐसे सहजात पथ पर चलती है जो कम से कम अवरोध उपस्थित करता है। मूल प्रवृत्तियाँ व्यवहार के अपेक्षाकृत अधिक जटिल अनुक्रम होते हैं जिनके अन्तर्गत अनेको प्रतिवर्तचाप आ सकते हैं तथा मूलप्रवृत्तियाँ अनुभव के द्वारा रूपान्तरित होकर हमारी आदतों का और इस प्रकार वयस्क व्यक्ति के चरित्र का निर्माण करती हैं। यह सरल योजना किस प्रकार स्मृति, प्राग्ज्ञान (पूर्वानुभव) तर्क तथा उच्चतर मानसिक प्रक्रियाओ का स्पष्टीकरण करती है यह स्पष्टतया बहुत ध्यानपूर्वक खोज करने का विषय है।*

---

* एक उत्तम रीति से तैयार की हुई मानव मनोविज्ञान की योजना जिसे सुनिश्चित रूप से प्रतिवर्त चाप के आधार पर बनाया गया है मैक्स मेयर की पुस्तक 'फण्डामैण्टल लॉज़ ऑव ह्यूमन बिहेवियर' १९१९ में मिल सकता है। मूल प्रवृति के सिद्धान्त के लिए देखिये जेम्स की 'साइकोलोजि,' मैक्डूगल का 'सोशियल साइकोलोजि' हाकिंग की 'ह्यूमन नेचर एण्ड इट्स रीमेकिंग,' जान बी वाट्सन की पुस्तक 'साइकोलोजि फ्राम द स्टैण्डपाइन्ट ऑव ए बिहेवियरिस्ट,' १९१९ देखिये। पावलोव के सोपाधिक प्रतिवर्त पर कार्य ने सीखने की प्रक्रियाओं पर प्रकाश डाला है।

हाल ही के वर्षों में आन्तरिक स्राव की ग्रन्थियों अर्थात् तथाकथित एण्डोक्राइन ग्रन्थियों से प्रभावित रक्त के रसायन के रूप में व्याख्या का एक अन्य साधन उपलब्ध हुआ है। यह बात बहुत पहले से विदित है—वस्तुतः यह बहुत से प्राचीन मनोविज्ञान का आधार था कि बहुत हद तक संवेग शारीरिक अस्थिरताओं से शासित होते हैं। हाल ही के प्रयोगात्मक कार्य ने इस बात को प्रकाश में ला दिया है कि देह के ये परिवर्तन कितने गहन रूप में अधिवृक्क, अन्तरालीय, गलग्रन्थि तथा अन्य स्रावों से प्रभावित होते हैं। गलग्रन्थियों द्वारा उत्पन्न स्राव के उपयुक्त सम्प्रयोग से किसी जड़ वामन को सामान्य शारीरिक विकास से बहुत अधिक निकट लाया जा सकता है, और इस खुराक को बन्द करके उसे पुनः उसी पुरानी स्थिति में डाला जा सकता है। अतः इस दृष्टिकोण के लिए बहुत अधिक औचित्य है कि देह का रासायनिक सन्तुलन व्यक्तित्व के स्वभाव तथा पेशी-संकोच में प्रतिबिम्बित होता है।× इस खोज से जिन बेतुकी अपेक्षाओं का हमने निर्माण कर लिया है उनके लिए बहुत कम औचित्य है जैसे श्रीमन् रसल और श्रीमन् हाल्डेन ने इस प्रकार की बातें की हैं, उदाहरणार्थ हाल्डेन का सुझाव है कि समय आने पर हम उपयुक्त रासायनिक भोजन के द्वारा जाति को मानसिकता के स्तर को ऊँचा उठाने में समर्थ हो जायेंगे जिससे कि सभी मनुष्य न्यूटन के स्तर से भी ऊँचा उठने में समर्थ हो जायेंगे। दुर्भाग्यवश अभी तक ऐसी कोई भी औषध प्राप्त नहीं हुई है जो मनुष्य की बुद्धि को वर्तमान सामान्य स्तर से ऊँचा उठा दे।

परन्तु हम मनोविज्ञान से यह अपेक्षा नहीं रख सकते कि वह मानव प्रकृति में परिवर्तन करे, इसका प्रथम कार्य मानव प्रकृति को समझना है। और निःसन्देह ही, शारीरिक मनोविज्ञान में हुए कार्य के फलस्वरूप मनस् के बारे में अनेक बातें अधिक अच्छी तरह समझी जाती हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मनोविज्ञान के प्रयोगों में मिलता है। मानसिक व्याधियाँ ठीक हो जाती हैं। शिक्षा उद्योग, विज्ञापन, राजनैतिक जीवन के—ऐसी प्रत्येक स्थिति में जिसमें मनुष्य को नियन्त्रित किया जा सके—सभी क्षेत्रों के लिए उपयोगी सुझाव दिये गये हैं। और यदि इस प्रकार हम मनस् के बारे में उस व्यवहार के द्वारा अधिक जान सकें जिसका हम अवलोकन कर सकते हैं और जिसे हम माप सकते हैं, तो क्या यह मानना युक्तिसंगत नहीं है कि क्रियाशील शरीर, अपने आश्चर्यजनक रूप से संवेदनशील स्नायविक, विन्यास के सहित वैज्ञानिक उद्देश्यों के लिए मनस के तुल्य है? व्यवहारवाद की यही स्थापना है जो प्रकृतिवादी मनोविज्ञान का चरम विकास है। शरीर का अवलोकन किया जा सकता है इसके व्यवहार के कुछ नियमों को जाना जा सकता है 'चेतना' के बारे में जिसका अस्तित्व हो या न हो परेशान होने की क्या आवश्यकता है?

फिर भी हमारे सामने प्रश्न यह नहीं है कि मनोविज्ञान ने मानव प्रकृति पर बहुत अधिक प्रकाश डाला है या नहीं। प्रश्न केवल यही है कि क्या इस तरह का मनोविज्ञान जो मनस् को पूरी तरह से प्रकृति की एक वस्तु मानकर जाँच करता है, जो कार्यकारण के नियमों के अधीन है, मनस् के बारे में सम्पूर्ण सत्य का उद्घाटन कर सकता है। यह स्मरण

× डा० वर्मन का शीर्षक 'द ग्लैण्ड्स रेगुलेटिंग पर्सनैलिटी' इस स्थिति को आवश्यकता से अधिक बल देकर व्यक्त करता है।

करते हुए कि मनस् एक ऐसी वस्तु है जो प्रत्येक व्यक्ति को उपलब्ध है, क्या आप अपनी मानसिकता के साथ अपने व्यवहार की प्रक्रियाओं के समीकरण को स्वीकार करते हैं ?

(२८) प्रकृतिवाद धर्म की व्याख्या करता है—प्रकृतिवाद इतना विश्वासजनक नहीं होता जितना कि वह है यदि उसने केवल प्राकृतिक नियम के मठ में बैठकर विश्व के बारे में अन्य दृष्टिकोणों को अनावश्यक घोषित कर दिया होता। कोई भी व्यक्ति अपने विरोधी को केवल विवादस्थल से बाहर निकल कर कायल नहीं कर सकता—अधिकांश वाद-विवाद के तुलनात्मक रूप से फलदायक होने का एक यह भी कारण है। विश्वासजनक होने के लिए, किसी व्यक्ति को अपने विरोधी के मानसिक धरातल पर पहुँचना होगा और यह दिखाना होगा कि उसका अमुक प्रकार से चिन्तन करने का क्या कारण है, वह भूल कहाँ करता है। अत. प्रकृतिवाद के लिये प्रमाण तब तक पूर्णत सन्तोषजनक नहीं होगा जब तक यह इस बात की व्याख्या नहीं कर दे कि मनुष्य धार्मिक क्यों रहे हैं, या उन्होंने जगत् के आध्यात्मिक दृष्टिकोण को क्यों अपनाया है। परन्तु प्रकृतिवाद इस कार्य को मनोविज्ञान के द्वारा करने के लिए पूरी तरह तैयार है। धर्म का प्रकृतिवादी मनोविज्ञान, धर्म को स्वाभाविक यद्यपि कुछ काल के लिए उपयोगी मानवीय भूल मानता है।

विचारों (अथवा स्नायविक केन्द्रों में जो भी विचारों के अनुरूप होता है) का कार्य व्यवहार का निर्देशन करना है · उनका स्थान उद्दीपन और प्रतिक्रिया के बीच में होता है। प्रभाद्वल[a] से रक्तिम आभा का प्रत्यक्ष आग के प्रत्यय को उत्पन्न करता है तथा मनुष्य एवं पशुओं के लिए पलायन की प्रतिक्रिया का निर्देश होता है। सही विचार जीने में सहायक होता है मिथ्या विचार निष्फल प्रयास अथवा मृत्यु की ओर ले जाता है। क्योंकि विश्वास विचारों का एक संश्लिष्ट समूह होता है, अत हम कह सकते हैं कि वे प्राणी जिनके मस्तिष्क सत्य विचारों को जन्म देते हैं वे जीवित रहेंगे तथा कभी-कभी सत्य एवं भ्रान्ति का यह मिश्रण जीवित रहने के इस काम में सहायता करेगा, यदि भ्रान्ति सक्रिय नहीं हैं। इस प्रकार जब तक मनुष्यों की यात्राएं विस्तार की दृष्टि से सीमित थीं तब तक यह मान्यता कि पृथ्वी चपटी है व्यवहार में उतनी ही सफल थी जितनी अन्य सही धारणाएँ।

तो अध्यात्मवाद इस रूप में उपयोगी रहा है : इसने मनुष्य को उस समय प्रोत्साहन दिया जबकि उसे इसकी बहुत अधिक आवश्यकता थी। आरम्भ के काल का महत् मानसिक कार्य यह था—यदि मनुष्य पशुओं से विशेष रूप में भिन्न था तो—कि वह आगे देख सके, भविष्य में रुचि रखे और उसके लिए योजना बना सके : तब वह अपनी सृजनात्मक, कल्पना के जो कदाचित् उसकी सबसे अधिक विशिष्ट क्षमता है, के उपयोग के द्वारा अपने स्वप्नों के अनुकूल प्रभावकारी रूप में जीवित रहना आरम्भ कर सकता था। धर्म ने उसके भीतर इस आशा को जीवित रखा कि वह, दैवी शक्ति की सहायता से अपने व्यवधानों पर विजय प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार धर्म ने उसे प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के काम से उस समय तक रोके रखा जब तक कि उन महत् मूलभूत [प्राथमिक] कठिनाइयों पर जो अस्तित्व आश्रय तथा अन्य इसी तरह की बातों से सम्बन्धित थी वस्तुत. विजय नहीं प्राप्त कर ली गई। इसने उसकी कल्पना का विकास किया और किसी आदर्श के प्रति निष्ठा की आदत को सुदृढ़ किया।

इसने सामाजिक एकात्मकता लाने में सहायता की और इसने रीति-रिवाजों के प्रति उस आदर को सम्भव बनाया जो सामाजिक जीवन के किसी भी समान धरातल पर पहुँचने की सम्भावना के लिए आवश्यक था। इसने शासन व्यवस्था का अनुमोदन किया और उसको आदर्श बनाया, जो राज्य के निर्माण के लिए प्रथम अत्यावश्यक सीढ़ी है। यह ध्यान देने योग्य है कि साधारण बातों को आदर्श रूप में प्रस्तुत करना, जो कि सुस्थिर तथ्यों की अवहेलना करता प्रतीत होता है, अधिकांशतः यथार्थवादी वर्णन की अपेक्षा सत्य से अधिक निकट है। जब श्रीमान् जे०सी०मे सर्वोच्च न्यायालय का यो वर्णन करते हैं—"आधे दर्जन प्रौढ़ व्यक्ति जो हरे अथवा लाल वस्त्र के पार्श्व में मच पर बैठे हुये हैं, शायद न तो प्रभावशाली सबल अथवा शक्तिशाली देह वाले होते हैं, ...और ऐसी कल्पना की जा सकती है कि उनमें से कुछ अत्यन्त सीमित परिमाण में बुद्धि रखते हैं," तो वे जान-बूझकर देश के उस जन-कानून की शक्तिशाली परम्परा की उपेक्षा करते हैं जो इन मनुष्यों के माध्यम से क्रियान्वित होता है। जब तक मानवता सक्रिय समाज के इन अमूर्त किन्तु वास्तविक तथ्यों को पहचान सके तब तक हमें उस अदृश्य के प्रति आदर के प्रशिक्षण की आवश्यकता थी जिसे धर्म ने प्रदान किया था।

इसके अतिरिक्त, धर्म ने उत्साह की प्रणाली की रचना कर ली थी। अपनी कर्मकाण्ड की उत्तेजनाओं के द्वारा इसने प्रारम्भ में मनुष्य की उल्लासपूर्ण भावुकता को सापेक्षरूप से व्यवस्थित सरणियों में प्रशिक्षित कर दिया था। इस कारण से ही धर्म बहुत कुछ टटोलने के पश्चात् सभी ललित कलाओं में शैशव का घर बन गया था—यद्यपि यह पूर्णतः निश्चित नहीं है कि धर्म की यह उपज जीवित रहने के लिए सहायता का रूप भी रख सकती है।

परन्तु प्रारम्भ में जो सहायक हो वह विकास के आगे के चरणों में बाधा, *यहाँ तक कि* विष भी, हो सकता है। उत्साह एक प्रकार का लाड़-प्यार बन सकता है। फ्रायडवादी मनोवैज्ञानिकों ने यह माना है कि धर्म वस्तुतः वह नैतिक बाल्यावस्था है जो अपने उपयुक्त काल के बाद तक बनी हुई है, जिससे जाति की परिपक्वता में भी, जबकि हमें अस्तित्व की समस्याओं के कटु सत्यों का सामना करने के लिए भी तैयार रहना चाहिए, मनुष्यों में अभी भी ऐसे आश्रय की कल्पना करने का आग्रह है जो दयालु, स्वर्गीय एव पैतृक हो, जो उन्हें व्यक्तिगत रूप से भाग्य के करारे थपेड़ों से बचा ले। रीति-रिवाज का आधार, रीति-रिवाज का *जमाव हो सकता है (जैसा कि शीघ्र ही हुआ) जिसके कारण भविष्य की ओर उन्मुख होने* की प्रक्रिया अतीत के बन्धन को दृढ़ बनाने की बुराई में बदल गया। आदर्श में रुचि अमूर्त चिन्तन में आसक्ति के अन्तर्गत परिवर्तित हो सकती है, जिससे मानव जीवन की हानि हो सकती है और इसीलिए कलाओं को एक-एक करके अपने प्रभावशाली जनक से मुक्ति का दावा करना पड़ा। इतिहास की धर्म निरपेक्षता की दिशा में होने वाली गतिविधियाँ जो राजनीतिशास्त्र के अपूर्ण धर्म-निरपेक्षीकरण तक पहुँची हैं, धर्म से विज्ञान का ही नहीं अपितु कलाओं के संघर्ष के इस पक्ष का संकेत देती हैं। इस प्रकार धर्म प्रकृतिवादी विकास के कार्यक्रम में अपना स्थान ग्रहण कर लेता है, और हमें उसे इस रूप में ग्रहण करने के लिए आमन्त्रित किया जाता है कि हम इसकी पहले की उपयोगी भूमिका के लिए समस्त कृतज्ञता के सहित इसे असिद्ध मानने के स्थान पर अनुपयोगी मानें।

इसकी व्याख्याओं की पूर्णता तथा मनस् में सूक्ष्म परिशुद्धि भी जो विज्ञान के परिमाणात्मक पहलू के साथ आयी है,

विशेष रूप मे, इसकी मानव मनस् की कार्य-कारणात्मक मनोविज्ञान के माध्यम से की गई व्याख्या तथा इतिहास मे धर्म के अस्थायी कार्य की व्याख्या। प्रकृतिवाद का स्वभाव पहले उद्धृत (प्रखण्ड) तथा कटु था, हैकेल की कृतियो मे तथा यदाकदा हक्सले के अधिक सौहार्दपूर्ण लेखो मे मोर्चाबद्ध धर्मान्धता के विरुद्ध संघर्षरत किसी के तिरस्कार जैसा कुछ प्रकट होता है। परन्तु रोमानिस तथा स्पेन्सर तथा बाद के लेखकों में हमें जगत् की अधिक विवर्ण दृष्टि की खेद पूर्ण स्वीकृति मिलती है जो उनकी दृष्टि मे प्रमाण से पुष्ट की जा सकती है,

यह विश्व-दृष्टि की सरलता तथा एकता है जो अलौकिक हस्तक्षेपो तथा अनिश्चित सीमान्तों से मुक्त है। यह मानवीय कार्यों पर प्रमुख रूप मे ध्यान देने की सम्भावना के लिए स्थान बनाता है। "यहाँ और अब के जगत् मे मानव विकास की सर्वोत्तम अवस्थाओं को प्राप्त करने की आवश्यकता इसमे कठोर रूप मे सन्निहित है। दुःख तथा अभाव को किसी रहस्यमय योजना का अंग मानकर उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है।" जिस न्याय की इस जीवन मे रचना करना हमारा कर्तव्य है उसे अन्य जीवन के लिए स्थगित करने का भी हमारे पास कोई औचित्य नहीं है।

(३०) विचार के इतिहास में प्रकृतिवाद—प्रत्येक मनुष्य के मनस् मे प्रवृत्ति के रूप मे, प्रकृतिवाद से यह अपेक्षा होगी कि वह इतिहास के प्रत्येक युग मे स्वयं को प्रकट करे। यह वहीं स्पष्ट अभिव्यक्ति प्राप्त करता है जहाँ भी मनुष्य प्राकृतिक नियम की विश्वसनीय व्यवस्था के भाव पर पहुँचा है।

तदनुसार (यदि कुछ विशिष्टताओं का उल्लेख करें तो) हम इसे यूनानी जगत् मे पाते हैं। यह हमे यूनानी दर्शन (चिन्तन) मे उपलब्ध होता है,—डेमोक्रेटीज के दर्शन में, और उसके रोम निवासी शिष्य ल्यूक्रीटियस के दर्शन मे, जिसकी महान कविता, (डी रीरम नेचुरा) 'वास्तविक प्रकृति पर' (लगभग ईसा से ६० वर्ष पूर्व लिखित) जगत् की भाव रहित दृष्टि के लिये एक भाव-प्रवण अपील है। (बेक वैस के स्रोतग्रन्थ में मनरो द्वारा ल्यूक्रीटियस का अनुवाद, पृ० ३०५–१५)।

आधुनिक युग के आरम्भ मे टॉमस हाब्स ने मनस् को गतियुक्त पदार्थ के एक उदाहरण के रूप में, स्पष्ट करने का प्रयास किया है। संवेदन बाह्यगतियो का स्नायुओं पर सीधा प्रभाव है, तथा क्योंकि "गति गति के अतिरिक्त और कुछ उत्पन्न नहीं करती" संवेदन को भी एक प्रकार की गति ही होना चाहिए। तब कल्पना तथा स्मृति "ह्रासमान संवेदन" है, तथा बुद्धि स्मृतियों की शृंखला है। (रैण्ड द्वारा सम्पादित माडर्न क्लासिकल फिलॉसोफर्स में हाब्स के ग्रन्थ लेवियाथन, १६५१ के उद्धरण देखें, पृ० ५७–७६)।

अठारहवीं शताब्दी मे फ्रांस में जड़वाद का आश्चर्यजनक विकास हुआ। रेने देकार्त ने,

जिसे अक्सर आधुनिक दर्शन का जन्मदाता कहा जाता है, यह पहले ही कहा था (प्रिन्सीपिल्स ग्राव फिलॉसोफी १६४४) कि पशुओं का शरीर बिना चेतना के स्वचालित यन्त्र है, तथा जैसे एक इतिहासकार टिप्पणी करता है "बहुत समय तक देकार्त के उत्साही अनुयायियों [कार्टिशियन्स] मे तुच्छ भावना से पशुओं को यन्त्रणा देना प्रचलित हो गया था, जिससे कि यह दिखाया जा सके कि वे अपने सिद्धान्त को गम्भीरतापूर्वक मानते हैं।" उसने सोचा कि जहाँ तक उसके शरीर का सम्बन्ध है, मनुष्य यन्त्र है, परन्तु मनस् एक अलग द्रव्य है और यह शरीर पर क्रिया करने में समर्थ है।* मनुष्य के मनस् के लिये विशेष स्थान को सुरक्षित रखने की ला मैत्री के द्वारा आलोचना की गई है, जिसने फ्रेडरिक महान के भारी अनुमोदन से एक पुस्तक लिखी जिसका नाम था लो म मशीन (इसे मैन ए मशीन (मनुष्य एक यन्त्र) के नाम से जी० सी० बसी ने अनुवाद करके ओपन कोर्ट से १६१२ म प्रकाशित किया)।

परन्तु जैसी कि कोई अपेक्षा करेगा, प्रकृतिवाद का महान युग, डार्विन तथा स्पेंसर की शताब्दी है, जब प्राकृतिक नियमों को सबसे पहले प्राणियों के जगत् पर सफलता पूर्वक प्रयुक्त किया गया था, तथा जीव विज्ञान के विकास के सिद्धान्तों को विश्व के इतिहास पर भी प्रयुक्त किया गया था। उन्नीसवीं शताब्दी म ल्यूडविक ब्युखनर (क्राफ्ट उन्ट स्टोफ), फोर्स एण्ड मेटर (शक्ति तथा भूतद्रव्य)), हरबर्ट स्पेन्सर ((सिन्थेटिक फिलॉसोफी (संश्ले-षणात्मक दर्शन)), अर्न्स्ट हैकेल (रिडिल ऑव द यूनिवर्स (विश्व की पहेली)), टी० एच० हक्सले (एसेज (निबन्ध)) तथा फ्रीडरिख नीत्से के विशिष्ट ग्रन्थ प्रकाशित हुए। शायद किसी स्पष्ट जड़वादी के रूप मे ब्युखनर का उदाहरण सर्वश्रेष्ठ है। विल्हम ओस्टवाल्ड ने, जो भौतिक रसायनशास्त्री था, अपने ग्रन्थ 'नेचुरल फिलॉसोफी' मे भूतद्रव्य की [illegible] ऊर्जा के रूप मे की है, अत पारिभाषिक रूप में वह जड़वादी नहीं [illegible] है। प्राकृतिक विकास के दर्शन की सबसे अधिक व्यवस्थित अभिव्यक्ति हरबर्ट [illegible] (१८२०–१९०३) की पुस्तक (फर्स्ट प्रिन्सीपिल्स) में हुई है।

रैन्ड की पुस्तक मे चयन किये गये खण्ड पढ़िये। फिर भी, जो इस क्षेत्र में [illegible] प्रवेश कर रहा है उसके लिए यह अच्छा होगा कि वह अपने समक्ष सम्पूर्ण [illegible] तथा पहले पठन के समय दूसरे अध्यायों की रूपरेखा बनाने। [illegible] उदाहरणों के उस भारी बोझ का त्याग कर सकता है जिसके द्वारा [illegible] दृढ़ करता है, तथा अंतिम तीन अध्यायों इवोलोशन, डिसोल्यूशन, [illegible] पर विशेष ध्यान दे सकता है। इस बात पर विशेष ध्यान देना [illegible] को विकास के क्रम में कैसे लाता है। स्पेंसर धर्म पर कैसे विचार [illegible] के प्रथम, द्वितीय तथा पचम अध्याय में मिलेगा।

ब्युखनर की फोर्स एण्ड मेटर (१८५५) एक छोटी सी [illegible] शीघ्रता से समझा जा सकता है। वे अध्याय जिन पर [illegible]

---

* देकार्त के मतों की चर्चा द्वैतवाद शीर्षक के अन्तर्गत [illegible] देखिये परिच्छेद १०८–१३२

चाहिए उनके नाम हैं—'फ़ोर्स एण्ड मेटर' (शक्ति तथा भूतद्रव्य), क्रीएशन (सृष्टि), परपस् इन नेचर (प्रकृति में उद्देश्य), ब्रेन एण्ड सोल (मस्तिष्क तथा आत्मा), फ्री विल (स्वतन्त्र सकल्प) कान्क्लूजन (निष्कर्ष)।

अर्न्स्ट हैकेल की पुस्तक 'रिडिल ऑव द यूनिवर्स' (१८९९) के पहले, छठे, दसवें, ग्यारहवें, बारहवें तथा पन्द्रहवें अध्याय तर्क की रूपरेखा प्रस्तुत करेंगे।

टी० एच० हक्सले (१८२५-९५), से सरमन्स, चौदह, आन दकार्तेज डिस्कोर्स, लाइफ एण्ड लेटर्स (जीवन तथा पत्र) पहला भाग, पृष्ठ २४१–४४ आदि।

अब उन्नीसवीं शताब्दी हमें प्रकृतिवादी गौरव ग्रन्थों का काल प्रतीत होता है। गणित की सहायता पाकर भौतिकी ने प्रामाणिक वैज्ञानिक विधि का आदर्श प्रस्तुत किया, तथा समीकरणों के एक समूह की अवधारणा, जो सभी दिक्ों एव कालों मे परमाणुओं के व्यवहार का वर्णन करेगी, को भी असम्भव रूप से मनुष्य की पहुँच के बाहर प्रतीत नहीं होती। बीसवी शताब्दी ने हमारे भौतिकी के अन्तिम तथ्यों की सकल्पना में एक गहन भ्रान्ति ला दी है। अत्यन्त विशद् अर्थ मे, इसने प्रकृतिवाद मे, जो कि किसी भी विशिष्ट भौतिक सिद्धान्त से प्रतिबद्ध नहीं है, परन्तु केवल भौतिक विश्व की स्वीकृति से प्रतिबद्ध है, चाहे यह प्रकृति की रूपरेखा के रूप मे कुछ भी सिद्ध हो, कोई अन्तर नहीं आता। बीसवी शताब्दी का प्रकृतिवाद अधिक जटिल, नानाविध, कम विशिष्ट, कम आश्वस्त है। यह बहुधा एक अधिक विशिष्ट प्रकार के दर्शन यथार्थवाद के वेष मे प्रकट होता है, जिस पर हम आगे विचार करेंगे। कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं :—

बरट्रेण्ड रसल की प्राब्लम्ज ऑव फिलॉसोफी (दर्शन की समस्याएँ), साइन्टिफिक मैथड इन फिलॉसोफी (दर्शन मे वैज्ञानिक विधि), ह्वाट आई बीलीव (मैं क्या विश्वास करता हूँ)। रसल की कृतियों मे विशिष्ट स्पष्टता, ओजस्विता तथा प्रत्युत्पन्न मति है। उसकी पहले की कृतियाँ जिनका गणितीय तर्कशास्त्र से निकट का सम्बन्ध है गभीर हैं।

जॉर्ज सन्तायना की (एक प्रसिद्ध कवि और अभिव्यक्ति के धनी) कृति स्केपटिसिज़्म एण्ड एनीमल फेथ (संशयवाद तथा पाशविक विश्वास) महान् आकर्षण लिये हुये तथा कम सुबोध है।

आर० डब्लू० सैल्लर्ज, इवोल्यूशनरी नेचुरेलिज्म (विकासवादी प्रकृतिवाद) एक पाठ्य पुस्तक, जो ठोस, तीक्ष्ण तथा योजनाबद्ध है।

जॉन ड्यूई की कृतियों मे जहाँ तक वे तत्वमीमांसा को छूते हैं एक प्रकार का प्रकृतिवाद स्थित है। विशेष रूप से उनकी पुस्तक, एक्सपीरियेन्स एण्ड नेचर (अनुभव तथा प्रकृति) देखिये।

इरविन एडमैन ने अपनी पुस्तक फोर वेज ऑव फिलॉसोफी (१९३७) (दर्शन के चार रूप) मे प्रकृतिवाद का सचमुच एक भावपूर्ण बचाव प्रस्तुत किया है। विशेष रूप से उसका चौथा अध्याय देखिये 'फिलॉसोफी एज नेचर अन्डरस्टुड' (दर्शन, प्रकृति की समझ के रूप में), मैं इसके अतिरिक्त किसी अध्याय को नहीं जानता जिसमे प्रकृतिवाद के अर्थ को, जैसा

कि हम इसे आजकल पाते हैं, इतने उपयुक्त ढग से अभिव्यक्त किया गया हो, अथवा उस कराल को जो उसके विश्व मे छिपा हुआ है इतने मनोहारी सौहार्दपूर्ण रूप मे मढा गया है। बर्ट्रेण्ड रसल का विख्यात निबन्ध "ए फ्री मैन्स वर्शिप" (स्वतन्त्र व्यक्ति के द्वारा आराधना) मेरी दृष्टि मे एक सविचार करुणता को व्यक्त करता है, वाल्टर लिपमैन की पुस्तक 'ए प्रीफेस टु मॉरल्स' (नैतिक सिद्धान्तो की भूमिका) जिसमे नियति बोध का भार है, परन्तु एडमैन की पुस्तक मे प्रकृति प्रेम का सच्चा आनन्द है, तथा उसके भाग्य के नकारात्मक पहलुओ के आलिंगन मे सच्चाई ध्वनित होती है।

इस प्रकार जब प्रकृति मे सन्तोष उत्साह मे परिवर्तित हो जाता है और "प्राकृतिक दया" के लिए अवसर प्रदान करता है, तब ऐसा लगता है कि मानो बिना जाने (अनायास) ही *मनस् प्रकृति को समष्टि रूप मे एक जीवन्त गुण प्रदान कर रहा है* और ड्यूई, अपेक्षाकृत पूर्णत· विशिष्ट परिस्थितियो मे, 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग करने के लिए तैयार है (ए कामन फेथ पृ० ५१)। साधारण विश्वास की उस अवस्था मे प्रकृतिवाद मौन रूप में किसी अन्य स्थिति को ग्रहण करता प्रतीत होता है।

□□□

अध्याय ४

प्रकृतिवाद का तर्कशास्त्र

(३१) मैं इस बात को दोहराता हूँ कि प्रकृतिवाद के समर्थन मे पीछे दिये गये तर्क उसके लिए प्रमाण नही हैं वे विचार के आह्वान हैं।

वस्तुत प्रकृतिवाद के लिए कोई प्रमाण नही हो सकता। कोई यह कैसे सिद्ध कर सकता है कि प्रकृति के अतिरिक्त और कुछ भी नही है? यह सिद्ध करने का कि किसी वस्तु का कोई अस्तित्व नही है, यही एक मार्ग है कि हम यह दिखा दें कि यह असम्भव है: इस तरह यह दिखाया जा सकता है कि पार्थिव शरीर-क्रिया-विज्ञान की अवस्थाओ मे, किन्नर का होना असम्भव है, अत इस भूतल पर किन्नरो का अस्तित्व नहीं है। और कुछ इस प्रकार के देवता हैं जिन्हे कम से कम प्राकृतिक नियमो के अन्तर्गत असम्भव दिखाया जा सकता है। परन्तु जब तक यह न मानले कि ये प्राकृतिक नियम समस्त विश्व पर प्रयुक्त होते हैं, जो निष्कर्ष को पहले ही मान लेना होगा, तब तक हम यह सिद्ध नहीं कर सकते कि होमर के ओलम्पस के देवता[1] सभी जगह असम्भव है। (आध्यात्मिक) ईश्वर अथवा अन्य जगत् अथवा भविष्य के जीवन के अस्तित्व को सिद्ध नही किया जा सकता।

परन्तु प्रकृतिवाद के दावे का एक तर्कात्मक पक्ष है। यह उन प्रयत्नों के खण्डन में निहित है जिनके द्वारा भूतकाल मे यह सिद्ध किया गया था कि अधिदैविक का अस्तित्व है।

(३२) आप ऐसे कौन से आधारों को सबलतम मानेंगे जिन्हे ईश्वर मे विश्वास के लिए दिया जा सकता है? सहजानुभूत तथा प्रयोजनवादी कारणो के अतिरिक्त, बुद्धिसंगत व्यवस्था के तीन मुख्य आधार हैं, जिन्हे अध्यात्मवाद तथा प्रकृतिवाद के लम्बे संघर्ष के बीच प्रकाश मे लाया गया है, और जो इस विषय के सभी तर्कों मे पुनः अवतरित होते हैं।

प्रथम तर्क यह है कि प्रकृति को एक सृष्टा की आवश्यकता है। जैसा एक विद्यार्थी ने इस विषय को रखा है, "आरम्भ मे कही कोई ऐसी सर्वशक्तिमान सत्ता होनी चाहिए जिसने विश्व की रचना की हो।" दूसरे, 'बुद्धि को यह मान्यता आवश्यक प्रतीत होती है कि विश्व के अस्तित्व के लिए कोई महान् शक्ति उत्तरदायी है और क्योंकि मनुष्य को स्वयं प्रकृति के भीतर ऐसा कुछ नहीं मिल पाया है जो वस्तुओ के आरम्भ की सन्तोषजनक व्याख्या कर सके, अतः मैं मानता हूँ कि वह शक्ति ईश्वर है।" संक्षेप मे, प्रकृति के जगत् को आरम्भ-

निर्भर नहीं माना जाता : यह अपने से परे किसी अन्य सत्ता पर आश्रित होने के चिह्न प्रदर्शित करता है। पराश्रित सत्ता किसी स्वतन्त्र सत्ता को सन्निविष्ट करती है। वह स्वतन्त्र तथा आत्म-निर्भर सत्ता ही ईश्वर है। इसी तर्क को, जिसमें मूल स्रोतों, वस्तुओं के प्रथम कारणों तथा सृष्टि में रुचि का बोध होता है, विश्वमूलक तर्क कहा गया है।

दूसरा तर्क यह है कि प्रकृति में व्याप्त व्यवस्था तथा सुन्दरता आकस्मिक नहीं हो सकती, अपितु यह एक ऐसे मनस् की अपेक्षा रखती है जिसने उन्हें समझा था और जिसका लक्ष्य उन्हें अस्तित्व में लाना था। अतः 'जड़ जगत् जो हमेशा निश्चित नियम के अनुसार कार्य करता है, अपने से बाहर किसी नियम देने वाले की अपेक्षा रखता है। कोई भी नियम का निर्माण तब तक नहीं कर सकता जब तक उसमें बुद्धि न हो। अतः रचयिता एक बुद्धिमान सत्ता है।" 'साधारण बुद्धि हमें बताती है कि जैसे कोई घड़ी अपने जटिल बिखरे हुये पुर्जों के साथ अपने आप संनियुक्त नहीं हो सकती, वैसे ही प्रकृति में व्याप्त सुन्दरता तथा समन्वय अपने आप अस्तित्व में नहीं चले आते हैं" "ईश्वर के अतिरिक्त कौन प्रकृति के अनेकों नियमों को उनकी सुनिश्चित पूर्णता तक सम्पादित कर सकता है?" इस तर्क को जो जगत् के कोरे तथ्यों में इतनी रुचि नहीं रखता जितनी उनके मूल्यों एवं उपयुक्तता में साध्यमूलक तर्क कहा गया है। यह तर्क रचना से रचनाकार को सिद्ध करता है।

एक तीसरा आधार है जो बहुत कम प्रकाश में आता है। यह तर्क यों है कि ईश्वर का प्रत्यय किसी न किसी तरह अपने स्वयं के सत्य का आश्वासन देता है। "सर्वश्रेष्ठ सत्ता की अवधारणा में कुछ ऐसा प्रतीत होता है जो झूठा या भ्रमात्मक नहीं हो सकता।" "मैं यह विश्वास नहीं कर सकता कि यदि ईश्वर के प्रत्यय पीछे के यथार्थ वस्तु नहीं होती, तो वह मानव की बुद्धि में आ सकता था।" इस तर्क को दर्शन के इतिहास में भी सबल अभिव्यक्ति मिली है; किन्तु इसने अनेकों आकार ग्रहण किये हैं, मानो इसे तार्किक पदों में पकड़ पाना कठिन रहा हो, और शायद, अनिश्चित् रूप में उसकी अभिव्यक्ति अधिक सत्य रही हो। ईश्वर के प्रत्यय में एक विशिष्टता है जो इसे अन्य सब प्रत्ययों से भिन्न बना देता है, और मुझे यह विश्वास करने को बाध्य कर देता है कि इसका विषय वास्तव में अस्तित्ववान है। वह विशिष्टता क्या है?

कतिपय मध्ययुगीन दार्शनिकों ने इसे 'शुद्ध सत्' के रूप में सोचा; ईश्वर शुद्ध सत् है, और शुद्ध सत् का आवश्यक रूप से अस्तित्व होता है।

कैन्टबरी के एन्सलम (१०३३-११०९) ने इसे 'पूर्णता' के रूप में सोचा। उसने तर्क दिया कि पूर्ण सत् का प्रत्यय (किसी 'एक' पूर्ण सत् का नहीं) आवश्यक रूप से उस सत् के अस्तित्व को अन्तर्भूत करता है। क्योंकि यदि यह प्रत्यय कोरा प्रत्यय या कल्पना ही है तो इसकी उस परिपूर्ण पूर्णता में कुछ न कुछ कमी रह जायगी जो तभी पूरी हो सकेगी जब इसके अनुरूप वस्तु का भी अस्तित्व होगा। अतः यदि हम यह सोचते हैं कि अत्यधिक पूर्ण सत् केवल प्रत्यय मात्र ही है तो हम आत्म व्याघात करते हैं। हमें इसे एक अस्तित्ववान के रूप में देखना चाहिए।

स्पिनोज़ा (१६३२-१६७७) ने भी इसे 'पूर्णता' के रूप म माना। उसकी मान्यता थी कि पूर्णता अपने साथ अस्तित्व की शक्ति भी रखती है यदि हम निरपेक्ष आरम्भ या वस्तुओं की उत्पत्ति पर विचार करें तो पूर्णता अपने अस्तित्व की अन्तर्निहित शक्ति का दावा करेगी—इसको कुछ भी रोक नही सकेगा। "किसी वस्तु की पूर्णता उसके अस्तित्व को मिटाती नहीं है, अपितु इसके विपरीत (इसके अस्तित्व को) व्यक्त करती है। दूसरी ओर, अपूर्णता इसका निषेध कर देती है। इसलिए हम पूर्णतया अनन्त अथवा पूर्ण सत् अर्थात् ईश्वर के अस्तित्व के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु के बारे में अधिक निश्चित नहीं हो सकते।*

इन और अन्य तरीकों द्वारा दार्शनिकों ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि ईश्वर के प्रत्यय में हमारे यथार्थ का प्रतिमान निहित होता है, और हम इस सुझाव को कभी भी नहीं मान सकते कि यह प्रतिमान 'केवल मनोनिष्ठ' हो सकता है, क्योंकि केवल 'वस्तुनिष्ठ यथार्थ' का हमारा प्रतिमान ही हमें किसी प्रत्यय को मनोनिष्ठ ठहराने की ओर ले जा सकता है। तो ईश्वर का प्रत्यय, स्वयं में ही, ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास की अपेक्षा रखता है। इसे सत्तामूलक तर्क कहा गया है।

ईश्वर के अस्तित्व के बौद्धिक प्रमाण के प्रयास के रूप में जो कुछ कहा जा सकता है क्या वह इन तीन तर्कों में शेष हो जाता है?

(३३) प्रकृतिवाद यह दिखाने का बीड़ा उठाता है कि ये सभी तर्क दोषपूर्ण हैं। ऐसे अनेकों विचारकों द्वारा इनकी आलोचना की गई है जो प्रकृतिवादी नही हैं। कान्ट से अधिक प्रभावशाली हमला उन पर कोई नही कर पाया है। (देखिये जे वाटसन, सिलैक्शन्स फ्रॉम कान्ट (कान्ट के ग्रन्थों से चयन) पृ० २०२ २२)।

अंतिम तर्क, जिसकी सत्तामूलक तर्क के नाम से चर्चा की गयी है, के विषय में जब कान्ट इस निर्णय पर पहुँचता है कि इसमें कुछ भी नही है तब वह साधारण बहुमत को प्रकट कर रहा होता है। आपके पास पूर्णवृत्त का एक प्रत्यय होता है, अर्थात् वृत्त की एक परिभाषा किन्तु यह पूर्णता पूर्णवृत्त के अस्तित्व की कोई गारन्टी नही होती। इसके विपरीत, वस्तुतः पूर्ण वही होता है जिसका अस्तित्व नही होता। अस्तित्व किसी प्रत्यय की पूर्णता में कुछ भी नही जोड़ता। पूर्णता एक गुण है, यदि किसी पूर्ण गुलाब को प्रत्यय से यथार्थता में रूपान्तरित किया जा सके तो, इसकी पूर्णता किसी भी प्रकार उन्नत नही होगी और न ही किसी भी तरह से परिवर्तित होगी। क्या कान्ट ने सत्तामूलक तर्क का उसके सबलतम रूप म सामना किया है?

विश्वमूलक तर्क कारण के प्रत्यय का अयुक्त उपयोग करने की गलती करता है। वस्तुओं की उत्पत्ति उनके कारणों से होती है और उनके कारण सर्वदा प्रकृति की किसी पूर्व अवस्था म रहते है। मुर्गी का मूल अण्डे में होता है और अण्डे का मूल उससे पहले की मुर्गी होती है। इस खोज को आप चाहे जितना पीछे ले जायें, चाहे मूल प्रोटोप्लाज़मिक

---

* एथिक्स (नीतिशास्त्र), प्रोपोज़ीशन (प्रतिज्ञप्ति) ग्यारहवीं, पादटिप्पणी, बोन संस्करण, पृ० ५३

स्लाइम¹ तक अथवा मूल नंबूला तक। परन्तु अपने मूल बिंदु के लिए आपको कभी भी प्रकृति से बाहर संकेत नहीं करना पड़ता। प्राकृतिक घटनाओं का सार कारण व कार्य के सम्बन्ध में निहित है। अतः हम कभी भी जो कुछ भी घटित होता है उसके कारण के लिए अलौकिक सत् की ओर संकेत नहीं कर सकते। और न ही सभी वस्तुओं के कारण के लिए—यदि इस वाक्यांश का कोई निर्धार्य अर्थ है तो।

सृष्टि भिन्न विषय है, कारणता से पूर्णतः भिन्न, क्योंकि सृष्टि जगत् में मूल द्रव्य के निर्माण को सन्निविष्ट करती है। परन्तु यह स्पष्ट है कि कारणता का कोई तर्क यदि ऐसा कोई स्रोत है तो, वस्तुओं के सृजनशील स्रोत तक पहुँचने में हमारी सहायता नहीं कर सकता। क्योंकि कारणता अस्तित्ववान वस्तुओं की केवल एक अवस्था तथा दूसरी अवस्था के बीच प्रयुक्त होती है।

अपेक्षाकृत अधिक बुद्धिमान प्रकृतिवादी इस बात की कल्पना नहीं करते कि उन्होंने मनस् के उस स्वभाव की भर्त्सना करके जो प्रकृति के बाहर आरोहण करने के लिए कारणता रूपी सीढ़ी का प्रयोग करता है, समस्त मानसिक कठिनाई से छुटकारा पा लिया है। यदि वे इस बात पर बल देते हैं कि यह सीढ़ी वास्तव में ऐसे कारणों की श्रृंखला है जो पीछे की ओर अतीत में अनन्त तक पहुँचती है, तो वस्तुतः वे यह कह रहे हैं कि जगत् का कोई आरम्भ नहीं है। यह माँग कि हम अतीत की असीमता में विश्वास करते हैं विस्मयकारी है। कोई भी अनन्त सिलसिला वह है जो कभी समाप्त न हो, परन्तु यदि कोई आरम्भ नहीं था, तो प्रत्येक वर्तमान क्षण परिसमाप्त अनन्त अनुक्रम का अन्त होता है। क्या इसकी कल्पना की जा सकती है? यहाँ हमारे सामने एक मानसिक उभयपाश है (अथवा, जैसा कि कान्ट ने कहा था, यह एक विप्रतिषेध है) जगत् का एक आरम्भ अवश्य होना चाहिए तथा उसका कोई आरम्भ नहीं होना चाहिए। हम दोनों विकल्पों में से कोई-सा भी क्यों न चुनें, हमें अचिन्त्य का सामना करना पड़ता है।

हरबर्ट स्पेंसर इस कठिनाई को पूरी तरह स्वीकार करता है। वह इसके लिए मानव मनस् की सीमाओं को उत्तरदायी ठहराता है उसकी मान्यता है कि मनस् सम्बन्धों के रूप में चिन्तन करने के लिए उपयुक्त है, जैसे कारण-कार्य सम्बन्ध—यह जगत् के एक अंश से दूसरे अंश को जोड़ सकता है, परन्तु यह सम्पूर्ण पर चिन्तन करने के लिए उपयुक्त नहीं है। हमारा ज्ञान सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं है, यह वैज्ञानिक है तत्त्वमीमांसीय नहीं। अतः जब हम निरपेक्ष आरम्भिक बिन्दुओं पर पहुँचने का प्रयास करते हैं, तो हमारे सम्मुख चिन्तन की विकल्पात्मक असम्भावनाएँ¹ प्रस्तुत हो जाती हैं (फर्स्ट प्रिंसिपिल्ज प्रथम भाग)। जगत् की उत्पत्ति के सन्दर्भ में केवल तीन तरह के विकल्प ही सम्भव हैं यह स्वयंभू है अथवा स्वतः प्रसूत है अथवा किसी बाह्य शक्ति के द्वारा उत्पन्न है। और इनमें से प्रत्येक विकल्प हमारे मनस् के लिए अर्थरहित है। हम यह कल्पना नहीं कर सकते कि बिना इसके बाहर किसी स्रोत के, कोई वस्तु अपने आप में ही अस्तित्व न हो, हम स्वतः सृष्टि की कल्पना नहीं कर सकते, क्योंकि इसमें यह निहित है कि वस्तु अपने अस्तित्व से पूर्व अस्तित्ववान

होती है, और इसे किसी बाह्य सृष्टा द्वारा रचित मानने पर प्रश्न टल जाता है। क्योंकि हमें यह पूछना पड़ता है कि सृष्टा कहाँ से आया ? और यह प्रश्न, जैसा कि कान्ट पहले ही मान चुका है, "मानव बुद्धि का अगाध गर्त है।"

तब यदि ईश्वर को मानने से जगत् की व्याख्या नही होती है तो विश्वमूलक तर्क अपने समस्त अर्थ को खो देता है।

(३४) प्रयोजनमूलक तर्क पर जो प्रकृति की व्यवस्था एवं उपयुक्तता में सद्भावपूर्ण प्रयोजन को देखने का स्वांग करता है, आधुनिक काल के प्रारम्भ से ही हमला हो रहा है। लार्ड बेकन ने उस दोष को प्रकट कर दिया था जो प्राकृतिक घटनाओं तथा व्यवस्थाओं को 'अन्तिम कारणों', अर्थात् किसी कल्पित लक्ष्य के द्वारा समझने में होता है। यदि हम अच्छी फसल की व्याख्या अच्छे ईश्वर की इच्छा से दें, तो आगे की खराब फसल की व्याख्या करना कठिन हो जाता है। प्रयोजन की प्राक्कल्पना का भविष्यवाणी के लिए उपयोग नहीं किया जा सकता और यह उतनी ही है जितनी जैसा बेकन ने लिखा है, "वह कुमारी कन्या जिसे ईश्वर को समर्पित कर दिया गया हो।" हमारी उस निकम्मी आदत के कारण जिसके प्रभाव में हम उस प्रत्येक घटना का संकेत ईश्वर की इच्छा की ओर कर देते हैं जिसकी हम दूसरी तरह से व्याख्या नहीं कर पाते, स्पिनोज़ा ने इसे "अज्ञात के आश्रय" का नाम दिया है। इसके अतिरिक्त, यह सर्वत्र अनुभव किया गया कि ईश्वर को ऐसी व्याख्याओं के द्वारा जो प्रेरणाएँ प्रदान की जाती हैं वे निकृष्ट तथा निकम्मी होती हैं। यदि पृथ्वी विश्व का केन्द्र नहीं है तो मनुष्य भी विश्व के मूल्य का केन्द्र नहीं है और मनुष्य के लिए जगत् की उपयुक्तता, जहाँ तक यह उपयुक्त है, इस बात में नहीं मानी जानी चाहिए कि ईश्वर की मानवों में परम रुचि है। और न ही हमारे पास इस बात का कोई अधिकार है कि हम जगत् में अनुपयुक्तता की मात्रा, इसकी बुराइयाँ, भद्देपन तथा निर्जनता को भूल जायें। जैसा कि हम इसे पाते हैं यदि उसी रूप में हम उससे किसी पूर्णत भले रचनाकार का अनुमान करें तो हम अपने स्रोत से अपेक्षाकृत ऊँचे उठने का प्रयास कर रहे हैं। जैसाकि काण्ट ने बताया था, वास्तव में हम ईश्वर के अपने पूर्वकल्पित प्रत्यय को अस्तित्व प्रदान कर रहे हैं, अर्थात् 'सत्तामूलक तर्क' का उपयोग कर रहे हैं।

प्राणी जीवन के जगत् में डिज़ाइन की दुहाई, नेत्र तथा अन्य संवेदन के अंगों की अद्भुत बनावट से संरक्षण के साधनों तथा सहज प्रवृत्तियों से सदा उत्पन्न होने वाले प्रशंसात्मक मनन (उदाहरण के लिए फेनेलाँ की पुस्तक दि एक्ज़िस्टेंस ऑव गॉड [परमात्मा का अस्तित्व]) इनका प्रत्याख्यान कान्ट की आलोचना की तुलना में डार्विन की इस महान् सिद्धि से कि प्राणी जगत् के अनुकूल बना था, जगत् प्राणी के अनुकूल नहीं बना था, और कि अनुकूलन की इस प्रक्रिया को कारणता के नियमों की सरल प्रक्रियाओं द्वारा समझा जा सकता है, अधिक प्रभावशाली ढंग से हुआ।

परन्तु किसी भी अवस्था में, प्रयोजनमूलक तर्क कोई वास्तविक तर्क नहीं है, क्योंकि यह तब तक हमारे सम्मुख किसी भी यथार्थ (प्रामाणिक) प्राक्कल्पना को रखने में असमर्थ रहता है जब तक हमारे पास उस प्रक्रिया की कोई अवधारणा नहीं हो जिसके द्वारा ईश्वर जगत् की रचना करने के पश्चात् उसे अस्तित्व में ले आता है। यहाँ हम उत्पत्ति की

समस्या की उन कठिनाइयों पर प्रकाश डाल रहे हैं जिन्हें तर्क साध्य के रूप में ले आया था, और इस प्रकार हम पुनः एक बार मानव बुद्धि की सीमाओं का सामना करने को बाध्य हो जाते हैं।

(२५) जब तक इन आलोचनाओं के साथ कुछ गड़बड़ न हो, तब तक हमें प्रकृतिवाद के साथ यही मानना चाहिए कि ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले ये प्रमाण ठोस नहीं हैं। अन्य प्रमाण भी हो सकते हैं। ऐसे भी आधार हो सकते हैं जिन्हें तर्क सगत आकार में प्रस्तुत करना सम्भव नहीं हो। अलौकिक जगत् के कुछ ऐसे पक्ष भी हो सकते हैं जो परमात्मा के अस्तित्व पर निर्भर न हों। ईश्वर का अस्तित्व न हो तो भी संकल्प स्वतन्त्र हो सकता है, आत्मा अमर हो सकती है। ये प्रश्न परीक्षा योग्य हैं, और प्रकृतिवादी लेखकों के विचार-विमर्श में इनकी परीक्षा हुई है। परन्तु, क्योंकि ईश्वर में विश्वास समस्त अलौकिकता का सार है, अतः हमारे सम्मुख प्रकृतिवाद का तर्कशास्त्र अपने सर्वोत्कृष्ट रूप में प्रस्तुत है।

□□□

अध्याय ५

प्रकृतिवादी नीतिशास्त्र

(३६) यदि हम ईश्वर मे विश्वास न करें और औचित्य सदाचारिता के लिए किसी सर्वशक्तिमान तथा पूर्णत पवित्र सत्ता मे सलग्नता को न मानें तो मानव की नैतिकता के मानदण्डो का क्या होगा ?

निस्सदेह प्रकृतिवादी की दृष्टि मे व्यक्ति तथा जाति दोनो के लिए क्षितिज का अतिम छोर मृत्यु है। परन्तु मृत्यु का बोध जितना अन्यो के ध्यान मे होता है, उससे अधिक उसके ध्यान मे नहीं होता। जीवन को सुचारु रूप से चलाने का उसका विचार इस बात पर निर्भर करता है कि सुख अथवा दु ख की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे कारण तथा कार्य के बारे मे उसकी बुद्धि क्या बताती है। ईश्वर के कोप से डरने का उसके पास कोई कारण नहीं है, परन्तु समाज के तथा स्वय अपने स्वभाव के कोप का ध्यान उसे अभी भी रखना होगा।

उसकी प्रेरणाएँ स्पष्ट रूप से सरल हैं, उसके व्यवहार को भी मूलत. बदलने की आवश्यकता नहीं है। उसे न तो ईश्वर की महिमा के लिए और न ही उसके प्यार के लिए कुछ करने की चिन्ता होती है और न ही उसमे उस भौतिक विश्व के प्रति कोई कृतज्ञता अथवा निष्ठा की कोई बुद्धियुक्त भावुकता होती है जो उसे अस्तित्व मे लाया और किसी दिन उसे मिटा देगा। परन्तु वह अपनी वशानुक्रम की नैसर्गिक आकाक्षाओ को नष्ट नहीं कर सकता। यदि वह विज्ञान को महत्त्व देता है, तो वह यह अभी भी करेगा। यदि उसकी प्रकृति सामाजिक है तो वह अभी भी अपने साथियो को प्रसन्न रखना चाहेगा, यदि वह सुन्दरता तथा परिष्कार के प्रति सवेदनशील है तो वह अभी भी अपने व्यवहार में सामजस्य तथा शालीनता का पोषण करेगा।

प्लेटो के अनुसार नैतिक औचित्य (अथवा न्याय) साधारणत. मानसिक स्वास्थ्य है। वह एक ऐसी मनोवृत्ति है जो प्रत्येक व्यक्ति को उसका पावना देती है तथा मनस् के प्रत्येक कार्य को व्यवहार के अनुशासन मे स्थान देती है: इस आधार पर केवल न्यायी मनुष्य ही सुखी हो सकता है, क्योकि अन्यायी मनुष्य रुग्ण मनुष्य की भाँति, जीवन की साधारण सतुष्टियो को पाने मे असमर्थ है।* उन पारितोषिको से जो देवताओ अथवा मनुष्यो के द्वारा प्रदत्त हैं पूर्णतया स्वतन्त्र वस्तुओ के जगत् मे अच्छे जीवन की अपनी आतरिक महत्ता है।

(३७) यह सही है कि ईश्वर मे तथा भविष्य-जीवन मे विश्वास के परित्याग का प्रथम प्रभाव "मुक्ति का बोध" है। "ईश्वर मर चुका है" नीत्शे घोषणा करता है, (आलेस

---

* रिपब्लिक, पुस्तक चार। प्लेटो प्रकृतिवादी नहीं है।

इस्ट एर्लाउप्ट) कुछ भी किया जा सकता है।" प्रकृति या प्राकृतिक आवेग अशिव नहीं है, लज्जा तथा निग्रह को दूर करो, अनुशासन तथा नियंत्रण को हटाओ, स्वतंत्र मनुष्य की नैतिकी "आत्माभिव्यक्ति" की नैतिकी होगी।

जो कोई भी इसकी, अथवा उमर खैयाम की दिशा का आत्म-केन्द्रित आनन्द, तथा उपेक्षा के इस पथ का वरण करता है, उसके लिए यह संभव है कि वह अन्य प्रकृतिवादियों की निंदा का पात्र बन जाए। वे उसका इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट करेंगे, जो प्लेटो की बात से पूर्णतः भिन्न नहीं होगी कि एक ऐसा अनुशासन है जो स्वयं प्रकृति से ही सम्बन्धित है। इसके अतिरिक्त वह मानवता की आवश्यकताओं से पीठ नहीं मोड़ सकता और अपने आप से ही पूर्णतः संतुष्ट नहीं हो सकता। एपिक्यूरस तथा ल्यूक्रीटियस ने जिनके लिए जीवन के स्वाभाविक संतोषों के अतिरिक्त कोई दूरस्थ लक्ष्य नहीं थे, देवताओं को एक महानिकट दूरी पर निर्वासित करके एक मुख्य लाभ प्राप्त कर लिया (वे लोग अभी भी उनके अस्तित्व में नाममात्र का विश्वास रखने का दावा करते हैं) और वह इस तथ्य में निहित है कि उन लोगों ने दैवी दण्ड तथा मृत्यु के मूलहीन भय पर विजय प्राप्त कर ली। हमें उनकी नीति-संहिता को कुछ कठोर कहना चाहिए, यद्यपि सामान्य बोलचाल में "एपीक्यूरियन" ने एक अत्यंत भिन्न अर्थ ग्रहण कर लिया है। उनका विश्वास था कि जीवन के सनातन सुख सबसे अधिक संतोष देने वाले थे, पीड़ा एवं घृणा से युक्त एवं क्षणिक होने के कारण अधिक तीव्र सुख वस्तुतः सुख नहीं थे। उन लोगों के लिए आराम, मैत्री, तथा दर्शन का जीवन विवेकपूर्ण वरण था (देखिये वेक्वेल, सोर्स बुक (सदर्भ पुस्तक), पृ० २६७–३०६)।

(३८) आधुनिक प्रकृतिवादियों ने अपनी विश्व दृष्टि को विवेकपूर्ण व्यवहार पर प्रयुक्त करने के व्यवस्थित प्रयास किए हैं। हरबर्ट स्पेन्सर का "डेटा ऑव ऐथिक्स" (नैतिकी के प्रदत्त) उत्कृष्ट निबंधों में से एक है। स्पेन्सर का तर्क है कि मनुष्य तभी सुखी हो सकते हैं जब वे प्रकृति में हो रहे विकास की स्पष्ट दिशा में बढ़ें (यहाँ हम प्रकृति का 'उद्देश्य', ऐसा प्रयोग नहीं कर सकते) और प्रकृति के साथ जीवन के संरक्षण तथा वर्द्धन के लिए काय करें। इसका अर्थ है स्वयं के स्वास्थ्य का ध्यान रखना और अपनी मानसिक शक्तियों का उनकी उच्चतम सामर्थ्य तक विकास करना, इसका अर्थ है युद्ध के, तथा उन सब संघर्षों के लिए जो दोनों विरोधियों के जीवन एवं शक्ति के ह्रास को सन्निविष्ट करते हैं, समूलोच्छेद का प्रयास करना, इसका अर्थ है सैनिक समाज के स्थान पर व्यावसायिक समाज की स्थापना करना, इसका अर्थ है इस समाज में स्वतंत्र प्रतिस्पर्धा का होना जिससे सर्वोत्तम मनुष्य सर्वोच्च पद पर आ सकें, तथा इसका अर्थ है, सद्भावना का एक ऐसे बिन्दु तक सामान्य विकास, जिससे कि कोई व्यक्ति दूसरों के सुखों से भी उतनी ही संतुष्टि प्राप्त कर सके जितनी वह स्वयं के सुखों से करता है और स्वार्थवाद एवं परार्थवाद का समन्वय हो जाय।

(३९) नीत्शे इन्हीं तर्कवाक्यों से एक बिल्कुल भिन्न रूपरेखा पर पहुँचता है। वह स्पेन्सर के आदर्श को बहुत साधारण मानता है। यह सही है कि प्रकृति में विकास होता है, परन्तु इसका साधन अयोग्य का नाश करना है। समाज के सबल तथा सशक्त तत्वों को

स्वय दृढ़तापूर्वक आगे आना चाहिए, अपने लिए नहीं अपितु भविष्य के लिए। सहनशीलता और सहानुभूति की प्रवृत्तियो को प्रोत्साहित करके ईसाई धर्म, मानव जाति के लिए घातक सिद्ध हुआ है। "अपनी तरह दूसरो को भी प्यार करो" का आग्रह करने की अपेक्षा नीत्शे इस बात का आग्रह करता है कि हमे अपने प्रति भी उतना ही निर्दयी बनना चाहिए जितना दूसरो के प्रति। अतिमानव का अवतरण अयोग्यो के विनाश (उन्टर्गांग) से ही हो सकता है और यदि व्यक्ति स्वय ही अयोग्य है तो उसका पुनीत कर्तव्य है कि वह योग्य के प्रति नतमस्तक हो। एक कठोर आत्म-सयम ही आनन्द का मार्ग है। "आत्मा जीवन है, जो जीवन मे स्वय सघर्षरत" है।

(४०) अब मानव प्रकृति की प्रक्रियाओ के सदर्भ मे "हक्सले" ने 'एवोल्यूशन एण्ड ऐथिक्स' (विकास तथा नैतिकी) नामक पुस्तक मे नैतिकता के मार्गदर्शन के प्रयास को छोड दिया। उसके अनुसार, प्रत्येक सभ्यता का कार्य एक माली के समान अवाछनीय तत्वो से सघर्ष करना है। सामाजिक प्रक्रिया प्राकृतिक चयन की प्रक्रिया के प्रतिकूल पडने पर भी अधिक प्रभावशाली रहती है, जीवन के लिए सघर्ष की प्रक्रिया की अवहेलना करके भी मानवीय प्रकृति के सामाजिक पक्षो का विकास होता है। नीत्शे के द्वारा किये गये, डार्विन के सिद्धान्त जैसी नैतिकता के सबल समर्थन को दृष्टि मे रखते हुए हक्सले का निबन्ध तुलनात्मक दृष्टिकोण के लिए आवश्यक है।

(४१) सक्षेप मे, यद्यपि प्रकृतिवादियो की आचार-सहिताओ मे भेद है तथापि प्रकृतिवाद नैतिकता को आधारविहीन नही रहने देता।* यह अनिवार्यतया मानव जाति को न तो सुअर बाडे मे वापस ले जाता है और न ही सामाजिक प्रगति की दिशा को पीछे मोडता है। केवल इतना अवश्य है कि इसके नीतिशास्त्र मे शाश्वतता का सिहावलोकन नही है और अपनी आन्तरोन्मुख प्राणवत्ता मे दैवी चिन्ता का सस्पन्दन नही है। यह, विश्व के उस फासी के तख्ते पर, खडे मनुष्य के शौर्य की मुद्रा है जो अन्ततोगत्वा उसके समस्त कार्यों के योग को शून्य के रूप मे लिखेगा।

०००

* इस प्रश्न पर हम छब्बीसवें अध्याय में विचार करेंगे।

अध्याय ६

प्रकृतिवाद की परीक्षा

(४२) दर्शन के एक प्रकार के रूप मे प्रकृतिवाद अब हमारे समक्ष है। निस्संदेह इसकी स्थिति [केस] सबल है। इसका सबसे अधिक सबलतम कौनसा अंग है? मेरी दृष्टि मे यह इसकी व्याख्या के कार्यक्रम की पूर्णता है।

(४३) अपने सभी अंगो मे वैज्ञानिक संरचना की संगति, कल्पनाशीलता एवं स्पष्टता की दृष्टि से उन्नीसवीं शताब्दी मे प्रकृतिवाद एक अच्छी स्थिति मे था जो अब लुप्त हो गई है। भौतिकी मे एक नयी दृष्टि के आगमन से—जिसे हम न्यूनाधिक निश्चित रूप मे १८९५ मे रोमजन की एक्स रे की खोज के आसपास मान सकते हैं एक ऐसी खोज जिसने हमे विश्व के अंत परमाणवीय स्तरों के रहस्योद्घाटनो के लिए एक साधन प्रदान किया—भौतिक अवधारणाएँ एक ऐसे युग मे प्रवेश कर गयी हैं जिसके लिए संक्रमण एक बहुत पिटा हुआ हलका शब्द होगा। इन परिवर्तनों को जहाँ तक ये हमारे विश्व चित्र को प्रभावित करते हैं, लगभग स्थूल रूप मे निम्न प्रकार से रखा जा सकता है —

(क) अब यह प्रकट हो गया है कि जिस परमाणु को सरल एवं अपरिवर्तनीय समझा जाता था, वह अब पर्याप्त आन्तरिक जटिलता लिए हुए ऐसे सूक्ष्म जगत् के रूप मे प्रकट हुआ जिसमे संगठन और विघटन की संभावना रहती है और जो किसी अवसर पर किसी दूसरे प्रकार के परमाणु मे बदल सकता है। इलैक्ट्रोन और रेडियो सक्रियता की खोजो ने उस वस्तु मे गति और परिवर्तन को उद्घाटित कर दिया है जिसे पहले शाश्वत रूप मे स्थायी माना जाता था।

(ख) भूततत्त्व एवं ऊर्जा मे जो नियत अन्तर समझा जाता था वह अब स्पष्ट नहीं रहा। साधारण दृष्टि एवं उन्नीसवीं शताब्दी की भौतिकी के लिए इससे अधिक और कुछ स्पष्ट नहीं था कि आप किसी वस्तु की मात्रा में बिना परिवर्तन के स्वेच्छा से उसकी गति दर मे परिवर्तन कर सकते हैं। यदि आप भौतिक विश्व मे वस्तुओ की कोई सूची बनाएँ तो आपको सदा दो परिमाणो पर ध्यान देना होगा पदार्थ की मात्रा, और गति की मात्रा; इन दोनो को स्वतन्त्र समझा जाता था। भूततत्त्व का न तो कभी सृजन हो सकता है और न उसका नाश। यही बात ऊर्जा, मात्रा, गति और स्थिति के बारे मे है। एक ओर भूततत्त्व के संरक्षण को माना जाता था और दूसरी ओर ऊर्जा के संरक्षण को। अब यह प्रकट हुआ कि भूततत्त्व तथा विकीर्ण ऊर्जा को एक दूसरे मे बदला जा सकता है और यह अकल्पनीय नहीं है—या यो कहा जाय कि यह भौतिक रूप मे असम्भव नही है हम उसकी कल्पना कर पायें या न कर पायें—कि भौतिक जगत् का तत्त्व क्रमश एक स्थान से दूसरे

स्थान पर ले जाया जा सके, विकिरण के रूप मे उडान भर सके एव नवोत्पन्न परमाणुओ के रूप मे दूरस्थ क्षेत्रों मे घनीभूत हो सके। एक प्रकार के सार्वत्रिक फैलाव अथवा गल्फस्ट्रीमिग के द्वारा नक्षत्रीय तन्त्रो की सक्षम सामग्री प्रकाश की गति के साथ सदैव पुर्नविभाजन के रूप मे विकीर्ण हो रही है। यदि कोई सरक्षण है तो, वह भूततत्त्व अथवा ऊर्जा इनमे से किसी एक का नही अपितु दोनो के सयोग का होना चाहिए।

(ग) सातत्य [निरन्तरता] के नियम की अनेको कठिनाइयाँ हैं। मुश्किल से ही विज्ञान का कोई ऐसा सिद्धान्त हो जिसका गौरव इस नियम से अधिक हो।

स्वप्नों तथा परी कथाओं के जगत् को छोडकर, यदि वस्तु-स्थिति मे किसी वस्तु को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाना हो, तो उसे बीच के स्थानों की एक सतत [अविच्छिन्न] शृंखला के माध्यम से गुजरना होगा। यदि किसी घूमते हुये गतिपालक पहिये को अपनी गति बढानी या घटानी हो तो इसे ऐसा करने के लिए बीच की सभी गतियों से होकर गुजरना पड़ेगा। परन्तु अब (ऐसे सिद्धान्तो से जैसे प्लैंक का क्वान्टा का सिद्धान्त,[1] तथा ऐसे तथ्यों से जैसे काम्पटन प्रभाव[2] के कारण) हमारा ध्यान इस ओर आकर्षित होता है *कि आवर्तगतियाँ पूर्ण अकों की शृंखला के समान 'कणिकामय' अथवा असतत हो सकती* हैं, कि किसी भी समय कहीं भी बिना हुए इलैक्ट्रोन्स एक कक्ष से दूसरे कक्ष मे जा सकते हैं, और यह कि प्रकाश-ऊर्जा दिक् मे तरगो के रूप मे अथवा पिण्ड के रूप मे एक साथ विभिन्न झटकों के अनुक्रम मे विकीर्ण होती है। यहाँ यह नही कहा जा रहा है कि इन घटनाओं को हम चित्रित करें, हमे केवल यह आभास दिया जा रहा है कि हो सकता है कि हमे उन्हें मानने के लिये कहा जाय। सभी परिवर्तनों के सातत्य के पक्ष मे हमे किसी भी प्रागानुभविक पूर्वाग्रह को जितनी भी शालीनता से हो सके त्याग करने के लिए तैयार रहना चाहिए।

(घ) १६०८ मे मिन्कोस्की की स्मारिका[3] के प्रकाशन के बाद से काल तथा देश की एक दूसरे से स्वतन्त्रता भी इसी प्रकार सदिग्ध है। इसका यह अर्थ नहीं है कि काल को एक प्रकार का दिक् माना जाय, या कि दिक् को एक प्रकार का काल माना जाय, परन्तु जहाँ तक माप का सम्बन्ध है दिक् तथा काल को साथ-साथ लिया जाना चाहिए, और यह कि कोई घटना कितने दिक् मे तथा कितने काल मे होती है, ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर काल तथा देश को एक दूसरे से स्वतन्त्र मानकर नहीं दिया जा सकता। वर्तमान मे सापेक्षता के सिद्धान्त को दिक् तथा काल के स्वरूप की जाँच की अपेक्षा, सिद्धान्तो की मूलभूत जाँच के रूप मे माना जाता है, परन्तु इसने यह स्पष्ट कर दिया है कि दिक् तथा काल के हमारे विचार चाहे कितने ही पृथक् क्यों न हो (क्या आप काल के बारे मे बिना दिक् के अथवा दिक् पर बिना काल के सोच सकते हैं?) हमे वैज्ञानिक उद्देश्यो के लिए उन्हें नानाविध मानना चाहिए। तथा इसके अतिरिक्त हमे उन्हें उन घटनाओं के साथ लेना चाहिए जो, जैसा कि हम कहते हैं, दिक् तथा काल मे घटित होती हैं: क्योंकि यह सदेहास्पद है कि इन घटनाओं से अलग होकर दिक् तथा काल, रिक्त क्षेत्रों के रूप मे, अस्तित्वमान हों।

जब हरबर्ट स्पैन्सर ने—'मूलभूत वैज्ञानिक विचारों' की अपनी सूची बनाई तो उसने पाँच का उल्लेख किया,—दिक, काल, भूतद्रव्य, गति, शक्ति (इसमे उसने चेतना को भी,

एक अन्य प्रकार की वस्तु के रूप में, जोड़ दिया),—और यदि हम यह पूछें कि वे स्वय मे क्या हैं तो इन पांचो को उसने समान रूप से अचिन्त्य माना। उसने इस बात को भी अविश्वसनीय माना कि ये पांच पूर्णत: स्वतन्त्र सत्ताएँ हैं, और इसलिये उसने सुझाव दिया कि अन्य सब, शक्ति की अभिव्यक्तियाँ हैं, यद्यपि साथ ही उसने यह भी सोचा कि इस बात का नही जाना जा सकता कि ऐसा कैसे हो सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि भौतिक विज्ञान आवश्यकता से प्रेरित होकर मूलभूत विचारों के सम्बन्धो के अगम्य क्षेत्र मे प्रवेश कर रहा है: और ऐसा करने मे वह कम से कम इतना स्पष्ट कर देता है कि जड़वाद की बाह्य स्पष्टता का लाभ भ्रम था। यदि इस जगत् की व्याख्या भौतिक तत्त्वो के माध्यम से करें तो हम अज्ञेय की व्याख्या ज्ञेय द्वारा बिल्कुल भी नहीं कर रहे हैं, अपितु ज्ञेय की व्याख्या अपरिचित तथा अकल्पनीय के द्वारा कर रहे हैं, शायद अचिन्त्य के द्वारा भी। अब प्रकृतिवाद ठोस को वास्तविक के रूप मे मानने के लिए मानवीय सहजवृत्ति पर आधारित होने का और अधिक दावा नही कर सकता।

(४४) क्या समकालीन भौतिकी की ये उलझनें हमारी तत्त्वमीमासा मे आमूलचूल परिवर्तन की अपेक्षा करती हैं ?

जहाँ तक वे भौतिकी की केवल उलझनें हैं, स्थापित परिणाम नही हैं, वहां तक तो नये तत्त्वमीमासीय पर्यवलोकन मे पड़ना अधैर्य होगा। निश्चितत ही यह अनुमान करना बहुत जल्दबाजी है, जैसा कि कुछ ने किया है, कि इन परिवर्तनो ने स्वय प्रकृतिवाद को अयुक्तियुक्त बना दिया है। हमे स्वय को बार-बार यह स्मरण दिलाने की आवश्यकता है कि विज्ञान स्वय दर्शन का निर्माण नही करता है। चाहे भौतिक जगत् को समझना कितना ही मुश्किल क्यों न हो, चाहे उसे व्यक्त करने की हमारी पूर्व स्थापित रीतियों को वह कितना ही विचलित करें, इस कठिनाई का, कि क्या जो कुछ जगत् मे है वह भौतिक प्रगति ही है, न ही भौतिक जगत् के यथार्थ से कोई सम्बन्ध है और न ही प्रकृतिवाद के मूलभूत प्रश्न से।

फिर भी इस चेतावनी के साथ हम कह सकते है कि इन उलझनो के अस्तित्व ने ही उस प्रश्न को मौलिक रूप से बदल दिया है जो तत्त्वमीमासीय स्फिन्क्स[४] ने आज मानव मनस् के सम्मुख रखा है। भौतिक वस्तु की अन्तिम स्पष्ट आधार-स्थिति जिसकी प्रकृतिवाद को आवश्यकता है, हिल गई है। अब जडवादी प्रकार के प्रकृतिवाद को सम्भव विकल्पो में से स्वय भौतिकी की प्रगति की वजह से निष्कासित कर दिया गया है।

विध्यात्मकवाद भी निष्कासित हो गया है। भौतिकशास्त्री अब यह नही कह सकता कि "हम इस बात मे रुचि नही रखते कि दिक् तथा काल तथा ऊर्जा क्या हैं, हम तो केवल घटनाओं [फिनोमिना] के क्रम तथा सम्बन्ध मे रुचि रखते हैं।" क्योंकि घटनाओ के क्रम तथा सम्बन्ध बहुत हद तक इस बात पर निर्भर करते हैं कि दिक् तथा काल तथा ऊर्जा क्या हैं। आज भौतिकी ने एक बार फिर से तत्त्वमीमांसा को अपने सलाहकार के रूप मे स्वीकार कर लिया है।

और दिक् तथा काल के स्वरूप के बारे मे, भौतिकशास्त्री अब अपने पहले के जैसे आत्मविश्वास के साथ यह नही कहता कि "हम भौतिकी की समस्याओ को बिना मनस् की ओर सकेत दिये सुलझा सकते हैं, भौतिक जगत् स्वनिर्भर अस्तित्व रख सकता है, चाहे

भौतिक जगत् में अवलोकन करने वाले कोई भी मनस् हो या न हो।" क्योंकि यह सापेक्षता के सिद्धान्त का एक अविच्छिन्न अंग बन गया है, कि इससे पहले कि हम यह कह सकें कि हम कितने दिक् अथवा काल अथवा गति से सम्बन्धित हैं, यह आवश्यक हो गया है कि 'द्रष्टा' का ध्यान रखा जाय।

निश्चय ही, अधिकतर यह 'द्रष्टा' केवल एक अभिलेखन उपकरण, अथवा एक मानदण्ड होता है। परन्तु यदि तथ्य यन्त्रों के चयन पर तथा उस पर निर्भर है जो इनसे द्वारा प्रकट होता है तो अवलोकन करने वाला मनस् भी माप का एक अंग बन जाता है। अतः यदि यह सत्य है, जैसा प्रोफेसर ब्रिजमैन कहते हैं कि शुद्ध दिक् का कोई रेखागणित नहीं होता, अपितु पास का अथवा 'स्पर्शीय' दिक् के मीटरों का रेखागणित होता है, और दृश्य अथवा खगोलीय दिक्* की प्रकाश तरंगों का रेखागणित होता है, तो दिक् अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को खो देता है और यदि हमें प्रकाश-किरण की बाल्यावस्था के बारे में बात नहीं करना चाहिए, और न ही 'यहाँ और अब' होने वाली घटनाओं में सम्बन्धित अर्थों के लिए स्वाति नक्षत्र में इस समय घटने वाली घटनाओं के विषय में ध्यान देना चाहिए† तो काल का वह वस्तुगत यथार्थ समाप्त हो जाता है जिसको प्रकृतिवाद ने पहले मान ही लिया था। यदि मानसिक रूप से सचेत द्रष्टाओं के निर्णयों से स्वतन्त्र होकर, भौतिक विश्व के परिमाण एवं विशेषता को अपरिमित माना जाय, तो द्रष्टाओं के प्रवेश के पूर्व ही जो जगत् था, उसे किसी रूप में अस्पष्ट, अनिरूपणीय एवं जन्म के पूर्व विद्यमान मानना होगा।

इस प्रकार हम न्यायोचित रूप से कह सकते हैं कि स्वयं भौतिकी ने प्रकृतिवाद को कम विश्वसनीय तथा कम आत्म निश्चयी बना दिया है।

परन्तु यह किसी को नहीं मानना चाहिए कि प्रमुख तत्त्वमीमांसीय समस्याओं का हल इन उलझे हुए विशिष्ट प्रश्नों के निपटारे पर निर्भर करता है। भाग्य से जीवन की महान् समस्याएँ यह अपेक्षा नहीं करती कि हम सब गणितीय भौतिक शास्त्री बन जाएँ। प्रकृतिवाद के गुणों को अधिकांश में अन्य तथा अधिक सुलभ आधारों पर निर्धारित किया जायेगा। जैसे यह :

यदि मेरा यह विचार ठीक है कि प्रकृतिवाद का सबल पक्ष इसकी व्याख्याओं की पूर्णता है, तो यदि किसी भी स्थल पर इसकी व्याख्याएँ अपूर्ण तथा आवश्यक रूप से अपूर्ण हैं तो मेरी स्थापना आलोच्य है। तो क्या कोई ऐसा बिन्दु है ?

(४५) क्या प्रकृतिवाद गुणों की व्याख्या देता है ?

जिस रूप में हम विश्व को पाते हैं वह वर्ण, ध्वनि, गन्धों, त्वक्-गुणों आदि से पूर्ण है। प्रत्यक्षगत कारणता उन घटनाओं के बीच सक्रिय होती है जो ऐसे गुणों से युक्त होती है जैसे—रंगीन तरंगें रंगीन चट्टानों से टकराती हैं। परन्तु जैसे-जैसे वैज्ञानिक सिद्धांत अपरीक्षित निरीक्षणों का स्थान लेता है, वैसे वैसे किसी प्रक्रिया की हमारी समझ बदलती जाती है। रंग केवल किसी निश्चित आन्दोलन-गति की हमारी व्यक्तिक दृष्टि है, और ऐसा ही

* दि लॉजिक ऑव माडर्न फिजिक्स (आधुनिक भौतिकी का तर्कशास्त्र), पृ. ६७ और आगे।
† उद्धृत ग्रन्थ, पृ. ७६।

ध्वनियों तथा अन्य गुणों के साथ होता है जो हमारी संवेदना को उद्दीप्त [अपील] करते हैं। प्रकृति अपनी वास्तविक स्थिति में रंगीन नहीं है, क्योंकि वह रंग का आधार है। कदाचित् यह न तो स्पर्शनीय [साकार, ठोस] है और न ही कल्पनीय। इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं है कि प्रोटोन कैसा दीखता है, अथवा अनुभूत होता है। परमाणुओं के डायग्राम दिक् सम्बन्धी सम्भव सम्बन्धों के लिए स्वीकृत रूप में केवल प्रतीक होते हैं। प्रकृति का प्रत्यय कल्पनीय से केवल परिकल्पनीय में बदल जाता है। पदों की समष्टि का कतिपय अवकल समीकरणों में प्रवेश करा दिया जाता है। यह गुणों की व्याख्या के लिए गुणों का परित्याग करती है इसलिए अपने-आप में, यह एक शुद्ध संख्या के समीप पहुँच जाती है।

परन्तु गुण हैं, और यदि प्रकृति के प्रत्यय के अन्तर्गत उन्हें नहीं लिया जाय तो क्या वस्तुतः उनकी व्याख्या दी जा सकती है।

प्रकृतिवाद का उत्तर है कि गुण अभी के स्नायुओं तथा मस्तिष्क पर किसी निश्चित आन्दोलन के विक्षोभ का प्रभाव है। परन्तु स्नायु तथा मस्तिष्क स्वयं भौतिक वस्तुएँ हैं और इसलिए उन्हीं अवयवों से मिलकर बने हुए हैं जिनसे दूसरी भौतिक वस्तुएँ बनी हैं। यदि तरंग में कोई रंग नहीं है तो, नेत्र अथवा मस्तिष्क में भी कोई रंग नहीं हो सकता है।

गुण के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, और फिर भी यह विचित्र लगता है कि इसे प्रकृतिवादी चित्र से एक ऐसे मनोगत अतिरेक के रूप में निष्कासित कर दिया जाय जिसके बिना प्रकृति भलीभाँति अपना काम चला सकती है।*

(४६) क्या प्रकृतिवाद मनस् की व्याख्या देता है? यदि मस्तिष्क में कोई गुण उपर्युक्त अर्थ में नहीं है तो मस्तिष्क निश्चित रूप में मनस् नहीं है। हो सकता है कि चिन्तनात्मक प्रक्रिया के साथ मस्तिष्क में गति भी हो, किन्तु ध्यान देने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि गति एक बात है और विचार नितान्त दूसरी। इस विषय में स्पष्ट होना महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि साधारण बोलचाल में हम बहुधा 'मस्तिष्क' तथा 'मनस्' के प्रयोग में भेद नहीं करते।

यदि जड़वाद कहता है, जैसा हॉब्ज मानता है, कि संवेदन एक प्रकार की गति के अतिरिक्त कुछ नहीं होता, और विचार क्षयमान संवेदनों की शृंखला अर्थात् गतियों के एक अनुक्रम के अतिरिक्त कुछ नहीं होता, तो एकमात्र सम्भव उत्तर यही है कि वह प्रतिज्ञप्ति निरर्थक है। जब दो वस्तुएँ अभिन्न हैं, तो आप प्रत्येक कथन में एक को अन्य के स्थान पर रख सकते हैं। परन्तु इस मानसिक प्रतिज्ञप्ति के स्थान पर कि "मैं तुमसे घृणा करता हूँ" इस भौतिक प्रतिज्ञप्ति को रखने का प्रयत्न करिये कि "मेरे स्नायविक संस्थान तथा ग्रन्थियों में एक निश्चित ढंग की कोई भौतिक-रासायनिक उत्तेजना है.......।" मस्तिष्क की किसी प्रक्रिया का सूक्ष्म परीक्षण, चाहे कितना ही पूर्ण क्यों न हो, किसी भी ऐसे संकेत को खोजने में निश्चित रूप से असफल होगा जिससे यह पता चले कि हमारा, विचार अथवा अनुभूति

---

* प्रकृति की अवधारणा से सभी गुणों की अविश्वसनीय और आघात पहुँचाने वाली इस कमी को, जिसे फैखनर ने जगत् की 'रात्रि दृष्टि' (अन्धकारमय स्थिति) कहा है, नव्य यथार्थवाद प्रकृतिवाद के क्षेत्र में रहकर ही दूर करने का प्रयत्न करता है।

से क्या तात्पर्य है। इस विषय पर हमे देकार्त्त की स्पष्ट अन्तर्दृष्टि को धारण करना चाहिए : मनस् का सार चिन्तन है, और चिन्तन दिक् मे घटित घटना नही है।

अभी भी जडवाद के लिए जो बात ध्यान देने योग्य है वह यह है कि मनस् यद्यपि शरीर से भिन्न होता है, वह शरीर से ही उत्पन्न होता है, अथवा शरीर से अलग से संलग्न होता है। यदि हम फ्रासीसी चिकित्सक कैबेनिस (१७५७-१८०८) के स्वर मे कहें कि 'मस्तिष्क से उसी प्रकार विचार निस्सृत होता है जिस प्रकार यकृत से पित्त का स्राव होता है, तो हमे 'स्राव [निस्सरण]' शब्द को असामान्य कल्पित अर्थ मे लेना होगा : यह एक ऐसा स्राव है जिसका कोई रासायनिक लक्षण [स्वरूप] नही है। परन्तु यह हो सकता है कि जब मस्तिष्क एक निश्चित तरीके से क्रिया करता है तो विचार अपने ही जगत् मे कार्य के रूप मे घटित होता है।

ब्युखनर का मत यह है—ऐसा नही है कि मस्तिष्क तथा इसकी प्रक्रियाएँ ही मनस् हैं, अपितु वे मनस् को उत्पन्न करने वाली हैं : 'मस्तिष्क विचार का साधन है, और मस्तिष्क तथा विचार दोनो मे एक ऐसा अव्यवहित [प्रत्यक्ष] एव अनिवार्य सम्बन्ध होता है कि दोनो मे से किसी का भी एक दूसरे के बिना अस्तित्व नही हो सकता" (ब्रेन एण्ड सोल—मस्तिष्क एव आत्मा पर अध्याय)।

परन्तु यह दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से इस प्रश्न को जन्म देता है . यह कैसे होता है कि जबकि प्रकृति मे सभी अन्य स्थानो पर गति, गति के अतिरिक्त किसी अन्य को जन्म नही देती, वह मस्तिष्क मे सवेदन तथा विचार को उत्पन्न कर देती है ?

क्या प्रकृतिवाद वास्तव में मनस् की व्याख्या देता है, अथवा इसकी व्याख्या से एक चक्र प्रारम्भ होता है जो मनस् को बाहर निकाल कर स्वय को पूरा करता है, ठीक उसी प्रकार जैसे इसने उन गुणो को बहिष्कृत कर दिया, जिन्हें मनस् देखता है ?

(४७) मनस् तथा मस्तिष्क (अथवा किसी अन्य भौतिक वस्तु) के वैषम्य को स्पष्ट करने के लिए हमे भिन्नता के कुछ विशिष्ट सूत्रों पर ध्यान देना चाहिए।

(क) मनस् स्वय का निरीक्षण करता है, मस्तिष्क नही करता। मनुष्यो की महानता तथा लघुता को नोट करने के आधार मे पासकल का यही दृष्टिकोण था। पर्वत की तुलना मे मनुष्य सूक्ष्म है, पर्वत उसे रौंद सकता है। परन्तु (जहाँ तक वह मनस् से सयुक्त है) मनुष्य के विषय मे यह श्रेष्ठ बात है कि वह *यह जानता है कि उसे कुचला जा रहा है*, जबकि पर्वत अपनी श्रेष्ठता के बारे में स्वयं नहीं जानता। प्रकृति के विश्व की अनन्तता के ज्ञाता के रूप मे मनुष्य (पर्वत की अपेक्षा) महान् है।

(ख) मस्तिष्क दिक् मे होता है, मनस् दिक् मे नहीं होता। यदि यह तुरन्त स्पष्ट नही है तो कुछ ऐसे प्रश्नो का परीक्षण करें जिनमे यह निहित है कि मनस् दिक् मे होता है, जैसे :

यह कहाँ होता है ? क्या यह सिर मे होता है ? क्या यह सामने की ओर होता है ? इसका आकार और आकृति कैसी है ? क्या कम दूरी के स्थान पर अधिक दूरी के बारे मे सोचना अधिक कठिन है ? क्या यह अपेक्षाकृत लम्बा विचार है ? क्या किसी घन का विचार भी घनाकार हो जाता है ? क्या एक ही मनस् ने विभिन्न विचार किसी एक समय

मे एक दूसरे के ऊपर नीचे होते है ? क्या उनकी भाड लग सकती है ? क्या कभी मनस् की सामर्थ्य भी समाप्त हो सकती है जिससे उसम और विचारो का प्रवेश न हो सके ? क्या एक महान् विचार को एक तुच्छ विचार की अपेक्षा सर में अधिक जगह की आवश्यकता होती है ? इसम कोई सन्देह नही है कि किसी वस्तु का विचार किसी रूप मे उस वस्तु का सहवर्ती होता है, और विचार की क्रिया के रूप म वस्तु से सर्वथा भिन्न होने पर भी यह वस्तु के साथ अथवा उसे ग्रहण करते समय वस्तु के गुणो से प्रभावित होता है। अत विश्व का, अथवा समग्र दिक् का विचार देशीय विचार नहीं है। बुद्धि यह तत्क्षण ग्रहण कर लेती है, कि इस विचार म यह निहित है कि मनस् असीम तक पहुँच सकता है। परन्तु जब दिक् क बारे म सोचा जाता है तो मनस् दिक् से चाहे किसी भी अर्थ म सम्बन्धित क्यो न हो, वह अपनी दृष्टि मे समस्त दिक् को सन्निविष्ट कर लेता है और इसलिए वह दिक् 'म' नहीं हो सकता। इस अर्थ मे भी स्पष्टत इसका मस्तिष्क से, जो दिक् की वस्तुओ मे से एक होता है जिसके बारे मे हम सोच सकते हैं तथा जिससे [उपकरण के रूप मे] नही सोच सकते, तादात्म्य नहीं हो सकता।

मस्तिष्क केवल वर्तमान मे ही होता है मनस् समय की दृष्टि से भूतकाल की ओर तथा भविष्य की ओर फैला होता है।

जब आप स्मृति की व्याख्या उन चिह्नो से करने का प्रयास करते हैं जो मस्तिष्क मे अतीत के अनुभवों द्वारा छूट जाते हैं, तो आपको यह ध्यान रखना चाहिए कि वे चिह्न वर्तमान चिह्न होते हैं। जब वे जाग्रत हो जाते है तो आपको अतीत की घटना का एक बिम्ब प्राप्त होता है। इसका वर्तमान म पडे सस्कार से क्या अन्तर है ? यह अधिक धुधला होता है। हाँ, परन्तु धुधलापन भूतकालिकता नही है। मस्तिष्क के लिए, अतीत समाप्त हो चुका है। अतीत को अपने सम्मुख रखने वाले मनस् के अतिरिक्त और कोई भी किसी बिम्ब को अतीत म स्थापित नहीं कर सकता और ऐसा ही भविष्य के साथ है।

(घ) मस्तिष्क तथ्यों का एक समूह है मनस् तथ्यों का और उनके अर्थों का एक समूह है।

किसी तथ्य का अर्थ तब होता है जब वह किसी अन्य वस्तु की ओर सकेत करता है जैसे '+' *जोड का चिह्न है। किसी तथ्य का अर्थ वही होता है जिस ओर यह निर्देश* करता है अथवा अपने से आगे जिस ओर यह ले जाता है। समाचार पत्रों की किसी दुकान का अर्थ है कि वहाँ समाचार-पत्र मिलने की सभावना है, एक लाल सूर्यास्त का अर्थ है कि आगे आने वाला दिन अच्छा होगा (?), किसी विशेष सीटी का अर्थ हवाई-जहाज के चालक के लिए दायीं ओर घूमना है, किसी विशेष मार्ग का अर्थ किसी शिकारी के लिए यह है कि आस-पास उसका शिकार अभी मौजूद है। शरलाक होलम्स के लिए, प्रत्येक छोटे से छोटे तथ्य का भी कुछ न कुछ अर्थ है, तथ्यों का मनस् के लिए जो अर्थ होता है उसकी मात्रा से बुद्धि को मापा जा सकता है।

मस्तिष्क म तथ्य तो होते हैं किन्तु अर्थ नहीं होते। मनस् के लिए जो अर्थ होता है मस्तिष्क के लिए वह सम्बन्ध [कनक्शन] होता है पाँच बजे की सीटी काम को छोड़ने

की मासपेशीय क्रियाओं से सम्बन्धित होती हैं। परन्तु सम्बन्ध अर्थ नहीं होता। भौतिक तथ्य स्वय के लिए निरर्थक हैं, किन्तु मनस के लिए कुछ भी निरर्थक नहीं है।

(ङ) इन अर्थों में वे गुण, विशेष रूप मे सुख तथा दुःख, भी हैं जिनकी चर्चा हम (४५वें परिच्छेद मे) कर रहे थे।

हम आग से बचते हैं क्योंकि आग का अर्थ है जल जाने की पीडा, हम गर्मियों मे पर्वतों अथवा समुद्र को लाँघते हैं क्योंकि उनका अर्थ एक निश्चित प्रकार का सुख होता है। स्वयं मस्तिष्क को न तो सुख होता है और न दुःख। मनस् आनन्द तथा पीडा से बच नहीं सकता कोई भी अनुभव पूर्णत तटस्थ नहीं होता। मनस् मूल्यों से आविष्ट रहता है। मस्तिष्क तथ्यों का एक सस्थान होता है।

विशिष्टतया मनस् नैतिक मूल्यों, सही तथा गलत से सम्बन्धित विचारो मे व्यस्त रहता है। कदाचित् इन्ही स्थितियों मे हम मस्तिष्क तथा मनस् के भेद को यथेष्ट स्पष्टता से अनुभव करते हैं। जिसे हम अपराध कहते हैं उसका भौतिक पक्ष एक बहुत साधारण प्रक्रिया हो सकती है, जैसे बन्दूक के घोडे को दबाना, और यदि इस घोडे को दबाना हमारे वशानुक्रम तथा पर्यावरण का यान्त्रिक रूप से आवश्यक फल है तो 'अपराध' शब्द और उससे युक्त नैतिक भावना अर्थहीन हो जाते हैं। यदि हम जगत् को केवल तथ्य के रूप मे मानें तो सद्गुण तथा उसके परिणामो को, दुर्गुण तथा उसके परिणामो के स्थान पर हम वरीयता नहीं देंगे। सार्वभौम यन्त्र-मानव किसी हाथ अथवा किसी अग को बिना किसी पीडा के खो सकता है बिना किसी अपराध के उनके टुकडे-टुकडे भी किये जा सकते हैं। अथवा कतिपय परिणामो की अपेक्षा किन्ही अन्य परिणामो के बारे मे अपनी रुचियो को बनाये रखने पर भी अपराधी को अव्यवस्थित यन्त्र मान सकते हैं, और न्यायाधीश के स्थान पर चिकित्सक को बुला सकते हैं।

इस प्रकार, अपराध विज्ञान पर एक आधुनिक पुस्तक को यह कहना पड़ा है कि "अधिकाश अपराध अपराधी की वाहिनी हीन ग्रन्थियो मे उत्तेजना के फलस्वरूप होते हैं अथवा अपराधी की माता मे अन्त स्रावी गडबडियो के कारण जो मानसिक कमियाँ हो जाती हैं उनके फलस्वरूप होते हैं।'* इस सिद्धान्त के अनुसार सभी के समान अपराधी भी स्वतन्त्र सकल्प से विहीन होता है, परन्तु वह एक 'अपराधी आवेश' से ग्रस्त होता है जो उसे उस नैतिक भर्त्सना से मुक्त कर देता है जिसे हम एक दूसरे के प्रति निरन्तर अनुभव करते रहते हैं। स्पष्ट है कि प्रकृतिवादी को भी शेष मानव जाति के साथ यह अनुभूति होती है। अपराधी के विषय मे, नैतिक आलोचना तथा दण्ड के स्थान पर ग्रन्थियों की चिकित्सा की जानी चाहिए।

परन्तु—इस बात मे सन्देह किये बिना कि मानसिक रूप से रुग्ण अपराधी की चिकित्सा की जानी चाहिए—स्वस्थ मानव के लिए भी यह असभव है कि वह नैतिक रूप से उदासीन रह सके ठीक उसी प्रकार जैसे उसके लिए यह असभव है कि वह अपने सुख तथा दुःख की सवेदना की अवहेलना कर दे। मस्तिष्क सही और गलत के प्रति उदासीन होता है। मनस के लिए यह भेद अत्यधिक महत्त्व का होता है।

* द न्यू क्रिमिनोलॉजी (नया अपराध विज्ञान) मस जो० रलान तथा इ० एच० स्मिथ।

मनस् तथा उस भौतिक वस्तु के बीच, जिसे हम मस्तिष्क तथा स्नायु-संस्थान कहते हैं, अथवा पूर्ण अवयवी तथा इसके व्यवहार के बीच वे भेद प्रत्येक बिन्दु पर यह सुझाते हैं कि मनस् एक ऐसी वस्तु है जो न केवल शरीर से भिन्न ही है, अपितु शरीर से कुछ अधिक है। वे इस प्रश्न पर बल देते हैं कि क्या प्रकृतिवाद मनस् की व्याख्या प्रकृति की एक उपज के रूप में, अथवा महानतर की व्याख्या तुच्छ के द्वारा कर सकता है।*

(४८) क्या प्रकृतिवाद सत्य की व्याख्या देता है ?

प्रकृतिवाद के अनुसार, कोई विचार किसी पिछले कारण का कार्य होता है। यदि आप कारण को बदल दें तो विचार भी बदल जायगा। किसी मनुष्य का दर्शन उन कारणों का परिणाम होगा जो उस पर प्रभाव डालते हैं, और इनमें उसका वह स्वभाव भी समाविष्ट होगा जो उसे वंशानुक्रम से प्राप्त हुआ है। हिन्दू रहस्यवाद ऊष्ण जलवायु के शक्ति ह्रासक प्रभाव की वजह से हो सकता है, शॉपेनहॉवर का निराशावाद उसके यकृत की अव्यवस्था का परिणाम हो सकता है।

परन्तु इस अवस्था में, प्रकृतिवाद स्वभाव की किस प्रवृत्ति का अथवा पर्यावरण के किस प्रभाव का परिणाम है ? भोजन में कौनसा परिवर्तन प्रकृतिवादी को रहस्यवादी में बदल देगा ? यदि दर्शन ऐसे कारणों का परिणाम है तो इसके सत्य की गारन्टी क्या है ? यदि प्रकृतिवाद हमारे विचारों की व्याख्या उस कार्य-कारण की प्रणाली से करता है, तो क्या यह स्वयं को क्षति नहीं पहुँचाता है ?

रॉबिन्सन की पुस्तक 'माइन्ड इन दि मेकिंग' (विकासशील मनस्) की समीक्षा में श्रीमन् एच॰ जी॰ वेल्स यह कहना चाहते हैं कि

'मैं यह नहीं जानता कि वह कौन था जिसने सबसे पहले यह कहा था कि क्योंकि मानव मनस् जो अस्तित्व के संघर्ष की उपज है आवश्यक रूप से भोजन खोजने वाला तन्त्र था, और किसी सूअर की थूथनी से अधिक विशिष्ट सत्यान्वेषी यन्त्र नहीं था। मेरे ख्याल में पच्चीस या तीस वर्ष पहले कदाचित् आर्थर बेल्फ़ूर ने यह कहा होगा। (झूठी निन्दा !)

"इस सुझाव के अनुसार ही, सत्य-परीक्षण यन्त्र के बहुत अधिक संशय पर ही, विचार का यह नया संस्थान चल रहा है। हमारे मनस् जो हमारी अत्यधिक मूलभूत पूर्व-मान्यताएँ हैं प्रत्यक्ष आवश्यकताओं के प्रति वैसी ही प्रतिक्रियाएँ हैं, तथा भूल और प्रयास एवं अनुकरण का वैसा ही फल है जैसा हमारा शरीर है, नयी परिस्थितियों में उन पर उतना ही कम विश्वास करना चाहिए जितना हम अपनी पाशविक वृत्तियों पर करते हैं..."

मानसिकता के प्रकृतिवादी सिद्धान्त से जो अनुमान श्रीमन् वेल्स ने लगाया है वह बिल्कुल न्यायोचित है। परन्तु हमारा सत्य से जो तात्पर्य है उससे यह परिणाम मेल नहीं खाता। सत्य जलवायु के साथ नहीं बदलता, न ही इसकी हमारी समझ इन परिवर्तनशील कारणों के साथ (सुगमता रूप से) बदलती है। हमारे लिए पहाड़े एवं तर्क के नियम, भूमध्य रेखा तथा ध्रुवों पर, एक ही प्रकार से कार्य करते हैं। जो भौतिकी एवं रसायन-

* मनस् की विशिष्टताओं के इस विचार-विमर्श के विकास के लिए, जो इसे शरीर की क्रियाओं में नहीं घटाता, मेरी पुस्तक—दि सैल्फ, इट्स बॉडि एण्ड फ्रीडम (आत्म, इसकी देह तथा स्वतन्त्रता) देखिये, पृ॰ ३६—४४

शास्त्र मे सत्य है वह हमारे लिए भी सत्य ही होता है चाहे हमारे स्वास्थ्य अथवा स्वभाव की कोई भी स्थिति हो। प्रकृतिवाद मनस् को सत्य के ज्ञाता के रूप मे जानने मे असफल रहा है। बुद्धि कारणों एव कार्यों की शृ खला का अग नही है।

प्रकृतिवादी मनोविज्ञान हमारी त्रुटियो की कारणतावादी व्याख्या दे सकता है: यह उसमे दक्ष है। परन्तु यह हमारे बुद्धियुक्त कार्यों तथा विचारो की व्याख्या नही दे सकता।

"किसी समझदार व्यक्ति को अपने चिन्तन मे कोई गलती करने दो, और उसकी यह भूल तुरन्त मनोविज्ञान के लिए एक घटना बन जाती है। यदि मैं दो और, दो को जोड़ता हूँ और चार प्राप्त करता हूँ, तो इस परिणाम का जलवायु मेरे स्नायुओ की अवस्था अथवा मेरी वैयक्तिक रुचियो से कोई सम्बन्ध नही है। यह स्वर्ग मे या पृथ्वी पर घटित होने वाली किसी भी घटना की क्रिया नही है। परन्तु यदि मुझे (दो और दो जोडने मे) पाँच प्राप्त होते हैं तो इन अवस्थाओ के बारे मे जाँच-पडताल तुरन्त सार्थक हो जायेगी। गलती करने का कोई हेतु नही होता, सही होने का कोई कारण नही होता। अत मनोविज्ञान गलतियो तथा भ्रमो मे विशेष रूप से रुचि रखता है।*

यदि हम पूरी तरह से कारणात्मक सत्ता रहे होते, तो बौद्धिक होने के रूप मे हम इतना गौरव क्यो मानते? और नियन्त्रित' होने मे हमने इतने गहरे परिताप का अनुभव क्यो किया होता? हम कह रहे थे कि मनोविज्ञान को उन सभी परिस्थितियो पर प्रयुक्त किया जा सकता है जिनमे मनुष्य को नियन्त्रित किया जा सके परन्तु ऐसा किन अवस्थाओ मे हो सकता है?

उदाहरण के लिए, मनोविज्ञान का प्रयोग विज्ञापन के सम्बन्ध मे किया जाता है। लेकिन ज्यो ही मुझे यह पता चलता है कि विज्ञापक ने मनोवैज्ञानिक की राय पर, भोजन की मेज के चारो ओर परिवार के सदस्यो के चित्र को चतुराई से व्यवस्थित किया है ताकि मेरी घरेलू सहज-प्रवृत्तियो पर प्रभाव डाला जा सके और मुझे उसके लैम्प-शेड्स को खरीदने के लिए फुसलाया जा सके, त्यो ही मेरा हृदय तुरन्त कठोर हो जाता है। जब मुझे यह पता लगता है कि मुझे नियन्त्रित किया जा रहा है, तो कारणता की शृ खला कार्य करने मे असफल हो जाती है। मुझे अपने सवेगो पर नाटकीय प्रभाव की तरकीब का पता लगते ही मुझ पर उसका प्रभाव समाप्त हो जाता है। परन्तु यह किस तरह का विज्ञान है कि ज्यो ही इसके नियमो का पता लगता है वैसे ही इसकी सत्यता समाप्त हो जाती है। निश्चित रूप में ही यदि मनुष्य से इस तरह व्यवहार किया जाय कि वह मानो कारण तथा कार्य की शृ खला की वस्तु है तो यह बात तब तक कार्य नही करेगी जब तक कि आप उससे इस तथ्य को पूरी तरह से छिपा कर न रख सकें कि आप ऐसा कर रहे हैं। ऐसी अवस्था में कारणता सम्बन्धी मनोविज्ञान की मान्यता मे कही कुछ न कुछ गलती अवश्य होनी चाहिए। मनुष्य कारण तथा कार्य की कठपुतली से कुछ अधिक है।

(४६) जगत् के कतिपय ऐसे लक्षण हैं जिनकी व्याख्या देने का दावा प्रकृतिवाद नहीं करता। यह उन्हें अव्याख्येय मानता है, हमे उन्हे केवल दिये हुए तथ्य मानना होगा।

---

* हाकिंग, मैन एण्ड दें स्टेट (व्यक्ति तथा राज्य), पृ. २०२।

यदि आप किसी घटना को व्याख्या किसी नियम द्वारा देते हैं तो इससे वह नियम अव्याख्येय रह जाता है। मैं स्टील की एक छड़ को सूर्य मे झुकी हुई देखता हूँ, और इसकी मुझे यह व्याख्या दी जाती है कि ताप धातुओं को फैला देता है। किन्तु ताप धातुओ को क्यो फैलाता है? इसकी व्याख्या एक अन्य अपेक्षाकृत अधिक सामान्य नियम गतियुक्त कणों के सघर्ष की ओर सकेत करके दी जाती है। इस नियम की भी एक वृहत्तर नियम द्वारा व्याख्या दी जा सकती है: परन्तु इस शृंखला का अन्तिम नियम अन्य सभी की व्याख्या देने पर भी, स्वयं अव्याख्येय रह जाता है।

इसके अतिरिक्त, प्रकृतिवाद जगत् के अवयवो, उनकी मात्रा तथा अनुपात और उनकी व्यवस्था को प्रदत्त तथ्यो के रूप मे स्वीकार करता है। ये यहां हैं, और यहां बात समाप्त हो जाती है। हम उनकी पुनर्व्यवस्था की व्याख्या करते हैं, हम उनकी उपस्थिति की व्याख्या देने का प्रयास नहीं करते।

यह सुझाव रखने पर कि इन चीजो को अव्याख्यायित छोड देने से प्रकृतिवादी दर्शन की पूर्णता पर एक आवरण पड़ता है, यह कहा जाता है कि इससे अधिक अच्छा विकल्प कोई प्रस्तुत नहीं कर सकता। प्रत्येक दर्शन मे जिसका अस्तित्व है उसे प्रदत्त के रूप मे लेना चाहिए। हमारा ज्ञान निरपेक्ष सृष्टि के रहस्यो मे नहीं पैठ सकता।

किन्तु इससे पहले कि हम बुद्धि के लिए इस द्वार-बन्दी को स्वीकार करें, हम एक और प्रश्न रखना चाहते हैं। प्रकृतिवादी दृष्टि मे, 'निमित्त कारणों' ने 'अन्तिम कारणों' को बाहर निकाल दिया है, अर्थात् एक वस्तु की कार्य-कारण नियम द्वारा व्याख्या इसकी उद्देश्यमूलक व्याख्या का बहिष्कार कर देती है। क्या यह सही है? क्या ये दो तरह की व्याख्या साथ-साथ चल सकती हैं? इसके लिए एक अलग अन्वेषण की आवश्यकता है।

□□□

अध्याय ७

नव्य-साध्यवाद

(५०) कारणता तथा प्रयोजन—साधारण भाषा मे, कारण के विषय मे बात करना उस घटना से किसी भिन्न घटना (अथवा घटना समूह) की बात करना है जो उस घटना से ठीक पहले घटी थी, और जिसके विषय में हम यह सोचते हैं कि उसका इस प्रकार घटना आवश्यक था। कारण पहले घटते हैं, और मानो, उन्हीं से सम्बन्धित कार्यों का घटना आवश्यक हो जाता है। छैनी पर हथौड़े के प्रहार उसे लकड़ी मे घुसाते हैं और छैनी को तरा देते हैं। हमारे मनस् मे ऐसा कोई प्रश्न नही होता कि कारण क्या हैं और कार्य क्या हैं। स्थूल रूप मे कारणता का निरूपण हम इस प्रकार कर सकते है कि वह, जो घट चुका है उसके द्वारा काल मे घटनाओ का निर्धारण है। इसके विपरीत उद्देश्य काल मे जो आने वाला होता है, घटनाओ का उससे निर्धारण है। कोई व्यक्ति, जिसका कोई उद्देश्य होता है, बहुत पहले से ही वस्तुओ की भविष्य की स्थिति को देख लेता है जिसे वह लाना चाहता है, और फिर उसी दिशा मे कार्य करता है। भविष्य का यह चित्र ही, जो अभी भी अस्तित्वहीन वस्तुओ का है, उसके वर्तमान कार्य को अनुप्राणित करता है। यदि हम यह कहना चाहे कि कारणता अतीत से वर्तमान मे, तथा प्रयोजन भविष्य से वर्तमान मे कर्म करते हैं तो यह पूर्णत पथभ्रष्ट करने वाला कथन नही होगा, यद्यपि स्पष्टत यह घटना जिसका प्रयोजन होता है और वह घटना जिसका कारण होता है समस्त कालगत घटनाओ की भाँति वर्तमान से भविष्य की ओर अग्रसर होती हैं। हम मानते हैं कि समस्त भौतिक घटनाएँ, किसी कार्य-कारण शृ खला मे होती हैं। हम मानते हैं कि समस्त मानसिक घटनाएँ किसी प्रयोजनात्मक शृ खला मे निहित रहती हैं; क्योकि जहाँ तक हम जानते हैं ऐसा कोई मनस् नही होता जो वरीयता अथवा वरण, तथा जो इस प्रकार वरा जाता है उसके लिए कार्य करने की वृत्ति से विहीन हो। अब हमारा प्रश्न है, क्या ये दो तरह की प्रक्रियाएँ आपस मे व्यावर्त्तक (इक्सक्लूसिव) हैं? यदि जगत् ऐसा हो जिसमे प्रत्येक वस्तु कार्य-कारण व्यवस्था में हो तो क्या हमे इस अवधारणा को अस्वीकार कर देना चाहिए कि इस जगत् मे प्रयोजन है?

यन्त्र के विषय मे कोई भी व्यक्ति इस बात मे सन्देह नही करता कि यह यान्त्रिक कारणों से परिचालित होता है। [केवल] कार के चालक के कारण कार नहीं चलती। दूसरी ओर ऐसा लगता है, कि पहले तो यन्त्रो का सयोजन, और इनका निर्देशन, हमारी दृष्टि के लक्ष्य अथवा प्रयोजन से या जिसे अरस्तू ने "अन्तिम कारण" कहा है, से निर्धारित होता है। परन्तु चालक स्वय अशतः एक यन्त्र-रचना है, और प्रकृतिवाद पूर्णतया यही

पड़ता है। कुछ भी हो उसका प्रयोजन एक तथ्य है और उसका उन्मूलन नहीं किया जा सकता। भविष्य में वह स्वयं की किसी विशेष स्थान पर कल्पना करता है, और वह वस्तु, जो उसे उसकी क्रियाओं को शासित करती प्रतीत होती है, शरीर की यन्त्र-रचना के साथ सन्अस्तित्व रखती है। वैज्ञानिक चेतना के लिए यह एक अच्छा नियम हो सकता है कि जब प्रकृति का अध्ययन किया जाए तो अन्तिम कारणों का आश्रय न लिया जाय किन्तु यह मानना स्पष्टतः एक भूल है कि समस्त प्रयोजन को हटा देना चाहिए। क्योंकि यह तो है—अनुभव का एक तथ्य। इसने कारणों के साथ रहने का कोई रास्ता खोज लिया है।

(५१) कारण एवं प्रयोजन अपना प्रभाव किस प्रकार डालते हैं इस बात की हम ध्यान-पूर्वक परीक्षा करें।

कारणात्मक क्रिया का अवलोकन नहीं किया जा सकता। हम केवल घटनाओं की शृंखला का ही अवलोकन करते हैं। सूर्य उदित होता है और वायु में उष्णता आ जाती है, हमें शृंखला का बोध होता है, परन्तु सूर्य की किरणें उष्णता को उत्पन्न कर रही हैं यह हम नहीं देखते। कुल्हाड़ी गिरती है और लकड़ी फट जाती है: हम लकड़ी को चीरने वाली कुल्हाड़ी की शक्ति को नहीं देखते। चलचित्र अथवा मंच पर मुक्का मारने का अभिनय हमारे सम्मुख समान रूप में कार्य कारणता का विश्वासोत्पादक दृश्य प्रस्तुत करते हैं यद्यपि दोनों ही अवस्थाओं में कोई शक्ति सक्रिय नहीं दीखती। कार्य-कारण सम्बन्ध को देखा नहीं जा सकता। यह ह्यूम की प्रतिज्ञप्ति है। (रैण्ड, पृ० ३१३-२६)

फिर, हम, कार्य-कारण सम्बन्धी नियमों के प्रति इतने निश्चित क्यों होते हैं? हमारा विश्वास है कि सभी घटनाओं का कोई कारण होता है, और यह विश्वास हमें घटनाओं को एक दूसरे से जोड़ने के प्रयास की ओर प्रेरित करता है। हमारा विश्वास है कि दिन के क्रमशः उष्ण होने का कोई न कोई कारण होना चाहिए, और यदि सूर्य अपनी स्थिति को उष्णता के परिवर्तन के अनुपात में बदलता है तो हम सहज ही सम्बन्ध मान लेते हैं।

परन्तु उस विश्वास का क्या स्रोत है कि प्रत्येक घटना का कोई न कोई कारण होना चाहिए।

ह्यूम का विचार था कि यह मानसिक आदत का परिणाम है। जब हम बहुधा और बिना किसी अपवाद के यह अवलोकन करते हैं कि 'अ' के बाद 'ब' घटना भी घटित होती है, तो हम यह अपेक्षा करने लग जाते हैं कि प्रत्येक 'अ' के बाद 'ब' भी घटित होगी। अनेक प्रकार के उदाहरणों की शृंखला में ऐसी अपेक्षाओं की बार-बार पुष्टि इस सामान्यीकृत विश्वास को उत्पन्न कर देती है कि प्रत्येक घटना के लिए एक कारण मिल सकता है। कारणता में हमारे विश्वास की वास्तविक शक्ति हमारी अपेक्षा के बल में निहित होती है। यदि ह्यूम सही है तो यह प्रतिज्ञप्ति कि प्रत्येक घटना का कोई कारण होता है, निश्चित नहीं अपितु सम्भाव्य है। इसे सिद्ध करने का कोई रास्ता नहीं है।

ह्यूम के तर्क पर कोई भी निर्णय देने का प्रयास किए बिना, हमें उसे महान् कठिनाई की ओर (अन्यों के साथ कान्ट का भी) ध्यान आकृष्ट करने का श्रेय देना चाहिए जो 'कारण सम्बन्धी स्वयं-सिद्ध' की स्थापना में उत्पन्न होती है—कि प्रत्येक घटना का कोई

कारण होना चाहिए, और पर्याप्त कारण होना चाहिए। कार्य-कारण सम्बन्ध विश्व व्यवस्था पर आरोपित किया जाता है, वह उसमे प्रकट नही होता।

अब प्रयोजनो का लक्ष्य किया जाना भी कुछ इसी प्रकार की स्थिति है। हम प्रयोजनो को देखते नही हैं हम उन्हे आरोपित कर देते हैं। किसी स्टेशन पर एक रेलगाडी है, और एक व्यक्ति उसकी ओर दौड रहा है और उस पर सवार हो रहा है। हम ऐसा प्रतीत होता है कि हमने उस मनुष्य को रेलगाडी के लिए दौडते हुए देखा है, परन्तु हमने तो केवल घटनाओं का अनुक्रम देखा है,—प्रयोजन का विचार तो हम अन्दाज से ले आते हैं।

हम प्रयोजनो (अथवा प्रेरणाओ) को मानव आचरण मे पढ तो लेते हैं, परन्तु इसमे एक सुविदित खतरा निहित रहता है यह कुख्याति है कि 'अभिप्रायों के आरोपण' में गलती की सभावना निहित है। यह खतरा और भी अधिक बढ जाता है जब हम [अन्य] प्राणियो पर भी अभिप्रायो का आरोपण कर देते हैं। यदि हम प्राणी जगत् से परे अभिप्राय को सम्पूर्ण जगत् मे आरोपित कर दें तो यह खतरा और भी बढ जाता है।

फिर भी, जैसे यह सिद्ध अथवा असिद्ध नही किया जा सकता कि प्रत्येक घटना का कोई कारण होता है, वैसे ही यह भी सिद्ध अथवा असिद्ध नही किया जा सकता कि प्रत्येक घटना का कोई उद्देश्य होता है। जिस प्रकार कारण का पता नही चलना इसके अस्तित्व को असिद्ध नही करता वैसे ही उद्देश्य का पता नही चल पाना उसके अस्तित्व को असिद्ध नहीं करता।

तार्किक रूप से यह सभव है कि प्रत्येक घटना का कोई कारण, तथा कोई उद्देश्य अथवा अर्थ दोनो हो।

(५२) और तार्किक रूप से यह भी सभव है कि जगत् के उच्चतम प्राकृतिक नियम, जगत् मे भूत द्रव्य तथा गति का परिणाम, अनुपात, वितरण, जैसे लक्षणो का, जिन्हें कार्य कारण-सिद्धान्त बिना व्याख्या के छोड देता है, जैसे कोई अर्थ हो और इसलिए कोई सभव उद्देश्य भी हो।

परिणामों की व्याख्या के लिए प्रयोजन की दुहाई दी जा सकती है। जैसे विलियम विजेता का धनुष इतना बडा क्यों है ? इसका कोई यान्त्रिक उत्तर नही है, परन्तु प्रयोजन से इसकी व्याख्या तुरन्त हो जाती है। इसे इतना सशक्त होना चाहिए जिससे यह अन्य सभी शस्त्रो को चुनौती दे सके किन्तु इसे इतना सशक्त भी नहीं होना चाहिए कि यह स्वय उसी के शस्त्रों को चुनौती देने लगे। जगत् के परिणामो का उद्देश्य हो सकता है।

(५३) इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि हम केवल तार्किक सभावनाओ पर ही बातचीत कर रहे हैं। अभी तक, हमने जो कहा है, वह यह है कि यदि हम प्रत्येक घटना की व्याख्या उसके कारणो के द्वारा कर सकें तो भी उन्ही घटनाओ की उनके उद्देश्यो द्वारा व्याख्या के लिए भी स्थान बचा रहेगा। किन्तु यदि हमारे पास कुछ सबल आधार न हों, तो ऐसे उद्देश्यो का हमारा दावा न्यायोचित नहीं होगा।

ऐसे आधार हमारे पास कब होते हैं ? स्पष्टत पहली बात तो यह है कि परिणाम का कोई निर्धार्य मूल्य होना चाहिए। लहरें मिट्टी को साफ कर देती हैं और पुन धो डालती हैं, यहाँ उद्देश्य की हमारी अवधारणाएँ कोई काम नहीं देती। फिर भी यद्यपि वृक्ष अथवा

मेरुदण्डी प्राणियों अथवा मनुष्य अथवा सूर्यास्त की उत्पत्ति का कोई न कोई मूल्य प्रतीत होता है, और हम यह सोचने लगते हैं कि क्या कोई मूल्य अभिप्रेत है। परन्तु, दूसरी बात यह है कि इस बात के लिए कुछ प्रमाण होने चाहिए कि यह प्रक्रिया जिसे उत्पन्न करती है उसके परिरक्षण की ओर भी अभिमुख होनी है। और इस बात के लिए कोई प्रमाण नहीं है कि कोई भी वस्तु सूर्यास्त को सुरक्षित रखने की ओर प्रवृत्त होती है। सघटित वस्तुओं की स्थिति भिन्न होती है इन्हें प्रकृति की प्रक्रियाओं द्वारा उत्पन्न किया तथा सुरक्षित रखा जाता है। परन्तु, जब तक हम यह न देख पायें कि जिन साधनों द्वारा परिणाम को प्राप्त किया गया था, वे किन्हीं कारणों के अनेक अन्य सभव समूहों में से चुने गए थे तथा वे घटनाओं के मात्र याहच्छिक सयोग नहीं थे, हमारे पास अभी भी प्रयोजन को दृढतापूर्वक स्वीकार करने के लिए शायद ही कोई पर्याप्त आधार है।

क्या इस प्रकार का कोई प्रमाण है कि प्रकृति अथवा प्रकृति के कोई भी लक्षण, प्रयोजन के परिणाम माने जा सकें, जबकि साथ ही वे कारणता के परिणाम हों ?

(२४) अब 'उद्गामी विकास' के अनेक चरणों ने—अजैव से जैव आकारों की ओर, फिर अमानसिक से मानसिक की ओर, फिर अबौद्धिक से बौद्धिक की ओर ले जाने वाले चरण, जैसी मुख्य घटनाओं को लिया जाय—हमारी समझ में कुछ मूल्यवान उत्पन्न किया है तथा उसका अब तक परिरक्षण भी किया है। परन्तु क्या यहाँ साधनों के वरण का कोई प्रमाण मिलता है ?

उद्गम में विश्वास करने वाला प्रकृतिवादी केवल कार्य कारण-सबध पर ही आश्रित रहता है, और इस कार्य मे वह एक अनकही धारणा का उपयोग करता है, यथा, क्योंकि जगत् के अवयवों की निरन्तर गति मे आकार के परिवर्तन सन्निविष्ट हैं, अत पर्याप्त समय में सभी सभव आकार तथा जगत् की अन्तिम इकाइयों के सभी सभव विन्यास प्रकट हो जाने चाहिए जिससे अन्तत अगीयो का विकास होना निश्चित हो जाए। अब हम इस अत्यन्त सामान्य तथा युक्तियुक्त दिखाई देने वाली धारणा की परीक्षा करनी चाहिए।

मान लीजिए कोई विश्व है। इस मे चार कण हैं जिन्हें किसी पूर्णवर्ग के चारों कोनों पर नियत किया गया है, तथा ये गुरुत्वाकर्षण एव पूर्ण लचीलेपन (इलैस्टिसिटी) से युक्त हैं। इस विश्व के इतिहास की अनन्त काल तक की ठीक-ठीक भविष्यवाणी की जा सकती है। सबसे पहले ये चार कण वर्ग के विकर्णों के साथ-साथ एक दूसरे की ओर गतिमान होंगे। वे एक ही समय पर एक दूसरे से टकराएँगे, और लचीले होने के कारण जहाँ से चले थे ठीक उसी बिन्दु पर वापस लौट आएँगे (यहाँ यह माना गया है कि उनका कोई प्रारंभिक वेग नहीं था), वे कण फिर इसी घटनाचक्र को दोहराएँगे और हमेशा के लिए बिना किसी परिवर्तन के चलते रहेंगे।

अब एक अन्य विश्व की कल्पना कीजिए जो एक भेद के अतिरिक्त पहले जैसा ही है। इसका एक कण वर्ग के कोने से थोड़ा-सा हटकर है। क्या अब आप इसके इतिहास के बारे में भविष्यवाणी कर सकते हैं ? वे पहले की तरह ही एक दूसरे की ओर गतिमान होंगे किन्तु वे एक ही समय पर एक दूसरे से नहीं टकराएँगे। उनका प्रतिपात [री बाउन्ड] अनियमित होगा, और उनमें से कोई भी ठीक उस बिन्दु पर नहीं पहुँचेगा जहाँ से वे प्रारम्भ

हुए थे। परवर्ती गतियाँ अनियमितता की वृद्धि को एक समय तक प्रकट करेंगी जो कि मूल कु-रचना की मात्रा पर निर्भर करेगा। परन्तु एक बात हम पूर्ण निश्चितता के साथ कह सकते हैं कि इस दूसरे विश्व के चारों कण किसी भी समय पूर्ण वर्ग की रचना नहीं करेंगे।

और क्योंकि हमारे पहले विश्व के कण पूर्ण वर्ग के अतिरिक्त अन्य किसी भी रूप मे सम्बन्धित नही रहे हैं, अत हम यह भी उतनी ही निश्चितता के साथ कह सकते है कि अनन्त काल तक दोनो विश्वो के कण भी एक आकृति की रचना नही करेंगे। सामान्य रूप मे, एक मूल सममिति [सिमिट्रि] हमेशा सममित्य [सिमेट्रिकॅल] आकृतियों को जन्म देगी, और एक मूल विषमता सर्वदा एक विषमता को ही उत्पन्न करेगी।

अत यह मानना स्पष्ट रूप से गलत है कि कोई भी विश्व पर्याप्त समय मिलने पर अपने अवयवो के सभी सभव विन्यासो से गुजरेगा। और यदि यह उन नगण्य विश्वों के बारे में सत्य है जिनकी हम परीक्षा कर रहे थे, तो वास्तविक विश्व के विषय मे यह स्थिति तो और अधिक सत्य होगी, क्योंकि इसका समस्त इतिहास विन्यासो की एक विचित्र शृंखला है, *जिनसे कि उन्ही कणो (अशों) के सभव विन्यासो की अनन्तता* को अफलित होने के कारण सदा के लिए बाहर निकाल दिया गया है। यह सामान्य विश्वास कि अनन्त काल मे जगत् की सामग्री स्वय को सभी सभव तरीको द्वारा व्यवस्थित कर लेगी, और इसीलिए इस वर्तमान रूप मे भी, उन अनेको गलतियो मे से एक है जिनके लिए हम दकियानूस बन कर कह सकते हैं कि यह सही निष्कर्ष से अपरिमित रूप से दूर है।

तब हम यह कह सकते हैं कि जिस मान्यता पर प्रकृतिवादी-उद्गामी आश्रित होता है निराधार होती है आकार मे ऐसी कोई प्रवृत्ति समवेत नहीं है जिससे उत्पत्ति आवश्यक हो। यदि उत्पत्ति होती है तो कदाचित् इस प्रकार कि इन आकारो की शृंखलाओ का जो विश्व की कारणता के इतिहास की रचना करती हैं, अनन्त सभव आकारो मे से चयन हुआ हो। और प्रयोजन के प्रत्यय को प्रयुक्त करने के लिए जो आधार हैं वे उपलब्ध हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उद्गामी विकास किसी उद्देश्य का परिणाम हो।

(५५) अपनी पुस्तक दि फिटनैस ऑव दें एनवायरनमैण्ट मे प्रोफेसर हैण्डरसन ने जिस बात को अत्यन्त मूर्त रूप मे बताने का बीडा उठाया है यह उसका सामान्यीकृत रूप है। जिस परिणाम मे वह रुचि रखता है वह प्राणियो की उत्पत्ति है। वे ऐसे परिणाम हैं जिनको उत्पन्न करना महत्वपूर्ण है। परन्तु इन्ही उपादानों के थोडे से भिन्न अनुपात के विश्वों की कल्पना करना सरल है—*जैसे थोडी सी अधिक नाइट्रोजन और थोड़े से कम कार्बन अथवा* ऑक्सीजन के विश्व को—जिनकी वजह से हम जिन प्राणियों को जानते हैं उन्ही को नहीं अपितु किसी भी प्रकार के प्राणियो का अस्तित्व असभव होना।* (समान अवयवो वाले

* इस विषय में, हैण्डरसन की युक्ति में एक तार्किक निर्बलता पर ध्यान दीजिए। १४वें परिच्छेद में उससे बचने का प्रयास किया गया है। यदि भौतिकी तथा जीवन विज्ञान के नियम स्थिर रहें तो अवयवों के अनुपातों में परिवर्तन होने से प्राणियों का अस्तित्व असभव हो जाता। परन्तु यदि हम विश्व को बदल रहे हैं तो नियमों को भी क्यों नहीं बदला हुआ मान लेते ? और यदि ये बदल गए तो शायद प्राणी फलफूल सकें ?

से सभी सभव विश्वो मे) शायद वर्तमान विश्व ही प्राणियों की उत्पत्ति के लिए अत्यन्त उपयुक्त है। इसलिए इसे जीव-केन्द्रक कहना युक्तियुक्त है। अतः विश्व के निर्माण में प्रयोजन का कोई ऐसा सिद्धान्त है—अथवा ऐसा संभव सिद्धान्त जिसका प्रयोजन-मूलक तर्क की समालोचना, परिहार नही कर सकती।

प्रोफेसर हैण्डरसन प्रयोजन शब्द का उपयोग नहीं करते, अन्तिम छोर पर पहुँचने की प्रवृत्ति के स्वरूप को वे तत्त्वमीमांसा का विषय मान कर छोड देते हैं। वे यह स्वीकार नहीं करते कि यह प्रवृत्ति कभी भी प्रकृति के पूर्ण यन्त्रवाद में हस्तक्षेप करती है। "वस्तुओं की उत्पत्ति के समय, ठीक उससे पहले जबकि यन्त्रवाद क्रिया करना शुरू करता है" (पृ० ३०८) यह अपना सब कार्य करती है। बहरहाल विकास के क्रम मे क्या जीवन मृत-द्रव्य से विकसित हुआ है, इसे हैण्डरसन निश्चित करने का प्रयास नही करते, परन्तु यदि ऐसा हुआ होता, तो "इस समस्त विश्व मे प्रयोजन का वस्तुतः सर्वोच्च तथा अत्यन्त चमत्कारपूर्ण उदाहरण रहा होता।"

यदि इस युक्ति को उसके न्यूनतम निष्कर्ष के रूप मे लिया जाय तो यह संभव है कि जगत् मे प्रकृति के अतिरिक्त कुछ और—अर्थात् कोई ऐसा प्रयोजन हो, हमारी प्रकृति का विन्यास जिसके अनुरूप हो। इस संभावना के साथ प्रकृतिवाद की शक्ति टूट जाती है। यह संभावना स्वयं हमे अधिक विध्यात्मक परिणाम नही देती। अतः हम दूसरे प्रकार के दर्शन की खोज करते हैं जो किसी निश्चय के लिए आधार प्रदान कर सके।

□□□

नैतिक सुधार लाना था। यह केवल आकस्मिक नहीं है कि एक ही युग में जिसमे सबसे पहले प्रजातन्त्रो का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने राजनीति मे साधारण मनुष्य की सोचने की सामान्य सामर्थ्य मे विश्वास प्रकट किया, उसी मे सर्वप्रथम पश्चिमी जगत् के धर्मनिरपेक्ष दर्शनों का भी प्रादुर्भाव हुआ।

प्रकृतिवाद इस स्वतन्त्र चिन्तन के आरम्भिक परिणामो म से एक है और मानव चिन्तन के सम्पूर्ण इतिहास म सामान्यत यह पूर्णरूपेण दर्शन का अनीश्वरवादी प्रकार रहा है, मानव बुद्धि मे असामान्य रूप मे दृढ आत्मविश्वास की उपज रहा है। किसी समय अग्रेजी के प्रयोग मे 'बुद्धिवादी शब्द' उस 'स्वतन्त्र विचारक' का समानार्थक था जो अलौकिक मे अपनी श्रद्धा का त्याग कर चुका था। टॉमस पेइन क। 'एज ऑफ रीज़न' (बुद्धि का युग) 'फ्रास की ज्ञानोदीप्ति' की अमरीकन प्रतिध्वनि है जिसने क्रांति को जन्म देते समय इस बात को उपयुक्त माना कि वह बुद्धि को अपनी देवी के रूप मे प्रतिष्ठित करे। शायद कोई भी आगे आने वाला युग विश्व की पहेलियो को हल करने म बुद्धि की पर्याप्तता के प्रति इतना आश्वस्त नही रहा है।

तब यदि, प्रकृतिवाद जैसा कि हमने देखा, इस तार्किक परिणाम की ओर ले जाता है कि दार्शनिक सत्य प्राप्त करने के लिए बुद्धि एक दोषपूर्ण साधन (यन्त्र) है, तो यह परिणाम उस स्वभाव पर एक प्रकार का आघात है जिससे स्वय प्रकृतिवाद उत्पन्न हुआ था। फिर भी, प्रकृतिवाद के अतिरिक्त भी अनेक ऐसी बातें हैं जो इसी प्रकार के निर्णय की ओर ले जाती हैं—बुद्धि की शक्ति मे अविश्वास की ओर। उनमे से कुछ ऐसे हैं जो चिन्तनशील मनुष्यो को सन्देहवाद की ओर ले गए हैं तब से ही जब से गहन दार्शनिक प्रयास आरम्भ हुआ।

(४८) तर्कद्वेष कुतर्क—दार्शनिक मतभेद होता है यह इन बातो म से एक स्पष्ट तथ्य रहा है। यदि स्वतन्त्र चिन्तन के परिणाम परम्परा के अनुकूल नही हो तो बहुत शीघ्र ही वे एक दूसरे के भी प्रतिकूल हो जाते हैं, और इस तरह हमे दर्शन के विभिन्न स्कूलो' का एक अनुक्रम उपलब्ध होता है। प्रत्येक दार्शनिक, अन्तिम खोज के रूप मे, अभी तक की विश्व दृष्टियों की लम्बी तालिका (सूची) में एक और नये मत को जोड देता है और दर्शन का इतिहास महत्त्वाकाक्षी असफलताओं की एक वीर्था (गैलरी) लगने लगता है। ये वैयक्तिक दर्शन सुस्थापित सत्यो के बढते हुए पुञ्ज मे मिलते हुए प्रतीत नहीं होते, जैसाकि विज्ञान के परिणामो के सम्बन्ध में होता है और यह सदेह और भी गहरा हो जाता है कि दार्शनिक क्रिया किसी न किसी रूप मे वैज्ञानिक क्रिया से कम स्वाभाविक है—हो सकता है कि यह मानवीय बुद्धि की स्वाभाविक पहुँच से परे हो।

ऐसे लोग जो निर्बल होते हैं एव सरलता से निरुत्साहित हो जाते हैं, प्राचीन काल से ही, पीछे हटने की सलाह देते हैं वे दिव्य श्रुति की मान्यता की ओर झुकते हैं और कहते है कि केवल वही एकता तथा शान्ति देने मे समर्थ है*। अथवा ऐसे लोग विश्वासो को

* इस निष्कर्ष के आधुनिक, विकसित और अत्यधिक दायित्वपूर्ण रूप के लिए पासकल का ग्रन्थ पांसे (विचार, १८७०), लामेनेय का ग्रन्थ (ऐस्से स्युर लॉंदिफेरांस ऑं मातीयर द रेलीज्यों (धार्मिक विषयों पर उदासीनता के विषय में) तथा कार्डिनल न्यूमैन का ग्रन्थ ग्रामर ऑव असैन्ट (स्वीकृति का व्याकरण, १८७०) देखें। मुस्लिम रहस्यवादी अलगज़ाली का ग्रन्थ दि कोलैप्स ऑव दं फिलॉसोफर्स (दार्शनिकों का अवसान)' भी देखें।

प्राप्त करने के प्रयत्न को छोडने की सलाह देते हैं और कहते हैं कि हमें अपना मानसिक एव नैतिक सुख सतही जीवन से प्राप्त करना चाहिए। वे लोग बुद्धि के प्रति असतुष्ट अथवा ऐसे 'तर्कद्वेषी' हो जाते हैं जिनका फीडो मे सुकरात ने वर्णन किया है। सुकरात एक ऐसे व्यक्ति के समान बोलता है जो स्वय इस कष्ट को झेल चुका है, और जो अपने मित्रों को 'बुद्धि' पर चिडचिडे रूप मे दोष मढने से केवल सावधान करता है। वस्तुत दोषारोपण का उपयुक्त विषय तर्क करने वाला है—हमारी अपनी मूर्खता है। शायद सुकरात के मन मे अपने समय के सोफिस्ट लोग थे, जो कि वक्तृता एव वाद विवाद की कला के व्यवसायी अध्यापक थे, उनमें से कुछ ने यह मानते हुए कि सत्य हमारी पहुँच के परे है, अपने छात्रों को यह सलाह दी कि सामाजिक जीवन मे सफलता के लिए सबसे अच्छा साधन [उपकरण] यह है कि हम किसी तर्क के किसी भी पक्ष को लेने के लिए तैयार रहें। यह नस्ल अभी भी पूर्णत विनष्ट नही हुई है।

(२६) सशयवाद—अपक्षाकृत अधिक मानसिक ओज वाले अन्य लोग, यह देखकर कि तर्क कठिनाइयो मे फँस जाता है, उन कठिनाइयो का कारण खोजने का प्रयत्न करते हैं, और इस तरह बुद्धि को इसके स्वय के रोग के निदान की ओर ले आते हैं। वे इस बात के लिए कि बुद्धि अक्षम है करीब-करीब एक तर्कोचित प्रमाण तक पहुँच सकते हैं, जैसेकि कोई यान्त्रिकी में यह सिद्ध कर सकता है कि निरन्तर गति असम्भव है, अथवा गणित मे यह कि वृत्त को वर्गाकार नही किया जा सकता। विशिष्ट अर्थ मे, तब वे 'सशयवादी' हो जाते हैं, यूनानी गोर्गियास और एलिस के पीरो की तरह, अथवा डेविड ह्यूम की तरह।*

यूनान के सशयवादी के सम्मुख दार्शनिक परिणामों के विरोध के रूप मे विशिष्ट प्रकार से दिलचस्प स्थिति थी। उनके पूर्वज [पूर्ववर्ती] इस बात पर सहमत हो चुके थे कि इद्रियाँ हमे भ्रम मे डाल देती हैं, और कि बुद्धि हमे इसीलिए दी गई है कि हम इन्द्रियों की झूँठी रिपोर्ट को ठीक करें। परन्तु हमारी इन्द्रियाँ और हमारी बुद्धि क्या कहती है, इसके बारे म उन्होंने विरोधी मत प्रस्तुत किए हैं। एक स्कूल का—इलियावासियों का दावा है कि इद्रियो द्वारा हमे जिन वस्तुओ का प्रत्यक्ष हो रहा है वे निरन्तर परिवर्तित हो रही हैं और नष्ट हो रही हैं, जबकि बुद्धि इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि यथार्थ सत्ता स्थायी एव अपरिवर्तनीय है। दूसरा स्कूल, जो कि हेराक्लाइट्स का है, यह बताता है कि इन्द्रियो द्वारा वस्तुएँ हमें स्थायी प्रतीत होती हैं, जबकि अधिक गहन रूप से देखने पर बुद्धि को यह ज्ञात होता है कि "सभी वस्तुएँ प्रवाहमान हैं।" सशयवादी का तर्क है कि ऐसी परिस्थितियो में हम इन्द्रिय अथवा बुद्धि पर कैसे भरोसा कर सकते हैं? कठिनाई यह प्रतीत होती है कि हमारे विचार अनुभव के तथ्यो में इतने ढीले फिट बैठते हैं कि समान औचित्य के साथ विरोधी निर्णय किए जा सकते हैं। हमारे सख्या, स्थिति एव गति के अपने प्रत्ययों को बिना व्याघातो मे फँसे हुए सुनिश्चित रूप मे प्रयुक्त नही किया जा सकता यह दिखाने के लिए

* प्लेटो का सवाद ग्रन्थ गार्गियस (बेकर्वेल, पृ ६७), डायोजीनिस लायरटियस का ग्रन्थ लाइव्ज, नवाँ परिच्छेद, पृ ६१, डेविड ह्यूम के ग्रन्थ एन्क्वायरी कनसर्निंग ह्यूमन अण्डरस्टैन्डिंग (मानवीय बुद्धि से सम्बंधित अन्वीक्षण)¹, बारहवाँ परिच्छेद (रैण्ड पृ ३४२), तथा ट्रीटिज ऑन ह्यूमन नेचर (मानव प्रकृति पर प्रबन्ध) पहली पुस्तक, चौथा अध्याय देखें।

किन्हीं विरोधाभासो (एक्लिीज तथा कछुआ, गतिमान तीर आदि*) के प्रतिपादन करने के कारण ईलिया के जीनो को बडी कुख्याति प्राप्त हुई थी। गोर्गीयास और पीरो ने इसी तर्क को समस्त बौद्धिक तर्कना पर प्रयुक्त किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि प्रज्ञा का धर्म यह नही है कि किसी भी विश्वास से दृढतापूर्वक चिपका रहा जाय, अपितु उसके स्थान पर प्रत्येक विश्वास के सम्बन्ध मे एक सहज उदासीनता को बनाये रखा जाये और मन को शान्त रूप मे कट्टरवादिता से तो मुक्त रखा ही जाये साथ ही उन समस्त प्रतिबद्धताओं से भी अपने को मुक्त रखा जाय जो विश्वास मे सभी स्पष्ट निर्णयो से सम्बद्ध होती है।

यह परामर्श, यदि इसे कोई क्रियान्वित कर सके तो, एक ऐसे आदर्श सन्तुलन, तटस्थता और व्यावहारिक निरर्थकता की ओर ले जायगा जैसी कि किसी भी जीवित मनुष्य ने प्राप्त नही की होगी। परन्तु यदि कोई इतना सशयवादी हो कि वह अपने सशयवाद के प्रति सन्तुलित भी हो सके जैसाकि पायरो ने प्रस्तावित किया था तो उसके दृष्टिकोण के फलस्वरूप व्यवहार मे एक सहज भद्रता तथा चरित्र मे एक लचीली अवसरवादिता उत्पन्न हो सकती है, जो किसी व्यक्ति को एक अभिजात्य उच्चता के साथ उस समाज मे पूर्ण गभीर उद्देश्य सहित मिलनसारिता से विचरण के योग्य बनाती है। इस समाज मे कठिन कार्य अन्यो के द्वारा सम्पन्न होते हैं। इस प्रकार के अत्यन्त आकर्षक उदाहरण जगत् के उन व्यक्तियो मे मिलेंगे जो दर्शन की उस अवस्था पर पहुंचने पर जहां दर्शन को हेय माना जाता है एव मनस् का ऐसा एकाकीपन होता है जो शोभायमान तथा परिष्कृत होता है, मान्तेन की इस भावना का पोषण करते है कि "व्यवहारकुशल व्यक्तियों के लिए अज्ञान एव जिज्ञासा विहीनता कैसा सहृदय तथा स्वास्थ्यप्रद आश्रय प्रदान करते है।"

(६०) जहां तक सशयवाद असामान्य तीक्ष्ण मानसिक आलोचना से उत्पन्न होता है, वहां तक यह दर्शन मे अत्यधिक उपयोग का है। हमारी मानसिक कार्यशाला कठिनतम परीक्षण मे विशेष तौर से स्वय बुद्धि की परीक्षा मे खरी उतरने योग्य होनी चाहिए। सशयवादी अत्यन्त निरुद्योगी विचारक हो सकता है, साथ ही वह अत्यधिक उत्साही भी हो सकता है,—यह सशयवादी इसलिए होता है क्योकि वह अपने जीवन को पूर्णत निश्चित आधार के अतिरिक्त किसी अन्य को सौंपना नही चाहता।

अत दर्शन की नेकनियति इस बात से दृष्टिगोचर होती है कि उसने सच्चे सशयवादी का भी स्वागत किया है, उसे दार्शनिको म समाविष्ट किया है, और उसकी सहायता से

* (१) यदि कछुआ एकिलीज से आगे है, तो एकिलीज इसे कभी नहीं पकड पायेगा क्योंकि एकिलीज जब उस स्थान पर पहुँचता है जहाँ कछुआ था, तो कछुआ वहाँ से कुछ और अधिक दूरी पर पहुँच जाता है, जब एकिलीज इस आगे के बिंदु पर पहुँचता है तो कछुआ और भी आगे पहुँच गया होता है और इसी प्रकार अनत तक। (२) तीर वहाँ जायगा जहाँ यह या तो है या जहाँ नहीं है। परन्तु जहाँ यह नहीं है वहाँ यह नहीं जा सकता। और न ही यह वहाँ जा सकता है जहाँ यह है, क्योंकि जहाँ यह है वहीं इसके होने का अर्थ है कि यह गतिमान नहीं है। अत यह नितान्त गतिमान नहीं हो सकता। इस प्रकार के आठ विरोधाभास हैं जिनमें से हमें कुछ तो केवल शाब्दिक सूक्ष्मताएँ प्रतीत होती हैं, फिर भी विश्लेषण की अपेक्षा इनका त्याग सरलतर है। इन विरोधाभासों का उत्तम सक्षिप्त विवरण एनसाइक्लोपिडीया ब्रिटानिका के तेरहवें सस्करण के ईलिया के जीनो पर लेख मे दिया हुआ है।[२]

बुद्धि की शक्ति से प्रामाणिक ज्ञान तक पहुँचने का प्रयत्न किया है। दर्शन का यह विकास बहुत हद तक प्रत्येक वंश समय के अत्यन्त सावधानी से किए गए सोच-विचार का फल है। सुकरात स्वय तीक्ष्णतम सोफिस्ट से कम सावधान नही था, वह अपने अज्ञान से स्वय परिचित था, वह देल्फाई की इस देववाणी से परेशान था कि "एथेन्स मे उससे अधिक ज्ञानी और कोई व्यक्ति नही था"। इस उलझन का उसका हल उसकी यह खोज (सुकरात का 'व्यग्य' [आइरोनि]) थी कि किसी के लिए यह जानना ही कि वह कुछ नही जानता है एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रकार का ज्ञान है। क्योंकि यह ज्ञान किसी व्यक्ति को उस आत्मविश्वासी अज्ञानी से एक बहुत चौडी खाई द्वारा अलग कर देता है जिसे अपनी कमी का बोध नही होता है, तथा, इसके अतिरिक्त, यह ज्ञान किसी भी व्यक्ति को सच्चा ज्ञान प्राप्त करने के सही मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करता है।* आधुनिक काल के प्रारभ मे, कूसा के निकोलस ने इसी भावना से १४४० में एक पुस्तक 'डि डाक्टा इगनोरेशिया [अज्ञान के ज्ञान पर]' लिखी।‡ और देकार्त (१५९६–१६५०) ने सोच-विचारकर सदेह को अन्तिम से अन्तिम बिन्दु तक ले जाने की प्रक्रिया को अपनाया, जिससे कम से कम एक ऐसी प्रतिज्ञप्ति प्राप्त हो सके जिस पर सन्देह नहीं किया जा सके। अपने ग्रन्थ मैडीटेशन्ज मे वह अपने आप को यह मानता हुआ कल्पित करता है :

"कि वे सब वस्तुऐं जिन्हे मैं देखता हूँ कल्पित हैं, कि मेरी स्मृति जिन वस्तुओ का प्रतिनिधित्व करती है उनमे से कभी भी एक भी नही थी, कि मुझे बाह्य जगत का कोई वास्तविक बोध नही है : कि वस्तु अपनी आकृति, विस्तार, गति अथवा स्थिति, के रूप मे मेरे मनस् की कल्पना के अतिरिक्त कुछ नही है। ऐसी स्थिति मे किसे सत्य माना जा सकता है ? शायद केवल इस बात को, कि कुछ भी निश्चित रूप मे सत्य नही है······ परन्तु यदि, दूसरी वस्तुओ के साथ-साथ इसी तरह मैं अपनी देह पर भी सदेह करने लगूँ तो क्या इसके साथ यह सदेह नही रहेगा कि मेरा अपना भी अस्तित्व नही है ? ऐसा नही होता है, क्योंकि यह मैं ही हूँ जो सन्देह करता हूँ। अपितु ऐसा तो नही है कि सर्वोच्च शक्ति एव चतुराई वाली अनिष्टकर सत्ता है जिसने ठीक मेरे जीवन के बीच दयता से धोखे को ला दिया हो ? तो भी, यदि मुझे धोखा दिया जाता है तो मेरा अस्तित्व अवश्य होना चाहिए। किसी धोखे का यह परिणाम तब तक नही हो सकता कि मैं शून्य हूँ जब तक मुझे अपने विषय का यह बोध है कि मैं चेतन सत्ता हूँ।' तो यह प्रतिज्ञप्ति, कि मैं हूँ, प्रत्येक उस अवसर पर अनिवार्य रूप से सत्य है, जब भी मैं उसका उच्चारण करता हूँ।"†

---

* प्लेटो की अपॉलोजि में सुकरात ने अपनी जीवन पद्धति के बचाव में जो कुछ कहा है उसे पढ़ें (वैकवैल, सोर्नबुक, पृ॰ १०४ और फिर आगे, एवरी मैन्स लाइब्रेरी. सोक्रेटिक डिस्कोर्सेज, पृ॰ ३२१)।

‡ फाल्कनबर्ग की हिस्ट्री ऑव माडर्न फिलॉसोफि का पहला अध्याय देखें।

† इस अविस्मरणीय लेखांश को समग्र दर्शन के रूप में प्रत्येक विद्यार्थी द्वारा पढा जाना चाहिए, अर्थात् 'मैडीटेशन्ज ऑन फर्स्ट फिलॉसोफि' में से दूसरा परिच्छेद। रैन्ड पृ॰ १२२, आर॰ एम॰ एटन, दकार्त, पृ॰ ९९, रोजर्स, 'स्टूडेन्ट्स हिस्ट्री,' पृ॰ २८।

कोई किसी भी सीमा तक संशय क्यों न करें इस बात में सन्देह नहीं कर सकता कि वह सन्देह कर रहा है, और सन्देह करने में, वह सोच रहा है, क्रिया कर रहा है, अतः अनिवार्य रूप से उसका अस्तित्व है : काजिटो एरगो सम [चिन्तयामि अत अस्मि--मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ—मेरा अस्तित्व]।

इस तरह प्रत्येक वस्तु पर सन्देह करने के प्रयत्न द्वारा हम इस खोज पर पहुँच जाते हैं कि कोई ऐसी भी वस्तु है जिस पर सन्देह नही किया जा सकता : एक पूर्ण सार्वभौम संशय-वाद असंभव है। बुद्धि की आलोचना को एक ऐसा क्षेत्र मानना चाहिए जिसमें बुद्धि सफल होती है, और इस क्षेत्र को अन्य क्षेत्रों से अलग कर लेना चाहिए जिनमे यह भली-भाँति कार्य नही करती, अथवा शायद अनिवार्य रूप से असफल रहती है।

(६१) वैज्ञानिक बुद्धिवाद—दकार्त जैसे चिन्तक के लिए, जो आधुनिक विज्ञान की प्रारंभिक सफलताओं की चमक-दमक मे रह रहा हो, यह कठिन होगा कि वह निश्चित ज्ञान के अपने अभिप्राय को, इस सरल प्रतिज्ञप्ति तक सीमित कर दे कि मेरा अस्तित्व है। ऐसा लगता था कि बुद्धि गणित में तथा यान्त्रिक विज्ञान की प्रायोगिक गणित में भी सफल हो रही थी। इसके अतिरिक्त इन्द्रियों की रिपोर्टों के बारे में जो प्राचीन सन्देह चला आ रहा था वह भी समाप्त होता दिखाई दे रहा था। अन्ततः, इन्द्रियाँ शब्दतः हमें 'धोखा' नही देती हैं, क्योंकि उनका कोई दावा नहीं होता : यदि हम जो कुछ देखते और सुनते हैं उससे गलत अनुमान कर लेते हैं, जैसाकि जब मिट्टी की झिलमिलाहट को हम झील के रूप में ले लेते हैं, तो यह हमारा दोष है, इन्द्रियों का दोष नही। संवेदन अनुभव के लिए अनगढ़ उपादान है, और यह सन्देह करना कि यह अनगढ़ उपादान—यह रंग अथवा स्पर्श अथवा शब्द अथवा रस—प्रदत्त हैं उतना ही असंभव है जितना हमारे अस्तित्व मे सन्देह करना। ऐसे नियमों का पता लगाकर जिनके द्वारा एक संवेदन दूसरे संवेदन को उत्पन्न करता है बुद्धि का कार्य इन विभिन्न संवेदनों को सुसंगत कथा का रूप प्रदान करना है। यदि मेरी दृष्टि मुझे इस मिथ्या निर्णय पर ले जाती है कि पानी में डूबा हुआ चप्पू [डाड] मुड़ा हुआ है, अर्थात्, यह मुड़े हुए अथवा टूटे हुए डांड के अनुसार कार्य करेगा, तो मैं इस भ्रम को परावर्तन के नियमों के ज्ञान के द्वारा निराकरण करना तथा यही नहीं इसकी व्याख्या देना भी सीख सकता हूँ।

इस प्रकार, आधुनिक जगत् कम से कम ज्ञान के एक भाग के बारे में एक बौद्धिक सुरक्षा के युग में प्रवेश करता प्रतीत हुआ, और वह इस प्रश्न को उठाने के लिए तैयार था कि क्या उन्हीं विधियों को जो गणित एवं विज्ञान में इतनी अच्छी तरह सफल हो चुकी हैं, दर्शन के क्षेत्र में भी प्रयुक्त किया जा सकता है। दकार्त, स्पिनोज़ा एवं लाईबनिज़ और साथ ही वह अंग्रेज हाब्स आधुनिक काल के विशिष्ट बुद्धिवादी [दार्शनिक] थे, जो आधुनिक विज्ञान के गणितीय पक्ष से प्रेरित हुए थे और जिन्होंने तत्त्वमीमांसा में भी उसी प्रकार की निश्चितता को प्राप्त करने का प्रयास किया था। इसके विपरीत जॉन लॉक उन निश्चितताओं से प्रेरित हुआ था जो उस इन्द्रियानुभव में पाई जाती हैं जिसका विज्ञान में उपयोग होता है, और इससे उसने एक उतने ही बुद्धिवादी 'अनुभववाद' का निर्माण कर लिया था जो उसके मतानुसार उसी प्रकार तत्त्वमीमांसीय निश्चितता की ओर ले जा सकता था।

बुद्धि मे विश्वास के इस नवीन विस्फोट से आधुनिक समय के अत्यन्त भव्य तथा सारचनात्मक दृष्टि से पूर्ण दार्शनिक विचार-तन्त्र प्रस्फुटित हुए।

(६२) **अज्ञेयवाद**—यह नही कहा जा सकता है कि ये महान् विचार-तन्त्र असफल हैं। यह कहा जा सकता है कि इन्होंने चिन्तनशील व्यक्तियो मे तत्वमीमासा मे वैज्ञानिक विधि की सगति के विषय मे बढते हुए सन्देह को बोया। इन्होने सीमित प्रकार के सन्देहवाद को जन्म दिया जिसे हम हाल ही मे अज्ञेयवाद कहने लगे हैं, जिसके अनुसार बुद्धि 'अनुभव' के क्षेत्र मे तो सक्षम है परन्तु उसके परे कुछ भी नही कर सकती विज्ञान की सफलता को तत्व-मीमासा मे नही लाया जा सकता।

विज्ञान का कार्य एक अनुभव से दूसरे अनुभव के मध्य,वास्तविक सम्बन्धो को दिखाना है, इस 'सापेक्ष' ज्ञान से अधिक कुछ भी अलभ्य एव अनावश्यक है। उदाहरण के लिए, हम न तो यह जान सकते हैं कि पृथ्वी दिक् मे निरपेक्ष रूप से घूम रही है अथवा न ही यह कि वह कितनी तेजी से [घूम रही है]: परन्तु यदि हम इसकी स्थिति अथवा गति को सूर्य एव अन्य आकाशीय नक्षत्रो के सम्बन्ध मे जानते हैं तो, इतना ही पर्याप्त है। यह बिलकुल भी निश्चित नही है कि 'निरपेक्ष गति' का कोई अर्थ है। तो ज्ञान को निरपेक्ष कारणो, आरम्भो, अन्तो अथवा वस्तुओ का अन्तिम स्वभाव खोजने के प्रयत्न से बचना चाहिए। कोई निरपेक्ष सत्ता हो सकती है परन्तु इसके विषय मे न तो अभी और न भविष्य मे कभी भी कुछ जाना जा सकता है। हरबर्ट स्पेंन्सर तथा टी०एच० हक्सले का ऐसा ही मत है (जिन्होने 'अज्ञेयवाद' शब्द को चलाया है), उनके पहले यह फ्रास के विध्यात्मकवादी ऑगस्त कोत (१७९८-१८५७, कूर द फिलॉसोफि पॉज़िटिव) (विध्यात्मक दर्शन की रूपरेखा) तथा इमानुएल काट (१७२४-१८०४, क्रिटीक ऑव प्योर रीज़न (शुद्ध बुद्धि मीमासा), १७८१) का भी यही मत था।

हमने ईश्वर के अस्तित्व के विषय में प्रमाण प्राप्त करने के प्रयास मे बुद्धि की असफलता के विषय मे, काण्ट के मत को पहले ही देखा है। उसके विचार मे, पूर्णत वैज्ञानिक लक्षण की कोई तत्वमीमासा सभव नहीं है, वस्तुएँ अपने आप मे क्या हैं इसका कोई सैद्धान्तिक ज्ञान, और न ही इस बात का ज्ञान सभव है कि हम मानव लोग अपने आप मे क्या हैं। आनुभविक मनोविज्ञान तो सभव है, परन्तु 'बुद्धिवादी' मनोविज्ञान सभव नही, अर्थात् ऐसा मनोविज्ञान सभव नही है जो आत्मा के विषय मे (यथा कि यह निरपेक्षत सरल एव अविभाज्य है) कतिपय स्वतः सिद्ध कथनों से आरम्भ होता हो और इनके आधार पर आत्मा की अमरता का अनुमान करता हो। (क्योकि, जैसे प्लेटो ने पहले ही तर्क दिया है जो सरल है उसका न तो विघटन हो सकता है और न वह विनष्ट हो सकता है)।

काट की महान् पुस्तक क्रिटीक ऑव प्योर रीज़न के ये निषेधात्मक निष्कर्ष के परिणाम हैं जिन्हे वह अपने ज्ञान के सकारात्मक सिद्धान्तों से निगमित करता है। इन सकारात्मक सिद्धान्तों के आधार पर हम गणित मे तथा भौतिकी के कतिपय आकारिक पक्षों मे पूर्ण निश्चितता को प्राप्त कर सकते हैं, इस प्रकार प्रकृति के विज्ञान सुदृढ आधारों पर आधारित हैं। उदाहरणस्वरूप, ज्यामिति की प्रतिज्ञप्तियाँ "सार्वभौम तथा अनिवार्य" होती हैं, दिक् का ऐसा न तो कोई भी भाग है और न हो सकता है जिस पर ये प्रयुक्त नहीं होते हो

(यहाँ कांट के ध्यान में इयूक्लिड की ज्यामिति तथा न्यूटन के दिक् की अवधारणाएँ थीं)। ठीक इसी प्रकार की बात इस सामान्य वैज्ञानिक सिद्धान्त के विषय में है कि "प्रत्येक घटना का कोई कारण होना चाहिए,"—जिस सिद्धान्त की निश्चितता पर, जैसा हमने (५१वें परिच्छेद में) देखा, ह्यूम ने सन्देह प्रकट किया था। इस प्रकार की प्रतिज्ञप्तियाँ यदि अनुभव से निगमित की जायें जिस प्रकार ब्रिटेन के अनुभववादी दार्शनिक (लॉक, बर्कले, ह्यूम) सोच रहे थे तो वे निश्चिततः ही स्वयंसिद्ध नहीं हैं (जैसा दकार्त का विचार था), और यह देखना कठिन है कि ये समय सामान्यीकरणों अथवा जैविक परिवर्तनशील आदतों से भिन्न कुछ और कैसे हो सकते हैं। क्योंकि "अनुभव" कभी भी उस सीमा तक नहीं पहुँच सकता जहाँ यह कहा जा सके कि अमुक तथ्य सर्वत्र एवं सब कालों में सत्य है। अनुभववाद की प्रगति से विज्ञानों की जड़ें हिलने लगी थीं, और बर्कले में इतना साहस आ गया था कि वह आयज़कन्यूटन के विरोध में कहने का प्रयास करने लगा था। कांट ने जो स्वयं एक वैज्ञानिक था और विज्ञान में विश्वास करने वाला था यह देखा कि इस खतरे से, परम्परावादी यूरोपीय बुद्धिवादी प्रणाली अपनाकर स्वयंसिद्ध अथवा स्व-स्पष्ट सत्य की प्रतीत करके, बचा नहीं जा सकता। इसकी मौलिकता यह भेद करने में निहित थी, अर्थात् कि वह ज्ञान जो अनुभव से आता है उस ज्ञान से भिन्न है जो अनुभव का निर्माण करता है, अथवा उसी के शब्दों में "जो अनुभव को सम्भव बनाता है।"

पेड़ों, नदियों, मनुष्यों के हमारे प्रत्यय स्पष्टतः अनुभव से प्राप्त होते हैं। यही बात दिक्, काल, कार्य-कारण-सिद्धान्त के विषय में नहीं कही जा सकती : दृष्टि हमारे सम्मुख दिक् में उपलब्ध वस्तुओं को प्रस्तुत करती है, परन्तु स्वयं दिक् को नहीं। यद्यपि स्वयं दिक् को नहीं देखा जा सकता तथापि कोई भी वस्तु दिखाई दे सके इसके लिए दिक् का होना अनिवार्य है। यही बात कार्य-कारण सिद्धान्त के विषय में लागू होती है : इसे देखा नहीं जा सकता, किन्तु प्रकृति की किसी भी घटना को समझने के लिए, और अन्य घटनाओं के साथ बुद्धिगम्य सबंध को स्थापित करने के लिए इसका होना आवश्यक है : इस प्रकार कांट ऐसे प्रत्ययों के विषय में तीन बातें कहता है : (१) ये अनुभव द्वारा प्रदत्त नहीं होते, (२) ये अनुभव को सम्भव बनाते हैं (ऐसे आधार होने के कारण जिसमें अनुभव का उपादान [सामग्री] गृहीत होता है एवं व्यवस्था प्राप्त करता है), (३) जो मनस् की अपनी क्रिया के परिणाम हैं।

इस अन्तिम प्रतिज्ञप्ति पर जो अनुभव को एक मनोगत आयाम देती है, हम आगे विचार करेंगे (१५४वें परिच्छेद में)। यह स्वयं एक तत्त्वमीमांसीय विचारणा है और इसे कांट के शेष विचारों से अलग रखा जा सकता है। अब हमें जिस बात पर विचार करना है वह यह है : कि यदि (१) और (२) सत्य हैं तो, हमें कांट के समान ही यह अनुमान करना चाहिए कि दिक् सबंधी आकार, और वह ज्यामिति जो इसके साथ मेल खाती है [इस पर आश्रित है], और साथ ही साथ कार्य-कारण संबंधी आकार, अनुभव में सर्वत्र वैध होंगे, क्योंकि वे उसके संरचनात्मक नियम प्रस्तुत करते हैं। साथ ही, उन्हें अनुभव के क्षेत्र के परे उपभोग करने का प्रयत्न अवैध होगा, और इसका—परिणाम केवल आत्म-प्रवंचना ही होगा।

अत हक्सले ज्ञान के सबध मे अपने मत के बारे मे लिखता है :

"जब मैंने बौद्धिक प्रौढता प्राप्त करली और स्वय से यह पूछना प्रारम किया कि क्या मैं नास्तिक था, ग्रास्तिक था अथवा सर्वेश्वरवादी था, जडवादी था या अध्यात्मवादी, ईसाई मत को मानने वाला था अथवा स्वतन्त्र विचारक था, तो मैंने यह पाया कि मैंने इस पर जितना अधिक सोचा और जाना उतना ही कम सुलभ उसका उत्तर था। एक बात जिसमे इनमे से अधिकाश भले मनुष्य एकमत थे उसी विषय मे मैं इनसे भिन्न मत रखता था। वे लोग इस विषय मे पूर्णत. निश्चित थे कि उन्होने 'प्रज्ञान' [ग्लासिस] प्राप्त कर लिया है—और न्यूनाधिक रूप मे अस्तित्व की समस्या को सफलतापूर्वक सुलझा लिया है : जबकि मुझे यह निश्चित था कि मुझे ऐसा कोई ज्ञान प्राप्त नही हुआ है और मेरा इस विषय मे बडा प्रबल मत था कि समस्या असमाधेय है। भाग्य से जब मुझे मैटाफीजिकल सोसायटी के सदस्यो मे स्थान प्राप्त हुआ तब मेरी यह स्थिति थी। वहाँ प्रत्येक प्रकार के मत को प्रतिनिधित्व प्राप्त था, मेरे साथियो मे से अनेको एक या अन्य प्रकार के—वादी थे, और मैं एक ऐसा व्यक्ति था जिसके पास अपने को ढकने के लिए विश्वास का एक चिथडा भी नही था, फलस्वरूप यह सभव नही था कि मुझे कुछ उसी प्रकार की उद्विग्नता नही होती जैसी कि उस तथाकथित लोमडी को हुई थी जो जब जाल से बच निकली थी और उसकी पूँछ उसी जाल मे रह गई थी और जिसने अपने को अपने सामान्य पूँछ युक्त साथियो मे पाया। फलत. मैंने विचार किया और अपने लिए एक उपयुक्त उपनाम 'अज्ञेयवादी' का आविष्कार कर लिया।*

जब अज्ञेयवादी यह कहता है कि हम यथार्थ के विषय मे प्रकृति अथवा अनुभव से परे कुछ भी नही जान सकते हैं तो इसमे निहित है कि ऐसा कोई यथार्थ है, और कुछ लोग, स्पेंसर की भाँति इस अनुमान को स्पष्ट रूप मे स्वीकार कर लेते है। इस सीमा तक वे लोग शुद्ध प्रकृतिवादी नहीं हैं। वे केवल सभी व्यावहारिक उद्देश्यो के लिए प्रकृतिवादी हैं अर्थात्, क्योंकि हम अलौकिक के बारे मे कुछ भी नही जान सकते, अत न तो विचार मे और न ही आचार मे इससे हमे कोई मतलब है,—हम अपने जीवन को इस तरीके से भी व्यवस्थित कर सकते हैं मानो इसका अस्तित्व ही नही था। साथ ही, 'अविज्ञेय' के प्रति आदर की भावना को बनाए रखना सभव भी है। इस सीमित अर्थ मे, अज्ञेयवादी बहुधा गहन रूप से धार्मिक मनुष्य होता है।

(६१) अज्ञेयवाद समझौते की स्थिति है, और इसीलिए यह अस्थायी है, यह अपनी कमजोरियों को अनेको असगतियो द्वारा प्रकट कर देता है।

यह कैसे हो सकता है कि उस वस्तु के विषय मे जिसे हम यथार्थ मानते हैं हमारा कोई विश्वास नहीं हो ? 'अज्ञेयवादी को' 'अज्ञेय' यथार्थ के बारे मे बहुधा कोई न कोई मत प्रकट करना ही पड जाता है, जैसा हरबर्ट स्पेंसर के साथ तब हुआ जब उसने उसका अज्ञेय 'शक्ति' के रूप मे निर्देश किया, अथवा जब उसने यह कहा कि इसे वैयक्तिक नहीं

* कलैक्टैड एसेज, पाँचवाँ खण्ड, पृ. २३७ और आगे।
लैबलो स्टिफैन कृत अग्नास्टिक ऐपॉलोजि से तुलना करें।

माना जा सकता तो उसका आशय यह था कि चुनाव व्यक्तित्व एवं उससे जो महानतर है उसके बीच है, न कि व्यक्तित्व एव उससे जो कम है उसके बीच। जैसाकि कांट तथा शॉपेनहावर समान रूप से मानते हैं, यदि मानव मनस् जो कुछ अनुभव के परे है उसके विषय में प्रश्न पूछने से अपने को रोक नहीं सकता, तो उन प्रश्नों को प्रासंगिक होना चाहिए, और यदि उनका कोई अर्थ है तो उनका कोई बुद्धिगम्य उत्तर भी होना चाहिए।

बौद्धिक कर्तव्य के रूप मे अधिक उत्साही अज्ञेयवादी हमे इस बात के लिए प्रेरित करते हैं कि हम लोग उन विषयों के बारे मे अपना निर्णय स्थगित रखें जिनके विषय मे हमारे पास कोई साक्ष्य नहीं हैं। "यदि किसी विश्वास को अपर्याप्त साक्ष्य के आधार पर स्वीकार कर लिया गया है, तो यह चुराया हुआ सुख है।........यह पाप है क्योंकि यह चोरी मानव जाति के प्रति हमारे कर्तव्य की अवहेलना करके की गई है।' * परन्तु यदि सक्रिय व्यक्ति का काम कतिपय तत्त्वमीमांसीय विश्वासों के बिना नहीं चल सके तो क्या किया जाय? और यदि "निर्णय की यह दुविधा" परिणाम मे एक नकारात्मक निर्णय हो तो यह ज्ञान का दिखावा ही है दुविधा नही। अज्ञेयवाद, जैसा कि हम कह चुके हैं, यह मानकर चलने के समान है मानो ईश्वर का अस्तित्व है ही नहीं। यदि संशयवाद अकर्मण्य के लिए एक ऐश्वर्य है तो अज्ञेयवाद अपने मस्तिष्क को जेल मे बन्द करके बाह्य दुनिया से अलग कर लेने का प्रयास है। यदि बुद्धि हमारे विश्वासों को स्थापित नहीं कर सकती तो हम किसी दूसरे रास्ते से दृढ विश्वासो तक पहुँच जाते हैं : हम "प्रयोजनवादी" हो सकते हैं। सरलतम शब्दों मे प्रयोजनवाद उस प्रकार का दर्शन है जो विश्वास से संबंधित प्रश्नो का निर्णय करने के लिए संकल्पेच्छा को बुद्धि का पूरक बनाता है। हाल ही के वर्षों मे ज्ञान की यह विधा बहुत प्रभावशाली हो गई है। हम इसका अध्ययन [दर्शन के] द्वितीय प्रकार के रूप मे करेंगे।

□□□

* विलियम जेम्स की पुस्तक दि विल टु बिलीव में डब्ल्यू० के० क्लिफर्ड की कृति से उद्धृत।

अध्याय ९

प्रयोजनवाद क्या है ?

(६४) प्रयोजनवाद अज्ञेयवादी के इस निर्णय को स्वीकार करता है कि तत्वमीमासा मे 'शुद्ध बुद्धि' अक्षम रहती है : विश्व के विषय मे हमारे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्नो का उत्तर उपपत्ति अथवा अनुपपत्ति के माध्यम से नही दिया जा सकता, और ऐसे कोई स्थायी स्वयसिद्ध अथवा प्रागनुभविक सत्य नहीं हैं जो निश्चितता के लिए ठोस आधार बन सकें। परन्तु निर्णय का स्थगन केवल एक दु खदायी आन्तरिक निग्रह नही है कुछ परिस्थितियो मे यह [निग्रह] असभव होता है, क्योकि हमे किसी एक अथवा दूसरे विश्वास के सहारे कर्म करना होता है, और अन्य परिस्थितियों मे यह [निग्रह] जीवन के स्तर को घटा देता है। तब क्या इस निश्चय को किसी ऐसे न्यायालय को नही सौंप दिया जाय जो किसी निर्णय पर पहुँचने के योग्य हो जो चिन्तनशील बुद्धि नही कर सकती, क्या उसे सकल्पेच्छा अथवा क्रियाशील आत्मा प्राप्त नहीं कर सकती ? इसलिए स्थूल रूप से प्रयोजनवाद की परिभाषा हम यों दे सकते हैं कि वह विश्वास की महत्त्वपूर्ण समस्याओं मे निष्कर्षो पर पहुँचने अथवा इस प्रक्रिया मे योग देने के सम्बन्ध मे सकल्प के महत्त्व को स्वीकार करता है।

प्रयोजनवाद हमे यह स्मरण कराता है कि चिन्तन शून्य मे अथवा शेष जीवन से हटकर नही होता। यह स्वय एक प्रकार की क्रिया है, उसे उचित ही एक महत्त्वपूर्ण क्रिया कहा जा सकता है, जीवन की रक्षा मे इसकी भूमिका है, और उस समस्त शेष अच्छे जीवन की प्राप्ति म भी यह सहायक होता है जो हमे मात्र अस्तित्व के धरातल से ऊपर उठा देता है। हम जीने के लिए सोचते हैं। इसलिए हमारे विचारों और विश्वासो को अच्छी तरह जीवन बिताने मे साधन के रूप मे माना जाना चाहिए। अत मनुष्य के जीवन मे दर्शन का क्या कार्य है ? क्या इसका कार्य किसी अलौकिक सत्ता के अगम्य क्षेत्र का अथवा उन अव्यक्त शक्तियो का जो घटनाओ मे अपने को अभिव्यक्त करती हैं एक विशुद्ध चित्र बनाना है ? परन्तु इस बात का हम विश्वास दिलाया जाता है कि यह हमारी बुद्धि की पहुँच से परे है [यदि ऐसा है] तो हमे इस चित्रण को छोड देना चाहिए। परन्तु हमे उसी बिन्दु पर नही ठहर जाना चाहिए जहाँ अज्ञेयवाद ठहरता है। विश्वास को, हमे, उसके उस सम्पूर्ण अर्थ मे लेना चाहिए जो हमें जीने का आधार देता है (प्रथम परिच्छेद), और हम अपनी परिकल्पनाओं तक चाहे किसी भी माध्यम से पहुँचे, हमे उन विश्वासो को स्वीकार करना चाहिए और उनका उपयोग करना चाहिए जो व्यक्तिगत तथा सामाजिक अनुभव की परीक्षा के द्वारा जीवन के उन्नयन मे सहायता करते हैं। हमे अधिकार है कि ऐसे विश्वासो को सत्य मानें, यद्यपि उन्हें शुद्ध बुद्धि की किसी भी प्रक्रिया द्वारा स्थापित नहीं किया जा सकता।

माना जा सकता तो उसका आशय यह था कि चुनाव व्यक्तित्व एव उससे जो महानतर है उसके बीच है, न कि व्यक्तित्व एव उससे जो कम है उसके बीच। जैसाकि कांट तथा शॉपेनहावर समान रूप से मानते हैं, यदि मानव मनस् जो कुछ अनुभव के परे है उसके विषय मे प्रश्न पूछने से अपने को रोक नहीं सकता, तो उन प्रश्नो को प्रासंगिक होना चाहिए, और यदि उनका कोई अर्थ है तो उनका कोई बुद्धिगम्य उत्तर भी होना चाहिए।

बौद्धिक कर्तव्य के रूप मे अधिक उत्साही अज्ञेयवादी हमे इस बात के लिए प्रेरित करते है कि हम लोग उन विषयों के बारे मे अपना निर्णय स्थगित रखें जिनके विषय मे हमारे पास कोई साक्ष्य नहीं हैं। "यदि किसी विश्वास को अपर्याप्त साक्ष्य के आधार पर स्वीकार कर लिया गया है तो यह चुराया हुआ सुख है।........यह पाप है क्योकि यह चोरी मानव जाति के प्रति हमारे कर्तव्य की अवहेलना करके की गई है।" * परन्तु यदि सक्रिय व्यक्ति का काम कतिपय तत्त्वमीमासीय विश्वासों के बिना नही चल सके तो क्या किया जाय? और यदि "निर्णय की यह दुविधा" परिणाम मे एक नकारात्मक निर्णय हो तो यह ज्ञान का दिखावा ही है दुविधा नहीं। अज्ञेयवाद, जैसा कि हम कह चुके हैं, यह मानकर चलने के समान है मानो ईश्वर का अस्तित्व है ही नही। यदि सशयवाद अकर्मण्य के लिए एक ऐश्वर्य है तो अज्ञेयवाद अपने मस्तिष्क को जेल मे बन्द करके बाह्य दुनिया से अलग कर लेने का प्रयास है। यदि बुद्धि हमारे विश्वासों को स्थापित नही कर सकती तो हम किसी दूसरे रास्ते से दृढ विश्वासो तक पहुँच जाते हैं हम "प्रयोजनवादी" हो सकते हैं। सरलतम शब्दो मे प्रयोजनवाद उस प्रकार का दर्शन है जो विश्वास से सबधित प्रश्नो का निर्णय करने के लिए सकल्पेच्छा को बुद्धि का पूरक बनाता है। हाल ही के वर्षों मे ज्ञान की यह विधा बहुत प्रभावशाली हो गई है। हम इसका अध्ययन [दर्शन के] द्वितीय प्रकार के रूप मे करेंगे।

□□□

* विलियम जेम्स की पुस्तक दि विल टू बिलीव में डब्ल्यू के॰ क्लिफ़र्ड की कृति से उद्धृत।

अध्याय ९

प्रयोजनवाद क्या है ?

(९४) प्रयोजनवाद अज्ञेयवादी के इस निर्णय को स्वीकार करता है कि तत्त्वमीमांसा में 'शुद्ध बुद्धि' अक्षम रहती है : विश्व के विषय में हमारे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का उत्तर उपपत्ति अथवा अनुपपत्ति के माध्यम से नहीं दिया जा सकता, और ऐसे कोई स्थायी स्वयसिद्ध अथवा प्रागनुभविक सत्य नहीं हैं जो निश्चितता के लिए ठोस आधार बन सकें। परन्तु निर्णय का स्थगन केवल एक दु खदायी आन्तरिक निग्रह नहीं है : कुछ परिस्थितियों में यह [निग्रह] असभव होता है, क्योंकि हमें किसी एक अथवा दूसरे विश्वास के सहारे कर्म करना होता है, और अन्य परिस्थितियों में यह [निग्रह] जीवन के स्तर को घटा देता है। तब क्या इस निश्चय को किसी ऐसे न्यायालय को नहीं सौंप दिया जाय जो किसी निर्णय पर पहुँचने के योग्य हो : जो चिन्तनशील बुद्धि नहीं कर सकती, क्या उसे सकल्पेच्छा अथवा क्रियाशील आत्मा प्राप्त नहीं कर सकती ? इसलिए स्थूल रूप से प्रयोजनवाद की परिभाषा हम यों दे सकते हैं कि वह विश्वास की महत्त्वपूर्ण समस्याओं में निष्कर्षों पर पहुँचने अथवा इस प्रक्रिया में योग देने के सम्बन्ध में सकल्प के महत्त्व को स्वीकार करता है।

प्रयोजनवाद हमें यह स्मरण कराता है कि चिन्तन शून्य में अथवा शेष जीवन से हटकर नहीं होता। यह स्वय एक प्रकार की क्रिया है, उसे उचित ही एक महत्त्वपूर्ण क्रिया कहा जा सकता है, जीवन की रक्षा में इसकी भूमिका है; और उस समस्त शेष अच्छे जीवन की प्राप्ति में भी यह सहायक होता है जो हमें मात्र अस्तित्व के धरातल से ऊपर उठा देता है। हम जीने के लिए सोचते हैं। इसलिए हमारे विचारों और विश्वासों को अच्छी तरह जीवन बिताने में साधन के रूप में माना जाना चाहिए। अतः मनुष्य के जीवन में दर्शन का क्या कार्य है ? क्या इसका कार्य किसी अलौकिक सत्ता के अगम्य क्षेत्र का अथवा उन प्रच्छन्न शक्तियों का जो घटनाओं में अपने को अभिव्यक्त करती हैं एक विशुद्ध चित्र बनाना है ? परन्तु इस बात का हमें विश्वास दिलाया जाता है कि यह हमारी बुद्धि की पहुँच से परे है [यदि ऐसा है] तो हमें इस चित्रण को छोड़ देना चाहिए। परन्तु हमें उसी बिन्दु पर नहीं ठहर जाना चाहिए जहाँ अज्ञेयवाद ठहरता है। विश्वास को, हमें, उसके उस सम्पूर्ण अर्थ में लेना चाहिए जो हमें जीने का आधार देता है (प्रथम परिच्छेद), और हम अपनी परिकल्पनाओं तक चाहे किसी भी माध्यम से पहुँचें, हमें उन विश्वासों को स्वीकार करना चाहिए और उनका उपयोग करना चाहिए जो व्यक्तिगत तथा सामाजिक अनुभव की परीक्षा के द्वारा जीवन के उन्नयन में सहायता करते हैं। हमें अधिकार है कि ऐसे विश्वासों को सत्य मानें, यद्यपि उन्हें शुद्ध बुद्धि की किसी भी प्रक्रिया द्वारा स्थापित नहीं किया जा सकता

(यह प्रयोजनवाद का सामान्य भाव है। प्रमुख रूप मे प्रयोजनवाद प्रतिपादकों का विरोध किस बात से है, इस आधार पर प्रयोजनवादी दार्शनिक समुदाय को दो मुख्य धाराओं मे विभक्त किया जा सकता है।)

कुछ का मुख्य रूप मे बुद्धिवाद से विरोध है। सबसे पहले वे जिस बात से मुक्ति पाना चाहते हैं वह है उसकी भ्रामक स्थिरता, उसकी आकारगतता, उसकी रूढिगत पारम्परिकता तथा मूक सुदृढ रूढिवाद का अनुमोदन। वे सभी इस आग्रह मे अज्ञेयवादियों के साथ हैं कि कोई भी सत्य शाश्वत तथा प्राग्नुभविक नही होते। परन्तु वे यह भी कहते हैं कि यदि हम दार्शनिक सिद्धान्त के क्षेत्र मे कठोरता की दृष्टि न अपनाएँ तो केवल अनुभवाश्रित विज्ञानों की सुपरीक्षित विधियों के विस्तार एव परिवर्द्धन द्वारा, हमे उपयुक्त विश्वास प्राप्त हो सकते हैं। हम अपने विश्वासों मे प्रयोगवादी बन सकते हैं, उनको कार्य-साधक परिकल्पनाओं के रूप मे ले सकते हैं, और उन्हें निरपेक्ष तथा अन्तिम सत्य न मान कर ऐसे निर्णयों के रूप मे मान सकते हैं जिनका सामान्य अनुभव की कसौटी के अनुसार स्वतन्त्र रूप से परिष्कार किया जा सके। इस प्रकार के दर्शन के माने हुए नेता प्रोफेसर जॉन ड्यूई हैं।

अन्य लोग मुख्य रूप से अज्ञेयवाद के विरोधी हैं। वे अज्ञेयवाद की उस अनिश्चितता को अस्वीकार करते हैं, जो जीवन को पगु बना देती है। वे उनके दुराग्रही तथा 'जो न खाये न खाने दे' स्वभाव से विकर्षित होते हैं और उनकी इस प्रवृत्ति को पसन्द नहीं करते जिसके कारण अज्ञेयवादी सभी विश्वासों पर जिन्हें सिद्ध नही किया जा सकता 'नाइन्गॉग फ़ॉर्बोडन [प्रवेश निषिद्ध] चिह्न लगा देते हैं। ऐसे विचारक सक्रिय आत्म के विध्यात्मक तत्त्वमीमासा तक पहुँचने के अधिकार की वकालत करते हुए सकल्पवाद की दिशा को ग्रहण कर सकते हैं। वे विश्वास की परीक्षा की विधियों की अपेक्षा उसके स्रोत मे अधिक रुचि रखते हैं। दर्शन का यह वह प्रकार है जिसका नेता इस देश मे विलियम जेम्स था।

इस बात की सम्भावना है कि अपनी भिन्न रुचियों के साथ ये दो शाखाएँ पूर्णतः भिन्न तत्त्वमीमासीय निष्कर्षों पर पहुँचें। जहाँ तक ज्ञानमीमासा का सम्बन्ध है, सिद्धान्त के प्राथमिक विषयों में दोनो मे मूल रूप से कोई असामजस्य नही है। परन्तु अपने प्रतिपादन में, हमारा झुकाव प्रयोजनवाद के बाद वाले प्रकार की ओर होगा, और इसका मुख्य कारण यह है कि यह प्रकार अधिक विशिष्ट है। पहले प्रकार के मुख्य दावे अनुभववाद के स्वाभाविक *परिणाम हैं, और इसे उपयुक्त रूप से प्रयोजनवाद की अपेक्षा प्रयोगवाद* की सज्ञा दी गई है। तो भी, दर्शन के प्रारम्भिक विद्यार्थी की आवश्यकताओं से सगति रखते हुए हम दोनो ही प्रकारों को ध्यान मे रखेगे।)

(६५) विश्वासों को प्राप्त करने की यह प्रणाली [प्रयोजनवाद के] नाम की अपेक्षा बहुत अधिक व्यापक है; अधिकांश व्यक्ति उन विश्वासों के पक्ष मे प्रभावित होते हैं जिन्हें वे या तो व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए, अथवा इसलिए कि वे मानवीय व्यवस्था एव प्रगति मे सहायक होते हैं, अथवा इसलिए कि वे उनके सामान्य स्वभाव के अनुकूल होते हैं, मूल्यवान मानते हैं। अत. यदि कोई परमात्मा मे विश्वास करता है, इसलिए नहीं कि इसके लिए कोई निर्णायक प्रमाण है, परन्तु इसलिए कि उसे ऐसा प्रतीत होता है कि यह विश्वास जीवन को अर्थ देता है, निराशावाद का निराकरण करता है, अथवा नैतिकता को प्रोत्साहन

देता है, तो उस सीमा तक वह प्रयोजनवादी है। वह अपने विश्वास पर विचार के फलस्वरूप नहीं पहुँचा है, उसने उसे चुना है, और उसका यह चुनना सकल्प का कार्य है। जैसाकि ह्विटिंग विलियम्स ने बहुत ठीक कहा है, "अपने चिन्तन के अनुरूप अपने जीवन को ढालने की अपेक्षा हम चिन्तन को अपने जीवन के अनुरूप ढालते हैं।"—(यह बहुत सम्भव है कि हम दोनो बातें करते हों।)

तालसताय के दर्शन मे प्रयोजनवाद का कुछ अश था।* मुसोलिनी ने अभी हाल ही में यह स्वीकार किया है कि जिस प्रकार वह अपने राजनैतिक विचारो पर पहुँचा है उसके लिए वह नीत्शे तथा विलियम जेम्स का बहुत ऋणी है। उनके प्रभाव मे आकर उसने "शुद्ध बुद्धि" अथवा "प्राग्नुभविक सिद्धान्तो" को त्याग दिया और उन नीतियो का वरण किया जो व्यवहार मे सर्वाधिक सफल होती हैं। सही नीतियाँ कार्यसाधक नीतियाँ होती हैं : यह राजनैतिक प्रयोजनवाद है।

नीत्शे तो और आगे जाकर यहाँ तक कहता है कि यदि किसी झूँठ से जीवन की रक्षा होती है तो वह सत्य की अपेक्षा वरणीय है। "हमारे लिए किसी मत का मिथ्या होना आपत्तिजनक नहीं है। प्रश्न यह है कि, कि वह मत किस सीमा तक जीवन मे वृद्धि करने वाला, जीवन की रक्षा करने वाला, जाति की रक्षा करने वाला, शायद जाति का पोषण करने वाला है।" यह नीत्शे का केवल यह कहने का अत्युग्र ढग है कि पूर्वाग्रह, कल्पना, आदर्श के रूप म, इस सम्भावना से बिलकुल अलग कि इसके सत्य को जाँचने का कोई तरीका है या नहीं, विश्वास सफल रूप से जीवन यापन की एक अत्यावश्यक शर्त है। व्यक्तियों और समाजो दोनों ही रूपों मे, हम किसी ऐसे मिथ के प्रभाव मे अत्युत्तम ढग से रहते हैं जो भविष्य की दृष्टि का रूप रखता है, जो हमे लुभा लेती है, जो हमारे प्रयास एव उत्सर्ग को न केवल न्यायसगत बनाती है अपितु उत्कर्ष देने वाला सिद्ध कर देती है, फिर ये दृष्टियाँ चाहे सम्भव हों या न हो। ईसाइयो का स्वर्ग, मार्क्सवादी समाजवादियो की अन्तिम क्रान्ति, श्रमिक समवादी की सामान्य हडताल, देशभक्त की स्वतन्त्रता की विजय, शान्तिवादी का युद्ध विहीन विश्व, सभी अनेको प्रकार के आदर्श राज्य जिन्होने इतिहास को अनुप्राणित किया है ऐसे मिथक हैं। विलियम जेम्स मिथक के इस सिद्धान्त का समर्थन नहीं करेगा, वह इस बात की छूट नही देगा कि हम लोगों का मिथ्या बातों अथवा प्रामाण्य कल्पनाओं में विश्वास न्यायोचित है। वह सकल्पेच्छा को बुद्धि के विरुद्ध नहीं मानता, अपितु उसे केवल उस स्पर्श तक सीमित मानता है जो असतुलित पलडे को निश्चय की स्थिति मे लाता है अर्थात् उसे समाप्त करने के हेतु जिसमे बुद्धि असफल रहती है। ऐसी स्थितियो मे, उसका मत यह है कि जीवन को सरक्षण प्रदान करने वाली प्रतिज्ञप्ति सत्य है।

(६६) प्रयोजनवाद को बहुधा विशिष्टतया "अमरीकी दर्शन" माना जाता है। रुगिरो, दर्शन का एक समकालीन इतालवी इतिहासकार कहता है, "प्रयोजनवाद अमेरिका मे उत्पन्न हुआ, जो कि व्यापारियों का देश है, और इसलिए [प्रयोजनवाद] व्यापारियो का प्रमुख दर्शन है।" किन्तु यह मत भ्रामक है। जिस प्रकार सभी युगों मे सदेहवाद मिलता है, ठीक

* तालसताय की पुस्तक 'माई कन्फैशन (मैं स्वीकार करता हूँ) का बारहवाँ अध्याय देखें।

उसी प्रकार सभी युगों में संदेहवादी तथा अज्ञेयवादी दृष्टि की नकारात्मकता से मुक्ति के रूप में विश्वास को ढालने की स्वेच्छा का सहारा लेने की प्रवृत्ति मिलती है।

यह सच है कि प्रैग्मैटिज्म [प्रयोजनवाद] (या प्रैग्मैटिसिज्म जैसा कि चार्ल्स पर्स इसे कहना चाहता था) नाम विलियम जेम्स के द्वारा प्रचलित किया गया था, और ज्ञान प्राप्त करने के प्रयोजनवादी तरीके को इन अमरीका के लेखकों एवं कोलम्बिया के प्रोफेसर जॉन ड्यूई ने एक सशक्त प्रेरणा प्रदान की थी। परन्तु इंग्लैण्ड में आर्थर बैल्फ़ूर (फाउन्डेशन्ज ऑव बिलीफ (विश्वासों की आधारशिलाएँ), १८९५), और जर्मनी में प्रोफेसर हान्स फाइ-हैन्गर, फिलॉसोफि ऑव द ऐज-इफ—'मानो ऐसा' का दर्शन, साथ ही साथ फ्रेडरिक नीत्शे एवं आक्सफोर्ड के प्रोफेसर एफ.सी.एस. शिलर भी करीब करीब उसी समय कुछ इसी तरह के विचार प्रस्तुत कर रहे थे। विलियम जेम्स ने प्रयोजनवाद [प्रैग्मैटिज्म] का वर्णन "पुराने चिन्तन का एक अर्वाचीन नाम" कहकर किया है। इन (ऊपर उल्लिखित) लेखकों से बहुत पहले इमैनुएल कांट और उसका महान् उत्तराधिकारी जे.जी. फिश्टे (१०६२-१८६४) *प्रयोजनवादी लीक पर चल पड़े थे।*

(६७) समकालीन प्रयोजनवाद के पूर्वजों के उदाहरण के रूप में, यह बात विचारने योग्य है कि इमैनुएल कांट क्रिटीक ऑव प्योर रीजन [शुद्ध बुद्धि मीमांसा] के अज्ञेयवादी निष्कर्षों से निकल कर किस तरह क्रिटीक ऑव प्रैक्टिकल रीजन [व्यवहारिक बुद्धि मीमांसा] के विध्यात्मक विश्वासों में पहुँच गया था।

क्रिटीक ऑव प्योर रीजन में कांट इस निष्कर्ष पर पहुँच गया था कि हम आत्मा की अमरता, संकल्प की स्वतन्त्रता, (और) परमात्मा के अस्तित्व को सिद्ध नहीं कर सकते। (वाटसन, सिलैक्शन्ज फ्राम कांट, पृ० १४५-२२२, रैण्ड, पृ० ४२४-५६)। क्रिटीक ऑव प्रैक्टिकल रीजन में वह निम्न प्रकार से तर्क देता है

हम विवेक की वास्तविकता की उपेक्षा नहीं कर सकते। [नैतिक] दायित्व अथवा कर्तव्य का तथ्य कम से कम इस तथ्य के जितना तो निश्चित है ही कि मेरा अस्तित्व है (जिसे दकार्त ने अनुभव की मूलभूत निश्चितता के लिए प्रमाण माना है।) अन्य प्राणियों में भी नैतिक चेतना होती है या नहीं इस पर बहस की जा सकती है परन्तु मनुष्य 'कर्तव्य [ऑट]'' *शब्द के अर्थ को पहचान लेता है। प्रत्येक मनुष्य के लिए 'मैं करना चाहता हूँ',* 'मुझे करना पड़ेगा'' और 'मुझे करना चाहिए'' (के अर्थों के बोध) में एक स्पष्ट भेद है, यद्यपि इन सभी को एक ही कर्म के सम्बन्ध में प्रयुक्त किया जा सकता है।

अब, यदि विवेक वास्तविकता है, तो इसे हमें या तो सगत अथवा असगत मानना चाहिए। यह सभव है कि इसे वंशानुक्रमिक पूर्वाग्रह अथवा संक्रमित जातीय अनुभव के रूप में माना जाय। (उदाहरण के लिए हरबर्ट स्पेन्सर की पुस्तक डेटा ऑव एथिक्स (नैतिकी का प्रदत्त), का ४६वां परिच्छेद देखें)। उस स्थिति में इसकी प्रामाणिकता हमारे पूर्वजों के उस अनुभव की प्रामाणिकता से अधिक नहीं होगी जिसमें परिस्थितियां निरन्तर बदल रही हों [या 'जो परिवर्तनशील जगत् से सम्बन्धित हो']। परन्तु विवेक का विकासवादी वर्णन दोषपूर्ण है। जैसे-जैसे हम मूल स्रोत से दूर हटते जाते हैं वैसे वैसे मानसिक विशेषताएँ, जो

हमें प्राचीन काल से प्राप्त हैं, निर्बल होती जाती हैं। परन्तु विवेक, सौन्दर्यबोध के समान, अधिक सवेदनशील बनता जाता है, और समय-समय पर नैतिक रूप से महान् व्यक्तियों को उत्पन्न करता रहता है, जो नये नैतिक विचारों का विकास करते हैं। इस बात में कोई सदेह नहीं है कि जाति में गहरी जमी हुई कुछ वशानुगत अनुभूतियाँ होती हैं जिनके साथ कुछ निश्चित नैतिक आवश्यकताएँ भी होती हैं, जैसे हत्या, अपवित्रता तथा चोरी के विरुद्ध घृणा। परन्तु विवेक स्वय पूर्वजों की आवश्यकताओं से आगे जाता है, और इसलिए इसकी व्याख्या केवल जैविक वशानुगतता के द्वारा नहीं की जा सकती।*

इसलिए, हम विवेक को सगत मान सकते हैं। वस्तुतः क्योंकि "चाहिए [ऑट]" का विचार हमारे मनस् में आ गया है, अतः इसके प्रयोग के बिना इससे छुटकारा असभव है। क्योंकि, यदि विवेक सगत है तो हमें इससे अधिशासित नहीं होना चाहिए : अर्थात् हम "चाहिए [ऑट]" के विरुद्ध किसी चाहिए "ऑट" का ही आश्रय लेते हैं।

काट ने इसी स्थिति को अपनाया है। उसके लिए विवेक अनुभव का एक ऐसा बिन्दु है जहाँ हम निरपेक्ष सत् को छूते हैं। विवेक मनुष्य में, मात्र प्रकृति से किसी उच्च शक्ति का सकेत [टोकेन] है, क्योंकि यह उस उच्च शक्ति से अपने स्वय के प्राकृतिक आवेगों पर शासन करने की माँग करता है। प्रकृति, मानव-प्रकृति में नैसर्गिक मूल प्रवृत्ति, आवेग, इच्छा तथा घृणा [वितृष्णा] के रूप में प्रकट होती है : विवेक इन तथ्यों को पहचानता है और उनसे शासित होने के स्थान पर व्यक्ति से यह अपेक्षा करता है कि वह उन पर शासन एव नियन्त्रण करे। प्रोफेसर जार्ज हरबर्ट पामर ने हारवर्ड में दर्शन पढाते हुए विवेक को इस प्रकार परिभाषित किया "यह सम्पूर्ण का अंश को सम्बोधन है।" काट के लिए यह व्यष्टि मनस् में सत् का सम्बोधन है।

और यदि विवेक संगत है तो हमारा यह दायित्व है कि हम उस सबमें विश्वास करें जो उसकी सगति अर्थात् सार्थकता एव बाध्यता के लिए आवश्यक है।

(१८) सर्वप्रथम, यदि प्रकृति ने मनुष्य पर शासन किया है तो मनुष्य का प्रकृति पर शासन करने के लिए आह्वान हास्यास्पद होगा। 'मुझे करना चाहिए' यह तभी सार्थक है जब यह भी स्वीकार किया जाए कि 'मैं ऐसा कर सकता हूँ।" नैतिक विधान असगत है यदि मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है। जैसाकि काण्ट ने लिखा है, "मुझे करना चाहिए, इसलिए मैं कर सकता हूँ।" यदि कर्तव्य की अपेक्षा है तो स्वतन्त्रता की भी अपेक्षा है, अर्थात् स्वतन्त्रता विवेक का "अभ्युपगम" है।

पुनः नैतिक विधान केवल इस या उस क्रिया की अपेक्षा नहीं करता : यह इस बात से सबधित है कि हम क्या हैं। यह पूर्णता से कम किसी से सन्तुष्ट नहीं होता क्योंकि विवेक को अपूर्णता में कैसे शान्ति मिल सकती है ? जब तक मुझे यह लगता है कि मेरा कर्तव्य मेरी रुचि के विरुद्ध है तब तक मैं पूर्ण नहीं हूँ। मैं अपने कर्तव्य को परिवर्तित नहीं कर सकता: मैं अपनी रुचि में परिवर्तन ला सकता हूँ। परन्तु काण्ट का तर्क है कि पूर्णता अथवा पवित्रता

* यह पैरा वस्तुत कांट के विवेचन का अंग नहीं है. यह कांट के आरभ बिंदु, विवेक की युक्तिसंगतता का अनुवर्ती बचाव है।

उसी प्रकार सभी युगों में संदेहवादी तथा अज्ञेयवादी दृष्टि की नकारात्मकता से मुक्ति के रूप में विश्वास को ढालने की स्वेच्छा का सहारा लेने की प्रवृत्ति मिलती है।

यह सच है कि प्रैग्मेटिज्म [प्रयोजनवाद] (या प्रैग्मेटिसिज्म जैसा कि चार्ल्स पर्स इसे कहना चाहता था) नाम विलियम जेम्स के द्वारा प्रचलित किया गया था, और ज्ञान प्राप्त करने के प्रयोजनवादी तरीके को इन अमरीका के लेखकों एवं कोलम्बिया के प्रोफेसर जॉन ड्यूई ने एक सशक्त प्रेरणा प्रदान की थी। परन्तु इंग्लैण्ड में आर्थर बैल्फूर (फाउन्डेशन्ज ऑव बिलीफ (विश्वासों की आधारशिलाएँ), १८९५), और जर्मनी में प्रोफेसर हान्स फाइहैंगर, फिलॉसोफि ऑव द ऐज़-इफ—'मानो ऐसा' का दर्शन, साथ ही साथ ऑक्सफोर्ड के प्रोफेसर एफ.सी.एस. शिलर भी करीब करीब उसी समय कुछ इसी तरह के विचार प्रस्तुत कर रहे थे। विलियम जेम्स ने प्रयोजनवाद [प्रैग्मेटिज्म] का वर्णन "पुराने चिन्तन का एक अर्वाचीन नाम" कहकर किया है। इन (ऊपर उल्लिखित) लेखकों से बहुत पहले इमैनुएल काण्ट और उसका महान् उत्तराधिकारी जे.जी. फिख्टे (१७६२-१८१४) प्रयोजनवादी लीक पर चल पड़े थे।

(६७) समकालीन प्रयोजनवाद के पूर्वजों के उदाहरण के रूप में, यह बात विचारने योग्य है कि इमैनुएल काण्ट क्रिटीक ऑव प्योर रीज़न [शुद्ध बुद्धि मीमांसा] के अज्ञेयवादी निष्कर्षों से निकल कर किस तरह क्रिटीक ऑव प्रैक्टिकल रीज़न [व्यवहारिक बुद्धि मीमांसा] के विध्यात्मक विश्वासों में पहुँच गया था।

क्रिटीक ऑव प्योर रीज़न में काण्ट इस निष्कर्ष पर पहुँच गया था कि हम आत्मा की अमरता, संकल्प की स्वतन्त्रता, (और) परमात्मा के अस्तित्व को सिद्ध नहीं कर सकते। (वाटसन, सिलैक्शन्ज फ्राम काण्ट, पृ० १४५-२२२, रैण्ड, पृ० ४२४-५६)। क्रिटीक ऑव प्रैक्टिकल रीज़न में वह निम्न प्रकार से तर्क देता है

हम विवेक की वास्तविकता की उपेक्षा नहीं कर सकते। [नैतिक] दायित्व अथवा कर्तव्य का तथ्य कम से कम इस तथ्य के जितना तो निश्चित है ही कि मेरा अस्तित्व है (जिसे दकार्त ने अनुभव की मूलभूत निश्चितता के लिए प्रमाण माना है।) अन्य प्राणियों में भी नैतिक चेतना होती है या नहीं इस पर बहस की जा सकती है, परन्तु मनुष्य 'कर्तव्य [ऑट]" शब्द के अर्थ को पहचान लेता है। प्रत्येक मनुष्य के लिए 'मैं करना चाहता हूँ', 'मुझे करना पड़ेगा" और 'मुझे करना चाहिए" (के अर्थों के बीच) में एक स्पष्ट भेद है, यद्यपि इन सभी को एक ही कर्म के सम्बन्ध में प्रयुक्त किया जा सकता है।

अब, यदि विवेक वास्तविकता है, तो इसे हम या तो संगत अथवा असंगत मानना चाहिए। यह सम्भव है कि इसे वंशानुक्रमित पूर्वाग्रह अथवा संक्रमित जातीय अनुभव के रूप में माना जाय। (उदाहरण के लिए हरबर्ट स्पेन्सर की पुस्तक डेटा ऑव एथिक्स (नैतिकी का प्रदत्त), का ४६वां परिच्छेद देखें)। उस स्थिति में इसकी प्रामाणिकता हमारे पूर्वजों के उस अनुभव की प्रामाणिकता से अधिक नहीं होगी जिसमें परिस्थितियाँ निरन्तर बदल रही हों [या 'जो परिवर्तनशील जगत् से सम्बन्धित हो']। परन्तु विवेक का विकासवादी वर्णन दोषपूर्ण है। जैसे-जैसे हम मूल स्रोत से दूर हटते जाते हैं वैसे वैसे मानसिक विशेषताएँ, जो

हमें प्राचीन काल से प्राप्त हैं, निर्बल होती जाती हैं। परन्तु विवेक, सौन्दर्यबोध के समान, अधिक संवेदनशील बनता जाता है, और समय-समय पर नैतिक रूप से महान् व्यक्तियों को उत्पन्न करता रहता है, जो नये नैतिक विचारों का विकास करते हैं। इस बात में कोई संदेह नहीं है कि जाति में गहरी जमी हुई कुछ वंशानुगत अनुभूतियाँ होती हैं जिनके साथ कुछ निश्चित नैतिक आवश्यकताएँ भी होती हैं, जैसे हत्या, अपवित्रता तथा चोरी के विरुद्ध घृणा। परन्तु विवेक स्वयं पूर्वजों की आवश्यकताओं से आगे जाता है, और इसलिए इसकी व्याख्या केवल जैविक वंशानुगतता के द्वारा नहीं दी जा सकती।*

इसलिए, हम विवेक को संगत मान सकते हैं। वस्तुतः क्योंकि "चाहिए [ऑट]" का विचार हमारे मनस् में आ गया है, अतः इसके प्रयोग के बिना इससे छुटकारा असम्भव है। क्योंकि, यदि विवेक संगत है तो हमें इससे अधिशासित नहीं होना चाहिए : अर्थात् हम "चाहिए [ऑट]" के विरुद्ध किसी चाहिए "आट" का ही आश्रय लेते हैं।

कांट ने इसी स्थिति को अपनाया है। उसके लिए विवेक अनुभव का एक ऐसा बिन्दु है जहाँ हम निरपेक्ष सत् को छूते हैं। विवेक मनुष्य में, मात्र प्रकृति से किसी उच्च शक्ति का संकेत [टोकॅन] है, क्योंकि यह उस उच्च शक्ति से अपने स्वयं के प्राकृतिक आवेगों पर शासन करने की माँग करता है। प्रकृति, मानव-प्रकृति में नैसर्गिक मूल प्रवृत्ति, आवेश, इच्छा तथा घृणा [वितृष्णा] के रूप में प्रकट होती है : विवेक इन तथ्यों को पहचानता है और उनसे शासित होने के स्थान पर व्यक्ति से यह अपेक्षा करता है कि वह उन पर शासन एवं नियन्त्रण करे। प्रोफेसर जार्ज हरबर्ट पामर ने हारवर्ड में दर्शन पढ़ाते हुए विवेक को इस प्रकार परिभाषित किया "यह सम्पूर्ण का अंश को सम्बोधन है।" कांट के लिए यह व्यष्टि मनस् में सत् का सम्बोधन है।

और यदि विवेक संगत है तो हमारा यह दायित्व है कि हम उस सबमें विश्वास करें जो उसकी संगति अर्थात् सार्थकता एवं बाध्यता के लिए आवश्यक है।

(६८) सर्वप्रथम, यदि प्रकृति ने मनुष्य पर शासन किया है तो मनुष्य का प्रकृति पर शासन करने के लिए आह्वान हास्यास्पद होगा। 'मुझे करना चाहिए' यह तभी सार्थक है जब यह भी स्वीकार किया जाए कि 'मैं ऐसा कर सकता हूँ।" नैतिक विधान असंगत है यदि मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है। जैसाकि कान्ट ने लिखा है, "मुझे करना चाहिए, इसलिए मैं कर सकता हूँ।" यदि कर्तव्य की अपेक्षा है तो स्वतन्त्रता की भी अपेक्षा है, अर्थात् स्वतन्त्रता विवेक का "अभ्युपगम" है।

पुन. नैतिक विधान केवल इस या उस क्रिया की अपेक्षा नहीं करता : यह इस बात से सबंधित है कि हम क्या हैं। यह पूर्णता से कम किसी से सन्तुष्ट नहीं होता क्योंकि विवेक को अपूर्णता में कैसे शान्ति मिल सकती है ? जब तक मुझे यह लगता है कि मेरा कर्तव्य मेरी रुचि के विरुद्ध है, तब तक मैं पूर्ण नहीं हूँ। मैं अपने कर्तव्य को परिवर्तित नहीं कर सकता: मैं अपनी रुचि में परिवर्तन ला सकता हूँ। परन्तु कान्ट का तर्क है कि पूर्णता अथवा पवित्रता

---

* यह पैरा वस्तुतः कांट के विवेचन का अंग नहीं है, यह कांट के आरंभ बिंदु, विवेक की युक्तिसंगतता का अनुवर्ती बचाव है।

ो प्राप्त करने के लिए अनन्त समय की आवश्यकता है। निश्चय ही इसके लिए एक जीवन
त्त से अधिक की अपेक्षा होगी अत, या तो नैतिक विधान असभव की माँग करता है (और
सलिए असगत है), अथवा हमारे पास इसकी माँगो को पूरा करने के लिए यथोचित समय
ोना चाहिए। इसीलिए, अमरता "व्यावहारिक बुद्धि का दूसरा अभ्युपगम" है।

अन्त मे, जब व्यक्ति को अपना कर्तव्य, अपनी रुचि, सुखोपभोग, भाग्य, आनन्द की
रवाह किए बिना, करने के लिए कहा जाए और अस्तित्व के भौतिक पारितोषिक [सुख-
ुविधाएं] अधिकाशत, कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति की अपेक्षा भ्रष्ट अथवा समझौतावादी व्यक्ति को
मलें, और यह स्थिति अन्तिम सत्य भी हो तो कोई भी व्यक्ति विश्व को पूर्णत न्यायपूर्ण
हीं मानेगा। यदि विवेक भ्रम पर नही अपितु वास्तविकता पर आधारित हो तो तब
ास्तविकता का रूप नैतिक व्यवस्था होना चाहिए। परन्तु ऐसा करने मे वही शक्ति समर्थ
होगी जो इस जगत् एव आने वाले जगत् के अनुभव के समस्त अनुक्रम पर नियन्त्रण कर
सके। यह वही शक्ति है जिसे मनुष्य ईश्वर कहते हैं। इस तरह ईश्वर व्यावहारिक बुद्धि का
तीसरा अभ्युपगम है।

सक्षेप मे, काण्ट की युक्ति है यदि मैं विवेक को अपने वैयक्तिक आत्म [illegible] प्रति विश्व
का वास्तविक सम्बोधन मानूँ—और कर्तव्य की इसी स्वीकृति मे कर्तव्य आरभ होता है—
तब मुझे ईश्वर, स्वतन्त्रता एव अमरत्व को भी स्वीकार करना पडेगा। जिस बात को बुद्धि
सशय में छोड देती है, उसे नैतिक सकल्पेच्छा स्थापित कर देती है।

(काण्ट की इस महान् युक्ति के लिए देखें वाटसन पृ. २६१-३०० रैण्ड ४७३-८१)

(६६) समकालीन प्रयोजनवाद काण्ट के विचारो से निम्न बातो मे भिन्न है :

(१) काण्ट विश्वास की अनिवार्यता पर बल देता है। अधुनातन प्रयोजनवाद विश्वास में
वरण की भूमिका पर बल देता है। यह इस तथ्य का परिणाम है कि काण्ट यह मानता है
कि हम अपनी नैतिक प्रकृति की आवश्यकताओ के आधार पर उन विश्वासो पर पहुँचते हैं
जिनके अतिरिक्त कोई अन्य उसे आधार नहीं दे सकता। यह आवश्यकता नहीं है कि हम
यह जानने के लिए कि हम क्या मानना चाहिए अनुभव की प्रतीक्षा करें। [इसके विपरीत]
समकालीन प्रयोजनवाद अनुभव से अपने निर्देश प्राप्त करता है।

(२) तत्त्वमीमासीय विश्वास के निर्धारण मे काण्ट केवल नैतिक आवश्यकताओं को ही स्थान
देता है, क्योंकि वह यह मानता है कि केवल नैतिक बोध से ही यथार्थ [रीयलिटी] का सकेत
मिलता है। अधुनातन प्रयोजनवाद विश्वास के निर्धारण मे हितों [illegible] एक व्यापक विस्तार
को स्थान देता है, वस्तुत किसी भी मानवीय हित को विश्वास के लिए असगत नहीं माना
जाता।

(३) केवल इन तीन विचारों को स्थापित करने के लिए, जो धर्म के क्षेत्र से सम्बन्धित हैं,
काण्ट सकल्पेच्छा की धारणा का आश्रय लेता है। समकालीन प्रयोजनवाद इस बात की ओर
सकेत करता है कि मूलभूत वैज्ञानिक विश्वासो की एक ही आधारशिला होती है। हम यह
सिद्ध नहीं कर सकते कि सभी घटनाओं का कोई कारण होता है। हम इसे वैज्ञानिक ज्ञान
के हित मे अभ्युपगमित करते हैं।

समकालीन प्रयोजनवाद की यह स्थिति है कि हम सब समय कुछ एक नही अपितु ऐसे अनेक विश्वासो का प्रयोग करते रहते हैं जिन्हे शुद्ध बुद्धि द्वारा सिद्ध नही किया जा सकता। वैज्ञानिक भी हम लोगो की तरह ही 'श्रद्धा द्वारा' ऐसी वस्तुओ [के ससार] मे रह रहा है जिन्हें न तो प्रत्यक्ष रूप में देखा जा सकता है और न ही खोजा जा सकता है ऐसी "अगम्य वस्तुएँ" जैसे ईश्वर, गुरुत्वाकर्षण, इलेक्ट्रान्स [ऋणावेश], ऊर्जा। ऐसे विश्वासो का कर्म के सचालन मे क्या प्रभाव है, इसी आधार पर उनके विषयो मे निर्णय दिया जा सकता है यदि वे हमे सही दिशा प्रदान करते हैं तो वे सच्चे विश्वास हैं।

यही बात हमारे नैतिक तथा राजनैतिक विश्वासों के लिए सही है ? कान्ट के लिए, विश्वास की सपूर्ण सरचना मे कर्तव्य का विधान एक स्थिर बिन्दु था, और विशिष्ट नैतिक नियमो को, यथा वचनो को मानना, सत्य बोलना, जीवन का आदर करना इस अपरिवर्तनीय नियम 'निरुपाधिक आदेश' से निगमित किया जा सकता है। समकालीन प्रयोजनवादी क लिए, नैतिक सिद्धात न तो अव्यवहित निश्चित हैं और न ही प्राग्नुभविक रूप से सिद्ध करन योग्य हैं, अपितु उनका निर्णय अनुभव म प्राप्त परिणामो से होता है। न्याय, पवित्रता, स्वतत्रता,—ये सिद्धान्त न तो पारम्परिक मान्यताओ म सुरक्षित हैं और न ही बुद्धि म इनकी परीक्षा की जानी चाहिए। शुभ किसी के लिए शुभ होना चाहिए, इसे स्वय अपन प्रकाश से समर्थन का प्रयास नही करना चाहिए। यहाँ प्रयोजनवादी नैतिक नियमो के सबध मे उपयोगितावादी तथा प्रकृतिवादी से समझौता करन को तैयार है। (जे डी ऐडम्स का लेख आवर डिसौल्विग एथिक्स [हमारी ह्रासमान नैतिकी], जान स्टुअर्ट मिल की पुस्तक यूटीलिटेरियनिज्म, हरबट स्पेन्सर की पुस्तक डेटा ऑव एथिक्स का तीसरा तथा चौथा अध्य य, ड्यूई एण्ड टफ्ट्स की पुस्तक एथिक्स के पृ ३४६ ६३) देखें।

(७०) विचारों का अर्थ होता है। अमेरिकन प्रयोजनवाद इस प्रश्न से कि 'क्या कोई विश्वास सत्य है ?' से भी पूर्व के प्रश्न इसका क्या तात्पर्य है ?' पर पुन लौटने के प्रयास से आरम्भ होता है।

१८७८ मे चार्ल्स पर्स ने पापुलर साइन्स मन्थली पत्र मे अपना लेख "हाउ टू मेक ऑवर आइडियाज क्लियर" [हम अपन विचारों को स्पष्ट कैसे करें] प्रकाशित किया। वह स्पेन्सर की भाँति इस तथ्य से प्रभावित था कि अनेको प्रत्ययों अथवा पदो, जिससे हमारे विश्वास सम्बन्धित होते हैं, यथा, शक्ति, स्वतत्र सकल्प, परमात्मा, का कोई चित्रात्मक अर्थ नहीं होता। जहाँ तक मानसिक प्रतिबिम्बों का सम्बन्ध है, वे 'अकल्पनीय' ही हैं। यदि हम जिसका चित्र नही बना सकते वह अर्थहीन है तो, इस बात पर ध्यान देकर कि परमात्मा का प्रत्यय अर्थहीन शब्द है, हम अपने को इस प्रश्न के कि परमात्मा का अस्तित्व है या नही के कष्ट से बचा सकते हैं। परन्तु स्पेन्सर यह पहले ही देख चुका था कि अचित्रणीय प्रत्यय का फिर भी कोई न कोई निश्चित अर्थ हो सकता है यदि उसके आधार पर हम ऐसी भविष्यवाणियाँ कर सकें जिन्हे सत्यापित किया जा सके। हम विद्युत को चित्रित नही कर सकते, तो भी हम इस बात का आकलन कर सकते हैं कि विद्युत का व्यवहार किस प्रकार होगा विद्युन का अर्थ है इन कार्यों का कर्त्ता,—विद्युत वह है जो विद्युत करती है। चार्ल्स पर्स इस सिद्धान्त का विस्तार करता है। ऐसे प्रत्येक प्रत्यय का अर्थ, जिसका कोई अपरोक्ष ऐन्द्रिय

बिम्ब प्राप्त नहीं होता, यदि इसका कोई अर्थ है तो—उन ऐन्द्रिय प्रभावों में खोजा जा सकता है जिनकी ओर यह हमें अग्रसर करता है। 'भार के स्पष्ट प्रत्यय को खोजने का प्रयास करें। किसी वस्तु को भारी कहने का केवल यही अर्थ है कि विरोधी शक्ति की अनुपस्थिति में, यह गिर पड़ेगी। स्पष्टत यही भार की सम्पूर्ण अवधारणा है" (चार्ल्स पर्स, चान्स, लव एण्ड लॉजिक [अवमर, प्रेम तथा तर्कशास्त्र], पृ. ४७ और आगे)।

आने वाली अनेक उलझनों में जो उन असफल प्रयासों में आती हैं जो कदाचित् यह कल्पना करने के कि 'भार स्वयं में क्या है' अथवा 'सामान्य रूप में शक्ति क्या है' अथवा 'स्वतन्त्र-सकल्प क्या है' अथवा 'आत्म क्या है' जैसी जिज्ञासाओं में सदैव असफल रहने वाले प्रयासों में इस प्रकार की पद्धति हमें तुरन्त मुक्त कर देती है। केवल इसी बात पर ध्यान दीजिए कि अनुभव में इन सत्ताओं का क्या प्रभाव है। यदि उनका कोई प्रभाव नहीं है तो उनका कोई अर्थ भी नहीं है। यदि ऐसी दो सत्ताओं का एक जैसा ही प्रभाव हो तो उनका एक जैसा ही अर्थ होगा, चाहे उनका नाम भिन्न भिन्न हो। इस प्रकार चार्ल्स पर्स के विचार से कैथोलिक और प्रोटेस्टैण्टों के बीच अन्तिम भोज' सस्कार के तत्त्व के सबध में विचारों का कोई वास्तविक मतभेद नहीं है। जब तक (और यदि) रोटी तथा शराब प्रत्येक अवस्था में ठीक वही गुण रखते हैं और यदि सस्कार का ठीक वही सावेगिक आशय है, तब तक यह कहने का कि शराब तथा रोटी ईसा का शरीर तथा रक्त हैं, और यह कहने का कि वे उनके केवल प्रतीक हैं ठीक एक ही अर्थ होना चाहिए।

वस्तुत', हमारे अनेक विचार जिनके अर्थों में ऐन्द्रिय बिम्ब का समावेश होता है, कर्म के लिए निर्देश के रूप में परिवर्तित होने लगते हैं। किसी घण्टी का अर्थ होता है कि 'उठो और कलेवे के लिए जाओ', इसकी ध्वनि विस्मृत हो जाती है, किन्तु इसका "प्रयोजनवादी अर्थ" बचा रहता है। रेल-मार्ग पर लाल तथा हरी रोशनियाँ इन्जिनीयर के लिए केवल रग नहीं हैं अपितु उसके व्यवहार के लिए निर्देश हैं। सगीतज्ञ की स्वरलिपि के स्वरों का अर्थ है गज अथवा अगुलियों से विशेष प्रकार का कर्म। चार्ल्स पर्स विचार की परिभाषा 'कर्म की योजना" [प्लैन ऑव एक्शन] के रूप में देता है। और यह विश्वास जो जगत् में किसी न किसी प्रत्यय को निश्चित स्थिति प्रदान करता है" हमारी प्रकृति में कर्म के किसी नियम को अथवा, सक्षेप में, एक आदत को स्थापित कर देता है।" उदाहरणस्वरूप मैं गुरुत्वाकर्षण के विषय में जो मानता हूँ, उसका अर्थ है, वस्तुओं के व्यवहार में—उनको उठाने, जमाने, बनाने, चलने, ले जाने आदि में किन्हीं आदतों का स्थापित होना।

(७१) विचारों तथा विश्वासों के अर्थ के विषय में इस सिद्धान्त से विलियम जेम्स के विश्वास की सत्यता के सिद्धान्त पर पहुँचने के लिए यह केवल चरण-मात्र है—यद्यपि वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण चरण है : यथा कोई विश्वास सत्य है यदि यह हमें सफलता की ओर ले जाता है, अथवा मूल्यवान् आदतों को स्थापित करता है। वह हमें पथभ्रष्ट कर देता है अथवा विघटनकारी आदतों को जन्म देता है तो वह मिथ्या है।*

* प्रयोजनवाद के नई दिशाओं में होने वाले विचारों को कुछ चिन्ता से देखते हुए पर्स ने टिप्पणी की थी कि वे सजीव हैं', जबकि "गहरे होने के लिए शुष्क होना आवश्यक है। मैं अपने प्रयोजनवाद को चिन्तनात्मक दर्शन के किसी उदात्त सिद्धान्त के स्थान पर तर्कशास्त्र के केवल नियम के रूप में निर्माण करता हूँ।"

यह स्पष्ट है कि विकास का सिद्धान्त सत्य के इस सिद्धान्त को एक प्रकार का आधार प्रदान करेगा। क्योंकि विकास अस्तित्व के संघर्ष मे बुद्धि को एक अंग बना देता है : मनस् को जीवन मे सहायक होना चाहिए, अन्यथा इसका अस्तित्व नही होगा। तब, किसी विचार का मूल्य, किसी बाह्य वस्तु से चित्रात्मक अनुरूपता मे स्थित नही होगा, अपितु पर्यावरण के प्रति सबसे अधिक उपयुक्त सभव प्रतिक्रिया की ओर ले जाने मे निहित होगा। आँख से स्वतन्त्र होकर अपने आप मे भौतिक वस्तुओं का कोई रंग नहीं होता, कान से स्वतन्त्र कोई ध्वनि नही होती परन्तु सफल कर्म के निमित्त यह आवश्यक नही है कि पका हुआ सेव लाल हो अथवा बिना पका हुआ [सेव] हरा हो : आवश्यक केवल यही है कि सेव के गुण का यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भेद मनस् को किसी चिह्न द्वारा प्रेषित हो,—कोई रग किसी भी अन्य चिह्न के जितना ही उपयुक्त है। यदि जीवन "आन्तरिक सम्बन्धो" का बाह्य सम्बन्धों से, व्यवहार के भेदो का बाह्य तथ्यो के भेदो से तालमेल है, तो मनस् जिसके पास बाह्य भेद के लिए कोई चिह्न होता है, जीवन के लिए सहायक हो सकता है, चाहे जगत् का इसका सपूर्ण चित्र जगत् के यथावत् रूप जैसा बिल्कुल भी न हो। प्रथमत, सत्य जीवन के लिए और इसके अतिरिक्त समस्त उच्चतर कल्याण के लिए एक साधन है। सत्य वह है जो इस प्रकार "कार्यसाधक" है।

मनस् के इस जीव-विज्ञानी दृष्टिकोण पर अपना मत बनाते हुए प्रोफेसर ड्यूई ने अपने प्रयोजनवाद को 'उपकरणवाद" [इन्स्ट्रूमेन्टलिज़म] कहा है, अर्थात्, विचार को, वस्तुएँ अपने आप मे क्या हैं यह जानने के साधन के रूप में नहीं अपितु जीवन की वृद्धि मे केवल एक उपकरण के रूप मे ग्रहण करना चाहिए। और प्रोफेसर शिलर अपने प्रयोजनवाद को "मानवतावाद" [ह्यूमैनिज़म] कहते हैं, जो भी कुछ सत्य है वह किसी अलौकिक सत् के हितों का नही अपितु मानवीय हितों का मानव के लिए साधक होना चाहिए।

(७२) इस अधुनातन प्रयोजनवाद मे, इस विशद सूत्र को कि "कोई विश्वास सत्य है यदि वह कार्य करता है तो" और अधिक निश्चित रूप देने की आवश्यकता है। क्योंकि "कर्म करना" (वर्किंग) पद विभिन्न परिस्थितियों मे विभिन्न अर्थ रखता है। इसका अर्थ है :
(अ) 'फलित' कैश वैल्यू : अर्थात् कर्म करना सुख और दुःख जैसे सवेदन के उन वास्तविक तथ्यो की ओर पहुँचना अथवा ले जाना है जिनके विषय मे विश्वास पूर्ण-कथन करता है।

अत, यह विश्वास कि पृथ्वी चपटी है मुझे यह सोचने को प्रेरित करेगा कि यदि स्प्रिंगफील्ड बोस्टन के पश्चिम मे है, और अल्बाने स्प्रिंगफील्ड के पश्चिम मे है तो अल्बानी बोस्टन के पश्चिम मे है, और मेरे लिए अल्बानी की सबसे कम दूरी पश्चिम की दिशा मे होगी। इसे यात्रा के वास्तविक ऐन्द्रिय-अनुभव में सत्यापित किया जा सकता है, उस विश्वास की कैश वैल्यू को, जो इस हद तक सत्य है। यदि मैं यह युक्ति दूँ कि पेकिन बोस्टन के पश्चिम मे है तथा लन्दन पेकिन के पश्चिम में है और इसीलिए लन्दन के लिए सबसे कम दूरी वाला रास्ता पश्चिम होकर है, तो इस विश्वास की कैश वैल्यू निषेधात्मक होगी और फलस्वरूप यह विश्वास मिथ्या सिद्ध हो जायगा। जब किसी वैज्ञानिक परिकल्पना की इससे उत्पन्न निष्कर्षों के वास्तविक निरीक्षण से सत्यापित किया जा सकता है,

तब इसकी कैश वैल्यू स्थापित हो जाती है, अथवा जैसा कि कुछ प्रयोजनवादी कहेंगे, यही इसका सत्य है।

प्रयोजनवाद में यह अनुभववादी अंश है। प्रत्येक विश्वास की सत्यता किसी विशिष्ट निरीक्षणकर्त्ता के अनुभव की रिपोर्ट में उपलब्ध होनी चाहिए, जहाँ तक कि यह इस तरह की जाँच के योग्य है।

(ब) अन्य प्रतिज्ञप्तियों से संगति . हम अपने विश्वासों को एक-एक करके नहीं ले सकते। भौतिकी में एक प्रकार के और रासायनिक शास्त्र में दूसरी प्रकार के परमाणु को मानने से काम नहीं चलेगा, यद्यपि प्रत्येक विश्वास अपने क्षेत्र में कार्यक्षम है। यदि हम इस तरह के असंगत विश्वासों को स्वीकार कर लेते हैं—और विज्ञान कभी-कभी ऐसा कर चुका है—तो ऐसा हमेशा इस विचार से किया जाता है कि अन्ततः उनमें संगति लानी है।

जगत् के विषय में कोई नया विश्वास जो पुराने विश्वासों से असंगत है (जैसे कोपरनिकस का टॉलेमी के विरुद्ध) या तो पुराने के प्रति झुक जायगा, अथवा वह पुराने विश्वास को अपने स्वरूप के अनुसार ढाल लेगा। समग्र परिणाम संगतिपूर्ण होना चाहिए। और जहाँ, जैसे कि इस स्थिति में, दोनों ही मत इसकी कैश वैल्यू द्वारा न्यायोचित ठहराये जाते हैं, फलत. वरण सरलता के आधार पर किया जा सकता है।

इस प्रकार सत्य का रूप निरन्तर बदलता रहता है। प्रत्येक भिन्न विश्वास को तभी कार्यक्षम कहा जाता है जबकि यह दोनों शर्तों को पूरा करता है: इसकी अपनी "कैश वैल्यू" होनी चाहिए, और इसकी उन अन्य वस्तुओं से संगति होनी चाहिए जिनमें हम विश्वास करते हैं। (विलियम जेम्स, प्रैग्मैटिज़्म, पृ० ६१)

(स) उच्चतर मूल्य : विश्वास हमारे शरीरों में भौतिक कार्यों की दिशा निर्धारण पर ही प्रभाव नहीं डालता उसके अतिरिक्त जगत् के प्रति हमारी अनुभूति एवं दृष्टि पर भी प्रभाव डालता है। कोई विश्वास आराम अथवा चिन्ता, स्थिरता अथवा अनिश्चितता, उद्दीपन अथवा विश्रान्ति, नैतिक दृढ़ता अथवा नैतिक शिथिलता दे सकता है। जब कभी, जैसे कि धार्मिक विश्वासों के विषय में, कैश वैल्यू कम या नहीं के बराबर हो और उन्हें इन विश्वासों को अन्य विश्वासों के साथ संगतिपूर्ण बनाया जा सके, तब ये उच्चतर मूल्य निर्णायक हो सकते हैं। अतः दूसरी बातें यदि समान हों तो, उस विश्वास को सत्य ठहराया जायेगा जो निराशावाद की अपेक्षा आशावाद के लिए स्थान बनाए। परन्तु इस बात पर विशेष रूप से ध्यान दीजिए कि कोई भी प्रयोजनवादी (जब तक कि वह नीत्शे की भाँति 'अनेक महत्वपूर्ण झूठ' को ठीक न मानता हो) यदि पहले के दो परीक्षण इसके भाग्य का निर्धारण कर देते हैं तो, अपने आपको इन उच्चतर मूल्यों की दृष्टि से किसी विश्वास के वरण को न्यायोचित नहीं मानता।

(७२) सत्य के इन तीन मापदण्डों के आधार पर, किसी एक व्यक्ति का सत्य किसी दूसरे व्यक्ति के सत्य से अनिवार्यतया अभिन्न नहीं होने पर भी उससे मिलता-जुलता हो सकता है। इस प्रकार जगत् में जोखिम की वह मात्रा जो एक व्यक्ति को प्रेरित करती है वह दूसरे

व्यक्ति को निरुत्साहित भी कर सकती है · पहले के लिए अवसर [चांस] के जगत् मे विश्वास करना कारगर हो सकता है, और दूसरे के लिए दैवी विधान के जगत् मे विश्वास करना कारगर हो सकता है।

शब्दश लेने पर, प्रत्येक व्यक्ति इस बात की परवाह किए बिना, कि उसकी किसी भी अन्य व्यक्ति के विश्वास से अनुरूपता है या नही, प्रयोजनवाद उस विश्वास को अपनाने के लिए प्रोत्साहित करेगा जो उसके लिए सबसे अधिक कारगर है। इस प्रकार यह सत्य की पूर्ण सापेक्षिता को स्वीकार करेगा, और किसी भी व्यक्ति का दर्शन, उचित ही, उसके स्वभाव तथा परिस्थितियों पर निर्भर करेगा।

परन्तु स्पष्ट है, कि जिस प्रकार स्वय से समझौता नहीं करना उपादेय नही होता है वैसे ही अपने पड़ौसी से मेल न रखना भी उपादेय नही होता। पूर्ण रूप से फलित होने के लिए एक विश्वास को अन्य प्रतिज्ञप्तियो के साथ सगत होना चाहिए (दूसरा मापदण्ड), परन्तु इसे अन्य व्यक्तियो के विश्वासों से भी सगत होना चाहिए।

अत "व्यक्तिपरक प्रयोजनवाद" "सामाजिक प्रयोजनवाद" के लिए स्थान बना देता है, जो उस विश्वास को सत्य मानता है जो अधिक मनुष्यो (अन्तत सभी मनुष्यो) के लिए लम्बी अवधि मे जाकर फलित होता है। तब केवल सामाजिक परीक्षण की लम्बी अवधि में ही किसी विश्वास की सत्यता निर्धारित होगी।

अमरीका मे आजकल सामाजिक प्रकार के प्रयोजनवाद का ही प्रचलन है। जिस प्रकार डीन पाउन्ड का "सामाजिक विधिशास्त्र" उन नियमो को सभी हितो पर विचार करके और उन्हें तौलकर, सही ठहराता है जिनके विषय में यह बता दिया जाता है कि वे मानव के सर्वाधिक हितों की सिद्धि करते हैं, उसी प्रकार प्रोफेसर ड्यूई के कोलम्बिया, शिकागो, आदि के अनुयायी धर्म, नैतिकी, तत्त्वमीमासा मे उन्ही विश्वासो को सत्य ठहराते हैं जिनके विषय मे लम्बे परीक्षण के बाद अनुभव ने यह दिखा दिया है कि वे मनुष्य जाति के समूह के कल्याण की वृद्धि करते हैं। ड्यूई स्वय यह और कहेगा कि अनुभवातीत अथवा पारलौकिक कुछ भी इन आवश्यकताओ की पूर्ति नही कर सकता। विलियम जेम्स का विचार था कि मानवीय सुख के लिए किसी प्रकार का ईश्वरवाद आवश्यक है। अपनी कृति वि विल टू बिलीव एण्ड अदर एसेज में रिफ्लेक्स एक्शन एण्ड थीइज्म (विश्वास की सकल्पेच्छा तथा अन्य निबध मे सहज प्रत्यावर्तित क्रिया तथा ईश्वरवाद नामक लेख)।

☐☐☐

अध्याय १०

प्रयोजनवाद की परीक्षा

(७४) हम प्रयोजनवाद को समझते हैं या नहीं इस विषय में आश्वस्त होने के लिए सबसे अच्छा तरीका यह होगा कि हम अनेक विश्वासो पर उसे प्रयुक्त करके देखें।

प्रजातन्त्र असफल रहा है, यह मुसोलिनी का प्रयोजनवादी निर्णय है अर्थात् यह एक मिथ्या विश्वास है। यह इटली में सफल नहीं हो रहा था। क्या उसका निर्णय सही है? क्या गणतन्त्र की परीक्षा कर ली गई है? क्या राजतन्त्र की परीक्षा कर ली गई है? क्या शासन के किसी भी रूप की पर्याप्त परीक्षा हो चुकी है? क्या हम ईसाई धर्म की प्रयोजनवाद के अनुसार जाँच कर सकते हैं? जब पिछला युद्ध आरम्भ हुआ तो अनेक ओर से यह आवाज उठी कि ईसाई धर्म असफल हो गया है। यह निर्णय प्रयोजनवादी था। परन्तु क्या इसकी परीक्षा हुई है?

क्या इतिहास किसी भी विश्वास को प्रयोजनवादी तरीके से प्रमाणित कर सकता है?

अथवा, एक अधिक सरल विश्वास—अमरता—को लें। इसकी सत्यता को प्रयोजनवादी आधार पर हम कैसे जाँचेंगे? कांट ने इस विश्वास में केवल एक पक्ष को देखा यह नैतिक पूर्णता के लिए स्थान बनाता है। क्या यह शाश्वत पतन के लिए भी स्थान बनाता है? इससे शाश्वत आनन्द अथवा दुःख, पश्चात्ताप, तथा ऊपर की आशा की जा सकती है। यह किसी महान् प्रयास को जन्म दे सकता है, अथवा भटकन की ओर ले जा सकता है, क्योंकि प्रत्येक कार्य के लिए शाश्वत समय है। इस जीवन पर इसका प्रभाव भविष्य जीवन की सत्यता के ही अनुकूल नहीं अपितु वह जीवन किस प्रकार का होगा इस बात के अनुसार पड़ेगा। अतीत में, पारितोषिक एवं दण्ड के विश्वास से सम्बद्ध होने के कारण, इसने विधि विधान तथा गिरजे के अधिकार का अनुमोदन किया था। इसने समाजो को एक साथ रखा, और युद्ध के बाहु को सबल बनाया। क्या शुभ तथा अशुभ को जोड़ा जा सकता है और इस प्रकार कोई सतुलन प्राप्त किया जा सकता है? और क्या स्थिति के सत्य को जाँचने का यही तरीका है?

(७५) यह निर्धारण करने के लिए कि प्रयोजनवाद, हमारे सत्य का निर्धारण करने के तरीके की हमारी धारणा के अनुकूल है या नहीं, निम्नलिखित परीक्षणात्मक स्थितियों को लें:

(१) लुप्त सकेत—दोनो में से कौनसी प्रतिज्ञप्ति सत्य है होमर नाम का एक व्यक्ति था, ऐसा कोई व्यक्ति नहीं था जिसका नाम होमर हो? सामान्य तर्कशास्त्र तथा साधारण दृष्टि की यह अपेक्षा है कि इनमे से एक या अन्य सत्य होना चाहिए। परन्तु मानलो कि दोनों ही

प्रतिज्ञप्तियों के पक्ष में अथवा उनके विरुद्ध कोई साक्ष्य नहीं मिलता, क्योंकि सभी संकेत लुप्त हो चुके हैं। सब दोनों में से कोई भी प्रतिज्ञप्ति तथ्यों के रूप में कोई कैश वैल्यू नहीं है, और न ही दोनों में से किसी को भी अन्य विश्वासों के साथ सामंजस्यता के रूप में, अथवा हमारी उच्चतर आवश्यकताओं तथा इच्छाओं को पूरा करने में अधिक अच्छी स्थिति नहीं रखती। तो, प्रयोजनवाद की विधि के अनुसार, दोनों में से कोई भी न तो सत्य है और न मिथ्या है, अपितु परिणामों की अनुपस्थिति में और "बिना कोई अन्तर उत्पन्न किए" दोनों ही अर्थरहित हैं। अब भी यदि हम यही मानते रहें कि एक सत्य होनी चाहिए और दूसरी मिथ्या, तो हमारा सत्य के विषय में प्रयोजनवादी विचार न होकर दूसरा कोई विचार है।

झूँठ बोलने वाला वह व्यक्ति है जो लुप्त संकेतों की स्थिति से अनुचित लाभ उठाने का प्रयत्न करता है। अतीत की घटनाओं के वास्तविक क्रम के स्थान पर वह एक ऐसे काल्पनिक क्रम को रख देता है जो उन सभी तथ्यों के साथ ठीक बैठे जिन्हें अन्य व्यक्ति जानते हैं, और इस तरह उनके लिए वह 'कार्यसाधक' हो, और स्वयं उसके लिए वह योजना और भी अधिक सफल सिद्ध होती है। किसी गवाह के साथ जिरह यह पता लगाने का प्रयत्न है कि क्या उसकी कहानी अन्य लोगों के द्वारा ज्ञात सभी तथ्यों के साथ मेल खाती है, और अधिकांश झूँठ बोलने वाले इस प्रयोजनवादी परीक्षा में कहीं न कहीं असफल हो जाते हैं। परन्तु मानलो कि कोई एक महा झूँठा व्यक्ति है, एक पक्का झूँठ बोलने वाला तो क्या उसकी कहानी भी सत्य होगी? यह स्थिति स्वभावतः आगे की परिस्थिति की ओर ले जायगी,—

(२) पूर्ण अनुकृति—व्यवहार में पूर्ण अनुकृतियाँ बहुत कम होती हैं। किन्तु एक सिक्का बहुत हद तक दूसरे सिक्के की प्रतिलिपि होता है। तो, मानलो, कि बैंक के दो आदमियों को पूर्णतः समान दो थैलों में गिनती में ठीक एक ही संख्या में नये सिक्के मिलते हैं, और मानलो कि, बिना इस बात को जाने, प्रत्येक व्यक्ति दूसरे का थैला ले लेता है। प्रयोजनवादानुसार, इस विश्वास को हिलाने के लिए कोई प्रमाण नहीं है कि प्रत्येक के पास वही थैला है जो उसे दिया गया था। तो क्या यह विश्वास सत्य है? यदि नहीं, तो हमें सत्य की कोई और परिभाषा प्राप्त करनी होगी।

इस स्थिति में, दोनों थैलों के तादात्म्य पर कुछ भी आधारित नहीं होता, और किसी पर भी इस बात का बन्धन नहीं है कि वह कोई मत बनाए। परन्तु ऐसी स्थितियाँ हैं जिनमें तादात्म्य बहुत हद तक मूल्यवान होता है। रेकम्ब्रा के चित्र की आदर्श प्रतिलिपि जो बाजार में सफल होती है, अपने समस्त मूल्य को लगभग खो देगी यदि यह पता चल जाय कि वह एक आदर्श अनुकृति मात्र है। यह बात उस संग्रहकर्ता की कहानी से स्पष्ट होती है जिसका शत्रु उसके अमूल्य प्राचीन पेंटिंग को चुराने की अपेक्षा, उसे और भी गहन दुःख में डालने के लिए उस चित्र की एक ऐसी सटीक प्रतिलिपि बना डालता है कि स्वयं संग्रहकर्ता भी यह कहने में असमर्थ हो जाता है कि दोनों में से कौनसी मूलकृति है। जब [हमारी] रुचि वैयक्तिक तादात्म्य में हो, तो प्रयोजनवादी समानता सन्तोष प्रदान करने में असफल रह जाती है।

(३) बहुविधसंगत विश्व—ऐसा सोचा जा सकता है कि वस्तुओं की प्रकृति के बारे में अनेकों परिकल्पनाएँ हैं जो सभी समान रूप से सही प्रतीत होती हैं, क्योंकि वे सभी समस्त तथ्यों के साथ संगत होती हैं। फिक्टे के मत में दर्शन की इस प्रकार की दो योजनाएँ थी

स्पिनोज़ा की कठोर निर्धारणवाद की योजना, तथा स्वतन्त्रता की प्रत्ययवादी योजना। उन दोनों के बीच आप जो चुनाव करेंगे वह इस बात पर निर्भर करेगा कि आप किस प्रकार के व्यक्ति हैं। (रैन्ड पृ. ४८६, ४६२-६६) मानलो कि ऐसे अनेक सगतिपूर्ण मत हैं, तथा कोई किसी एक व्यक्ति के लिए सर्वाधिक उपयुक्त होता है तथा दूसरा किसी अन्य व्यक्ति के लिए। तो क्या वे सब सत्य है? वह व्यक्ति जो इस प्रकार की परिकल्पना करता है यह निश्चय-पूर्वक नही कह सकता कि वे सभी सत्य हैं, क्योंकि उसके लिए सत्य जगत् का वह लक्षण है जो इसे इन विभिन्न रूपो में ग्रहण करने के लिए अनुमति देता है। गिरगिट के रंग के विषय में सत्य इसके अनेको रगों मे से एक रंग नहीं है, वरन् वह गुण है जो इसे रग बदलने की क्षमता प्रदान करता है।

यह स्पष्ट है कि मानव मनस् का लक्ष्य ऐसे सत्य को पाना है जो उसकी इच्छाओं पर निर्भर न हो, और जो इसकी परीक्षा की शक्ति से भी परे हो।

(७६) प्रयोजनवाद के साथ मुख्य कठिनाई यह प्रतीत होती है कि जब हम अपने विश्वास को चुन लेते हैं तो यह हमारा विश्वास नहीं रह जाता है।

यह सदेह कि हमारी सकल्पेच्छा ने साक्ष्य के सन्तुलन को अस्थिर किया है हमारे लिए वरण की गई परिकल्पना को मनोगत [सब्जैक्टिव][१] बना देता है, परन्तु विश्वास मनस् का एक ऐसी वस्तु की ओर निर्देश है जिसे यथार्थ, स्वतन्त्र एवं वस्तुनिष्ठ मान लिया गया है। अतः मनोगत होने का सदेह विश्वास को नष्ट कर देता है।

प्रयोजनवाद की तार्किक भ्रान्ति को "सभी सत्य प्रतिज्ञप्तियाँ कार्यसाधक होती हैं" के मिथ्या रूपान्तरण "सभी प्रतिज्ञप्तियाँ जो कार्यसाधक होती हैं वे सत्य भी होती हैं" के रूप मे समझा जा सकता है। इस प्रकार का रूपान्तरण तार्किक रूप मे स्वीकार्य नही है। सभी कौए काले पक्षी हैं से यह निगमित नही होता कि सभी काले पक्षी कौए हैं। इससे केवल यही परिणाम निकलता है कि कोई भी पक्षी जो काला नही है वह कौआ भी नही है। अथवा वर्तमान स्थिति मे, कोई भी प्रतिज्ञप्ति जो कार्यसाधक नही है वह सत्य भी नही हो सकती। इस प्रकार नकारात्मक प्रयोजनवाद भ्रान्ति की उपस्थिति का पता लगाने में उपयोगी होता है, परन्तु विधेयात्मक प्रयोजनवाद सत्य को स्थापित नही कर सकता। (दि मीनिंग ऑव गॉड [परमात्मा का अर्थ] पृ. १३ देखें)।

एक ऐसी अवस्था है जिसमे प्रतिज्ञप्ति को रूपान्तरित करना स्वीकार्य होगा। समस्त समबाहु त्रिभुज समकोणिक हैं और समस्त समकोणिक त्रिभुज समबाहु भी हैं। ऐसा इस वजह से है क्योंकि जिन वर्गों का नाम उद्देश्य तथा विधेय मे आता है वे विस्तार मे समरूप हैं। अतः यदि सत्य प्रतिज्ञप्तियाँ तथा कार्यसाधक प्रतिज्ञप्तियाँ एकसी हों, तो हम कार्य-साधकता को सत्य का निकष मान सकते हैं। अब यदि हम यह मान सकें कि विश्व पूर्णरूपेण परोपकारी है, उस अर्थ मे जिसमे परोपकारिता को ग्रहण किया जाता है, अथवा हमारे अस्तित्व के लिए पूर्णरूपेण उपयुक्त है, तो साथ ही साथ सत्य विश्वास भी जीवन को बढाने वाले, सुखकर आदि होंगे और तब प्रयोजनवादी परीक्षा करीब-करीब प्रामाणिक होगी। अतः प्रयोजनवाद का मूल्य एक पूर्ववर्ती निष्ठा पर आश्रित होगा, न कि निष्ठा प्रयोजनवाद पर। ससार की उपयुक्तता मे मूल विश्वास को प्रयोजनवादात्मक प्रणाली से स्थापित नहीं

लिया जा सकता क्योंकि स्वयं इस विश्वास की आवश्यकता प्रयोजनवाद को सिद्ध करने में पड़ती है।

तो, अन्तत, प्रयोजनवाद को एक अ प्रयोजनवादी सत्य की आवश्यकता है। अपनी ही कसौटी पर यह सफल नहीं होता। (वि मिनिंग ऑव गॉड देखें, पृ. २०६)।

(७७) अब हम यह देखें कि नैतिकी, विज्ञान, धर्म इन तीन क्षेत्रों में से ये विचार प्रत्येक पर कैसे प्रयुक्त होते हैं।

नैतिकी मे (ऊपर ६५वें परिच्छेद मे), प्रयोजनवाद उसी को ठीक मानता है जो भली-भाँति कार्यसाधक हो उदाहरणार्थ, 'अधिकतम सख्या का अधिकतम शुभ", अथवा कल्याण का कोई दूसरा मापदण्ड। अब, कोई भी व्यक्ति कर्म के उस रूप को सही नहीं मानेगा जिससे मानव जाति का विनाश हो जाए (शॉपनहावर को छोडकर)। परन्तु जो कल्याण मे अथवा जीवन मे अथवा आनन्द मे वृद्धि करता है, हम उसके आधार पर यह निर्णय नहीं ले सकते कि ठीक क्या है, क्योंकि हम इस बात का निर्धारण कि किससे कल्याण आदि की वृद्धि होगी केवल तभी कर सकते हैं जब पहले यह पूछें कि ठीक क्या है।

समस्त सामाजिक कल्याण की पूर्वापेक्षा के रूप मे, उद्योग, राजनीति आदि मे, युद्ध के समय से ही हम 'मनोबल' की आवश्यकता के प्रति अधिकाधिक सचेत होते रहे हैं। और यह मनोबल किसी सामाजिक समूह के सदस्यों की सकल्पेच्छा की अवस्था है जिसमे होने पर प्रत्येक व्यक्ति सद्भावानुसार उस कार्य को करने के लिए तैयार रहता है जो उस समूह विशेष का लक्ष्य है। परन्तु मनुष्य अपने समूहो से अपना तादात्म्य इस रूप मे तब तक स्थापित नहीं करेंगे जब तक कि उन्हें समूह के न्याय तथा सद्भाव के विषय मे विश्वास नहीं हो जाता। समृद्ध समूह केवल वही है जिसमे नेता और सदस्य अपने ऊपर काट के कर्तव्य के नियम जैसा कुछ आरोपित करते हैं। तब, यह नियम, खुशहाली के विरुद्ध नहीं है अपितु उससे पूर्व है।

परिणामों की अनन्त शृंखला का तथा परिणामों के गुणात्मक अन्तर के कारण (जे एस. मिल की पुस्तक यूटीलिटेरियनिज्म [उपयोगितावाद] देखें) और इसलिए कि कष्टो की तुलना मे सुखों को तोलने का कोई साधन नहीं है कर्म के परिणामो का आकलन असभव है। (लिकी की पुस्तक हिस्ट्री ऑव यूरोपियन मोरल्स [यूरोप की नैतिक परम्पराओं का इतिहास] का पहला अध्याय देखें)। कुछ नहीं तो इसीलिए कर्तव्य के ऐसे नियम का होना जीवन के आचार व्यवहार के लिए अत्यधिक हितकर है।

(७८) विज्ञान की दृष्टि से किसी परिकल्पना को तथ्यों के परीक्षण से सत्यापित करने (जैसा कि कैंश वैल्यू के विषय म ऊपर ७२वें परिच्छेद मे कहा गया है) और किसी परिकल्पना का इसलिए वरण करने मे, कि हम इसे पसन्द करते हैं अथवा उसका अनुमोदन करते हैं, मे भेद करना महत्वपूर्ण है। इस दावे के लिए कि प्रमाणीकरण की प्रक्रिया प्रयोजनवाद की विशिष्टता है, कोई उपयुक्त युक्ति नहीं है। कोई परिकल्पना यह पता लगाकर सत्यापित होती है कि उससे कौनसे तथ्य अनुमित होंगे, और फिर तथ्यों पर यह देखने के लिए

विचार करना पड़ता है कि क्या वे वैसे ही हैं जैसी उस परिकल्पना की अपेक्षा है। यह कार्य प्रणाली कठोर तार्किक निगमन एवं प्रेक्षण की है, जिससे मानवीय वैयक्तिकता को जितनी शीघ्रता से सम्भव हो सके बाहर निकाल दिया जाता है।

निस्सन्देह, विज्ञान पर मानवीय रुचि के चिह्न अंकित हैं : जिन सत्यों का यह अन्वेषण करता है ये वे हैं जिनको जानने के लिए हम उत्सुक होते हैं। हमारी रुचि प्रश्नों को प्रेरित करती है, परन्तु यह उनके उत्तरों को निर्धारित नहीं करती। प्रतिकूल और अनुकूल दोनों ही तरह के उत्तरों को ग्रहण किया जाता है। विज्ञान की यह भूमिका है कि यह हमें जगत् के विषय में बुरे से बुरे और अच्छे से अच्छे, दोनों के बारे में जानकारी दे। और वैज्ञानिक *सत्य का यह सिद्धान्त है कि कोई भी मानवीय हित चाहे वह कितना ही महान् क्यों न हो,* साक्ष्य के किसी भी अंग से, चाहे वह कितना ही क्षुद्र क्यों न हो, अधिक महत्त्व का नहीं हो सकता।

यह सम्भव है कि प्राकृतिक नियमों तथा प्रकृति की नियमित व्यवस्था में हमारी रुचि, विश्वसनीय पर्यावरण में क्रियाशील होने के व्यावहारिक लाभ के फलस्वरूप हो। यह भी *सम्भव है कि हमारे परमाणुओं, विद्युदणुओं आदि के प्रत्ययों के विषय में सतत कार्य इसलिए* किया जाता है, क्योंकि जगत् की वस्तुओं को पुनः संयुक्त करने की हमारी व्यावहारिक रुचि यह मांग करती है कि हम उन तत्त्वों को जानें। यह मानने के पीछे कि तत्त्व एवं नियम हैं कोई व्यावहारिक प्रेरक हो सकता है। किन्तु यह मान्यता उसका नियन्त्रण नहीं करती जो हमें उपलब्ध होता है : यह उस नियमितता की रचना नहीं करती जिसका हमें ज्ञान होता है, *और न ही उस अनियमितता को वर्जित करती है जिसे हमें स्वीकार करना पड़ सकता* है। प्रकृति के 'नियमों' तथा 'वस्तुओं' को जानने के प्रयत्न का सम्पूर्ण महत्त्व इस बात में निहित होता है कि वे हमारी इच्छाओं [रुचियों] के प्रति उदासीन होते हैं।

अतः प्रयोजनवाद वैज्ञानिक विधि की सामान्य कार्यप्रणालियों से किसी आश्रय को प्राप्त करने का दावा नहीं कर सकता, और जहाँ तक साधन वैज्ञानिक पद्धति का ही विस्तार है वहाँ तक यह विशिष्टतया प्रयोजनवादी नहीं है।

(७६) साधनवाद में जो प्रयोजनवादी तत्त्व है वह है प्रथम, बुद्धिवाद के स्थायी सत्यों के स्थान पर उन परिवर्तनशील विचारों के एक समूह का प्रतिस्थापन जिन्हें परीक्षण के द्वारा सत्यापित किया जाता है, *एवं दूसरे, यह मानना कि संक्रमण अथवा परिवर्तन हमारी अत्यन्त* स्थायी बौद्धिक सम्पत्ति पर आक्रमण करता है। अब देखिए : हम सब परिवर्तन की व्यापकता में विश्वास करते हैं, और हम सब परीक्षण में भी विश्वास करते हैं। यदि साधनवाद का अर्थ विचार तथा जीवन में परीक्षणात्मक चेतना का विकास करना है तो प्रत्येक व्यक्ति साधनवादी होगा। परन्तु प्रश्न यह है, कि कितना ? क्या प्रत्येक ... बदल जाती है, और क्या प्रत्येक वस्तु तुरन्त परिवर्तित हो जाती है ? क्या वह ... सत्य मानना हूँ कल असत्य हो जायगा, और ... से मैं किसी, ... नहीं

का जिसका उपयोग गणितज्ञ अपने समीकरण मे करता है, समस्या मे शुरू से अन्त तक एक ही मूल्य होना चाहिए,—नही तो सक्रियाएँ [ऑपरेशन्स] अर्थहीन होगी। वह मनस् जो परीक्षण करता है वह भी [शुरू मे आखिर तक] एक ही रहना चाहिए, और इसकी जाँच का अन्त मे भी वही अर्थ होना चाहिए जो कि इसके आरम्भ मे था, नही तो परीक्षण अविश्वसनीय होगा। और जहाँ तक कुछ समस्याएँ व्यक्ति तथा समाज के जीवन मे शुरू से अन्त तक रहती हैं, वहाँ तक व्यक्तियो तथा समाज के जीवन मे कुछ अचर [कान्सटेंन्ट्स] होने चाहिए। प्रत्येक आदत तथा आधार को अन्तरिम और प्रत्येक मानदण्ड को किसी काल विशेष के लिए मानना, ऐसा ही होगा जैसा किसी ऐसे मकान में रहना जो अपनी जगह से खिसक रहा हो और हमारे सरो पर गिर रहा हो। इसके अतिरिक्त सभी परीक्षणो का उद्देश्य किसी बात को स्थापित करना होता है, कुछ ऐसी बात सीखना होता है जिसे एक बार सीख लेने पर हम भूल न सकें। सत्य जाति मे सचित होना चाहिए, परन्तु सचय करने के लिए, यह आवश्यक है कि जिसका सचय किया जाता है उसमे कोई स्थायी तत्त्व होना चाहिए। यदि हम परीक्षण के द्वारा जो सीखते हैं उसे तुरन्त भूल जायें तो इसे सीखने की प्रेरणा मूल से ही विनष्ट हो जाती है।

और परीक्षणवाद के साथ परीक्षण के लिए, हम पाते हैं कि सिद्धान्त के समस्त स्थायित्व को छोड़ने पर, हम अपने जीवन मे अन्य प्रकार की स्थिरता को प्रवेश करने के लिए विवश हो जाते हैं। मुसोलिनी राजनैतिक सिद्धान्तो की स्थिरता को छोड़ देता है, और एक दूसरी प्रकार की तानाशाही को अपना लेता है, जो किसी विशेष 'मैं चाहता हूँ' का रूप है। सिद्धान्त के स्थायित्व मे शक्ति के स्थायित्व की अपेक्षा यह प्रयोजनवादी लाभ है कि यह लचीलेपन एव विकास को सम्भव बनाता है। स्वय परीक्षणात्मक आदर्श को एक अ-परीक्षणात्मक पृष्ठभूमि की आवश्यकता पड़ती है।*

(८०) ऐसा प्रतीत हो सकता है कि सामान्यतया प्रयोजनवाद का सबलतम दावा धर्म एव तत्त्वमीमासा मे होता है क्योकि विश्वास का कोई अन्य आधार प्राप्त करना कठिन होता है। धर्म एव काव्य के बीच गहरी मैत्री के कारण यह और भी सबल बन जाता है। क्योकि जैसी सन्तायना ने व्याख्या दी है, हम कला को या तो, तेन के साथ, एक ऐसे क्षेत्र के रूप मे ग्रहण कर सकते हैं जो तथ्यो की गन्दगी से युक्त है और जो पूर्णता की एक ऐसी भूमिका मे अन्तर्भूत है जिसके कारण धार्मिक विश्वास को कला का एक उच्च प्रकार कहा जा सकता है, अथवा हम उसे आदर्श के एक ऐसे रूप मे प्रस्तुत मान सकते हैं जो कर्म में चरितार्थ होता है, और इस तरह यह कर्म कुछ प्राप्त करने या नैतिक बनने का आश्रय हो जाता है। परन्तु धर्म का इतिहास इस मत का विरोध करता है। धर्म की प्रगति काव्य से अनलकारिकता मे प्रवेश करना है। ऐसा प्रतीत होता है कि धर्म के इतिहास में सक्रान्ति काल तब आया जब किसी बढई ने यह जिज्ञासा की कि किन अवस्थाओ मे उसकी जाति के लोगो के अपने अन्तिम मिथक का कोई अनलकारिक अर्थ हो सकता है (दी मीनिंग ऑव गॉड, पृ. १५०-५२ देखें)।

* आगे २९८ वाँ परिच्छेद देखें।

विशेष रूप से धर्म मे यह माना जाता है कि वस्तुनिष्ठ सत्य ही एकमात्र ऐसी वस्तु है जो हमे मुक्ति दिला सकती है। क्योकि धर्म मानव आत्म का उस वस्तु से अनुकूलन है जिसे जगत् मे यह अत्यधिक यथार्थ वस्तु मानता है। ईश्वर कुछ भी नही है यदि यह वह नहीं है जिस पर हम निर्भर रहते हैं। परन्तु प्रत्येक वरण किया हुआ विश्वास, ईश्वर का प्रत्येक मानव-निर्मित प्रत्यय, जैसाकि वाल्टेयर के कथन का सकेत है, स्पष्ट रूप मे हमी पर निर्भर है। हम उस रस्सी का सहारा नही ले सकते जो स्वय हमारी ही पेटी से जुडी हुई हो। यदि धार्मिक विषयो मे हमे कोई साक्ष्य उपलब्ध नही हो सकें, तो हमे इनके बिना काम चलाना पडेगा, क्योकि सर्वाधिक यही अपनी आशाओ के नकारात्मक उत्तर की सम्भावना है और सर्वाधिक यही पर वरण किया हुआ विश्वास अधिकाश में विश्वास ही नही रहता, और इसीलिए "कार्यक्षम होने मे" असफल हो जाता है।

(८१) अत हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रयोजनवाद इस प्रश्न का अन्तिम उत्तर नहीं है कि हम अपने विश्वासो को कैसे प्राप्त करें। इसका यह अर्थ नहीं है कि उसका कोई मूल्य है ही नही।

इसने इस तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है कि सत्य एक ऐसा उद्यम है जिसमे निश्चयी बनने के लिए सक्रिय प्रयास की आवश्यकता है, निष्क्रिय प्रतीक्षा की नही। यह निश्चय नही कर पाने पर कि कोई विशिष्ट शल्योपचार जीवन की रक्षा कर पायेगा शल्य-चिकित्सक 'निर्णय के स्थगन' से कभी किसी निश्चय पर नही पहुँच सकेगा : उसे एक कार्यकारी परिकल्पना अगीकार करनी पडेगी, और उस पर अमल करना पडेगा। हमे तो केवल सत्य पर पहुँचने की ओर सत्य को निश्चय करने की सकल्पेच्छाओं के बीच भेद करना चाहिए। हमारा निर्णय, सत्य को सत्य नही बनाता।

पुन प्रयोजनवाद ने इस तथ्य की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट किया है कि जगत् का एक ऐसा भी बहुत बडा क्षेत्र है जो अनगढ एव लचीला है, और जहाँ हमारा कर्म तथ्यो मे परिवर्तन कर सकता है। किसी मनुष्य के साथ शत्रुवत् व्यवहार उसे हमारा शत्रु बना सकता है, उससे मित्रवत् व्यवहार उसे हमारा मित्र बना सकता है। ऐसी स्थितियों में सकल्पेच्छा का वैयक्तिक घटक एक सत्य और दूसरे सत्य मे भेद उत्पन्न कर देता है। "यह उद्यम सफल हुआ या असफल ?" जब तक कर्म नहीं होता यह न तो सफल है और न असफल इसका निर्णय इसे सफल मानने की आपकी सकल्पेच्छा कर सकती है। प्रयोजनवाद का यह साधिकार क्षेत्र है।

उस क्षेत्र को छोडकर, जहाँ विश्व का स्वरूप विचार का विषय है, हमे अपनी कार्यकारी परिकल्पनाओ तथा अपने विश्वासों मे सर्वदा भेद करना चाहिए। कर्म प्रतीक्षा नहीं कर सकता, उसे सर्वाधिक उपयुक्त उपलब्ध परिकल्पना को ग्रहण करना पडता है : विश्वास की सकल्पेच्छा प्रवृत्ति कर्म के जीवन के लिए नियम है, विचार के लिए नहीं। क्योंकि विचार के पास तो अपने परिणामों तक पहुँचने के लिए अनन्त समय है।

इस चिरकालीन प्रयत्न को निराश होकर त्यागने का हमें कोई अधिकार नहीं है। प्रयोजनवाद तत्त्वमीमांसीय सत्य की अज्ञेयवादी दृष्टि को बहुत सरलता से मौन-स्वीकृति दे देता है। यहाँ यह मान लिया गया है कि विश्व में हमें जो भी प्रभावित कर सकता है वह हमसे उन सूत्रों द्वारा सम्बद्ध है जिन तक हमारा ज्ञान पहुँच सकता है। ऐसा कोई सत्य नहीं है जो हमारी पहुँच के बाहर हो।

□□□

अध्याय ११

ज्ञान के साधन के रूप में अनुभूति [फ़ीलिंग]

(८२) अज्ञेयवादी, प्रयोजनवादी तथा सहजज्ञानवादी एक बात मे सहमत हैं वे तत्त्व-मीमासीय सत्य पर बुद्धि के पहुँचने की सामर्थ्य मे अविश्वास करते हैं। परन्तु जबकि इस स्थिति मे, अज्ञेयवादी का प्रस्ताव यह है कि बिना किसी—तत्त्वमीमासीय विश्वास के भी काम चलाया जा सकता है, और प्रयोजनवादी किसी विश्वास को उसके मूल्य के आधार पर यह देखकर वरण कर लेता है कि ऐसे विश्वास से बचना सभव नही है, सहजज्ञानवादी यह सकेत करता है कि हमारे पास बुद्धि के अतिरिक्त ज्ञान के अन्य साधन भी हैं। वह सकल्पेच्छा का आश्रय नही लेता अपितु उसका आश्रय लेता है जिसे कभी-कभी अस्पष्ट रूप मे 'अनुभूति' कहा जाता है। यह समझने मे लिए कि सहजज्ञान क्या है, अनुभूति की प्रकृति पर विचार करना सुकर होगा।

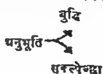
(८३) अनुभूति एक द्व्यर्थक पद है। कभी-कभी इसका प्रयोग सवेग तथा सवेदन ग्राह्यता के समान अर्थ मे ही किया जाता है 'विषाद अथवा आह्लाद की अनुभूति', 'किसी व्यक्ति की भावनाओं [फ़ीलिंग] को आघात पहुँचाना'। इसे ज्ञान के किसी ऐसे प्रकार का सकेत देने के लिए भी प्रयुक्त किया जाता है जो स्पर्श से अथवा स्पर्श सदृश्य किसी से सम्बन्धित होता है 'सतह खुरदरी लगती है' [फ़ील्स] 'उसे लगा [फ़ैल्ट] कि उनकी दृष्टि मित्रवत् नही थी'। यह द्व्यार्थकता इस तथ्य से उत्पन्न होती है कि बुद्धि एव सकल्पेच्छा मानसिकता [मैन्टैलिटि] के एक ऐसे अधिक आदिम प्रकार से विकसित होती है जिसमे इन दो क्रियाओ को स्पष्टतया अलग नहीं किया जाता। इस आदिम मानसिकता के लिए अनुभूति एक उपयुक्त नाम है।

मानवीय मनस् एव पशुओ के मनस् के बीच भाषा के द्वारा स्पष्ट होने वाले कतिपय भेदो पर विचार करने से मनस् मे इसकी स्थिति को समझा जा सकता है।

(८४) पशुओ की भाषा होती है वे सकेतो के द्वारा सप्रेषण करते हैं और समूह मे रहने वाली उपजातियो मे ये सकेत जटिल एव सूक्ष्म हो सकते हैं : हम कभी भी निश्चित रूप से यह नही कह सकते कि हम उनके विषय मे सब कुछ जानते हैं। परन्तु सामान्य रूप मे हम कह सकते हैं कि पशुओ की भाषा एक ऐसी भाषा है जिसके अन्तर्गत ऐसे अव्यय आते हैं जो विस्मय बोधक अव्ययो के सदृश्य होते हैं (आह ! ओह ! ···· आदि) पशु ऐसी ध्वनि करते हैं जिसका आशय 'खतरा' होता है, कभी ऐसी ध्वनि करते हैं जिसका आशय 'भोजन' होता है, आदि। सम्बोधन अथवा विस्मय बोधक एक ही चिह्न द्वारा सपूर्ण अर्थ को प्रकट कर देता है।

मानवीय भाषा अर्थ के खंडो [फ्रैग्मेन्ट्स] के लिए सकेतो को स्थापित करती है। कोई शब्द किसी विषय का सकेत होता है, वह सामान्यतया केवल तभी पूरा अर्थ देता है जब उसे अन्य शब्दो के साथ जोड लिया जाता है। वाक्य बनाने के लिए भाषा की इकाइयो को अनेक प्रकार से जोड़ा जाता है। और सूचनामूलक वाक्य, कर्म के लिए स्वय मे पूर्ण अर्थ नही देता। 'प्रशाद्वल [घास के मैदान] मे आग लगी है' इस प्रतिज्ञप्ति से कर्म का सकेत लेने की प्रवृत्ति सबल प्रतीत होती है परन्तु यह कर्म के रूप को स्पष्ट नहीं करती। यह इस सभव प्रश्न को [उत्तर के लिए अनुत्तरित] छोड देती है कि क्या करें', और इस प्रकार से अनेक सुझावो एव निर्णयो मे सघर्ष की सभावना उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार विस्मय बोधक "आग" ! किसी वाक्य की तुलना मे अधिक पूर्ण अर्थ देती है, क्योकि इसमे एक उपयुक्त कार्य एव उसके लिए आह्वान सन्निहित होता है। जहाँ तक मैं सोच सकता हूँ, पशुओ की भाषा मे सूचना-मूलक वाक्य का कोई अस्तित्व नही होता है। मानवो की भाषा विश्लेषणात्मक होती है, कर्म के स्थगन मे यह बुद्धि के सतुलन को सभव बनाती है। पशुओ की भाषा अविश्लेष्य होती है· इसमे ज्ञान, तथा कर्म की ओर प्रवृत्ति परस्पर अलग नहीं किए जा सकते। सहजप्रवृत्ति के सामूहिक कार्यान्वयन को यह सचालित करती है: यह एक साथ सूचना एव आदेश होती है। सक्षेप मे, यह अनुभूति की भाषा है, और अनुभूति यहाँ पर अविशेषीकृत मानसिकता [मैन्टैलिटि] के रूप मे प्रकट होती है।

मनोविज्ञान मे कुछ समय से उस सिद्धान्त की आलोचना होने लगी है जिसके अनुसार मानसिक शक्तियो का बुद्धि, अनुभूति एव सकल्पेच्छा जैसे तीन पृथक् तथा समकक्ष क्षमताओ मे विभाजन किया जा सकता है। यह सकेत किया गया है कि अनुभूति, सावेगिक अस्थिरता के रूप मे क्रिया का आरभ है और इसीलिए वह सकल्पेच्छा के साथ मिल जाती है। इसे विशेष स्पष्टता के साथ उन अनुभूतियो के विषय मे देखा जा सकता है जो सहज प्रवृत्तियो से निकट से सबद्ध हैं। भय की अनुभूति उन प्रतिक्रियाओ की प्रारभिक अवस्था है जो पलायन अथवा छुपने की ओर प्रेरित करती है। क्रोध की अनुभूति विद्वेष का आरम्भिक रूप है। परन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि ये अनुभूतियाँ ऐसे सज्ञान अथवा ज्ञान मे अचेतन रूप मे उद्भूत होती हैं जो ('उद्दीपक' के रूप मे) प्रतिक्रिया को उत्पन्न करता है। भय एव क्रोध मे प्रतिकूल स्थितियो की तीक्ष्ण एव बढ़ी हुई चेतना रहती है। इसलिए हम अनुभूतियो को मनस् के सज्ञानात्मक अथवा जानने वाले पक्ष का बहिष्कार करके सक्रिय पक्ष को नहीं सौप सकते। अनुभूति मे दोनो ही विशेषताएँ होती हैं : यह प्रशान्त करने वाला ज्ञान है, यह इस बात को स्वीकार करना है कि जगत् असन्तुलित है और कर्म की माँग करता है, यह एक विचार है जो सकल्पेच्छा की क्रिया की ओर बढ रहा है। तो अनुभूति को हम न तो बुद्धि एव सकल्पेच्छा के समकक्ष मानेंगे और न सकल्पेच्छा मे मिली हुई, अपितु मनस् की ऐसी सरलतर अवस्था मानेंगे जिससे बुद्धि तथा सकल्पेच्छा अपना विशेष रूप ग्रहण करती हैं :



(८६) स्पष्टतया हम यह नहीं कहते कि पशुओं मे बुद्धि नही होती। इससे भी कम हम यह कहते हैं कि तुलनात्मक रूप मे मनुष्य अनुभूति मे निर्बल होते हैं। इसके विपरीत, इस तथ्य के रहते हुए भी कि बुद्धि तथा सकल्पेच्छा की पशुजीवन की अपेक्षा मानव जीवन में तुलनात्मक रूप मे अधिक व्यापक भूमिका होती है प्रत्येक व्यक्ति के आचार में अनुभूति एक बडा घटक होती है,—कुछ मनुष्यो मे, शायद एक मुख्य घटक होती है। और अब अनुभूति की जिस विशेषता पर हमें विचार करना है वह है

जहाँ अनुभूति है, वहाँ सज्ञान है

अर्थात् वह विषयगत जगत् के सम्बन्ध म हम कुछ ज्ञान देती है।

इसकी सत्यता को अभी हमने भय तथा क्रोध के सदर्भ मे देखा जो नैसर्गिक प्रवृत्तियों से घनिष्ठ रूप मे सम्बन्धित, अनुभूतियाँ हैं। भय तथा क्रोध दोनों मिथ्या अथवा काल्पनिक आधारों पर आश्रित हो सकते हैं। परन्तु बात यह है कि जो कोई भी इन सवेगों का अनुभव करता है वह कतिपय निर्णयों की सत्यता मे विश्वास करता है, आप विश्वास का विनाश कर दें तो सवेग का भी नाश हो जाता है। क्रोधित होने के लिए किसी व्यक्ति को कुछ जानने की आवश्यकता है—किसी बात को क्षति, धमकी, अपमान के रूप मे ग्रहण करना पडेगा। बहुत बुद्धिमान व्यक्ति अथवा बहुत मूर्ख दोनो ही क्रुद्ध नही होते। क्रोध में किसी न किसी प्रकार का बोध निहित रहता है। यही बात अधिक सामान्य अनुभूतियों जैसे उदासी, हास्य, सहानुभूति के लिए भी सत्य है।

हास्य बहुत अधिक सज्ञानात्मक है यह तब तक असभव है जब तक कि ज्ञान शीघ्र ही किसी विन्दु पर केन्द्रीभूत न हो, जैसेकि परिहास के 'आशय को ग्रहण करने" मे होना है। हास्य के अन्तर्गत जगत् के विषय मे व्यक्ति की समग्र दृष्टि आ जाती है, परन्तु हास्य को उत्तेजित करने मे इस दृष्टि को तत्काल एवं निरायास सक्रिय होना पडता है। इसीलिए व्यग्य—दर्शन का निरायास प्रयोग—बहुधा समालोचना का अत्यधिक प्रभावशाली प्रकार होता है, और शैफ्ट्सबरी ने बहुत ठीक ही यह मांग की थी कि सभी अच्छी वस्तुओं के लिए "उपहास की परीक्षा" से गुजरने और फिर भी अक्षत रहने की योग्यता होनी चाहिए। यदि ज्ञान की पद्धति का अमरीका म कोई विशिष्ट दर्शन है, तो वह प्रयोजनवाद नहीं है, अपितु वह यह विश्वास है कि सूक्ष बुद्धि से श्रेष्ठ है, और सूक्ष प्रत्युत्पन्नमति मे घनीभूत हो सकती है। प्रत्युत्पन्नमति किसी बिन्दु पर पहुँचने का सबसे छोटा मार्ग है, और हास्य मुक्ति का उल्लास [आनन्द] है।

किसी दूसरे के साथ अनुभूति होने के रूप में सहानुभूति अन्य मनस् की अवस्था का सच्चा ज्ञान है। ऐसा व्यक्ति जिसमे सहानुभूति नहीं है वह जगत् के कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यो के प्रति अन्धा होता है। यदि बुद्धि "शुष्क" है तो यह केवल इसलिए नहीं है कि उसमे किसी सावेगिक रग का अभाव है, अपितु इसलिए है कि इसमे सत्य का अभाव है। शुष्क अथवा अनुभूति रहित व्यक्ति या तो मूख है अथवा मन्द बुद्धि।

सक्षेप मे, ऐसा प्रतीत होता है कि अनुभूति मे सत्य का कुछ तात्त्विक अंश रहता है, जो यथार्थ से हमारे समायोजन के लिए आवश्यक होता है।

(८७) अब हम तत्वमीमांसीय ज्ञान के सभव स्रोतों पर विचार करना है। ज्ञान के उस आदिम प्रकार की ओर जो अनुभूति म निहित रहता है लौटने की क्या आवश्यकता है जो मनुष्य और पशुओ म समान रूप से पाया जाता है? निस्सन्देह बुद्धि, विश्लेषण एव आविष्कार की क्षमता के रूप मे, प्रगति की सूचक है। समग्र स्थिति के प्रति समग्र प्रतिक्रिया के रूप मे, अनुभूति के अपने लाभ हो सकते हैं जिन्हे इस प्रगति मे भुला नहीं देना चाहिए।

हम जानते हैं कि पशुओं की नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ—उनके विषय मे किसी अन्धविश्वासी आश्चर्य म नही पड़ना है—बहुधा पर्यावरण के बोध मे एक असाधारण तीक्ष्णता प्रदर्शित करती हैं बहुधा उनके प्रत्यक्ष हमारे अपने प्रत्यक्षों से भी तीव्र होते है और हमारे लिए यह पहेली उत्पन्न कर देते हैं कि "उन्होंने कैसे जाना"। बर्गसा की रुचि कीट-पतगो के जगत् [के प्राणियो] की व्यवहार कुशलता के कारण जागी। क्रियेटिव इवोल्यूशन के द्वितीय अध्याय मे सहज प्रवृत्ति एव बुद्धि पर विचार विमर्श देखें जिसमे उसने फ्राब्र, पैकहम तथा अन्य जिन्होने बर्र पर लिखा है से उद्धृत किया है)। अनुमानत पशुओ के कोई सिद्धान्त नही होते, परन्तु अनुभूति परक ज्ञान मे जो सहजप्रवृत्ति का अनुगमन करता है, स्थिति की वास्तविकता के बोध का प्राधान्य होना चाहिए अन्यथा नैसर्गिक जीवन सफल नहीं हो सकेगा।[1]

खाद्यान्न एकत्रित करने, नीड़ का निर्माण करने, तथा स्थान परिवर्तन करने मे प्रत्येक सहज प्रवृत्ति समस्त वातावरण से नही अपितु केवल उसके कुछ अंश से सम्बन्धित होती है। परन्तु समस्त विशिष्ट सहज प्रवृत्तियाँ किसी एक ही समग्र सहज प्रवृत्ति की शाखाएँ हैं—जो किसी पशु का अपने जीवन लक्ष्य की ओर अभिमुख होना है। इस समग्र अथवा मूल सहज प्रवृत्ति को शॉपनहावर के शब्दो मे जिजीविषा [विल टु लिव] कहा जा सकता है जिजीविषा को अपने जीवन को भलिभांति जीने का सकल्प कहना—अपने जीवन काल म अपनी जाति की अवधारणा चरितार्थ करना—अधिक उपयुक्त होगा।* इस सहज प्रवृत्ति के अनुरूप, जीवन के समग्र पर्यावरण की अनुभूति होती है इसे यथार्थ का बोध कहना उपयुक्त होगा।

क्या यह सभव है कि यह अनुभूति जो अनुमानत पशु जगत् मे बहुत अस्पष्ट है तथापि जीवन के लिए प्राणी के प्रयास को बनाए रखने के सम्बन्ध मे पर्याप्त रूप मे सुनिश्चित है मनुष्य म ज्ञान का एक मूल्यवान साधन बन सकती है? क्या यह हो सकता है कि यह "समग्र स्थिति के प्रति समग्र प्रतिक्रिया" आवश्यक रूप से बुद्धि के समग्र प्रयासो मे निहित हो तथा उसे पूर्णता प्रदान करती हो। सहजज्ञानवादी इसी मे विश्वास करते हैं।

□□□

---

* डार्विन की पुस्तक ह्यूमन नेचर [मानव प्रकृति] को ऑन दि यूनिटि ऑव इन्सटिंक्ट [सहज-प्रवृत्ति की एकता पर] के लिए अध्याय ९-११ देखें।

अध्याय १२

सहजज्ञान पर आस्था

(८८) बुद्धि पर आस्था की तुलना में सहजज्ञान पर आस्था तत्त्वमीमासा में अधिक प्राचीन है। आरम्भ के ऋषि मानवजाति के सम्मुख जो घोषणा कर रहे थे उसका सबंध किसी प्रमाण से नहीं था अपितु इस बात से था कि उन्होंने क्या देखा। "द्रष्टा" के रूप में उनके सिद्धान्त आलोचना पर आधारित नहीं थे। कनफ्यूशस साक्षात् करते हैं और अनालोच्य सिद्धान्त के रूप में कहते हैं कि "अच्छा मनुष्य धरती तथा अम्बर के साथ एक त्रयी बनाता है", बुद्ध साक्षात् करते हैं और अनालोच्य सिद्धान्त के रूप में कहते हैं कि 'वैयक्तिकता की लालसा ही दुःख का स्रोत है।" धार्मिक 'रहस्योद्‌घाटन' उसका अनालोच्य कथन है, जिसको द्रष्टा ने देखा है यह उसका 'दिव्य दर्शन' है।

और अ-धार्मिक तत्त्वमीमासीय विचार का आरंभ भी कुछ इसी प्रकार का है 'विचार' करने अथवा ध्यान करने का प्रयास बहुधा कुछ देखने का प्रयास होता है, अर्थात्, साधन को उपयुक्त दशा में लाना चित्त विक्षेप से छुटकारा पाना, मनस् को एकाग्र करना, जिससे दर्शन हो सके। थेलीज़ का प्रसिद्ध सिद्धान्त जिससे यूनानी दर्शन आरंभ होता है, कि "सभी वस्तुएँ किसी एक वस्तु की अभिव्यक्तियाँ हैं, और वे एक वस्तु जल के सदृश्य हैं," अनुमानतः किसी सहजबोध की ही घोषणा रहा होगा न कि थेलीज के ही द्वारा रेखागणित में प्रयुक्त प्रमाणों का परिणाम। यह एक विचारशील व्यक्ति का दिव्य दर्शन था, परन्तु फिर भी यह सहजबोध ही था।

सहजज्ञान का तत्त्वमीमासा का सबसे पुराना स्रोत होने के कारण यह स्वाभाविक था कि दर्शन के अधिकाधिक बुद्धि एवं तर्क का विषय बनने पर, यदि बुद्धि [रीज़न] के प्रति असन्तोष हो तो सहजज्ञान का आश्रय लिया जाए। हम कह चुके हैं संभवतया संशयवाद का काल प्रयोजनवाद की किसी अभिव्यक्ति को जन्म देता है इससे भी अधिक संभावना इस बात की है कि यह सहजज्ञानवाद की ओर ले जाए। और दर्शन के इतिहास में यह बहुधा होता है कि कोई विचारक, जहाँ तक उसका तर्क उसे ले जाता है वहाँ तक जाकर अन्तिम सत्य को प्राप्त करने के लिए सहजज्ञान का आश्रय लेता है। इस प्रकार प्लेटो (सिम्पोज़ियम, २११, दि रिपब्लिक, ५१५, ५३२, ५३५) 'द्वन्द्वन्याय' को ऐसी उत्तरोत्तर बौद्धिक खोज मानता है जो मनस् को यथार्थ के अव्यवहित प्रत्यक्ष की ओर ले जाने के लिए नियत है।

(८९) मध्य युग में, तत्त्वमीमासीय सत्य के मुख्य स्रोत को सामान्यतया श्रद्धा के रूप में परिभाषित किया गया था, और दर्शन को बुद्धि के कार्य के रूप में, प्रायः श्रद्धा का केवल

सहायक आश्रय अथवा 'ईश्वर-विज्ञान की दासी" के रूप मे माना जाता था। यह श्रद्धा-मूलक विश्वास सत्य का अपरोक्ष प्रत्यक्ष था, चाहे यह उसके द्वारा हो जो मूलत किसी प्राप्त श्रुति को प्राप्त करता है अथवा उसके द्वारा जो इसे आत्मसात् कर लेता है, यह [भी] सहजज्ञान का एक प्रकार है।

यह सत्य है—जैसा प्रयोजनवाद ने सकेत किया है—कि श्रद्धा को सद्गुण माना जाता था, और इसलिए इसमें सकल्पेच्छा का कार्य सन्निहित था : सत्य को स्वीकार करने और उसके अनुसार कार्य करने का व्यक्ति को सच्चा सकल्प करना चाहिए, अन्यथा यह उसे प्राप्त नहीं होगा। परन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि यह श्रद्धावान जिसकी खोज करेगा वह कोई निश्चय नहीं है : वह प्रत्यक्ष अथवा अन्तर्दृष्टि होगी "श्रद्धा उन वस्तुओं का तत्व है जिनकी आशा की जाती है, उन वस्तुओं का स्पष्ट होना है जिन्हें (भौतिक चक्षुओं के द्वारा) देखा नही गया है।" इस प्रकार श्रद्धा सहजज्ञान है, और जबकि इसके उद्घाटन कभी भी तर्क के विपरीत नही हो सकते, वो तर्क से परे भले ही हो सकते हैं।

(६०) यदि बुद्धि के प्रति अविश्वास सहजज्ञान के आश्रय मे ले जाता है, तो बुद्धि में अत्यधिक विश्वास उसी स्थिति को विरोध के रूप मे उत्पन्न करेगा।

ज्ञानोदय काल के फ्रान्स मे "बुद्धि [रीजन]" मे जितनी अधिक सामान्य रूप से तथा उत्साहपूर्वक आस्था व्यक्त की गई थी उतनी शायद ही कभी की गई हो। और इसी बुद्धि के युग ने रूसो को जन्म दिया था, जो अनुभूति का प्रचारक था। मानव प्रकृति की, भौतिक रूप में नियन्त्रित प्रत्ययों के अनुक्रम के अर्थ मे की गई प्रचलित यन्त्रवादी व्याख्या से विकर्षित होकर, उसने विचार की उस पद्धति को अस्वीकार कर दिया जिसने बडे गभीर रूप में इस हास्य-चित्र को सही चित्र के रूप मे प्रस्तुत किया। उसका विचार था कि हमारे भीतर वैयक्तिकता की जो अनुभूति है वह अधिक श्रेष्ठ सत्य की ओर ले जाएगी : सहजज्ञान यह दिखाता है कि हमारा मन अनिवार्यता के करघे पर बुना हुआ प्रत्ययों का कोई पट नहीं है अपितु भावना एव सकल्पेच्छा के स्वत स्फूर्त एव एकात्मक कर्ता है।

इसी काल मे जर्मनी मे भी सहजज्ञान का प्रवर्तक याकोबी (एफ० एच० याकोबी १७४३-१८१६) विद्यमान था जिसे कभी-कभी 'श्रद्धा का दार्शनिक' कहा जाता है। वह बुद्धिवादियो मे शुद्धतम स्पिनोज़ा के दर्शन के विरोध मे उत्प्रेरित हुआ, उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि अकेली बुद्धि हमे अनिवार्य रूप से निरीश्वरवाद तथा नियतिवाद की ओर ले जायगी, क्योंकि उसकी प्रकृति ही ऐसी है कि वह केवल सान्त एव आशिक विषयों पर उनमे व्यवस्थित सम्बन्ध स्थापित करते हुए विचार कर सकती है, अपितु वह सत्य की, विशेषतया वस्तुओं की समग्रता के विषय मे सत्य की मौलिक विषय-वस्तु को प्राप्त करने मे समर्थ नहीं हो सकती। वह ईश्वर जिसे सिद्ध किया जा सके वस्तुत: कोई ईश्वर नही होगा : बौद्धिक ज्ञान एक प्रकार का आधिपत्य अथवा अधिकार प्राप्त करना है, और सर्वोच्च सत्ता पर इस प्रकार प्रभुत्व नही जमाया जा सकता। तत्वमीमासीय सत्य को प्रत्ययों के परोक्ष ज्ञान से नहीं अपितु अपरोक्ष प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त किया जाना चाहिए। याकोबी ने इस अपरोक्ष ज्ञान को ग्लाउबे 'श्रद्धामूलक विश्वास' कहा : यह वही है जिसे हम सहजज्ञान कहते हैं। स्पिनोज़ा

की उसने जो आलोचना की, तथा तत्त्वमीमासा मे ज्ञान की सहज बोधात्मक प्रणाली के अनुमोदन के फलस्वरूप वह काव्य के प्रथम क्रिटीक [मीमासा] के अज्ञेयवाद का सामना करने के लिए तैयार था।

(६१) परन्तु जिसे याकोबी ने श्रद्धा के रूप मे समझा था और हमने सहजज्ञान के रूप मे समझा उसे स्वय काट स्वीकार करने के अत्यन्त निकट आ गया था। दूसरी क्रिटीक में उसने प्रयोजनवाद के तत्त्व—नैतिक सकल्पेच्छा की अनिवार्यता मे विश्वास—को पकड लिया था। अपनी तीसरी और अनेको प्रकार से अपनी महानतम क्रिटीक (दि क्रिटीक ऑव जजमैण्ट [निर्णय-मीमासा] १७६०) मे वह इस मत पर पहुँचता है कि विश्वास को अनुभूति की आवश्यकताओ पर आधारित किया जा सकता है।

परन्तु सामान्य की भाँति यहाँ काट एक नया विचार प्रस्तुत करता है। क्योकि वे अनुभूतियाँ जिनके विषय मे वह विचार कर रहा था, हमारी सौन्दर्यपरक अनुभूतियाँ, सुन्दर एव उचित के हमारे बोध हैं। और उसका विचार यह है कि ये अनुभूतियाँ निर्णय (उर्टाइलस्क्राफ्ट) का ही रूप हैं, उनमे कुछ ज्ञान अथवा विवेक सन्निहित होता है, जिसको खोज निकालना उसके अध्ययन का प्रयोजन था। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि प्रकृति मे उपयुक्त तथा मूल्यवान की हमारी अनुभूति, धार्मिक [दार्शनिक] जीवन की उपस्थिति के कारण है, जिसे हम केवल किसी साध्यसूचक सिद्धान्त के फल के रूप मे सोच सकते हैं। (वाटसन, सिलेक्शन्ज़ फ्राम काट [काट से चयन] देखें, पृष्ठ ३०७–३४६)। इसीलिए काट निश्चयपूर्वक कहता है कि जीवित प्रकृति के प्रति हमारी श्रद्धा तथा सम्मान की भावना जीवन की किसी तत्त्वमीमासीय पृष्ठभूमि की अस्पष्ट स्वीकृति है, जिसे हम ईश्वर की सज्ञा दे सकते हैं।

परन्तु काँट इस सहजबोध को स्वच्छन्द छोडने मे सकुचाता है। वह इस सभावना की कल्पना करता है कि कोई उच्चतर प्रकार का मनस 'बौद्धिक प्रत्यक्ष' से युक्त हो जो इस साध्यमूलक निर्णय की पुष्टि के स्थान पर, उसका निराकरण ही कर दे। वह तत्त्वमीमासा मे अनुभूति को केवल इसलिए स्वीकार करता है कि उसे पुन बन्द किया जा सके। परन्तु उसने अनजाने मे ही एक ऐसा सुझाव प्रस्तुत किया जिसे उसके कुछ अनुयायियों ने, विशेषकर शैलिंग तथा शॉपेनहॉवर ने बडी उत्सुकतापूर्वक ग्रहण किया।

शॉपेनहॉवर के दर्शन का समग्र विचार तन्त्र इस विश्वास पर आधारित है कि जबकि वैज्ञानिक बुद्धि हमे वस्तुओ के केवल उस बाह्यरूप को ही प्रस्तुत करती है जिसमे प्रतीतियाँ, भिन्न-भिन्न पक्ष, परस्पर बुद्धिग्राह्य सम्बन्धो मे गुथे हुए हैं, यथार्थ का अपरोक्ष अथवा सहजज्ञान तो हमे स्वय प्राप्त होता है और हम इस यथार्थ को सकल्पेच्छा के रूप मे जानते हैं। इसके अतिरिक्त, उसने यह बताया कि कला, परार्थवाद, तथा तपोमय आत्म-त्याग के शिक्षण से, शायद अन्तत जाति के मनस् को अस्तित्व की निस्सारता के अन्तिम सहजबोध पर लाया जा सके और वैश्वसकल्प मे पुन आत्मसात् किया जा सके। (रैण्ड, माडर्न क्लासिकल फिलोसोफर्स, पृ० ६३६–६४४ और ६७०–७१)

परन्तु यह शैलिंग (१७७५–१८५४) था जिसने कान्ट के इस सुझाव को पूरी तरह समझा और प्रयुक्त किया कि हमारे सौन्दर्यात्मक बोध मे वस्तुओ के अन्तिम सत्य का प्रत्यक्ष

हो सकता है, कि कलाकार की प्रतिभा तत्वमीमांसीय ज्ञान के लिए प्रवेशद्वार है, और कि "कला दर्शन की आन्वीक्षिकी (ऑर्गनन) है"। (रेन्ड, पृ० ५४४-४६)

दुर्भाग्य से इस विषय पर शैलिंग के मतों की उपेक्षा की गई, और शॉपेनहॉवर के निराशावाद ने उसके सहजज्ञान के सिद्धान्त की तुलना में अधिक ध्यान आकृष्ट किया। आगे बढ़ रहे प्रकृतिवाद के प्रभाव में उन्नीसवीं शताब्दी की इस ओर प्रवृत्ति हो रही थी कि वह सहजज्ञान को अनियन्त्रित कल्पना का ही पर्याय मानले। कला से उसका यह संबंध सामान्यतया दर्शन में उत्तरदायित्वहीन साहित्यिक पल्लवग्राहिता (कला-प्रेम) से संबंध माना जाता है। शैलिंग स्वच्छन्दतावादियों में से एक था। हमारे समय में केवल बर्गसां की कृतियों के द्वारा ही सहजबोध की पद्धति को एकबार पुन प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। क्योंकि बर्गसां में हमें गणित के विद्यार्थी की वैज्ञानिक सावधानी के साथ काव्यमयी सूझ की संवेदनशीलता भी मिलती है।



अध्याय १२

बर्गसां

(६३) पेरिस के ईकोल नारमल मे अध्ययन करते समय हेनरी बर्गसा (१८५९-)[1] मे भौतिकी की आधारभूत अवधारणाओ जैसे काल देश, जड़, गति, बल व ऊर्जा का सुनिश्चित ज्ञान प्राप्त करने की महत्वाकाक्षा जागृत हुई। उस लक्ष्य की खोज मे वह एक ऐसे विचार पर पहुँचा जिसने उसके जीवन की धारा को मोड दिया। यह विचार था भौतिक सन्दर्भो मे जिस काल की धारणा को प्रयुक्त किया जाता है वह यथार्थ काल नहीं है, इसके अतिरिक्त यथार्थ काल को मापन तथा मानक निश्चित करने वाली बुद्धि के द्वारा नही जाना जा सकता, अपितु उसे हमारे आन्तरिक जीवन के अनुभव के अपरोक्ष प्रत्यक्ष के द्वारा ही जाना जा सकता है। इस अपरोक्ष प्रत्यक्ष को आगे चलकर उसने सहजबोध कहा।

उसके लिए यह एक बौद्धिक परिवर्तन था क्योंकि इसके द्वारा उसे प्रकृतिवाद से छुटकारा मिला। याकोबी की तरह उसे भी ऐसा लगा कि प्रकृतिवाद तथा नियतिवाद बौद्धिक प्रणाली के परिणाम हैं, परन्तु इस प्रणाली म कुछ कमी है। इस प्रणाली के द्वारा यथार्थ काल को पकड़ा नहीं जा सकता और यथार्थ आत्म भी पहुँच के बाहर रह जाता है, क्योंकि यथार्थ आत्म काल के प्रवाह मे बसता है इसकी अवस्थाएँ कार्य कारणात्मक मे किसी अनुक्रम से आबद्ध नही है, वरन् वे एक दूसरे मे व्याप्त हैं, अपने साथ अपने भूतकाल का इस तरह वहन करती हैं कि प्रत्येक अवस्था समग्र आत्म को सन्निविष्ट करती है। इस प्रकार आत्म का जीवन यान्त्रिक रूप से निर्धारित नहीं होता। इस महत्वपूर्ण परिणाम की घोषणा बर्गसा ने अपनी प्रथम पुस्तक टाइम एण्ड फ्री विल (ले दॉने इमेदियेत द ला कौंसियांस) [समय और स्वतन्त्र सकल्प] मे की। अनेक अन्य विचारको को यह छुटकारा दिलाने मे भी बर्गसा समर्थ हुआ। एक प्रभावशाली टीकाकार ने उसके विषय मे कहा है कि वह पहला व्यक्ति था जिसने प्रकृतिवाद के रक्षा-तन्त्र मे सफल दरार को उत्पन्न कर दिया था। उसका अस्त्र सहजबोध की सामान्यीकृत विधि थी।

(६४) बर्गसा का महत्त्व इस बात मे निहित है कि उसने सहजबोध को दुर्ग्राह्य विधि को एक सुनिश्चित परिभाषा देने और यह बताने का प्रयास किया है कि यह विषयो के विस्तृत क्षेत्र पर प्रयुक्त होता है। उसने सहजबोध के विषय मे अपने मत को सर्वोत्तम ढग से उस लेख (१९०३) मे बतलाया है जिसका अनुवाद 'इन्ट्रोडक्शन टू मैटाफिजिक्स" [तत्वमीमासा का परिचय] के रूप मे किया गया है।

वह इस बात को स्पष्ट कर देता है कि सहजबोध किसी प्रतिज्ञप्ति विशेष के सम्बन्ध मे "निश्चित होना" नही है। यह उस विषय का प्रत्यक्ष है जो वास्तव मे उपस्थित है। यह

'ऐंद्रिय प्रत्यक्ष' का इन्द्रियों से परे के क्षेत्र तक विस्तार है जो अदृश्य है तथा स्पर्श से अगम्य है किन्तु फिर भी वास्तविक है उसका इसे केवल प्रत्यक्ष भी कहा जा सकता है। जैसे काल का इंद्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होता, फिर भी बर्गसा के अनुसार काल का सहजबोध [अथवा अन्तर्दृष्टि] से प्रत्यक्ष किया जा सकता है।

तो, सहजबोध किन विषयों को प्रत्यक्ष कर सकता है? गति तथा परिवर्तन के सभी प्रकारों का, क्योंकि काल उनकी संरचना में प्रवेश करता है। आत्म का। आत्म से परे की जीवित सत्ताएँ, पशु, अन्य व्यक्ति,—जो कुछ भी 'अनुसवेदी बुद्धि (सिम्पैथेटिक इन्टैलिजेन्स)" का विषय हो। इसके अतिरिक्त जीवन के उन क्षणों का जिनमें जीवन होता है, और जो जीवन से निःसृत होती हैं, पुस्तकें, नाटय के पात्र, दक्षता के कार्य। सम्भवतः दुर्लभ एवं चरम उपलब्धि के रूप में, जगत् की एकता में उसके जीवन की केन्द्रित गति का—क्योंकि बर्गसा का विश्वास है कि एक ऐसी वस्तु है, जो सक्रिय प्रेरक शक्ति है अथवा जीवनी शक्ति है।

क्या हम इन विषयों की कोई सामान्य परिभाषा दे सकते हैं? ये ऐसे विषय होने चाहिए जिनका एक 'अन्तर' है और एक 'बाह्य' है, क्योंकि सहजबोध उनका आन्तरिक रूप में प्रत्यक्ष करता है, जबकि बुद्धि उन पर बाह्य रूप से निर्णय लेती है। ये ऐसे विषय होंगे जिनका एक जटिल पक्ष होगा और एक सरल पक्ष क्योंकि बुद्धि उनका विश्लेषण करती है, जबकि सहजबोध उनको सरलता से तथा एक इकाई के रूप में ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार वे सब ऐसे विषय हैं जिनकी कोई सावयवी विशेषता है, जो विविधता को एकता में बांध देती है, और प्रतिवर्तित रूप में ऐसी सभी वस्तुओं को सहजबोध से जाना जा सकता है।

(६५) परन्तु बुद्धि के वे कौनसे दोष हैं जो इन विषयों के सही ज्ञान प्राप्त करने में इसे रोकते हैं? उन पर समय समय पर ध्यान दिया गया है हमें इन्हें एकत्रित करना चाहिए।

(१) बौद्धिक ज्ञान बाह्य होता है।

बुद्धि किसी विषय पर बाह्य रूप से अर्थात् अन्य विषयों के माध्यम से, पहुँचती है, और फिर इस विषय को इन अन्य विषयों के समान अथवा उनसे भिन्न मानती है। मैं पहली बार खजूर देखता हूँ मैं इस में निश्चित नहीं हूँ कि यह वृक्ष है या सब्जी है, दोनों ही स्थितियों में मैं इस पर अन्य विषयों के माध्यम से सोचने का प्रयास कर रहा हूँ जिनसे मैं परिचित हूँ। अन्ततः अन्य वृक्षों से इसकी सादृश्यता से इसको जान लेने पर, [और] इसे वृक्ष प्रत्यय के अन्तर्गत ले आने पर, मैं इसे वर्गीकृत कर लूँगा। यह प्रत्यय बौद्धिक ज्ञान की विशिष्ट उपलब्धि है। परन्तु स्पष्टतः वृक्ष के जीवन के विषय में बिना किसी गहरे अर्थ में जाने बिना सादृश्य को देखा जा सकता है, और [इस तरह] प्रत्ययों की रचना की जा सकती है।

(२) बौद्धिक ज्ञान सापेक्ष होता है।

किसी वस्तु को, किसी अन्य वस्तु से उसकी सादृश्यता के आधार पर जानना उसे उस अन्य वस्तु से सम्बन्धित रूप में जानना है। इसे उस रुचि के सन्दर्भ में भी जानना है जिसने

मुझे उस सादृश्यता को देखने की ओर उन्मुख किया था। मेरी पत्तियों में रुचि है, और इसलिए मैं यह निरीक्षण करता हूँ कि खजूर के वृक्ष म अन्य वृक्षों के समान पत्तियाँ हैं। परन्तु यदि मैं लकडी काटने वाला अथवा काठ-कबाड का व्यापारी हूँ तो यह अधिक सम्भव है कि मैं खजूर को सब्जियो की कोटि म रखूँ क्योंकि इससे मुझे लकडी बिल्कुल भी नहीं मिल सकती। इस प्रकार प्र येक प्रत्यय अथवा वर्ग किसी 'दृष्टिकोण', किसी विशिष्ट रुचि का परिचायक होता है। पुस्तक के विषय म, किसी प्रकाशक की इस धारणा की भाँति, कि वह बहुत या कम बिकती है, अपितु पुस्तक को किसी निश्चित रुचि के सन्दर्भ मे ही जाना जाता है, जैसी वह है, उस रूप मे नही। अत यह ज्ञान सापेक्ष है निरपेक्ष नही।

(जब, रुचि व्यावहारिक होती है, जैसा कि इस स्थिति मे है, तो जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे प्रयोजनवादी कहा जा सकता है। प्रकाशक के लिए पुस्तक वह है जो उसे उसके द्वारा प्राप्त होता है, और उसकी अवधारणा तभी सत्य है जब वह कार्यसाधक हो। बर्गसां के लिए, समग्र भौतिक विज्ञान का एक व्यावहारिक प्रयोजन है जगत् पर इस प्रश्न के रूप मे ध्यान दिया जाता है कि मैं इसम कैसे व्यवहार कर सकता हूँ, वस्तुओं की सरचना और उन पर नियन्त्रण कैसे कर सकता हूँ। अत भौतिक विज्ञान के प्रत्यय प्रयोजनवादी है। इससे इस बात की व्याख्या हो जाती है कि बर्गसां को कभी कभी प्रयोजनवादियों में क्यो गिन लिया जाता है, परन्तु यह स्पष्ट है कि यह उसके दर्शन का विशिष्ट (लाक्षणिक) पक्ष नही है।

(३) बौद्धिक ज्ञान अमूर्त एव आंशिक होता है। कोई भी दृष्टिकोण अनिश्चित सख्या वाले सम्भव दृष्टिकोणो मे से एक होता है, और वह सत्य जिसे इनमे से किसी से भी प्राप्त किया जाता है समग्र सत्य का एक अंश होता है।

चैरी की कल्पना फल के रूप मे मैं वनस्पति विज्ञान की अथवा रसोइये की दृष्टि से कर सकता हूँ। चित्रकार की दृष्टि से यह किसी स्थिर विषय का चित्र अथवा सजाने की वस्तु हो सकती है। किसी छोटे बालक के लिए, यह फेंकने वाली चीजों अथवा रगो म से कुछ हो सकती है। इन सबके साथ यह कुछ और भी है। इन अवधारणाओं मे से कोई भी एक चैरी का अपूर्ण ज्ञान प्रदान करती है, और इसके दूषित परिणाम हो सकते हैं।

एक दूसरे अर्थ मे, वस्तु की रूपरेखा बनाना ही अमूर्तीकरण है क्योंकि सजीव चैरी को चैरी वृक्ष के जीवन के एक अश के रूप मे ही समझा जा सकता है। और ज्यो ही हम इसकी धारणा बनाते हैं त्योही यह उस पर्यावरण से कट जाती है जिसमे ही इसका स्वरूप बना रहता है।

(४) बौद्धिक ज्ञान अपने विषयो को स्थायी और इसीलिए मृत के रूप मे प्रदर्शित करता है।

अवधारणा के लिए यह अनिवार्य है कि वह सदैव एक सी रहे। कोई अर्थ अपने अर्थ को बिना कोई अन्य अर्थ बने बदल नही सकता, अर्थात्, इसमे परिवर्तन नही हो सकता। वृक्षो मे परिवर्तन हो सकता है, परन्तु वृक्ष का प्रत्यय स्थायी है। अत प्रत्यय परिवर्तनशील वस्तु के साथ न्याय नहीं कर सकता। गति को समझने के लिए, यह स्थिति [रैस्ट] को

अवस्थाओं को जोड़ने का प्रयास करता है। जीवन को समझने के लिए, यह निश्चित इकाइयों एवं नियमों को पकड़ने का प्रयास करता है। इसका असफल होना निश्चित है। "तू ले काद्र आर्के' [कि इवो, पृ ११][२]।

(१५) संक्षेप मे, बुद्धि विश्लेषण करती है, और यह [घटकों को] पुन एक रूप नहीं दे सकती। यह अगों का अग विच्छेद तो कर सकती है, परन्तु यह अगों से जीवित समग्र को पुन प्राप्त नहीं कर सकती।

(१६) इन सभी अवस्थाओं मे, सहजबोध बुद्धि का ठीक ठीक प्रतिरूप है। अत जहाँ बुद्धि असफल हो जाती है वहाँ यह सफल हो जाता है। विशेष रूप से, यह उन कठिनाईयों का विशिष्ट उत्तर है जो 'ज्ञान की सापेक्षता" से उत्पन्न होती है, क्योंकि यह दृष्टिकोणों, तुलनाओं, विशिष्ट रुचियों, का त्याग कर देता है, और विषय से उसकी स्वय की सत्ता मे अव्यवहित सम्बन्ध स्थापित करता है। अत इसके ज्ञान को अव्यवहित तथा निरपेक्ष कहा जा सकता है।

सहजबोध से अनुभववादी तथा बुद्धिवादी के बीच के झगड़े के सुलझने की भी अपेक्षा होती है। क्योंकि यह दोनों ही बौद्धिक विधि का प्रयोग करते हैं। अनुभववादी किसी जीवित वस्तु का अध्ययन करने पर, मानलो आत्म पर, वह रिपोर्ट करता है कि यह अनेक 'अवस्थाओं' से बनी हुई है वह सोचता है कि वह शुद्ध निरीक्षण का वर्णन कर रहा है परन्तु वस्तुत वह अपनी विश्लेषणात्मक बुद्धि का शिकार हो जाता है। बुद्धिवादी आत्म की एकता पर बल देता है किन्तु बुद्धि के प्रत्यय के रूप मे एकता केवल एक अमूर्त सात्विक गुण है जो आत्म तथा खम्भे अथवा पत्थर मे समान है। दोनों ही सापेक्ष सत्य हैं, और दोनो ही आत्म के सच्चे ज्ञान में तभी सहयोग दे सकते है जबकि वे सहजबोध की धारणा से लें क्योंकि केवल वही इन समानताओं की गहराई मे उतरकर जीवित व्यक्ति मे जो विलक्षण है उस तक पहुँचने मे सक्षम है।

अभी तक बर्गसा के सहजबोधवादी सिद्धान्त का वर्णन किया गया अब हम इसकी परीक्षा करती है।

■■■

अध्याय 14

सहजबोधवाद की परीक्षा

(६७) सहजबोधवाद हमारे सम्मुख जिस प्रश्न को प्रस्तुत करता है वह स्पष्ट है क्या मनुष्यों को किसी विषय का इन्द्रिय प्रत्यक्ष के अतिरिक्त कोई अन्य अपरोक्ष प्रत्यक्ष हो सकता है, यदि हां तो किस सीमा तक ? अब हम सहजबोधवाद के दावे पर दो सन्दर्भों म विचार करेंगे आत्म के ज्ञान के सन्दर्भ मे तथा नैरन्तर्य के ज्ञान के सन्दर्भ में।

कदाचित् आत्मज्ञान सहजबोध के लिए सबसे अधिक उपयुक्त उदाहरण है। क्योकि हम, निश्चित रूप से, अपने आत्म को शारीरिक इन्द्रियो द्वारा नही देख सकते। दकात के लिए ज्ञानों मे सर्वाधिक निश्चित ज्ञान यह है कि मेरा अस्तित्व है" क्योकि यदि मैं अपने अस्तित्व पर सदेह करने का प्रयास करता हूँ, तो मुझे यह ज्ञान होना चाहिए कि मैं सदेह करता हूँ, और सदेह करने के लिए, मेरा अस्तित्व अवश्य होना चाहिए। मुझे अन्य विषयों का ज्ञान होता है तो मुझे अपना ज्ञान भी होता है। यदि मैं देखता हूँ कि 'घडी टिक टिक कर रही है" तो मेरे अनुभव का अधिक पूर्ण कथन यह होगा कि 'मैं घडी को टिक टिक करते सुनता हूँ' मुझे घडी का ही बोध नही है अपितु मुझे यह बोध भी है कि मैं सुन रहा हूँ, और मुझे अपने विषय मे यह चेतना है कि मैं वह हूँ जो सुनता है।

परन्तु ठीक यही अपरोक्ष आत्मज्ञान व्यापक एव तीक्ष्ण जिज्ञासा का विषय रहा है। ह्यूम जिसने 'आत्म' की खोज की, इसे प्राप्त नही कर सका, अपितु उसके स्थान पर उसे सस्कारो [इम्प्रेशन्स] की धारा ही प्राप्त हुई इस सीमा तक काट ह्यूम के वर्णन को स्वीकार करता है जब वह यह मानता है कि विषयी के रूप मे आत्म कभी भी उसका विषय नही हो सकता। यदि मैं कहूँ, 'मैं स्वय को प्रत्यक्ष करता हूँ, तो मैं निरीक्षणकर्ता और प्रत्यक्ष विषय दोनो एक साथ होने का दावा करता हूँ परन्तु आत्म को हमेशा प्रत्यक्षकर्ता होना चाहिए, और जिसका प्रत्यक्ष किया जाता है वह कुछ और होना चाहिए। काट का विचार है, कि आत्म, एक ही व्यक्ति के विभिन्न अनुभवो का तार्किक रूप से अनिवार्य निर्देश है क्योकि उन अनुभवो मे वह हमेशा यह वाक्याश जोड सकता है 'मैं विचार करता हूँ', "मैं सुनता हूँ", 'मैं देखता हूँ', और इन विभिन्न वाक्यो मे उद्देश्य पद एक ही अहम् को ओर सकेत करते हैं। परन्तु जब अहम् इस प्रकार, अहम् के अस्तित्व का अनुमान करता है (और यहाँ ह्यूम ने गलती की थी), अहम् कभी अहम् की दृष्टि म नहीं आता। ह्यूम की कठिनाई ऐसी ही थी, जैसी किसी आलोचक ने टिप्पणी की है, जैसी उस व्यक्ति की जो जब अपने घर से बाहर आता है, और खिडकी की ओर देखकर यह रिपोर्ट करता है कि वह स्वय को घर पर नही पाता। आत्म के स्वभाव मे स्वय को देखना निहित नही है।

इन संदेहों को हमारे अपने काल[1] के अनेक विचारकों ने सविस्तार प्रतिपादित किया है, उनमें चार्ल्स पर्स तथा जोशिया रॉयस हैं (दि वर्ल्ड एण्ड द इन्डीविजूअल [जगत् तथा व्यक्ति], दूसरा भाग पृ० २५३ और उसके आगे, दि प्रॉब्लम ऑव क्रिश्चियनिटि, दूसरा भाग, पृ० ६१ और उसके आगे, १३८ और उसके आगे)। रॉयस इस स्थिति को मौलिक रूप में रखता है "मैं स्वयं को कभी भी नहीं देख सकता" दि वर्ल्ड एण्ड द इन्डीविजूअल, दूसरा भाग, पृ० २६५), "साधारण दृष्टि जब आत्म का आश्रय लेती है तो यह बिल्कुल भी नहीं जानती कि यह किसे सम्बोधन कर रही है।" रॉयस अपने निर्णय का आधार अनुभवों की उन उलझनों को मानता है जो स्वयं के विषय में विचार करने में उत्पन्न होती हैं, यथा हमारे आत्म की सीमाओं को जानने में,—जहाँ आत्म का क्षेत्र समाप्त होता है और अनात्म का आरम्भ होता है, यह जानने में कि हम किस प्रकार के हैं,—क्योंकि बहुधा हमारे मित्र हमें हमसे भी अधिक अच्छी तरह से जानते हैं, और हम अपने आत्म का आकलन बहुत हद तक अपने बारे में उनके मतों पर विचार करके करते हैं, तथा बाह्य अवस्थाओं जैसे—स्थितियों एवं कर्त्तव्यों से अलग अपनी एकात्मकता को जानने में। रॉयस की मान्यता है कि जिस प्रकार अन्य व्यक्तियों द्वारा प्रदत्त प्रतीकों की व्याख्या के आधार पर हम उनका ज्ञान करते हैं, उसी प्रकार हम अपने विषय में उन हजारों प्रतीकों की व्याख्या के आधार पर ज्ञान प्राप्त करते हैं जो हमारे सम्मुख, मुख्यतः सामाजिक अनुभव द्वारा प्रकट होते हैं, और वे यह प्रदर्शित करते हैं कि हम किस प्रकार के व्यक्ति हैं।

(१८) बिल्कुल ठीक-ठीक आत्म निर्णय कठिन है, और बहुत कम लोग इसे प्राप्त करते हैं। परन्तु किसी विषय के अस्तित्व के बारे में बिना उसके गुणों एवं सीमाओं का सुनिश्चित वर्णन करने में समर्थ हुए पूर्णतः निश्चित होना और उसके बारे में अवगत होना सम्भव है। अपने सम्बन्ध में जिन अनिश्चितताओं से हम पीड़ित हैं वे अधिकांश में इस प्रकार के संदेह हैं कि अन्यों के संदर्भ में हमारा वर्गीकरण एवं मापन कैसे किया जाय हमें चतुर समझा जाता है या मूर्ख, उद्यमी समझा जाता है या आलसी, विश्वसनीय समझा जाता है या बहानेबाज ?—ये तुलना के, अवधारणाओं के, प्रश्न हैं, जो बुद्धि का काम है सहजबोध का नहीं। इस तथ्य के आधार पर कि बुद्धि कठिनाइयों में पड़ जाती है, हमें अपने अस्तित्व के अव्यवहित बोध में अविश्वास नहीं करना चाहिए।

वे लोग जो आत्म ज्ञान में सन्देह करते हैं अप्रत्यक्ष रूप से इसकी पुष्टि करते हैं। किसी भी व्यक्ति को जो इस बात पर बल देता है कि ज्ञाता, ज्ञेय विषय से भिन्न होता है, इन दोनों के विषय में ज्ञान होना चाहिए जिससे कि वह इस भेद के बारे में निश्चित हो सके, और इसीलिए उसे ज्ञाता का ज्ञान होना चाहिए। ऐसे किसी भी व्यक्ति के पास जो यह कहता है कि हम स्वयं अपने गुण के विषय में निर्णय करते हुए गलत हो सकते हैं, गलती को जाँचने का कोई मापदण्ड भी होना चाहिए। [यदि कोई व्यक्ति यह स्वीकार नहीं करता तो] वह एक ऐसे व्यक्ति के समान है जो कहता है कि अनुवाद त्रुटिपूर्ण है, परन्तु साथ ही यह भी कहता है कि मूल को कोई नहीं जानता [और इस प्रकार] वह स्वयं अपने कथन का खण्डन कर देता है। कोई भी व्यक्ति जो यह स्वीकार करता है कि आत्म दैनन्दिन तथा

भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की सगत मे एक ही नहीं रहता है, वह वस्तुत यह स्वीकार करता है कि यह *विकसित होता है तथा परिवर्तित होता है*, और इस प्रकार वह यह स्वीकार करता है कि वह इसे उसी आत्म के रूप मे पहचान सकता है।*

हमारी मान्यता है कि जहाँ तक आत्म का सम्बन्ध है सहजबोधवादी सही है . हमे अपने अहम् का अपरोक्ष ज्ञान होता है—उस चमत्कार के होते हुए भी जिसके द्वारा ज्ञाता तथा ज्ञेय एक ही होते हैं—और यह वह मूल ज्ञान है जिसके द्वारा सभी मिथ्या निर्णय सही किए जाने चाहिएँ। अपनी रुचियों एव अरुचियों, सुखों तथा दु खों पर अन्तिम प्रभुसत्ता स्वय व्यक्ति की ही होती है।

(६६) *हम सहजबोधवादियों के विध्यात्मक सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं,—सहजबोध का* अस्तित्व है . यह हमे निश्चित अनिवार्य ज्ञान देता है (आत्म ज्ञान के अतिरिक्त यह हम क्या देता है इसका हम अभी भी पता लगाना है)। परन्तु उसके इस निषेधात्मक सिद्धान्त कि बुद्धि इन वस्तुओ को नहीं जान सकती, की क्या स्थिति है? इस स्थिति की परीक्षा के लिए हमे निरन्तर परिवर्तन की स्थिति को लेना चाहिए।

बर्गसा यह मानता है कि परिवर्तन, स्वय काल के समान, बुद्धि द्वारा विच्छिन्न भागो मे तोड दिया जाता है और यह कि बुद्धि पुन उसकी मौलिक समग्रता को उत्पन्न नहीं कर *सकती, यह मौलिक समग्रता केवल सहजबोध से ही प्राप्त होती है। उसका प्रत्यायित उदाहरण* गति तथा चलचित्र कैमरे का है। मेरा विचार है कि हम इसे सर्वोत्तम ढग से इस अन्वीक्षा के द्वारा समझ सकते हैं कि सामान्य रूप मे हम अविच्छिन्नता को कैसे जानते हैं, यह अविच्छिन्नता जिसका उदाहरण एक अविच्छिन्न सीधी रेखा है अथवा देश मे अखण्ड प्रसार अथवा अजस्र गति।

जब हम यह कहने का भार अपने ऊपर लेते हैं कि किसी अ–ब रेखा को अविच्छिन्न कहने का क्या अर्थ है, तो हमे नकारात्मक भाषा मे ही बोलना होता है अर्थात् इसमे कोई रिक्त स्थान नहीं है। सकारात्मक रूप मे इसका वर्णन करने के लिए, हम एक ऐसे बिन्दु की कल्पना कर सकते हैं जो अ से ब की ओर बढ रहा है और तब यदि हम पूछे कि हमारा यह कहने का क्या तात्पर्य है कि इसकी गति अजस्र है, तो हम उस रेखा की ओर पुन ध्यान देते हैं और कहते है कि यह बिन्दु अपनी यात्रा मे उस रेखा के समस्त बिन्दुओ को आच्छादित करता है। बुद्धि के लिए, इस रेखा की अविच्छिन्नता इसके बिन्दुओ के द्वारा *परिभाषित की जाती है, जो सख्या मे अनन्त है,* और प्रश्न यह है कि *हम इन बिन्दुओं की* स्थिति का इस प्रकार वर्णन कैसे करेंगे, कि इस रेखा मे उनमे से प्रत्येक की लम्बाई शून्य है, फिर भी वे सब मिलकर उस समग्र रेखा की रचना करते हैं।

मानलो कि हम उस रेखा को इस तरीके से भरते हैं अ व के बीच एक बिन्दु स को रखते हैं, और फिर उन दोनो नये युग्मो के बीच पुन एक नये बिन्दु को रखते हैं और इस नियम के अनुसार कि बिन्दुओं के प्रत्येक युग्म के मध्य मे एक और बिन्दु होगा, ऐसा करते हो रहते हैं। स्पष्टत यह अनिश्चित सख्या के बिन्दुओ को परिभाषित करेगा, और वह रेखा पूर्ण प्रतीत हो सकती है। परन्तु ऐसा नहीं है।

* बैनैट, सी ए 'बर्गसां'ज डाक्ट्रिन ऑव इन्टयूशन' [बर्गसा का सहजबोध का सिद्धान्त], फ़िलासॉ— —व्यू, जनवरी, १९१६।

इस बात को दिखाने के लिए, एक दूसरी रेखा अ'—ब' ले जिसकी लम्बाई अ ब पर बने वर्ग के विकर्ण की जितनी है, और प्रत्येक बिन्दु के लिए जो अ और ब के बीच मे स्थित है, अ' ब' पर भी उसी आनुपातिक स्थिति मे एक बिन्दु स्थित कर दिया है। तो अ' ब' पर अनन्त बिन्दु हो जायेगे। अब यदि अ ब को अ' ब' पर आरोपित कर दिया जाय, अ को अ' पर, तो अ ब पर कोई भी अन्य बिन्दु अ' ब' पर के किसी बिन्दु को नहीं छुएगा। अर्थात् हमे बिन्दुओ का अपरिमित परिमाण प्राप्त हो गया है जिनका अ ब मे समावेश नही किया गया है और अ ब मे पहले से ही अपरिमेय बिन्दु हैं। और हमे अन्य रेखाओ के अन्य अपरिमित परिमाण मिल जायेंगे जिनका यदि मौलिक रेखा से अनुपात देखा जाय तो कोई अग होगा।

अत हमे बिन्दुओ की शृ खला की परिभाषा के किन्ही अन्य तरीको की परीक्षा करके देखनी चाहिए। गणितज्ञो ने यह प्रयास किया है, डेडेकिन्ट तथा कैन्टर ने बिन्दुओ की शृ खला को परिभाषित करने के ऐसे तरीके ज्ञात कर लिए थे कि रेखा मे कोई रिक्त स्थान न रहे, और उसे किन्हीं दो बिन्दुओ के बीच काटने की कोई सम्भावना न रहे। हमे इन परिभाषाओ का अधिक वर्णन करने की कोई आवश्यकता नही है। (बरट्रेण्ड रसल ने इन्ट्रोडक्शन टू मैथेमैटिकल फिलोसोफि, के दसवें अध्याय मे इस विषय की संक्षिप्त रूपरेखा दी है)। परन्तु हमे यह प्रश्न उठाना पड़ेगा, कि गणितज्ञ यह कैसे जानता है कि वह सफल हुआ है ? यह केवल इसलिए सम्भव है क्योकि वह यह जानता है कि उसका अविच्छिन्नता से क्या तात्पर्य है, अर्थात्, 'रेखा पर स्थित सभी बिन्दु''। उसके पास नैरन्तर्य की अवधारणा होनी चाहिए, ठीक उसी तरह जैसे उसके पास बिन्दु की अवधारणा होती है यह भी सभव है कि अविच्छिन्नता की अवधारणा दोनो अवधारणाओ मे से अधिक सरल हो।

इसी तरह, यदि हम अविच्छिन्न अजस्र गति के विश्लेषण का प्रयास करें और हमे यह पता चले कि स्थिति की अवस्थाओ की अपरिमित शृ खला हमारे आशय से सगति नहीं रखती, तो ऐसा इसलिए सम्भव है कि हमे मानक के रूप मे अजस्र गति की अवधारणा पहले ही प्राप्त है।

(१००) हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि परिवर्तन के ज्ञान से बुद्धि को निष्कासित नहीं किया जा सकता। क्रिया एव क्रिया-विशेषण उसी अधिकार से 'अवधारणाएं' हैं जिससे कि सज्ञा एव विशेषण हैं। 'दौड़ना' एक प्रकार की गति की अवधारणा है, 'पिघलना' एक प्रकार के परिवर्तन की : ये अनेको उदाहरणों एव विविधताओं सहित वाले सामान्य प्रत्यय हैं।

यह अवधारणा इस अर्थ मे अपरिवर्तनीय है कि दौड़ने का अर्थ हमेशा दौड़ना ही होगा, चलना, रेंगना, उड़ना.... .. नही, परन्तु फिर भी यह परिवर्तन का ही प्रत्यय है, और अवधारणा का स्थायित्व हमारे परिवर्तन के प्रत्ययों को 'स्थिर' अथवा जीवित तथ्य के लिए अपर्याप्त नहीं बनाता।

(१०१) सहजबोधवादी का किसी ऐसे क्षेत्र को निर्धारित करने का प्रयास भ्रान्त है जिसमें बुद्धि का प्रवेश सम्भव नही है। क्योंकि उस क्षेत्र के निर्धारण में, वह उसकी एक अवधारणा बना लेता है, और इस प्रकार उसमे पहले ही बुद्धि का प्रवेश हो जाता है।

अन्तत बुद्धि मनस् का कोई पृथक् अग नही है। सहजबोध एव बुद्धि दोनो क्रियारत मनस् ही हैं सहजबोध विषयो की उपस्थिति का भान कराता है, बुद्धि यह निर्धारित करती है कि वे क्या है। वे अपृथक्य हैं। वे एक कार्यकारी युगल का निर्माण करते हैं।

उनमें इस रूप मे भेद किया जा सकता है कि उनमे से एक पूर्ण का प्रत्यक्ष है तो दूसरा अंशों का प्रत्यक्ष। एक स्वय विषय का प्रत्यक्ष तो दूसरा उसके सम्बन्धों का प्रत्यक्ष, एक विषय में जो विलक्षणता है उसका प्रत्यक्ष, तो दूसरा उन गुणो का प्रत्यक्ष जो इसमें तथा अन्यों में समान हों। और क्योंकि अशों पर ध्यान देते समय यह सम्भव है कि हम पूर्ण को भूल जायें, अत यह आवश्यक है कि, समय समय पर, अपने सहजबोध की ओर लौटें।

परन्तु यदि सामान्य रूप मे कहा जाय तो हम जब अशो पर ध्यान देते हैं तो पूर्ण को नही भूलते, और इसलिए यह आवश्यक नही है कि विश्लेषण ऐसे मृत विषयो को प्रस्तुत करता है जिन्हे पुन जीवन नही दिया जा सकता। जगत् का वैज्ञानिक ज्ञान काव्य के विकास का विरोधी नहीं है, और न ही शरीर रचना विज्ञान का ज्ञान चित्रकार की जीवित देह की सहजबोधात्मक अनुशसा से ध्यान हटाता है। विज्ञान तथा विश्लेषण के फलस्वरूप कलाकार की स्थिति श्रेष्ठतर होती है न कि अधिक दरिद्र। प्रत्येक व्यक्ति मे, जीवन की कला, सहजबोध तथा बुद्धि दोनो को साथ साथ रखने मे है।

□□□

अध्याय १६

सहजबोधवाद की समीक्षा

(१०२) सहजबोधवाद की महान् उपलब्धि यह है कि यह उस जगत् की जिसमे हम रहते हैं, यथार्थ प्रकृति को जानने की हमारी योग्यता मे हमारे आत्मविश्वास को पुन स्थापित करता है। अज्ञेयवाद के प्रति यह एक उत्तर है।

अज्ञेयवाद तथा प्रयोजनवाद इस मान्यता मे सहमत हैं कि प्रतीतियों के पीछे कोई अज्ञेय और अगम्य सद् है। सहजबोधवाद मानता है कि यदि किसी अर्थ मे प्रतीतियों के 'पीछे' सद् हो जैसे यह कहा जा सकता है कि जीवन की अभिव्यक्तियो के पीछे है, तो भी 'ज्ञान की सापेक्षता' के कारण तत्वत कुछ भी हमसे छुपा नहीं रहता हम 'अनुसवेदी' बुद्धि' अथवा सहजबोध द्वारा यथार्थ का वास्तविक अपरोक्ष प्रत्यक्ष प्राप्त कर सकते हैं।

(१०३) स्पष्टत यह एक बहुत बडा दावा है,—ह्यूम, कांट, स्पेन्सर तथा उन जैसे विचारको ने ज्ञान के विषय में सावधानी पूर्वक जो सीमाएँ बनाई हैं उनसे दूर चले जाना है। तो, क्या सहजबोध किन्हीं तत्वमीमांसीय निष्कर्षों पर पहुँचता है ? क्या यह सद् के स्वरूप के विषय मे कोई निरूपण कर सकता है ?

निस्सन्देह, प्रत्यक्ष, एक वैयक्तिक विषय है। और भिन्न भिन्न व्यक्ति जगत् के विषय में पृथक् वस्तुओ का प्रत्यक्ष करते हैं। विभिन्न मनसों के सहजबोधों म अभिन्नता हो यह आवश्यक नहीं है। अत हम यह नहीं कह सकते कि जानने की विधि के रूप में सहजबोध मे कोई विशिष्ट तत्वमीमांसीय सिद्धान्त निहित है जिस प्रकार हम यह नहीं कह सकते कि प्रयोजनवाद मे ऐसा कोई विशिष्ट सिद्धान्त सन्निहित है।

कतिपय सहजबोधवादियों ने और विशेष रूप से बर्गसा ने, अपने परिणामों का लगभग पूर्ण सप्रयात्मक वर्णन दे दिया है। अन्य व्यक्तियो के सहजबोध को किस रूप मे समझा जाय, यह इन निष्कर्षों के सादृश्य पर समझा जा सकता है।

(१०४) सर्वप्रथम, जीवन की प्रकृति के विषय में बर्गसा का विशेष मत है।

१ जीवन की प्रकृति 'एनड्योर' करने ['जीते रहने'], अर्थात् अपने अतीत को साथ लेकर चलने, स्मरण मे है। (यह 'जीते रहने' शब्द का एक विशिष्ट प्रयोग है क्योंकि यह चट्टानो एव परमाणुओं पर प्रयुक्त नहीं होगा। यद्यपि साधारणतया हम इन्हें उन वस्तुओ म मानते हैं, जिनका अस्तित्व बराबर बना रहता है। क्योंकि ये अपने साथ अपने अतीत को लेकर नहीं चलतीं। इस प्रकार जीवन समय के साथ, बर्फ की गेंद की भांति सचित होता चलता है, और तदनुसार यह प्रत्येक उत्तरवर्ती क्षण मे एक भिन्न आत्म से जुड़ता जाता है।

इस कारण से (किसी जीवित सत्ता के लिए) 'उसी वस्तु' की कोई पुनरावृत्ति नहीं हो सकती : घटना की द्वितीय प्रतीति में पहली की स्मृति उपस्थित रहती है और इसलिए वह उससे कुछ भिन्न होती है। द्वितीय अनुभव अधिक अच्छा हो सकता है (जैसे जब हम संगीत के किसी टुकड़े को दूसरी बार सुनते हैं) अथवा बुरा (जैसे जब नाटक की पुनरावृत्ति में, कथावस्तु जानी हुई होती है तो वह अनिश्चय की उत्सुकता के तत्त्व को खो देता है) : कुछ भी हो यह एक नवीन बात होती है। जीवन इसके समस्त रूपों को नवीनता प्रदान करता है। इतिहास के नियम ही ज्ञात हो जाने पर सत्य नहीं रहते। और नवीन अर्थ एक नयी प्रतिक्रिया तथा नये वशीकरण को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार जीवन स्वरूपतः सृजनात्मक है : और स्वयं विकास को एक परीक्षणात्मक जीवन्त प्रवृत्ति का परिणाम माना जा सकता है। (क्रियेटिव इवोल्यूशन [सर्जनात्मक विकास], पहला अध्याय)।

(१०५) उपर्युक्त बात में दूसरे परिणाम के रूप में यह अन्तर्निहित है कि जीवन मुक्त है, यान्त्रिक रूप से निर्धारित नहीं। सङ्कल्पेच्छा स्वतन्त्र है। ठीक इसी प्रकार, प्रत्येक वस्तु जिसमें जीवन है इस अर्थ में स्वतन्त्र है कि वह जो कुछ भी क्षण-क्षण में करती है वह उसके अन्तर से स्वतः स्फूर्त एवं नूतन क्रिया द्वारा निर्धारित होता है न कि किसी बाह्य स्रोत यथा भौतिक नियमों में अभिव्यक्त अनिवार्यता के द्वारा।

किसी यान्त्रिक नियम को केवल दोहरायी जाने योग्य घटनाओं पर ही प्रयुक्त किया जा सकता है : जब कारण घटित होता है, तो कार्य निष्पन्न होता है,—जब तापक्रम गिर जाता है, पानी जम जाता है, आदि आदि। तब किसी स्थिति में जो कुछ भी अनूठा होता है, जो उससे भिन्न है जो पहले कभी घटित हुआ तथा जिसको दोहराया जा सके, वह 'नियम' को कोई स्थान नहीं देता। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के नियम कि "जब कारण घटित होता है तो कार्य निष्पन्न होता है", से यह अपेक्षा है कि हम कारण तथा कार्य में स्पष्टतः भेद कर सकें, यह कह सकें कि कुल्हाड़ी का गिरना एक घटना है, लकड़ी का फटना एक अनुवर्ती तथा स्पष्टतः भिन्न घटना है। परन्तु जीवन में, और विशेषतया मानसिक जीवन में, अतीत तथा वर्तमान में ऐसा कोई स्पष्ट भेद नहीं होता. अतीत वर्तमान के साथ रहता है, तथाकथित मानसिक 'अवस्थाएँ' अन्तर्व्याप्त हो जाती हैं, और कार्य-कारण-सम्बन्ध अपना अर्थ खो देता है। (टाइम एण्ड फ्री विल [समय तथा स्वतन्त्र सङ्कल्पेच्छा] तीसरा अध्याय)।

निस्सन्देह, इस अर्थ में मनोवैज्ञानिक 'नियम' हैं कि कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जो उन नियमितताओं को निर्धारित करती हैं जिनके अनुसार हमारा मनस् कार्य करता है। इस नियमितता का अधिकांश स्वतः मनस् के द्वारा आदत के रूप में उत्पन्न होता है। आदत को अर्जित प्रक्रिया कहा जा सकता है। और स्पष्टतः यदि कोई मनस् 'आदत का दास' हो जाता है तो यह उन यन्त्रवत् प्रक्रियाओं का शिकार हो सकता है जो स्वयं इसने उत्पन्न की हैं। परन्तु आदत का प्रयोजन किसी यान्त्रिक स्थिति में क्रिया करने के यन्त्रवत् रूप को प्राप्त करना है, जैसे टहलने में, नित्यकर्म में, और सभी तकनीकों में, जिससे जगत् में जो यान्त्रिक नहीं है उससे व्यवहार करने में मनस् अपने अनूठे रूप में स्वतन्त्र रहे। इस प्रकार अधिकाधिक स्वतन्त्रता के लिए जीवन यान्त्रिक प्रकृति से यान्त्रिक उपकरणों के द्वारा ही संघर्ष करता है।

(१०६) अन्त मे, बर्गसा यह सकेत देता है कि यथार्थता अपने सम्पूर्ण विस्तार मे प्राणमय है। अभी तक हम ऐसे बात करते रहे हैं मानो जगत् दो भागो मे विभक्त हो, प्राणमय तथा यान्त्रिक, और मानो ये भिन्न एव कुछ विरोधी सिद्धान्त हो। यह 'द्वैतवाद' है। जो भौतिक है उससे जीवन को निष्पन्न करते हुए प्रकृतिवादी द्वैतवाद को एकत्ववाद मे घटा देता है। बर्गसा विपरीत मार्ग द्वारा इसे एकत्ववाद मे घटा देता है, वह जो भौतिक है उसे जीवन से प्राप्त करता है। ऐसा करने मे वह प्रत्ययवाद के मत के निकट पहुँच जाता है जिस पर हम शीघ्र ही विचार करेंगे।

भौतिक जगत् को जीवन से कैसे प्राप्त किया जा सकता है? हम देख चुके हैं कि आदत-जो यान्त्रिक है—को जीवन से प्राप्त किया जाता है। कल्पना कीजिए कि इस प्रक्रिया का विस्तार दिक्, जड तथा प्राकृतिक नियम की पृष्ठभूमि तक कर दिया गया है जो आदत के लिए विद्यमान है (क्रीयेटिव इवोल्यूशन तीसरा अध्याय)। समस्त स्वतन्त्र कर्म एक ऐसे पदार्थ की अपेक्षा रखता है जिसे वह रूप दे सके। चित्रकार को अपने फलक एव रगों की अपेक्षा [आवश्यकता] होती है, जिनकी अपनी विश्वसनीय प्रकृतियाँ अथवा 'आदतें' होती हैं, कवि को अपने शब्दों तथा अपनी वर्णमाला की अपेक्षा होती है। यह असम्भव है कि अक्षर तथा शब्द अपने को प्राकृतिक नियमों द्वारा किसी कविता के रूप मे सरचित करलें, अथवा रग तथा फलक आपस मे मिलकर किसी चित्र का सृजन करलें। ये कृतियाँ सकल्पेच्छा के किसी भी कार्य की भाँति स्वतन्त्रता का परिणाम, सर्जित रूप है। परन्तु उनके एक बार सृष्ट होने पर नयी सम्भावनाओ की दृष्टि से कुछ नई सामग्री उत्पन्न हो जाती है, इस अर्थ मे कि कवि एक नये शब्द, पक्ति, छन्द का विकास करता है, अथवा चित्रकार एक नयी प्रणाली का विकास करता है जो उसके उत्तराधिकारियो के लिए उपादान सामग्री का एक भाग हो जाता है। इसी स्थूल सादृश्य की सहायता से समग्र भौतिक विश्व को सार्वभौम जीवन की थाती के रूप मे या यूँ कहिए कि वृद्धिशील बुद्धि के ससमरण रूप मे समझना सम्भव है।

भौतिक जगत् जीवन से कैसे प्राप्त होता है, यह दिखाने के कठिन प्रयास मे स्पष्टत. बर्गसा, सहजबोध का अतिक्रमण करता है, और [इस प्रकार वह] बौद्धिक व्याख्या के क्षेत्र मे प्रवेश कर जाता है। सहजबोध इस साधारण अनालोच्य विश्वास के अतिरिक्त और कुछ नही दे सकता कि जड के पीछे जो यथार्थ है वह जीवन है, जड, जीवन पर आश्रित है। यह सिद्धान्त कि जड की उत्पत्ति की कल्पना कैसे की जा सकती है, अन्तत, इस सहजबोध से कम महत्त्व का है। यदि, यह सहजबोध सत्य है तो वह प्रकृतिवाद का खण्डन है।

(१०७) तो, ऐसा प्रतीत होता है, कि सहजबोध दार्शनिक निष्कर्षों की दृष्टि से या तो उर्वर है या होने की सम्भावना रखता है: वस्तुत यह अनुभव की प्रत्येक दशा मे हमारे ज्ञान की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विधा होने का दावा कर सकता है। क्योंकि यदि प्रत्येक ऐसी वस्तु का ज्ञान जिसमे जीवन है सहजबोध द्वारा होना चाहिए, और यदि प्रत्येक वस्तु को जिसका अस्तित्व है इसके अन्तिम यथार्थ के रूप मे जीवन से उसे जोडना आवश्यक है तो कोई भी वस्तु वास्तविक रूप में तब तक नहीं जानी जा सकती जब तक कि उसे सहजबोध द्वारा न जान लिया जाय।

अब हम ज्ञान मे सहजबोध की स्थिति के विषय मे कुछ प्रतिज्ञप्तियों को रखें, जो हमारे पहले के निष्कर्षों के अनुपूरक होगी। हमने यह जाना कि सहजबोध एव बुद्धि सर्वदा साथ रहते हैं। हमे इस बात को भी ग्रहण करना चाहिए कि हमारे ज्ञान के विभिन्न भागों मे, ये अत्यधिक भिन्न अनुपातों मे मिले रहते हैं, और कि सहजबोध मे अपनी एक प्रकार की पहल करने की शक्ति होती है जो सही निर्णय के लिए अपरिहार्य होती है।

(अ) ज्ञान सहजबोध से आरम्भ होता है और सहजबोध सर्वदा आगे रहता है।

हम जीवित वस्तुओ, व्यक्तियों को, अशो से आरम्भ करके समग्र के निर्माण द्वारा नहीं जानते (जैसा अनुभववाद का सकेत है) हम आरम्भ से ही समग्र का प्रत्यक्ष करते हैं। ज्ञान विवरण के विस्तार की दृष्टि से विकसित होता है, और विवरण के विस्तार की स्थिति निश्चित की जा सकती है क्योंकि समग्र की रूपरेखा उसको प्रस्तुत करने के लिए पहले ही उपलब्ध होती है।

यह सही है कि हमारे अनेक सहजबोध अर्जित होते हैं। हमे मूल [अनर्जित] सहजबोधो (जैसे काल, आत्म आदि के) तथा अर्जित सहजबोधो (जैसे 'घोडो की पहचान') के बीच भेद अवश्य करना चाहिए। बाद के सहजबोधों की प्रकृति आगमनात्मक होती है: जिसे बर्गसा ने वस्तुओ की सतही विशेषताओ का दीर्घ परिचय कहा है उसके बाद वे वस्तुओ के आन्तरिक ज्ञान का अग बन जाते हैं। वे बडी जटिलता के बाद किसी सरलता पर पहुँचने के परिचायक हैं। परन्तु ये अर्जित सहजबोध मूल सहजबोधों पर आश्रित होते हैं, और उनके बिना इनका अस्तित्व नही हो सकता।

सहजबोध बुद्धि से सर्वदा आगे होता है, इस अर्थ मे कि जीवित वस्तुएँ, व्यक्ति, सामाजिक स्थितियाँ, मानवीय कारण तथा अभिरुचियाँ, सर्वदा अक्षय होती हैं। किसी व्यक्ति को सहजबोध द्वारा प्रत्यक्ष किया जा सकता है, परन्तु सप्रत्ययात्मक पदो मे इसे पूर्ण रूप से कभी भी न तो जाना जा सकता, [illegible] विश्लेषित किया जा सकता और न ही उसका वर्णन किया जा सकता है। मानसिक परीक्षण, जो कि विश्लेषण पर आश्रित होते हैं, सदैव ही किसी महत्वपूर्ण बात को छोड देते हैं। व्यक्तित्व का ऐसा कोई मानचित्र [चार्ट] नहीं है जिसमें मनुष्यों को वर्गीकृत और श्रेणी-बद्ध किया जा सकता हो। मनोविज्ञान, जो मनस् के विश्लेषण पर आश्रित होते हैं, हमे सही ज्ञान प्रदान कर सकते हैं, परन्तु पूर्णज्ञान कभी भी नही दे सकते, और शायद अत्यधिक महत्वपूर्ण ज्ञान वह है जो वैज्ञानिक प्रणाली की पकड मे नही आता। व्यापार मे, सहजबोध की प्रतिभा, दूरदृष्टि का एक अनिवार्य तत्व है। इतिहास की गति में, पैगम्बर, कलाकार, कवि—अर्थात् सच्चे लोग,—इतिहास के मोडों के मानचित्र खेंचने वालो की अपेक्षा बहुत आगे की बात देख लेते हैं। दर्शन बौद्धिक विचार-तन्त्रो में अभिव्यक्त होने से बहुत पहले काव्य एव अनालोच्य विश्वासों मे अभिव्यक्त होता है।

(ब) इस बात का सदा भय रहता है कि सहजबोध लुप्त हो जाए।

यह इस सामान्य सिद्धान्त का साधारण उप प्रमेय [करॉलरि] है कि अशों पर ध्यान दने से समग्र का अस्पष्ट बोध हो जाता है। कानून की बारीकियाँ कुशल न्यायिक को मान-

वीय न्याय का सहजबोध प्राप्त करने मे व्यवधान उपस्थित करती हैं। और यह पेशेगत दोष के रूप मे इतना व्यापक हो सकता है कि साधारण नागरिक न्यायालयों से भय खाने लगें, वह उन्हे ऐसे स्थानो के रूप मे मानने लगे जहाँ न्याय तकनीकी बारीकियो के ढेर के नीचे से मानो अकस्मात् ही उद्भूत होता है। स्नातक अपने विषय मे अत्यन्त सावधानी एव पूर्ण उत्साह से तल्लीन हो सकता है, और यह सम्भव है कि उसका समस्त जीवन लैटिन भाषा के लिट् लकार की सूची म एक और की वृद्धि मे ही समाप्त हो जाय जिसे युवा रोमन सामान्यतया वार्तालाप मे प्रयुक्त करता है। वह किसी सच्चे सहजबोधात्मक प्रत्यक्ष अथवा पसन्द पर आश्रित है। मैत्री के सम्बन्ध मे यह सम्भव हो सकता है कि वह समालोचना का विषय बने,—अवैयक्तिक दोषो की पारस्परिक समालोचना जिन्हे प्रबुद्ध परिचय उद्घाटित करता है परन्तु इन दोषो के प्रति कानूनी मनोवृत्ति सरलता से सहजबोध को अस्पष्ट कर सकती है और मैत्री का नाश कर सकती है। नित्य प्रति के कर्म, विस्तार पर ध्यान केन्द्रित करने से, सहजबोध के स्तर को नीचे ले आते हैं, यहाँ तक कि यह क्रम अन्तत दृष्टि मे एक यान्त्रिक कठोरता को ले आता है।

ऐसी सभी अवस्थाओ मे, समग्र के विषय मे नये मत प्राप्त करके सहजबोध को पुन प्राप्त करने का कोई मार्ग होना चाहिए, और जीवन की सामान्य लय मे—कर्म और क्रीडा के, जागने और सोने के, धर्मनिरपेक्ष जीवन तथा पूजा (जो कि कार्यों पर उनकी समग्रता मे सचेष्ट ध्यान देना है) के जीवन के, विज्ञान तथा दर्शन के, प्रत्यावर्तन मे ऐसा बहुधा होता है। जब यह प्रतीत होने लगे कि एक ही प्रकार के अधिक प्रयास से अब कुछ भी नही होने वाला है, अपितु उसके स्थान पर अधिक कानूनबाजी, विश्लेषण, अन्तर, हमे अपने दोषपूर्ण बोध मे और नीचे ले जाने लगें, तब दृष्टि की उस पूर्णता की ओर जो वापसियाँ होती हैं उनका आश्रय लेना चाहिए।

(ख) परन्तु क्योकि सहजबोध बुद्धि के बिना निस्सहाय है, अत सम्प्रत्ययात्मक चिन्तन को सदा उसके साथ रहना चाहिए और उसका अनुसरण करना चाहिए।

यदि यह अकेला ज्ञान प्राप्ति का पर्याप्त मार्ग बनने का प्रयास करता है तो सहजबोध में, तीन दोष उत्पन्न होते हैं। यह जिसे प्रत्यक्ष करता है उसे परिभाषित नही कर सकता क्योकि परिभाषा अवधारणा का उपयोग करती है। यह जिसे प्रत्यक्ष करता है उसे प्रेषित नही कर सकता, क्योकि भाषा अवधारणा के सामान्य सिक्को की बनी हुई होती है। बुद्धि की सहायता तथा आलोचना के बिना यह न तो अपनी सत्यता की रक्षा कर सकता है और न ही सत्य और मिथ्या व्याख्या में भेद कर सकता है।

अनुभव के सप्राण तथ्यो मे सर्वथा एक ऐसा विलक्षण गुण होता है जिसके साथ अवधारणाएँ (जो सादृश्य तथा अन्य सम्बन्धो पर आश्रित होती हैं) कभी भी न्याय नही करतीं, जिसे केवल सहजबोध ग्रहण कर सकता है, और जिसे—किसी भी क्षण मे सम्प्रेषित नहीं किया जा सकता। परन्तु ऐसा कुछ भी नहीं है जो अपनी प्रकृति के कारण परिभाषा करने, विश्लेषण करने, सम्प्रेषित करने या प्रयास का बहिष्कार करता है : ऐसा विलक्षण कुछ भी नहीं है कि उसमें कोई ऐसा सामान्य गुण नही हो जिसके कारण वह किसी संकल्पना अथवा विचार के लिए ग्राह्य हो।

अतः सहजबोधवाद की सत्यता विचार की शिथिलता के लिए, अथवा अनियन्त्रित प्रेरणा पर विश्वास के लिए, कोई अधिकार-पत्र नहीं है। प्रतिभा पूर्ण रूप से गहन सहज-बोध की सामर्थ्य में ही निहित नहीं होती : यह अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य में भी निहित होती है, अर्थात्, सप्रत्ययात्मक विचार की ग्रहण शक्ति को जीवन के दुर्गम तत्त्व की दिशा में एक चरण और आगे बढ़ाती है। सहजबोध प्रज्ञा[3] [विज़डम] नहीं है, और बुद्धि भी प्रज्ञा नहीं है : प्रज्ञा सहजबोधवाद एवं बुद्धि की एकता है।

हमने कहा था कि जहाँ भी अनुभूति होती है, वहीं सहजबोध होता है। अब हमें यह और कहना है कि

जहाँ जहाँ भी सहजबोध होता है, वहाँ विचार भी अवश्य होना चाहिए। अब एक बार पुनः हम तत्त्वमीमांसा के उन प्रकारों की ओर लौटते हैं जो एक साथ ही सहजबोध एवं बुद्धि पर आश्रित होते हैं।

□□□

अध्याय १६

द्वैतवाद

(१०८) एकता की खोज—बर्गसां बुद्धि को विश्लेषक की भूमिका प्रदान करता है जबकि सहजबोध, उसकी दृष्टि मे, समग्रता अथवा एकता को ग्रहण करता है। इस स्थिति मे हम इस पिष्टपेशित कथन कि बुद्धि एकता की खोज करती है से क्या आशय लेंगे? क्या यह सम्भव है कि बुद्धि दोनो ही कार्य करती हो?

उस स्थिति पर विचार करें जिसमे वस्तुओ का वर्गीकरण करती बुद्धि जगत् पर वैज्ञानिक नियन्त्रण प्राप्त करने की दिशा मे पहला चरण है। जो वस्तुएँ सदृश हैं उन्हें हम एक साथ रखते है, और एक ही नाम से पुकारते है। क्या यह 'एकत्व की खोज है?' हम पशुओं यथा हिरनों, ऊँटो, भेड़ों, बकरो, कुरग और अनेक अन्य पशुओ के समूहो को एक ही जातिनाम जैसे घास खाने वाले पशु' के अन्तर्गत ले आते हैं एक ही प्रत्यय मे उन सबका समावेश हो जाता है। परन्तु इस समूहीकरण का आधार क्या है? वह कोई ऐसी विशेषता है जो इन सब पशुओ मे समान है। उन सबके उदर विषम रचना वाले होते हैं और वे सब जुगाली करते हैं। यह निरीक्षण किसी विश्लेषण का परिणाम जैसा लगता है। क्या एकीकरण के लिए विश्लेषण अनिवार्य है?

अथवा उस स्थिति पर विचार कीजिए जिसमे बुद्धि घटनाओं की व्याख्या करने का प्रयास करती है। व्याख्या करना कुछ अर्थों म वर्गीकरण करने के समान है। हम अनेक घटनाओ को एक ही सूत्र मे ग्रहण करने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार देह में ऊर्जा के सचरण की घटना को वैसे ही समझा जाता है जैसे लकड़ी के जलने की घटना को, वे दोनों ही आक्सीडेशन के रूप हैं। स्वय आक्सीडेशन ऊर्जा के प्रवाहो के उन अनेक प्रकारों मे से एक प्रकार है विभिन्न क्षेत्रों मे जिसके नियमो को सम्भवत एक ही नियम के अन्तर्गत लाया जा सकता है, जो विज्ञान का अत्यन्त व्यापक सामान्यीकृत सिद्धान्त होगा। इस एक ही नियम के माध्यम से सभी विशिष्ट भौतिक घटनाओ की व्याख्या की जायगी। यह निश्चिततः 'एकत्व की खोज है'। परन्तु ताप के नियमो तथा गति के नियमों को साथ साथ लाने के लिए, मानो यह अनिवार्य है कि ताप को अणुओं की गति के रूप मे ग्रहण किया जाय। सभी घटनाओं को उनके व्यवहार के रूप मे ग्रहण करने के लिए हमारा ध्यान छोटी से

छोटी इकाईयों की ओर आकृष्ट होता है। एकीकरण के लिए हमे विश्लेषण करना पड़ेगा। बुद्धि दोनों कार्य करती है, यह केवल विश्लेषण के लिए विश्लेषक नही है यह निश्चितत ही एकता की तलाश करती है। यदि एक ऐसे नियम को खोज लिया जाय जो सभी घटनाओं की व्याख्या कर दे और कोई ऐसा द्रव्य खोज लिया जाय सभी वस्तुएँ जिसके विभिन्न रूप हों तो यह लक्ष्य प्राप्त हो जायेगा। अथवा इसका लक्ष्य यह अपेक्षा रखेगा कि वह द्रव्य तथा वह नियम दोनो एक चरम यथार्थ मे मिल जाएँ।

(१०९) परन्तु क्या हम बात की कोई गारन्टी है कि जगत् का स्वरूप ऐसा है जो बुद्धि की इस आकांक्षा को सन्तुष्ट करेगा ? शायद ऐसा कोई भी एक यथार्थ नहीं है जो प्रत्येक वस्तु की व्याख्या करता हो। हमारे कठोरतम प्रयासों के बावजूद क्या जगत् वस्तु के अनेक भिन्न प्रकारों का समूह नही है ?

कठोर जडवादी कहेगा प्रत्येक वस्तु जड है परन्तु क्या उसे इसके अतिरिक्त उस दिक् की आवश्यकता नही है जिसमें जड का अस्तित्व होता है, वह गति जो जड मे है, तथा उस काल की आवश्यकता नही है जिसके माध्यम से यह गति होती है ? जैसा कि हम देख चुके हैं, हरबर्ट स्पैन्सर ने पांच '*चरम वैज्ञानिक प्रत्ययों*', *दिक्, काल, जड, गति व शक्ति*—को प्रयुक्त किया था और चेतना को किसी अन्य अनुपयुक्त वस्तु के रूप मे जोड दिया था। उसकी कल्पना थी कि ये सभी एक ही यथार्थ की अभिव्यक्तियाँ हो सकती हैं, जिसका सर्वोत्तम नाम बल, ऊर्जा, शक्ति है, किन्तु यह अस्पष्ट ही रहता है कि यह एक ही यथार्थ दिक् तथा काल तथा चेतना की व्याख्या कैसे करता है। स्पैन्सर एकत्व पर पहुँचना चाहता है, परन्तु उसे अज्ञात मे एकता की एक धुंधली आशा के सहित अनेकत्ववाद ही प्राप्त होता है।

अनेक विचारकों को—जिनमे कुछ महानतम विचारक हैं—वस्तुओं को बौद्धिक रूप से समझने के सर्वोत्तम प्रयास किसी एक सत् पर नहीं पहुँचाते, अपितु परस्पर विरोधी सतो पर पहुँचाते हैं—जैसे मनस् तथा जड द्रव्य—एकत्ववाद पर नही पहुँचाते है, अपितु द्वैतवाद पर पहुँचाते हैं।

(११०) *कदाचित सबसे प्राचीन अवशेष परम्पराओं मे, जो चीन के महान दर्शन* के आधार मे विद्यमान हैं, जगत् के विषय मे इसी प्रकार से सोचा गया है। अनुभव परस्पर विरोधी सिद्धान्तों का संघर्ष है, ज्योति का तम के विरुद्ध, ताप का शीत के विरुद्ध, शुष्क का तरल के विरुद्ध, शुभ का अशुभ के विरुद्ध। इन प्राचीन विचारकों का विश्वास था कि इन अनेक युग्मो मे से उपकारी तत्व एक सिद्धान्त यथा यान्ग के अन्तर्गत आते हैं तथा अनुपकारी तत्व एक दूसरे सिद्धान्त—यिन—के अन्तर्गत आते हैं। यद्यपि यह अनुदार प्रतीत होता है तथापि यह इतिहास का एक तथ्य है कि यान्ग एव यिन के भेद को पुरुषवाचक एव स्त्रीवाचक के भेद के *रूप मे भी माना गया है। और ये दो सिद्धान्त, जो कि प्रत्येक अस्तित्ववान वस्तु मे भिन्न-*भिन्न अनुपातो मे मिले हुए हैं, केवल उन रूपो की व्याख्या नही करते जिन्हें वस्तुएँ ग्रहण करती हैं, अपितु जगत् के अन्तहीन झगडे तथा आन्तरिक संघर्ष की भी व्याख्या करते हैं।

फारस के उस प्राचीन धर्म मे—जिसका जराथुस्त्रा ने परिष्कार किया—यह सघर्ष वैश्वक परिप्रेक्ष्य ग्रहण कर लेता है। विश्व, अहिर्मन जो अशुभ एव अन्धकार का देवता है और अहुरमज्द जो शुभ तथा प्रकाश का देवता है, जिसे अग्नि के प्रतीक के माध्यम से पूजा जाता है, के बीच युद्ध का स्थल है। जगत् जो दोनो के ही कार्यों का परिणाम है एक मिला-जुला क्षेत्र है। मनुष्य की उत्पत्ति इसलिए हुई है कि वह इस वैश्वक सघर्ष म कोई पक्ष ग्रहण करे, जो सद्वृत्ति के हैं वे अहुरमज्द की सहायता करें। वस्तुत यह युद्ध मुख्यत मनुष्यो की सकल्पेच्छाओं मे चलता रहता है और शुभ तथा अशुभ के उनक स्वतन्त्र वरण, स्थिति को कभी एक दिशा देते हैं तथा कभी दूसरी। अधिकाश प्राचीन धर्मों मे दुष्ट प्रेतात्माओ को माना गया है। परन्तु फारस के धर्म ने सभी अशुभो तथा सभी शुभों को स्पष्टत इन दो रूपों मे एकीकृत कर दिया था, शेष समस्त सत्ताओ को इन दोनो के बीच बाँट दिया था, और विश्व के इतिहास को नैतिक समस्या पर टाँग दिया था। फारसियो का अहिर्मन यहूदियो के 'शैतान' तथा ईसाइयो के 'डेविल' [दुष्ट] का प्रारूप बन गया था।

(१११) यह यूनानी प्रतिभा थी जो सर्वप्रथम जगत् के प्रति स्पष्ट बौद्धिक अभिरुचि से देख पाने मे समर्थ हुई, जिसमें यद्यपि नैतिक एव धार्मिक प्रेरणाएँ अनुपस्थित नही थी किन्तु वे प्रधान नही थी। उनके महान् विचारक एक शुद्ध प्रकार के तत्त्वमीमासक थे, और जब उनका दर्शन प्लेटो म जाकर निश्चितत द्वैतवादी बन गया तो भेद जगत् का यह विभाजन शुभ तथा अशुभ के बीच नहीं रहा अपितु भौतिक तथा अभौतिक के बीच हो गया।

आरम्भ मे वे महज जडवादी थे—एक प्रकार के एकतत्त्ववादी थेलीज ने कहा, 'सभी वस्तुएँ जल हैं और अन्यो ने कहा 'सभी वस्तुएँ वायु अथवा अग्नि हैं'। आरम्भ में जडतत्त्व इतना स्पष्ट होता है, और मनस् इतना अग्राह्य एव दृष्टिकेन्द्र से दूर होता है कि तत्त्व-मीमासा के लिए उस मनस् की खोज करनी पडती है, उस यथार्थ के एक भाग के रूप मे जिसकी इन आरम्भ के सिद्धान्तो द्वारा उपेक्षा की गई। इस खोज के लिए हिरॅक्लाइटस (५४०-४७५ ई० पू०) तथा अनेक्जागोरस (५००-४२८ ई० पू०) समान रूप से सम्मान के पात्र हैं। हिरॅक्लाइटस ने यह समझाया कि एक सार्वभौम बुद्धि का सिद्धान्त [लोगोस] है जो असीम रूप से सूक्ष्म ज्वाला के समान शाश्वत प्रवाह की सभी प्रक्रियाओ को आवृत्त कर लेता है जबकि अनेक्जागोरस ने वैश्वक मनस् को व्यवस्था के चिरस्थायी नियम [नाउस] के रूप मे माना। वस्तुओं के मिले हुए बीजो को छाँटते हुए वस्तुओ तथा जीवित प्राणियों को एक दूसरे से अलग करते हुए और उन्हें वर्गों अथवा उप जातियों मे वर्गीकृत करते हुए [नाउस] के कारण ही अव्यवस्थित स्थिति [कैओस] से जगत् का विकास होता है। यद्यपि अनेक्जागोरस ने मनस् की कल्पना एक बहुत अच्छे एवं पारदर्शी द्रव्य के रूप मे की, जो असीम दिक् मे सर्वत्र प्रसरित है, तो भी वह इस स्पष्ट अनुभव के बहुत समीप आ गया था कि मनस् अन्य सभी भौतिक वस्तुओ से भिन्न है, और इस प्रकार वह द्वैतवाद के किनारे पर हो था।

प्लेटो (४२७-३४७ ई० पू०) जगत् को अभौतिक वस्तुओं, प्रत्ययो के एक सस्थान के रूप मे देखता है जो उन विशेष आकृतियों मे शरीर धारण किये हुए प्रतीत होते हैं, जिन्हें

हम देखते हैं मानो वे जड के जाल मे फस गये हो अथवा उसकी सगति मे अपने स्थान से गिर गये हो परन्तु वास्तव मे वे अपने अपरिवर्तनीय राज्य मे निर्मल बने रहते हैं। प्रत्यय पूर्ण एव शाश्वत होते हैं उनकी दृश्यगत प्रतिमाएँ दोषपूर्ण एव क्षणिक होती हैं। चीते का एक प्रकार होता है वास्तविक चीते इस प्रकार के न्यूनाधिक अच्छे प्रतिरूप होते हैं। आदर्श प्रतिरूप का अस्तित्व नही होता है। फिर भी सभी वास्तविक चीतो का आदर्श, प्रकार अथवा कोई आदि रूप [प्रारूप] यथार्थ चीता होता है। हमारा सच्चा ज्ञान इसी को सभी अवसरों पर किसी वर्ग के सभी सदस्यो के तत्त्व, एव जाति के अपरिवर्तनीय आकार के रूप मे ग्रहण करता है। विचार का यह कार्य है कि वह इन प्रत्ययो को उनकी दोषपूर्ण ऐन्द्रिय प्रतिमाओ के बीच से पहचान ले, और विशेष रूप से उन अत्यधिक सामान्य प्रत्ययो को जैसे सत्ता का, गुण का, सुन्दरता का शुभ का। मनुष्य की चेतना मे सवेदन एव ऐन्द्रिक इच्छा के रूप मे जो जड तत्त्व विद्यमान है, उसमे मनुष्य के प्रत्ययो के प्रत्यक्ष को अस्पष्ट करने की प्रवृत्ति होती है, विचार अत्यधिक पूर्ण तब होता है जब सवेदनो के विघ्नकारी मार्ग बन्द कर दिये जाते हैं आत्मा जो देह रूपी जेल मे बन्द रहती है, मृत्योपरान्त, प्रत्ययो का अधिक स्पष्ट दर्शन कर सकती है—जो इसके लिए जन्म से पूर्व भी सम्भव था, क्योंकि जीवन मे किसी प्रत्यय का नये रूप में ज्ञान, स्मृति की एक विचित्र सिहरन जैसा होता है। इस प्रकार प्लेटो यथार्थ एव शाश्वत अभौतिक प्रत्ययो से उस जड द्रव्य को अलग करता है जो एक प्रकार का ऐसा शाश्वत असत् [नॉन बीइंग] है जिसके फलस्वरूप दोष तथा क्षणिक आकारों का अनुभव होता है। प्लेटो का द्वैतवाद जड के विरुद्ध आदर्श को, विशेष के विरुद्ध सामान्य को, अपूर्ण के विरुद्ध पूर्ण को, सापेक्ष के विरुद्ध निरपेक्ष को रखता है। शरीर के बन्धनों के विरुद्ध ऊर्ध्वगामी आत्मा को अभौतिक शिव की ओर अग्रसर होना चाहिए।*

विचार के इतिहास मे द्वैतवाद की जहाँ कहीं भी पुनरावृत्ति हुई है वहाँ यह मनस् के किसी विलक्षण गुण की नई सूझ के कारण हुई है। इस प्रकार दकार्त को यह आवश्यक लगा कि वह अपने इस आत्म को अथवा 'अहम् चिन्तयामि' को जिसके विषय मे उसे अटल निश्चय था, भौतिक जगत् से अलग करना चाहिए। मानसिक द्रव्य वह है जो सोचता है [अर्थात्] रैसकोजिटेंन्स [चिन्तनशील वस्तु] भौतिक द्रव्य वह है जो वस्तु [अर्थात्] रैस एक्सटैन्सा [प्रसारमय वस्तु] है। मानसिकता के और भी अधिक गहन प्रत्यक्ष द्वारा, दकार्त के विस्तार के क्षेत्र को स्वय मनस् का एक गुण अथवा उसकी प्रक्रिया मानते हुए भी कान्ट का यह विश्वास था कि मनस् के बाहर एक अज्ञेय सत् है जिसकी प्रेरणा से सवेदन के विषय हमारे समक्ष प्रकट होते हैं।

(११२) इस प्रकार इतिहास के महान् द्वैतवादी विचारतन्त्रों ने विभिन्न स्थानो पर जगत् मे द्वैत उपस्थित कर दिया है, परन्तु उन सभी ने किसी मानसिक अथवा आध्यात्मिक सत्ता की यथार्थता एव स्वतन्त्रता पर बल दिया है। यदि हम महान् विचारको का विचार के महान् आन्दोलनकारियो व विचार के महान् स्थापको मे वर्गीकरण करें, तो हम यह कह

* फीडरस में उस महान मिथक को देखें जो इस सघर्ष का चित्रण करता है।

सकते हैं कि विचार के महान् आन्दोलनकारी बहुधा द्वैतवादी हुए हैं। प्लेटो, दकार्त और कान्ट विचार के महान् आन्दोलनकारी थे। उनकी महानता बहुत हद तक इस तथ्य में निहित थी कि उन्होंने उन विरोधाभासों का समाधान करने के लिए भी उतने ही महान् प्रयास किये जिनका उन्होंने उद्घाटन किया। बर्गसा को भी आन्दोलनकारियों में ही गिनना चाहिए : उसने पुन यान्त्रिकता के विपरीत जीवन की विलक्षणता को गहन उत्साह के साथ ग्रहण किया था, उसके द्वैतवाद ने एक सन्तुष्ट विकासवादी प्रकृतिवाद के परितोषों को चुनौती दी थी। अब हमें द्वैतवाद पर उसके गुणों की दृष्टि से विचार करना है।

□□□

अध्याय १७

द्वैतवाद की परीक्षा

(११३) प्राचीन द्वैतवाद मुख्यत विश्व की उस दरार से सम्बन्धित था, मनुष्य की दोहरी प्रकृति जिसकी एक प्रकार की प्रतिध्वनि है। आधुनिक द्वैतवाद मुख्यत मनस् और शरीर की समस्या से सम्बन्धित है, और विश्व की व्याख्या इस आन्तरिक विभाजन के सन्दर्भ में देता है। हम पहले मनस् तथा शरीर के सम्बन्धो की परीक्षा करेंगे।

(११४) यदि हम यह मानलें कि हम यह जानते हैं कि मनस् तथा शरीर से हमारा क्या तात्पर्य है और अपने असभ्य पूर्वजो के साथ यदि यह मानलें कि इन शब्दो से भिन्न अर्थ निकलते हैं, जिससे हमारी कल्पना, मनस् अथवा आत्म को शरीर के अस्थायी अतिथि के रूप म ले सके, तो यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यह गहरी एकता कैसे सम्भव है ? यह इतनी गहरी एकता है कि जब मैं कुछ करता हूँ,—अर्थात् जब मैं घूमता हूँ, मेरे मन मे यह कभी भी नही आता कि मैं बिना अपने शरीर के चला जाऊँ कभी भी मुझे ऐसा नही लगता कि सम्पूर्ण 'व्यक्ति' मनस्-शरीर के सहयोग— की अपेक्षा कोई अन्य आत्म है जो घूमने जाता है। यदि मनस् तथा शरीर दो भिन्न यथार्थ हैं तो, इस सहयोग के आधार पर हम किन सिद्धान्तों को प्राप्त कर सकते हैं।

दो ऐसे सिद्धान्त हैं जिन्हें पारिभाषित रूप मे समानान्तरवाद और क्रिया प्रतिक्रियावाद [के सिद्धान्त] कहा गया है। ये दोनो हमे मनस् व शरीर को दो द्रव्य मानने की अपेक्षा दो प्रक्रियाओं के रूप मे ग्रहण करने के लिए आमंत्रित करते हैं फलस्वरूप प्रश्न उठता है कि इन घटनाओ को जो हमारे मानसिक इतिहास की रचना करती हैं अन्य उन घटनाओं के साथ क्या करना पड़ता है जो मस्तिष्क [ब्रेन] के इतिहास का निर्माण करती हैं ? समानान्तरवाद की मान्यता है कि [कतिपय] मस्तिष्क घटनाएं तथा मनस्-घटनाएँ बिना किसी भी पक्ष के हस्तक्षेप के एक दूसरे के पूर्णत अनुरूप चलती हैं। क्रिया-प्रतिक्रियावाद का विचार है कि मस्तिष्क-घटनाएँ मनस्-घटनाओं को प्रभावित करती हैं, तथा मनस्-घटनाएँ मस्तिष्क-घटनाओं को प्रभावित करती हैं। क्योंकि ये दो शृंखलाएं या तो एक दूसरे को प्रभावित करती हैं या प्रभावित नहीं करती हैं। अत द्वैतवाद के लिए कोई अन्य विकल्प नही है।

(११५) समानान्तरवाद दोनो सिद्धान्तों का आकर्षण किसी काल्पनिक शरीर क्रिया वैज्ञानिक की उस स्थिति मे है जिसमे वह जीवित व्यक्ति के विचार-क्रम के चलते समय में, होने वाली घटनाओ की परीक्षा करता हुआ होता है। वह भौतिक तथा रासायनिक ज्ञान

के ऐसे प्रत्येक कल्पनीय उपकरण से युक्त है जो सूक्ष्म से सूक्ष्म मापन मे समर्थ है। यह बात मानली गई है कि वह विचारो को नही देख सकता। प्रश्न यह है कि क्या वह किसी भी ऐसी वस्तु को देख सकता है जो विचार तथा मस्तिष्क की इस विलक्षण एकता के अस्तित्व को प्रकट कर देगी ? क्या मस्तिष्क की कुछ ऊर्जा का उपयोग विचार अथवा सवेग को उत्पन्न करने मे होता है ? उस अवस्था मे कुछ भौतिक ऊर्जा नष्ट होती प्रतीत होगी। अथवा क्या मनस् किसी मासपेशी को सचालित करने का निश्चय करने मे मस्तिष्क की किसी घटना को कोई प्रेरणा प्रदान करेगा जिसकी व्याख्या पूर्ववर्ती मस्तिष्क-घटनाओं के द्वारा स्पष्ट नही हो पाती ? उस अवस्था मे भौतिक ऊर्जा सृष्ट होती प्रतीत होगी। यदि शरीर-क्रिया-वैज्ञानिक को इस प्रकार की छूट देने के लिए बाध्य होना पडा तो उसकी पारम्परिक पद्धतियाँ स्पष्टत. अस्त-व्यस्त हो जायेंगी, और यद्यपि सम्भवत. वह 'विज्ञान का त्याग' नही करेगा, जैसाकि कुछ लोगों को भय है, परन्तु इस बात में कोई सदेह नही है कि उसके पूर्वाग्रह (क्योकि कभी-कभी वैज्ञानिक कार्यकर्त्ताओ के भी पूर्वाग्रह होते हैं) इस प्रकार की स्थिति का अवाछनीय और शायद कल्पनातीत रूप मे प्रतिवाद करेगे।

समानान्तरवाद इस काल्पनिक शरीर-क्रिया-वैज्ञानिक को अपने ढग से काम करने देता है। मस्तिष्क-घटनाओ मे ऐसा कुछ भी नही है जो भौतिक जगत् के नियमो के अपवाद स्वरूप हो, न ही भौतिक से मानसिक क्षेत्र की ओर ऊर्जा का आगे-पीछे हस्तान्तरण होता है। मस्तिष्क ठीक उसी प्रकार क्रिया करता है जैसाकि प्रकृतिवाद की अपेक्षा है। परन्तु मस्तिष्क मनस् नहीं है। मनस् उतनी ही सफाई से अपने स्वय के नियमो का अनुगमन करता है। यह न तो शरीर-क्रिया-वैज्ञानिक के बारे में और न ही मस्तिष्क के बारे मे कुछ जानता है। इसका जगत् इसके अपने स्वयं के नियमों अर्थात् अर्थ के सिद्धान्त के अनुसार सगत है, और क्योकि हमारे पास घटनाओ की दो पूर्णतः सगत श्रृंखलाएँ है [अत] वे एक समजसपूर्ण एकता की रचना कर सकते हैं।

(११६) यदि यह सिद्धान्त द्वैतवादी नही होता तो यह अधिक युक्ति-युक्त होता। यह मानने पर कि दो स्वतन्त्र सत्ताएँ हैं, : मनम् तथा शरीर, और दोनो ही अपने ढग से कार्य कर रहे हैं, तो इस सिद्धान्त की पूर्व अपेक्षा के रूप मे इन दोनो मे पूर्व अनुकूलता, चरमतम असम्भाव्यता हो जाती है। यह सिद्धान्त केवल तभी विश्वसनीय होता है जब हम मनस् तथा शरीर को एक ही वस्तु के दो भिन्न पक्ष मानें, जिससे कि वस्तुतः हमारे पास घटनाओ की केवल एक ही शृंखला हो जो आन्तरिक निरीक्षक को उसके मनस् की घटनाओ के रूप मे ही प्रतीत हो, और बाह्य निरीक्षक को अथवा शरीर-क्रिया-वैज्ञानिक को मस्तिष्क की घटनाओ के रूप में ही प्रतीत हो। उस अवस्था मे हम द्वैतवादी नही हैं, अपितु एकतत्त्ववादी हैं, और स्पिनोजा जो पहला महान समानान्तरवादी था ऐसा ही एकतत्त्ववादी था, क्योकि उसकी मान्यता थी कि विस्तार और विचार वे दो रूप हैं जिनके द्वारा हम जगत् के आधारभूत द्रव्य को ग्रहण करते हैं।

परन्तु पुनः यदि हमारा समानान्तरवाद द्वैतवादी है तो यह आवश्यक रूप से नियतिवादी [डिटरमिनिस्टिक] है, क्योकि कम से कम घटना का जो भौतिक पक्ष है वह मानसिक से पृथक्, भौतिक नियमों की अपेक्षाओं के अनुकूल होता है और यदि भौतिक अगुलि भौतिक

नियमो की आज्ञा के अनुसार किसी भौतिक [पिस्तौल के] घोड़े को दबाती है, तो यह स्पष्ट नहीं है कि इसके अनुरूप मानसिक घटना गोली मारने के सकल्प के अतिरिक्त अन्य कुछ कैसे हो सकती है।

अब यदि वस्तुत. मनस् अपनी उपस्थिति के कारण भौतिक घटनाओ के सिलसिले मे कोई अन्तर नही लाता, तो यह बिल्कुल भी स्पष्ट नहीं है कि (डार्विन के सिद्धान्तो के अनुसार) मनस् के अस्तित्व की क्या आवश्यकता है। अथवा यदि मनस् अनुभवो के उसी समूह को प्राप्त कर सकता है चाहे शरीर हो या न हो, तो भौतिक जगत् अनावश्यक क्यों नहीं है ? सृष्टि ने क्यो अपने इतिहास को इन वैकल्पिक वृत्तान्तो मे दोहराया है ? इस स्थिति के सम्बन्ध मे जो विश्वास है उनसे समानान्तरवाद कठिनाई से ही मेल खाता है।

(११७) क्रिया-प्रतिक्रिया के सिद्धान्त' का पहला लाभ यह है कि वह उस सबको स्वीकार कर लेता है जो उसे अनुभव के स्पष्ट तथ्य प्रतीत होते हैं, यथा : शरीर मनस् को प्रभावित करता है और *मनस् शरीर को प्रभावित करता है। यह मनस् को उपयोगिता का वह बोध* पुनः लौटा देता है जिसका समानान्तरवाद ने हरण कर लिया था : अस्तित्व के संघर्ष में मानवीय चेतना का कुछ मूल्य है, हमारा चिन्तन कुछ ऐसा कार्य करता है जिसे दैहिकी [मस्तिष्क का क्रिया-विज्ञान] ग्रहण नही कर सकती। यद्यपि हमारा शरीर भौतिक यन्त्र के सदृश्य सब कुछ कर लेता है तब भी, अस्तित्व के विराट स्वरूप (पैनोरमा) का आनन्द लेने के लिए ही हमारा चेतन होना सार्थक होगा। परन्तु आश्चर्य है कि हमारे मानसिक जीवन का यह विवरण हमारे इस विश्वास से मेल नही खाता कि हम कर्ता हैं, केवल द्रष्टा नही, कि हमारी सकल्पेच्छाएँ जगत् मे, जिसमे प्रकृति का जगत् भी सन्निविष्ट है, परिवर्तन *ला सकती है, कि जब मैं एक खाई खोदता हूँ तो मेरा मनस् विश्व के भौतिक* तथ्यो को बदलने के लिए मेरी मास पेशियो का उपयोग कर रहा होता है।

(११८) वस्तुत वह क्या है जो मनस् करता है किन्तु जिसे शरीर अपने स्नायुओं तथा मस्तिष्क से नहीं कर सकता ? नव्य-जैवशक्तिवादियो ने एक विशिष्ट जैवशक्ति के सिद्धान्त को मानते हुए इस प्रश्न का अत्यधिक निश्चित उत्तर दिया है। (जैवशक्तिवादी अनिवार्य रूप से द्वैतवादी एव अन्योन्य-क्रियावादी होता है। क्योकि वह अपने जैवशक्तिवाद से इस निष्कर्ष पर पहुँच जाता है कि जीवित-प्राणियो के व्यवहार मे कुछ ऐसा है जिसकी व्याख्या यान्त्रिकी तथा रासायनिक शास्त्र के उपादानो से नही की जा सकती)।

साधारणतया हमे जीवित शरीर से यन्त्र का भेद करने मे कोई कठिनाई नहीं होती। जीवित शरीर स्वय परिचालित होता है जबकि यन्त्र को चलाना पड़ता है; जीवित शरीर की गतियाँ लचीली तथा विविध होती हैं; यन्त्र, गति की एक सीमित शृ खला का अनुगमन करता है; जीवित शरीर किसी उद्देश्य के लिए गतियुक्त होता है, जिससे हम लोग जो द्रष्टा होते हैं यह 'समझ' सकें कि यह किसलिए होता है, जबकि यन्त्र किसी सचालक के उद्देश्या-नुसार गतियुक्त होता है अपने स्वय के [उद्देश्य के] लिए नहीं। जब मैं किसी लकडी के लट्ठे पर पैर रखता हूँ और एक घड़ियाल पाता हूँ तो मेरे निर्णय मे परिवर्तन का कारण घड़ियाल की एक प्रकार की गति है जो लकडी के लट्ठो मे नहीं होती, एक लचीली गति जो

अन्दर से आती प्रतीत होती है और जिसका उद्देश्य आत्म-सरक्षण है, जो सम्भवत उस उद्देश्य को बनाये रखने के लिए अनेकों प्रकार के अंग-विन्यासों को धारण करता है। जैसा विलियम जेम्स ने इस विषय को प्रस्तुत किया है, मानसिक जीवन का बाह्य चिह्न "साधनों के वरण द्वारा साध्यों की खोज था" है। कोई इन्जिन किसी साध्य का अनुसरण करता प्रतीत हो सकता है, परन्तु यदि किसी बाधा द्वारा रुकावट पड जाय तो यह उसके लिए कोई अन्य मार्ग नही खोज सकता। शरीर के कल्याण को अपने उद्देश्य का एक अग मानते हुए मनस की उपयोगिता इसकी आविष्कार करने की शक्ति मे है।

इसके अतिरिक्त, मनस् मे स्थायित्व है, और वह व्यतिक्रम के पश्चात् अपने कार्य को फिर आरम्भ कर सकता है, और विभिन्न क्रमो मे कर सकता है। यत्र से गीत एक ही प्रकार से निकल सकते हैं और मान लीजिये कि यदि वह वर्णमाला के अक्षरो को उल्टे क्रम में प्रस्तुत कर सकता है तो इस क्रम मे गडबड नहीं हो सकती। कोई मकडी जिसके जाले को आशिक रूप से नष्ट कर दिया गया है पुन वहीं से भी आरम्भ करके उसे सुधार सकती है। कोई चिडिया जिसके नीड के निर्माण मे व्यवधान उपस्थित हो गया है फिर से अपने नीड का निर्माण आरम्भ कर सकती है, और अनेक भिन्न अवस्थाओ मे से किसी एक मे पूरा कर सकती है। मनस् की उपयोगिता इस बात मे है कि उसके सम्मुख सदा कोई लक्ष्य रहता है तथा इस लक्ष्य के अनुकूल, वह सभी प्रकार की नवीन तथा अप्रत्याशित अवस्थाओ मे भी कार्य को ठीक ठीक समोजित कर सकता है। इन सभी अवस्थाओ मे मनस् यत्र को जो योग-दान देता है उसे शायद नेतृत्व शब्द अभिव्यक्त करता है। जब ड्रा-सड्रीस को यह मालूम हुआ कि वह स्टार मछली (जिसके पख सितारो की तरह होते हैं) के भ्रूण को किसी भी दिशा मे बिना किसी योजना के काट सकता है, और ये टुकडे यदि बहुत सूक्ष्म न हो तो, पूर्ण वयस्को मे विकसित हो जाते है, तो उसने यह अनुमान किया कि इस विकास का नेतृत्व किसी जैव नियम द्वारा हुआ है जब बर्गसा को यह मालूम हुआ कि विकास के क्रम में कोमल देह वाले जीवों[1] ने विकास के निरन्तर चरणों को पार करते हुए एक आँख का विकास कर लिया है, जो आश्चर्यजनक रूप से उस आँख से मिलती-जुलती है जो रीढ़दार प्राणियो की स्वतन्त्र वशपरम्परा से विकसित हुई है, तो उसने यह अनुमान किया कि इन दोनो शृ खलाओ का नेतृत्व इस उपयोगी लक्ष्य के लिए एक ही समान अंतप्रेरणा द्वारा हुआ है। जब मैकडूगल ने "मूल प्रवृत्ति' पर ध्यान दिया जिसके द्वारा कबूतर अथवा मधुमक्खियाँ बदलती हुई आकृतियाँ तथा रोशनी तथा गध की अवस्थाओ मे अपने घर का रास्ता खोज लेती हैं, तो उसने अनुमान लगाया कि उनके व्यवहार का नेतृत्व स्नायु यन्त्रो पर क्रिया कर रहे किन्हीं भी उद्दीपनों द्वारा नही अपितु एक मनस् द्वारा होता है जिसमे स्थान का 'बोध' होता है और घर पहुँचने का 'उद्देश्य' होता है।

(११९) दूसरी बात यह है कि यान्त्रिक व्याख्याएँ उस स्थिति मे भी असफल होती प्रतीत होती हैं जिसमे व्यवहार वस्तुओ के तद्रूप के प्रति नहीं अपितु उसके उस रूप के प्रति सक्रिय होता है जो उससे अभिप्रेत होता है। किसी बच्चे को मार द्वारा रुलाया जा सकता है: उस उद्दीपक के प्रति प्रतिक्रिया ठीक उतनी ही यान्त्रिक हो सकती है जितना उद्दीपक स्वय।

परन्तु यदि रुलाई का कारण फटकार अथवा धमकी अथवा घृणा का चिह्न अथवा उपेक्षा की कल्पना हो तो यान्त्रिक व्याख्या कठिनाई में पड जाती है। कोई यन्त्र किसी संवेदन के प्रति प्रतिक्रिया दिखा सकता है परन्तु यह किसी प्रत्यय अथवा अर्थ के प्रति कैसे प्रतिक्रिया दिखा सकता है ?

सहज प्रवृत्ति ऐसी प्रक्रिया है जो किसी उपयुक्त उद्दीपक द्वारा सक्रिय की जा सकती है तथा किसी अच्छे यन्त्र में सर्वदा एक ही उद्दीपक स्वभावत एक ही प्रकार की प्रतिक्रिया को उत्पन्न करेगा। अब जिज्ञासा की सहज प्रवृत्ति पर ध्यान दें : इस प्रवृत्ति को कौनसा उद्दीपक प्रेरित करेगा ? मान लीजिये कोई विलक्षण वस्तु। परन्तु आज जो विलक्षण है वह कल विलक्षण नहीं होगा। एक ही उद्दीपक एक ही कार्य को उत्पन्न नहीं करता। इस प्रकार जिज्ञासा कोई यान्त्रिक प्रक्रिया नहीं है। यह इस बात से उत्प्रेरित नहीं होती कि वस्तुएँ क्या हैं अपितु इस बात से उत्प्रेरित होती हैं कि प्रेक्षक के लिए उनका क्या अर्थ होता है। प्राणवादी [वाइटॅलिस्ट] का आग्रह है कि अर्थ के प्रति इस प्रकार की प्रक्रिया किसी मनस् की अपेक्षा रखती है।*

इस प्रकार प्राणीवाद इस प्रश्न का कि मनस् तथा शरीर एक दूसरे पर क्या [क्रिया-प्रतिक्रिया] करते हैं, निम्न प्रकार से उत्तर देता है : शरीर संवेदन द्वारा अपनी अवस्था के तथ्यों की एक रिपोर्ट मनस् को प्रस्तुत करता है, मनस् मस्तिष्क के चालक [मोटर] क्षेत्रों पर क्रिया करते हुए, यान्त्रिक प्रतिक्रिया के स्थान पर बुद्धियुक्त प्रतिक्रिया को स्थानापन्न करता है जो अन्यथा घटित हो गई होती,—एक बुद्धियुक्त प्रक्रिया वह होती है जो तथ्यों के अर्थ को और साथ ही साथ स्वयं कोरे तथ्यों को भी ग्रहण करती है, और जो वांछित लक्ष्य के लिए अंगों का नेतृत्व करने में आविष्कारशील तथा स्थायित्व लिए होती है। प्रत्ययों को प्रतिवर्त चाप [वर्क] में सन्निविष्ट कर दिया जाता है।

(१२०) अब यदि हम अपने द्वैतवादी से वास्तविक घटनाओं के थोड़े और अधिक निकट आने को कहें, और इस बात की व्याख्या करें कि कहाँ और कैसे शरीर मनस् पर तथा मनस् शरीर पर क्रिया करता है तो वह यह स्वीकार कर सकता है कि इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है। शरीर-क्रिया वैज्ञानिक की उलझन पर हमने ध्यान दिया है। हमारी अपनी उलझन इससे शायद ही कम हो, क्योंकि हम अपने संवेदनों को शरीर में से आते हुए नहीं देखते, वे तो केवल वहाँ हैं, और हम अपने संकल्प-व्यापारों को मस्तिष्क पर क्रिया करते हुए नहीं देखते,—किसी प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा उस अंग के अस्तित्व के विषय में हम अंश रूप में अनभिज्ञ होते हैं। द्वैतवादी कह सकता है कि इस बात की कि ये पारस्परिक कार्य कैसे घटित होते हैं तब तक व्याख्या करना आवश्यक नहीं है जब तक कि यह स्पष्ट हो कि वे वास्तव में घटते हैं।

* इन विषयों के अधिक विस्तृत विचार-विमर्श के लिए 'जरनल ऑव ऐबनौरमल साइकोलॉजि एण्ड सोशियल साइकोलॉजि', (जून-सितम्बर १९२१) में मेरा लेख 'दि डाइलेमा इन दॅ कन्सेप्शन ऑव इन्स्टिन्क्ट' [सहज प्रवृत्ति की अवधारणा में उभयपाश] देखें जो 'ह्यूमन नेचर एण्ड इट्स रिमेकिंग' [मानवीय प्रकृति तथा इसकी पुनर्रचना] में प्रथम परिशिष्ट के रूप में पुनर्मुद्रित हुआ है।

परन्तु क्या वे वस्तुतः घटित होते हैं ? हम उन्हे घटित होते हुए नही देखते । और क्या यह सम्भव अथवा कल्पनीय है कि मनस् तथा शरीर को एक दूसरे को प्रभावित करना चाहिए ? यदि ऐसा है तो, यह असगत कार्य-कारण सम्बन्ध का उदाहरण है । जगत् मे अन्यत्र सब स्थानों पर कारण तथा कार्य प्रकार मे समान होते हैं तथा मात्रा मे तुल्य होते हैं, परन्तु किसी सकल्पेच्छा में एव वल्क [कोर्टेक्स] मे ऊर्जा-परिवर्तन मे परिमाण की समानता कैसे हो सकती है ? जैसा क्लिफर्ड ने कहा है, "हम इस बात की भी आशा कर सकते हैं कि कोई मालगाड़ी मैत्री की उस भावना के आधार पर परस्पर जुडी हो जो खलासी तथा गार्ड के बीच हो सकती है । यह कठिनाई इतनी दुर्जेय है कि इसने अनेक विचारकों को पुन समानान्तरवाद की ओर लौटा दिया है, और अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण द्वैतवादियों से यह अपेक्षा करती है कि वे क्रिया-प्रतिक्रिया की प्रक्रिया का कोई सिद्धान्त प्रस्तुत करें ।

(१२१) दकार्त का प्रयास प्रसिद्ध है । दकार्त को मस्तिष्क के मध्य एक ऐसे रहस्यात्मक एव सूक्ष्म ग्रन्थिरूपी अग अर्थात् 'पीनियल ग्रन्थि' की सूझ मिली, जो उस स्थान का सूचक है जहाँ विचार जीवन्त प्रवाह से मिलते हैं और उस अग विशेष के भौतिक सन्तुलन की अत्यधिक कोमलता के कारण, अत्यन्त सूक्ष्म आवेग के द्वारा उनकी गति का सचालन करते हैं । उसके अपने समय में भी यह कल्पना विशिष्ट रूप से दुर्भाग्यपूर्ण मानी गई थी, यद्यपि उस समय कोई भी यह सदेह नहीं कर सकता था कि 'पीनियल ग्रन्थि' एक अल्पविकसित मध्य-नेत्र है जो कतिपय सरीसृपो मे स्पष्टत अकित होता है ।

अधुनातन सिद्धान्त अधिक विचक्षण तथा विवेकशील रहे हैं । ड्रीश का सिद्धान्त अत्यधिक सावधानी से प्रतिपादित हुआ है ।* ऊर्जा के सरक्षण के सिद्धान्त को ध्यान मे रखते हुए वह मनस् तथा शरीर के बीच मे एक मध्यस्थ अयान्त्रिक नियम को सनिविष्ट कर देता है, जिसका अपना स्वभाव उद्देश्यमूलक होता है (जिसे वह अरस्तू की भाँति अन्तस्तत्त्व [एन्टिलैकि] कहता है) जिसमे मस्तिष्क के आरम्भिक परिवर्तनो को रोकने और इस तरह बिना उनकी मात्रा मे परिवर्तन किये उनके परिणामो को बदलने की सामर्थ्य होती है ।

इस प्रकार के सभी प्रयास प्राणवादी के विश्वास को सूचित करते हैं, और फिर भी ये प्रयास प्रतिभा की अधिकता से आक्रान्त होते हैं । ऊर्जा के सरक्षण के सिद्धान्त को छोड देने का कोई वैध कारण प्रतीत नही होता क्योकि यदि मनस् को प्रकृति की दिशा मे किसी भी तरह का परिवर्तन करना है, तो इसे कुछ कार्य करना होगा जो अन्यथा किसी भौतिक बल के द्वारा किया जायगा । अत विशिष्ट द्वैतवादी इस विषय मे सरक्षण के भौतिक नियमो को दृढतापूर्वक अस्वीकार कर देते हैं, और मनस् को ऊर्जा का स्रोत मान लेते हैं ।‡ और उनमे से कुछ इस बात की ओर सकेत करते हैं कि स्वय कार्य-कारण सम्बन्ध की उस वर्णन के अतिरिक्त कोई पवित्रता नहीं होती कि प्रकृति के अनुक्रम मे हमे किस प्रकार की घटनाएँ वस्तुत एक दूसरे मे जुडी हुई मिलती हैं । किसी भी प्रकार की वस्तु, जो भी कुछ हम जानते

* 'साइस एण्ड फिलासोफि ऑव दें आरगैनिज्म' [अगी का विज्ञान तथा दर्शन] ।

‡ मैक्डूगल, 'बॉडी एण्ड माइण्ड' [शरीर तथा मनस्], बेर्गसां, 'माइण्ड एनर्जी' [मनस ऊर्जा] प्रैट, 'मैटर एण्ड स्पिरिट' [जड तथा चेतन] पृ ११२ ।

हैं, उसके अनुसार किसी भी अन्य प्रकार की वस्तु का कारण हो सकती है और हम इस सम्भावना को प्रागनुभविक रूप से अस्वीकार नहीं कर सकते कि मनस् शरीर पर क्रिया कर सकता है और इसके विपरीत [शरीर मनस् पर क्रिया कर सकता है], केवल इसलिए क्योंकि प्रकृति में अन्यत्र कारण तथा कार्य के बीच प्रकार की समानता है।

(१२२) क्रिया-प्रतिक्रियावाद की वास्तविक कठिनाई इस स्थिति में निहित नहीं है कि कुछ भौतिक नियमों में हस्तक्षेप होगा। यह इस तथ्य में निहित है कि—यद्यपि यह अनुभव के अनुरूप प्रतीत होती है—यह मूल रूप से अनुभव के प्रतिकूल होती है। न तो शरीर और न ही मनस् उस भूमिका को स्वीकार कर सकते हैं जो क्रिया प्रतिक्रियावाद इनके लिए निर्धारित करता है।

जब शारीरिक क्रिया के आधार पर व्याख्या देना सम्भव नहीं होता तब मनस् की दुहाई दी जाती है, और जिस सीमा तक शरीर-क्रियाविज्ञान लगभग प्रत्येक बात की व्याख्या कर देता है, उस सीमा तक मनस् के पास करने को बहुत कम शेष रहता है। जंगल में जंगली पशु द्वारा मेरा पीछा किया जाता है, भय की नैसर्गिक प्रवृत्ति मेरी शारीरिक प्रक्रिया पर अधिकार कर लेती है और मैं अपनी पूर्ण स्वीकृति से अपने शरीर को दौड़ता हुआ पाता हूँ, जबकि मुझे मनस् के रूप में इस कार्य में सिवाय पेड़ों से बचकर भागने के और कुछ भी करना नहीं होता। अपने अनुभव के वर्णन का यह ढंग ठीक नहीं है, मैं कभी भी चेतन रूप से मनस् तथा शरीर में इस प्रकार का श्रम-विभाजन नहीं करता, मैं, मनस् के रूप में इस बात को नहीं मानता कि मैं स्वयं इस प्रक्रिया के एक भाग को सम्पादित कर रहा हूँ। [परन्तु] यदि यह कोई चेतन प्रक्रिया है तो इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को ही मैं कर रहा हूँ :

मेरा शरीर समूचे रूप में जो करता है [उसे] मैं ही करता हूँ।

यह मैं ही हूँ जो अपने समस्त ऐच्छिक कार्यों को करता हूँ, फिर भी नैसर्गिक प्रवृत्ति की प्रक्रिया अथवा अन्य शारीरिक प्रक्रियाएँ उनमें शामिल हो सकती हैं। अनुभव के दृष्टिकोण से, शरीर मनस् के अतिरिक्त अन्य, कुछ भी नहीं है। यह मनस् का ही एक अंग है, और उस हद तक, स्वयं मनस् का ही एक अंश [भाग]।*

(इस विचार पर मनन करें यह कतिपय इस विषय की गलत अवधारणाओं को सही कर सकता है कि आपका मनस् से क्या अभिप्राय है। जैसाकि हमने कहा था, आत्म का सहजबोध शुद्ध निश्चयात्मकता का एक अंश है परन्तु यह भ्रमातीत नहीं है कि आत्म का विस्तार कितना है।)

(१२३) परन्तु शरीर के पास भी उस स्थान के लिए प्रतिवाद करने का कारण है जो इसके लिए द्वैतवाद द्वारा निर्धारित किया गया था। क्योंकि मनस् से अलग किये जाने के फलस्वरूप जो उत्पन्न होता है उससे इसकी हानि होती है। इसका कार्य अपेक्षाकृत निम्न प्रकार का है, यह 'केवल' यान्त्रिक है। तब प्लेटो की इस मान्यता के लिए कुछ औचित्य है कि ज्ञान शरीर का बहिष्कार कर देने पर अधिक सुविधापूर्वक होता है, और नैतिक द्वैतवाद

* इस तर्क के विस्तार के लिए, 'दि सैल्फ, इट्स बॉडी एण्ड फ्रीडम' [आत्म, इसका शरीर तथा स्वतन्त्रता] पढ़ें।

के लिए भी [ग्रौचित्य], जो अधिकाश मे तत्वमीमासीय द्वैतवाद के साथ चलता है, जिसके अनुसार ऐन्द्रिय सुख तथा इच्छा के रूप में शरीर पर विजय प्राप्त करनी है।

अत नैतिकी के सम्पूर्ण क्षेत्र मे इस मांग से अधिक महान् अथवा अधिक सत्य कोई बात नहीं हो सकती कि 'जगत्, शरीर तथा शैतान" पर विजय प्राप्त करनी है यह एक नैतिक दिशा है और यह उस विषयासक्ति तथा नैतिक जडवाद से दूर खींच लेती है जिसकी ओर सहज प्रवृत्ति सदैव मार्गान्वित होती है। प्लेटो के अतिरिक्त अन्य किसी ने भी इस नैतिक दिशा को अधिक उत्कृष्ट रूप से ग्रहण नहीं किया था। परन्तु हमे जिसके विरुद्ध सघर्ष करना है वह 'शुद्ध' प्रकार की जडवादिता है। यह तब होता है जब शरीर नैतिक सत्ता बन बैठता है, और यह मांग करने लगता है कि इसकी आवश्यकताओ, इसकी सहज प्रवृत्तियो, इसकी मनोग्रन्थियो तथा वासनाओ को पृथक् एव पर्याप्त सामग्री के रूप मे माना जाय तो हमें किसी उच्चतर और अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण, अपनी नैतिक दिशा के नाम पर इसके अक्खडपन की भर्त्सना करनी पडती है। यह उच्चतर वस्तु शरीर की अवहेलना मे अथवा शरीर से पृथक् मनस् का जीवन नहीं हो सकता। यह मनस् का वह जीवन है जो शरीर को अर्थ की अपनी विविध दिशाओ मे अपना लेता है एव सन्निविष्ट कर लेता है मनस् शरीर से कोई सकेत ग्रहण करे इसके स्थान पर वह उसे वही अर्थ देता है जो मनस् को अभिप्रेत है। यह ऐन्द्रिय सुख का त्याग नहीं है, अपितु उसका 'उदात्तीकरण' है यही वह बात है जिसका वर्णन प्लेटो ने अपने सवाद सिम्पोज़ियम मे किया है। सिम्पोज़ियम फीडरस की पूर्णता है और ससार के प्रति मध्ययुगीन अत्यधिक घृणा [कन्टेम्पटस मुण्डी] से अधिक श्रेष्ठ चरण है।* हमारे जडवाद प्राय अनुचित रूप से उपेक्षित भौतिक सत्ता का प्रतिशोध हैं।‡

(१२४) यदि मनस्-शरीर के सम्बन्ध मे द्वैतवाद सफल नहीं होता तो हम किसी एक प्रकार के एकतत्ववाद [मोनिज़म] से प्रतिबद्ध हो जाते हैं,—मानव व्यक्ति एक ही सत् होना चाहिए। इसके विकल्प क्या हैं?

प्रकृतिवादी एकतत्ववाद कहेगा कि यह सत् भौतिक शरीर है : मनस् यथार्थ प्रक्रिया मे एक प्रकार की प्रकाशमान (और अप्रभावकारी) सलग्न वस्तु—अर्थात् शरीर के जीवन का एक 'उपतत्व'—है, उस दृष्टि को हमने अस्वीकार कर दिया है।

यह भी हो सकता है कि मनस् तथा शरीर दोनो किसी तीसरे यथार्थ की प्रतीतियाँ हों, जो दोनों से भिन्न हो, और ये दोनो समानान्तर घटनाओ के रूप मे कार्य करते हो क्योकि ये इस आधारभूत तटस्थ द्रव्य के ही दो पक्ष है। जैसाकि हम देख चुके हैं यह स्पिनोज़ा की दृष्टि है।

---

* पालसन के ग्रन्थ 'एथिक्स' की प्रथम पुस्तक का दूसरा अध्याय पढ़ें जो क्रिश्चियनिटी पर स्मरणीय अध्याय है।

‡ यह टिप्पणी आजकल की अधिकांश जडवादिता पर प्रयुक्त नहीं होती। उदाहरण के लिए मनोविश्लेषण का यह प्रचलन अधिकाश में वह स्वागत है जो सर्वदा उस नीम हकीम का किया जाता है जो भोगवादी को वैज्ञानिक आधारों पर यह विश्वास दिला सकता है कि उनके लिए वे जो चाहें वह नहीं करना अस्वास्थ्यकर है।

अथवा यह भी हो सकता है कि मनस् स्वयं एक यथार्थ हो और शरीर इसके अंग के रूप में उसके साथ कार्य करता हो (प्रत्येक व्यक्ति के अपने दृष्टिकोण से) और (अन्य व्यक्तियों के दृष्टिकोण से) शरीर उस पूर्ण व्यक्ति की दृश्यगत प्रतिमा अथवा अभिव्यक्ति हो। यह प्रत्ययवाद की दृष्टि है जिस पर हम शीघ्र ही विचार करेंगे।

□□□

अध्याय १८

वैश्वक द्वैतवाद

(१२५) यह स्पष्ट हो गया है कि महान् द्वैतवादी विचार के क्षेत्र मे आन्दोलन करने वाले क्यो समझे जाते हैं। उन्होने जगत् मे एक वास्तविक भेद को पहचाना, और उन्होंने उसके विषय मे इतना विश्लेषण किया जिसके फलस्वरूप उन्होने अनेक असमाधेय समस्याओं को प्रस्तुत किया : जैसे—ये असमान तथा स्वतन्त्र सत्ताएँ कैसे मिलकर कार्य करती हैं ? और यदि वस्तुत. ये स्वतन्त्र हैं तो इन्होने सर्वप्रथम कैसे एक दूसरे को साथ-साथ पाया ?

ये प्रश्न वैश्वक द्वैतवाद की अपेक्षा, जो विश्व को दो विरुद्ध-धर्म सिद्धान्तो के मिश्रण अथवा सघर्ष का दृश्य मानकर प्रारम्भ होता है, मनस् तथा शरीर के द्वैतवाद के लिए अपेक्षाकृत अधिक उलझन वाले हैं। मनस् तथा शरीर मानवीय व्यक्तित्व मे ऐसे अभिन्न रूप से मिले हुए हैं कि अरस्तू प्लेटो को विश्वास से उत्तर दे सका था : आत्मा शरीर के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है यह शरीर का 'आकार' [फ़ॉर्म] है, शरीर का आन्तरिक जीवन है, उससे उतने ही उपयुक्त रूप मे सम्बन्धित है जितना कि कोई दस्ताना किसी हाथ से। ब्रह्माण्ड मे विरोधी तत्त्वों का वैषम्य अथवा विरोध भी इस सम्पूर्ण स्थिति को अधिक अच्छी तरह से प्रस्तुत कर सकता है। परन्तु यहाँ भी द्वैतवाद को उस सम्बन्ध की व्याख्या करनी चाहिए जो विरोधी सत्ताओ में है और इस बात का उत्तर देना चाहिए कि क्या उत्पत्ति तथा तत्त्व की दृष्टि से वे वास्तव मे एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं।

(१२६) इन वैश्वक द्वैतवादो पर विचार करने पर प्रारम्भ मे ही यह बात कुछ अनिष्ट सूचक प्रतीत हो सकती है कि इन्होने जगत् को अनेक स्थानों पर विभाजित कर दिया है। यदि द्वैतवाद ने खाई बनाई तो दूसरे ने पाटी। शुभ तथा अशुभ के नैतिक द्वैतवाद को कुछ हद तक विचार तथा जडद्रव्य अथवा आकार तथा सामग्री के तत्त्वमीमासीय द्वैतवादो द्वारा मिटा दिया गया है। परन्तु इन्हें पूर्णत नही मिटाया गया—प्लेटो मे, और हमारे विचार मे, अधिकांश मे यह तत्त्वमीमासीय दरार नैतिक दिशा का एक स्रोत बन गई है। हमे उन पर उनके गुणो की दृष्टि से विचार करना चाहिए।

(१२७) इस बात का एक स्पष्ट कारण है कि क्यो धार्मिक अनुभूति, यदि इसमे सबल नैतिक गुण है तो द्वैतवाद की ओर झुकती है, क्योंकि द्वैतवाद दैवी नियम को उस अशुभ नियम की सृष्टि करने के उत्तरदायित्व से मुक्त कर देता है जिससे सघर्ष करने मे यह लगा हुआ है।

परन्तु जब ईश्वर को उत्तरदायित्व से इस प्रकार वंचित कर दिया जाता है तो वह ससीम तथा परिमित हो जाता है, और स्रष्टा के रूप मे उसकी महत्ता लुप्त हो जाती है,

क्योंकि जगत् मे उसके अतिरिक्त एक और भी सत्ता है जो अपने अस्तित्व के लिए उस पर निर्भर नही है। इस प्रकार की दृष्टि मे श्रेयस् [गुड] सर्वोत्कृष्ट सत् नहीं रहता—सर्वोत्कृष्ट सत् कोई नहीं है, और [फलत:] मनस् किसी अन्य चरम सत् की खोज करने लग जाता है जो दोनो के अस्तित्व एव पारस्परिक सयोग का स्पष्टीकरण कर सके।

इस प्रकार धार्मिक द्वैतवाद बहुत कम स्थिर अथवा सगतिपूर्ण रह हैं। यह सभव है कि उनकी पृष्ठभूमि मे किसी रहस्यमय चरम एकता में, कोई विश्वास मिले। चीनी परम्परा मे ताओ—अज्ञात विधान, याग और यिन से ऊपर था।[१] फ़ारस में दोनों देवता काल के जुड़वाँ पुत्र थे, और काल मे पुन लय होना ही उनकी नियति थी।

(१२८) शुद्ध तार्किक आधारो पर, यह स्पष्ट है कि वैपम्य के विरोधी सदस्यों जैसे प्रकाश तथा अधकार, शीत तथा ताप, मे एक गहरी जातीय समानता होती है। शीत तथा ताप दोनो तापक्रम के अश [मात्र] हैं। उनकी तुलना केवल हमारी सवेदनशीलता तथा एक दूसरे के सदर्भ मे की जाती है। क्या यही बात शुभ तथा अशुभ अथवा आत्म तथा जड द्रव्य के विषय मे कही जा सकती है ?

अशुभ के विषय मे निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि अशुभ के रूप मे प्रभावकारी [सार्थक] होने के लिए इसमें शुभ होना ही चाहिए। ल्यूसीफर[२] स्वर्ग के विरुद्ध इसीलिए युद्ध कर सकता था क्योंकि वह भी देवदूत तुल्य स्वभाव का है। यदि हम शुभ तथा अशुभ मे स्पष्ट भेद बना सकें, तो अशुभ विनष्ट हो जाएगा। इस सम्बन्ध मे यह प्रश्न भी उठाया गया है कि क्या तब शुभ भी विनष्ट नहीं हो जायगा, अर्थात् कि क्या विषमता का थोड़ा-सा भी तत्त्व शुभ को इसका गुण प्रदान करने के लिए आवश्यक नहीं है ? इसके विषय मे और अधिक विचार का अवसर आगे आयेगा, परन्तु कम से कम इतना तो स्पष्ट ही है कि—क्योंकि अशुभ मात्र निरर्थक है, अत.—शुभ तथा अशुभ स्वतन्त्र यथार्थ नही हो सकते।

(१२९) परन्तु आत्मा तथा जड के विषय मे यह बात इतनी स्पष्ट नहीं है कि दोनो को ही अस्तित्व के लिए एक दूसरे की आवश्यकता है। दकार्त को वे दो भिन्न द्रव्य प्रतीत हुए थे क्योंकि 'दो द्रव्यों को वस्तुत तभी भिन्न कहा जा सकता है जब प्रत्येक दूसरे से स्वाधीन अस्तित्व रखता हो।'* मनस् के विषय में बिना सोचे भी हम दिक् तथा जड द्रव्य का स्पष्ट तथा निश्चित प्रत्यय बना सकते हैं। यह दकार्त को विश्वस्त करने के लिए पर्याप्त था कि जड द्रव्य का मनस् के बिना भी अस्तित्व हो सकता है। उससे यह भी प्रतीत हुआ कि हम बिना दिक् अथवा जड द्रव्य पर विचार किये 'अहम् चिन्तयामि' का स्पष्ट तथा सुनिश्चित प्रत्यय बना सकते हैं। क्योंकि मनस् भी बिना भौतिक जगत् के अस्तित्ववान हो सकता है। इसके विषय में आपका निर्णय क्या है ?

(१३०) मुझे सदेह है कि हम मे से अधिकाश लोगो को यह विश्वास है कि हम लोग बिना मनस् के विषय मे कुछ भी सोचे जड़ द्रव्य के विषय मे सोच सकते हैं। हम लोग एक ऐसे

---

* स्पिनोज़ा, 'प्रिन्सपल्स ऑव दकार्त फ़िलासोफ़ि' [दकार्त के दर्शन के सिद्धान्त] पहला भाग, दसवीं परिभाषा।

अवसर की कल्पना कर सकते हैं जब जगत् के अपने एकाकी विकास मे चेतना का अंश भी नही था, हम लोग ऐसे दिक् के विषय मे सोच सकते हैं जो वस्तु से विहीन है, और उन व्यक्तियों से विहीन है जो इसके विषय मे सोचते हैं। जब प्रोफेसर ह्वाइटहैड ने अपनी पुस्तक कान्सैप्ट ऑव नेचर मे कहा कि 'प्रकृति मनस् से स्वतन्त्र है' तो उनका यही तात्पर्य था कि—हम भौतिकी के तथ्यो पर बिना मनस् को बीच मे लाये विचार कर सकते हैं और करते भी हैं। और कम से कम उन लोगो के लिए यह एक बहुत बढ़िया तर्क बन जाता है जो दकार्त के साथ यह मानते हैं कि हमारा विचार यथार्थ का एक श्रेष्ठ मानदण्ड है कि प्रकृति की सामग्री स्वतन्त्र सत्ता है।

दूसरी ओर, हममे से अधिकाश यह कहेंगे कि मनस् पर बिना जड द्रव्य के सोचना थोडा कठिन है। जब हम सोचते हैं, तो हम किसी वस्तु के विषय मे सोचते हैं और उस वस्तु का सदैव (अथवा लगभग सदैव) अपने मे कोई ऐन्द्रिक बिम्ब होता है। प्रकृति अनुभव के लिए एक अत्यावश्यक अनगढ उपादान सामग्री है, जो समस्त चिन्तन का आधार है। तब क्या अस्तित्व के लिए मनस् को जड द्रव्य की आवश्यकता है?

परन्तु थोडा अधिक ध्यान से विचार करें। क्या मनस् को जड द्रव्य की आवश्यकता है, अथवा इसे केवल जड द्रव्य के विचार की आवश्यकता है? और क्या इस विचार का बिना जड द्रव्य के किसी स्वतन्त्र द्रव्य के रूप मे वास्तविक अस्तित्व के, अस्तित्व हो सकेगा? यदि आप इन प्रश्नों का मर्म ग्रहण कर लें तो आपको दकार्त से आगे के दर्शन की प्रगति की चाबी मिल जायेगी।

(१३१) स्पिनोज़ा ने कहा यह स्पष्ट है कि मनस् तथा जड द्रव्य एक दूसरे से सम्बद्ध हैं—हमारे विचार सबसे पहले जड द्रव्य के विषय मे विचार होते हैं। परन्तु जब हम जड द्रव्य के विषय मे सोचते हैं तो हम इसे परम सत् की ही एक प्रतीति अथवा 'अन्तिम यथार्थ के धर्म [एट्रीब्यूट]' के रूप म ग्रहण करते हैं,—और यह सोचना ठीक है। इसी भाँति जब हम मनस् के विषय मे सोचते हैं तो हमे यह भी सत् के सारतत्त्व के रूप मे ही प्रतीत होता है,—और यह प्रतीति भी उसी तरह सत्य होती है। परन्तु यदि दोनो सत्य हैं तो—केवल ऐसा एक ही परम सत् अथवा द्रव्य हो सकता है, जड द्रव्य तथा मनस् (विस्तार तथा विचार) जिसकी मानो विभिन्न भाषाओ मे दो पूर्ण तथा समान अभिव्यक्ति की विधाएँ हैं। हमें द्वैतवाद से एकतत्त्ववाद की ओर लौटना पडेगा और इस एक परम द्रव्य को हम प्रकृति अथवा ईश्वर कह सकते हैं,—एक सत्, पूर्ण, स्वयभू और उन सभी वस्तुओं का आधार जो अनुभव मे प्रकट होती हैं।

लाइबनिज ने एक और भी अधिक जोखिम भरा सुझाव दिया . शायद जड द्रव्य का विचार बिना किसी बाह्य अनुरूप द्रव्य के वास्तविक अस्तित्व मे पर्याप्त है। अनत प्रकृति की अवधारणा ठीक वैसी ही है जैसी हमे प्राप्त है। जब हम यह कहते हैं कि मनस् को विचार करने के लिए प्रकृति की अनगढ सामग्री के रूप मे आवश्यकता है, तो शायद हमने सत्य और प्रकृति के विषय मे कि वह क्या है, सम्पूर्ण सत्य कह दिया होता है। यह मानना हमारे मार्ग को एक अन्य प्रकार के एकतत्त्ववाद की ओर ले जाता है, जिसमे प्रकृति की

यथार्थता को मनस् की यथार्थता मे अन्तर्भूत कर लिया जाता है। यह प्रत्ययवाद [आइडियलिज्म] कहलाता है।

इतिहास के रूप मे प्रत्ययवाद ऐसे प्रकार का दर्शन प्रतीत होता है जिसकी ओर द्वैतवाद ने विचारधारा को स्वत ही मोड दिया है। क्योकि द्वैतवाद प्रत्येक बार मनस् क्या है, इस प्रश्न के स्वरूप के अत्यन्त स्पष्ट सहजबोध के कारण उपस्थित हुआ है, अत उस सहजबोध के अर्थ को, एक बार पुन मनस् को प्रकृति मे सन्निविष्ट कर जाना नहीं जा सकता,—जो स्वय इसका एक विषय है, परन्तु उसे एक नये तथा क्रान्तिकारी एकतत्ववाद की प्राप्ति द्वारा ही जाना जा सकता है जिसमे मनस् प्रकृति को स्वय मे समा लेता है।

हमने प्रकृतिवादी एकतत्ववाद पर, उसके गुणो की दृष्टि से विचार किया, और इसे असन्तोषजनक पाया। फलत. दो ही विकल्प रह जाते हैं या तो स्पिनोजा जैसा एकतत्ववाद जो मनस् तथा जड द्रव्य दोनो को एक ही द्रव्य मे सन्निविष्ट कर लेता है, जिसका परम सत् इतना अधिक तटस्थ नही है जितना अज्ञेय है, अथवा प्रकृतिवाद का ठीक प्रतिरूप—ऐसा एकतत्ववाद जो किसी न किसी प्रकार से प्रकृति को मनस् म सन्निविष्ट कर लेता है। ऐसा कैसे हो सकता है ? हमे उत्तर के लिए प्रत्ययवादी विश्व-दृष्टि की ओर ध्यान देना होगा।

(११२) इसके पूर्व इतिहास से प्राप्त अनुमानो पर एक टिप्पणी। यह इतिहास की दृष्टि से सही है कि प्रत्येक द्वैतवाद ने एकतत्ववाद को जन्म दिया है जिसने उस सबको साथ ला दिया है जिसे द्वैतवाद ने अलग कर दिया था। बाद वाला काट का द्वैतवाद तुरन्त फिश्टे एव उसके उत्तरवर्तियों के एकतत्ववाद द्वारा अपने स्थान से च्युत कर दिया गया था। यह परिस्थिति अपने आप द्वैतवादी का खण्डन नही करती है क्योकि उतनी ही सत्यता से यह भी कहा जा सकता है कि अंशतक विशेष के प्रत्येक सश्लेषण के पश्चात्, जगत् के मूलभूत सघर्ष तथा अशाति ने किसी नये विचारक को तत्वमीमांसा मे किसी अ य प्रकार के द्वैत को स्थापित करने की ओर प्रेरित किया होगा। कोई भी ऐसा एकतत्ववाद अ तिम रूप से सन्तोषप्रद नही हो सकता जो उस प्रतिरोध एव अवरोध की व्याख्या न दे सके जिसका जगत् के आध्यात्मिक सिद्धान्त को जानने एव अपने नैतिक प्रयास मे सामना करना पडता है।

□□□

अध्याय १९

प्रत्ययवाद क्या है ?

(१३३) प्रत्ययवाद वह दर्शन है जो यह मानता है कि यथार्थ का स्वरूप मानसिक है।

यह प्रयोजनवाद तथा सहजबोधवाद की भाँति मुख्यतया जानने का तरीका नहीं है जिससे तत्त्वमीमांसात्मक निष्कर्ष केवल आनुषंगिक रूप में ही प्राप्त होते हों। मुख्यत तत्त्वमीमांसा एक ऐसी विश्व-दृष्टि है जिसको जानने के विभिन्न तरीकों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार, प्रयोजनवाद तथा सहजबोधवाद ने सामान्यतया अपने अनुयायियों को प्रत्ययवाद की ओर अथवा प्रत्ययवाद की दिशा में प्रेरित किया है।

जैसा हमने देखा बर्गसां जिस सीमा तक किसी एकतत्त्ववादी विश्व दृष्टि का पूर्वाभास देता है, उस सीमा तक, प्रत्ययवाद की ओर अभिमुख होता है। परन्तु वह बीच ही में एक रोचक स्थल पर ठहर जाता है। यदि हम सत् [बीइंग] का कोई ऐसा पैमाना बनाएँ .

जड़—ऊर्जा . जीवन . मनस्

प्रकृतिवाद प्रथम पद द्वारा सम्पूर्ण पैमाने की व्याख्या देता है। प्रत्ययवाद अन्तिम पद द्वारा सम्पूर्ण पैमाने की व्याख्या देता है परन्तु बर्गसां दोनों अन्तिम पदों की बीच वाले पद द्वारा व्याख्या देने का प्रयत्न करता है। उसके सिद्धान्त को 'जीववाद' [वायो इज्म] कहा जा सकता है। प्रत्ययवादी टिप्पणी करेगा कि बर्गसां अपनी व्यवस्था को सुग्राह्य बनाने के लिए, "जीवन' को मनस् के गुणों यथा स्मृति तथा आविष्कार करने की सामर्थ्य से विभूषित करने को बाध्य है। प्रत्ययवादी विश्वास करता है कि हमारे विकल्प वस्तुत दो ही हैं या तो हमें मनस् की व्याख्या भौतिक प्रकृति द्वारा देनी पड़ेगी या हमें भौतिक प्रकृति की व्याख्या मनस् द्वारा देनी पड़ेगी। और क्योंकि हमने पहले वाले विकल्प को असंभव पाया है (छठा अध्याय), अत हमें बाद वाले विकल्प का वरण करना चाहिए। (रैण्ड में फिश्टे का फर्स्ट इन्ट्रोडक्शन, पृ० ४८६ देखें)।

(१३४) प्रत्ययवादी की स्थिति दो प्रतिज्ञप्तियों में अभिव्यक्त की जा सकती है, एक निषेधात्मक तथा एक विध्यात्मक

(अ) प्रकृति की ऊपरी आत्म-पर्याप्तता, भ्रमात्मक है अपनी दिशा में चलने में, अपने नियमों के संचालन में, शाश्वत होने में, अपने बाहर किसी भी आधार अथवा सर्जक की आवश्यकता के अभाव में प्रकृति स्वाधीन प्रतीत होती है परन्तु वास्तव में प्रकृति अपने से भिन्न किसी अन्य वस्तु पर भी निर्भर करती है (इस बात पर ध्यान दें कि प्रत्ययवाद यह नहीं कहता कि प्रकृति अपूर्ण है, जैसा कि कभी-कभी इसका आशय मान लिया जाता है)।

(ब) प्रकृति जिस पर निर्भर करती है वह मनस् [आत्म, प्रत्यय][3] है। प्रत्ययवाद शब्द इस विध्यात्मक प्रतिज्ञप्ति के आशय को व्यक्त करने में विशेष रूप से समर्थ नहीं है। सबसे पहले इसे आदर्शों को नही (मानो आदर्शों का ही एकाधिकार हो) अपितु प्रत्ययो को ही सुझाना चाहिए (अंग्रेजी के आइडियलिज्म शब्द में—जिसके लिए यहाँ प्रत्ययवाद का प्रयोग किया है 'एल' अक्षर ध्वनि-प्रभाव के लिए प्रविष्ट हो गया है, उसका अर्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है) वस्तुत आइडिया-इज्म [प्रत्ययवाद] अधिक उपयुक्त होता।

दूसरी बात यह है कि मूल शब्द 'प्रत्यय' एक ऐतिहासिक सयोग है, इस तथ्य की वजह से कि जॉन लॉक तथा उसके अनुवर्ती प्रत्ययवादी बर्कले ने अनुभव को प्रत्ययो द्वारा सरचित माना, जो कि, अधिक से अधिक मानसिकता के अग हैं। मानसिकवाद अथवा अध्यात्मवाद अधिक उपयुक्त सज्ञाएँ होगी परन्तु अन्य उपयोगो के लिए इन्हे अलग कर दिया गया है। अत हम आइडियलिज्म [प्रत्ययवाद] शब्द का ही प्रयोग करेंगे, और इसका अर्थ केवल यही मानेंगे कि विश्व मे जो कुछ अन्तिम रूप से यथार्थ है वह पत्थर तथा धातु से बने होने के स्थान पर उस तत्त्व से बना हुआ है जिससे प्रत्यय बनते हैं। यदि हम वस्तु के द्रव्य, अन्तिम सत् जो सभी सतो की व्याख्या करता है, की खोज कर रहे हैं तो हम पायेंगे कि इसकी प्रकृति मानसिक है—विचारक तथा उसके विचार, सकल्पेच्छा तथा उसके कार्य, आत्म तथा इसकी आत्माभिव्यक्ति। और जो कुछ भी इससे अलग प्रतीत होता है, इससे स्वाधीन तथा इसके प्रतिकूल, जैसे जड द्रव्य, शक्ति अथवा दिक् तथा काल, वह अपने अस्तित्व के लिए भी मनस् पर आश्रित के रूप मे उपलब्ध होगा।

(१३५) किसी भी दर्शन के लिए सहजबोध कोई पर्याप्त आधार नहीं है, परन्तु इसके बिना कोई भी सच्चा दर्शन प्राप्त करना हमारे लिए सभव नहीं है। प्रत्ययवाद के अपने प्रथम स्रोत सहजानुभूतियो मे होते हैं। जो मानव जाति मे अत्यन्त प्राचीन काल से विद्यमान होते हैं। वास्तव मे इतिहास के विषय के रूप मे दार्शनिक प्रत्ययवाद को उस प्रयास के रूप मे वर्णित किया जा सकता है जिसके द्वारा बुद्धि को मानव जाति की आध्यात्मिक सहजानुभूतियों के निकट लाया जाता है।

और क्योंकि ये सहजानुभूतियाँ सर्व प्रथम धर्म के रूप मे प्रस्तुत हुई थी, अत प्रत्ययवाद बहुधा धर्म के दार्शनिक विकास के रूप मे प्रकट होता है।

इस प्रकार भारत मे ब्रह्मवाद तथा वेदान्त विचार प्रत्ययवाद के प्रकार हैं। (डॉयसन की पुस्तक सिस्टम ऑव द वेदान्त [वेदान्त का विचार तत्र] देखें)। चीन मे लाओत्से का दर्शन जो प्राचीन चीनी ताओ सिद्धान्त पर आधारित है, प्रत्ययवाद के सदृश है। उत्तरी क्षेत्र का बौद्ध धर्म अपनी तत्त्वमीमासा मे प्रत्ययवाद बन गया और इस रूप मे वह चीन तथा जापान मे फैल गया। यहूदी धर्म (अमर यूनानियो की सहायता से) फिलो तथा माईमोनाइडीज को जन्म दे चुका है। ईसाई धर्म भी उसी भाँति यूनानी सहायता से आगस्तीन, ऐबेलार्ड, अन्सलम, टॉमस एक्वीनॉस, डन्सस्काटस तथा अनेक अन्य लोगो को जन्म दे चुका है,—उनमे से कुछ अपने पूर्व के प्लेटो तथा अरस्तू की भाँति द्वैतवाद (अथवा बहुत्ववाद) तथा प्रत्ययवाद के बीच डोलते रहे।

आधुनिक काल मे, धार्मिक चेतना की स्वाधीनता को वजह से प्रत्ययवाद का नया विकास हुआ है, जो अधिकाश मे एक नये सहजबोध पर आधारित है जो दकार्त, लाइबनित्स, मेलब्राच, बर्कले एव उनके उत्तराधिकारियो मे प्रकट होता है। प्रत्ययवाद को समझने की दिशा मे पहला चरण यह होगा कि हम अपने लिए उन मूलभूत सहजानुभूतियो को प्राप्त करने का प्रयास करें जिन्होंने मानव चिन्तन के इतिहास मे इसे उत्पन्न किया है।

□□□

के विषय मे अनुदेशो से पूर्ण पायेगा, परन्तु वह एक घटिया दार्शनिक होगा यदि वह स्वय के विषय में बहुत अधिक प्रबुद्ध नही बनता। जडात्मवाद पर ई बी टेलर ने अपनी पुस्तका प्रिमिटिव कल्चर [आदिम संस्कृति], अन्थ्रोपोलॉजि [नृ विज्ञान] मे आगे आने वाले सभी विद्वानो के लिए मूल विषय को प्रस्तुत कर दिया है जिससे कि उसमे सशोधन किया जा सके।

परन्तु जडात्मवाद केवल पुरावशेष नही है। यह तो सार्वभौम मानव मनोवृत्ति है। इसमें सरलता से अतिरेक हो जाता है और (निरर्थकताओ की एक अच्छी खासी फसल उत्पन्न होती है यह 'अन्तिम कारणों' के एक ऐसे क्षेत्र को प्रदान करता है जिसके विरुद्ध हम देख चुके हैं कि आधुनिक विज्ञान ने अपना सुदीर्घ आन्दोलन छेड रखा है, परन्तु हमारा प्रश्न अभी भी यही होना चाहिए कि क्या इस मनोवृत्ति को नष्ट कर देना चाहिए अथवा इस पर नियन्त्रण करना चाहिए, और (इससे पूर्व के प्रश्न के रूप मे) *कि हम कैसे और क्यो जडात्मवादी बनते है।*

ऐसी किसी भी घटना को जो हमे किसी महत्त्वपूर्ण तरीके में प्रभावित करती हो, सजीव मान लेने की हमारी मनोवृत्ति है हमारा क्रोध उस बाधा को साधारण रूप मे सजीव मान लेता है जो हमारे प्रथम प्रयासो के सामने झुकने से इन्कार कर देती है, और इसकी *ढिठाई को कम करने के लिए सवेग अतिरिक्त ऊर्जा को नियुक्त कर देता है। गहन अथवा* सतत दुर्भाग्य बहुत कम लोगो को पूर्णत 'दार्शनिक' रहने देता है, परिस्थितियो के प्रति आक्रोश की अनुभूति की ओर हम प्रवृत्त होते हैं—परन्तु यह आक्रोश इन घटनाओ के स्रोत को पहले ही किसी अनिष्टकारिता से युक्त मान लेता है, और अनिष्टकारिता उद्देश्य का रूप है।

मैं ऐसे लोगो को जानता हूँ जो हार, हानि अथवा अन्याय के भारी अनुभव से स्तम्भित होकर कडुवाहट के कारण कह पडते है कि वे किसी भी ऐसे ईश्वर मे विश्वास करने को तैयार नही हैं जो ऐसी बातों को घटने देता है। इस कडुवाहट मे विपत्ति के कारण का सवेगात्मक मानवीकरण निहित होता है। भय को ईश्वर की अवधारणा का स्रोत कहा गया है (पहला अध्याय) परन्तु भय से तब तक 'ईश्वर की धारणा'' नही बनती जब तक कि भय का विषय वैयक्तिक रूप मे अनुभूत न हो जिससे हम भयभीत होते हैं, और फलस्वरूप वह किसी प्रार्थना को सुनने मे समर्थ न हो। यदि प्रार्थना जैसाकि विलियम जेम्स कहता है, सभी मनुष्यो म सह प्रवृत्यात्मक हो, तो यह उस प्रचलित सहजानुभूति के कारण है कि प्रकृति सकल्पेच्छा की अभिव्यक्ति है। विधेयात्मक मनोवेग अन्त प्ररणाओ को सजीव मानने की प्रवृत्ति मे भी समान रूप से उर्वरक हैं। प्राकृतिक सौन्दर्य का आनन्द कदाचित् ही कोई ऐसी भावना होता है जो किसी के प्रति कृतज्ञता के भाव से अछूती हो—वह किसी *अज्ञात यथार्थ का इस प्रकार आभास पाना है मानो यह आनन्दानुभूति अभिप्रेत रही हो।* इस प्रकार जडात्मवाद हमारे सवेगात्मक जीवन का गहरा साथी है। और इसकी प्रासगिकता इस तथ्य मे निहित है कि क्योकि कोई भी उद्देश्य दिखाई नही पडता, और क्योकि कुछ घटनाएँ जैसे अन्य जीवित प्राणियों का व्यवहार वस्तुत ही उद्देश्यमूलक है, सामाजिक जीवन की सभावना के लिए हमे कही न कहीं जडात्मवादी होने को बाध्य होना पड़ता है।

केवल संवेगात्मक जड़ात्मवाद के कारण ही एक शिशु किसी प्रदत्त भौतिक आकृति को अपनी माँ के रूप में मानता है, अथवा इसी वजह से कोई भी मनुष्य साथी या मित्र होता है। इसके अतिरिक्त हमारे सम्मुख सजीव और निर्जीव के बीच अन्तर करने का प्रश्न उठता है। हम कैसे जानते हैं कि क्या जीवित है? केवल उसके व्यवहार के द्वारा जो 'साधनों के वरण के द्वारा साध्यों की खोज' के संकेतों को प्रकट करता है—क्या कोई और संकेत भी है? हम कैसे जानते हैं कि क्या निर्जीव है? केवल इसी तथ्य के कारण कि हमें उद्देश्य के संकेत दिखलाई नहीं पड़ते, और हमारा विषय के साथ कोई संबंध नहीं होता—क्या इसके अतिरिक्त भी कोई साक्ष्य है? परन्तु ऐसा साक्ष्य निर्णायक नहीं होता है और यह आवश्यक नहीं है कि ये सीमाएँ जीवन की अनुपस्थिति हों। जब हम उद्देश्य को कारणता के प्रतिकूल परिचालित होता हुआ नहीं मानते अपितु कारणता से संगत तथा उपयोग करने वाले के रूप में मानते हैं (पीछे सातवाँ अध्याय देखें) तो वैज्ञानिक विरोध अपनी अनिवार्यता को खो देता है, और हम सार्वभौम सजीवता [प्राण सचरण] [हायलोज़ोइज्म, सर्वात्मवाद] की संभावना पर विचार करने के लिए स्वाधीन हैं। यह परिकल्पना अनेक आधुनिक विचारकों में निर्जीव से सजीव के विकास के अनुपयुक्त विवरण से बचाव को प्रस्तुत करती प्रतीत होती है, और अनेक विचारक तो यहाँ तक मानते हैं कि भौतिक सत् की प्रत्येक इकाई का अपना मानसिक तथा साथ ही साथ भौतिक पक्ष भी है (हैकेल, फेरवार्न, पावल्सन, ह्वाइटहेड)। मेरा अपना विश्वास है कि यह परिकल्पना जगत् को सजीव मानने में बहुत अधिक गलती करती है। परन्तु हमें इस बात पर ध्यान देना है कि यह एक संभव परिकल्पना है। जीवन दृष्टिगत नहीं होता, उसे विषयों पर आरोपित किया जाता है, और हमारा संवेदनात्मक जड़ात्मवाद सिद्धान्ततः न्यायोचित है। हमें अभी भी एक ऐसे सिद्धान्त की तलाश है जो इसकी सीमाओं को निर्धारित करे। इस बीच में, जबकि जगत् पर इसका खण्डशः प्रयोग सर्वदा संशयात्मक होता है, और [मेघ] गर्जन का अर्थ अब और अधिक ज़ीयूस [Zeus] की आवाज़ से नहीं होता, तब समग्र जगत् पर इसका प्रयोग समालोचना का अधिक विषय हो सकता है जगत् को किसी एक ही जीवन की अभिव्यक्ति मानने की हमारी अनुभूति सही हो सकती है।

यह सहजानुभूति प्रथमतः केवल अत्यधिक संवेग के समय ही स्पष्ट हो सकती है, मृत्यु, रोग तथा अन्य संकटावस्था में जब मानव-आत्मा से प्रकृति के अधिक सशक्त होने के दावे की उपेक्षा की जाती है। परन्तु यह कभी कभी शुद्ध रूप से सज्ञानात्मक बोध के रूप में प्रतीत होता है कि जड़ द्रव्य, गति, ऊर्जा की कोई मानसिक प्रत्याभूति अवश्य हो, यदि सम्पूर्ण विश्व में किसी भी मनस् ने या तो इसे जाना न हो अथवा यह न जाना हो कि इसका अस्तित्व क्यों है तो, कुछ भी सनातन रूप से अस्तित्ववान नहीं हो सकता।

(१४०) (४) मैं प्रत्येक अन्य वस्तु की सत्ता पर संदेह कर सकता हूँ पर स्वयं अपनी सत्ता पर सन्देह नहीं कर सकता।

यह वह सहजानुभूति है जिसने आधुनिक काल के एक ऐसे लक्षण का रूप ग्रहण कर लिया है कि हम इसे एक नई सूझ मान सकते हैं। यह वह खोज है जो देकार्त द्वारा इतने

सजीव रूप में अभिव्यक्त हुई है, कि आत्म सब वस्तुओं में अत्यधिक निश्चित है, ईश्वर में जो एक मात्र निश्चित वस्तु है। दकार्त ने उस वस्तु का सही चित्रण किया है या नहीं जिसके विषय में वह इतना निश्चित था कि इस विषय पर जबसे उसने लिखा तब से अब तक बहुत विवाद हुआ। परन्तु इस बात पर विवाद नहीं है कि चरम निश्चयात्मकता की स्थिति [लोकस] चिन्तनशील विषयी की आत्मचेतना में ही कहीं है (ऊपर ६०वें परिच्छेद में दकार्त के मैडोटेशन्ज के निर्देश को देखें। इस बात में दकार्त आधुनिक युग का प्रवक्ता-मात्र था, जो अधिक तीव्र आत्मचेतना का युग था; और वह उसी बात की अपने तरीके से पुनरावृत्ति कर रहा था जिसका प्राचीन भारत के ऋषियों ने बहुत पहले विवेक कर लिया था, अर्थात् कि 'आत्मन्' अथवा 'स्व' [सैल्फ] सत्ता का मुख्य मूलतत्त्व है।

इस प्राचीन सहजानुभूति का नया पक्ष वह स्थान है जिसे जगत् आत्म के सन्दर्भ में ग्रहण करता है। अपेक्षाकृत पहले की सहजानुभूतियों ने आत्म को जगत् के आधार के रूप में देखा था जो जगत् से स्वतंत्र तथा, जगत् की अपेक्षा अधिक यथार्थ था। भारतीय ऋषि ने देखा कि योग की साधना में वह वस्तुओं की चेतना का परित्याग कर सकता है और आत्म की चेतना पर उस सीमा तक बल दे सकता है जिस सीमा तक कि आत्मचेतना, चेतना ही चेतना न हो जाय। यह अधिक नई सहजानुभूति आत्म के भीतर के जगत् के उद्घाटन के रूप में ग्रहण की जा सकती है। क्योंकि इसकी अपनी आत्म निश्चितता में 'जगत्' का अपना कुछ भी बहिष्कृत नहीं वह उसमें चेतना के विषय के रूप में विद्यमान है।

उदाहरणस्वरूप जब मैं किसी गुलाब को देखता तथा सूँघता हूँ तो वह क्या है जिसके बारे में मुझे पूर्ण निश्चय है? कहीं वह गुलाब चतुराई पूर्वक बनाया गया कृत्रिम पुष्प तो नहीं है, तथा उसकी खुशबू सांश्लेपिक रसायन का फल तो नहीं है? यदि अपनी भ्रान्तियों की समस्त सभावनाओं तथा कला के अत्यन्त मौलिक छलों की कल्पना करूँ और अपने इन्द्रिय संवेगों के स्थान पर सम्मोहक प्रतिभाओं को रखने में समर्थ जादू के कल्पित छलों को ले लूँ, तब ऐसा क्या रह जाता है जिस पर मैं अभी भी संदेह नहीं कर सकता अथवा जिसकी मैं अवहेलना नहीं कर सकता। यह 'मैं देखता हूँ तथा 'मैं सूँघता हूँ'—वाला अनुभव है जो अब 'मेरा' है। न ही कोई शक्ति, दैव अथवा शैतान विश्व से इस तथ्य को मिटा *सकता है कि मुझे अब देखने तथा सूँघने का अनुभव हो रहा है। यह ऐसी वास्तविकता है* जिसका निर्वासन नहीं किया जा सकता। और इसी के भीतर देखा हुआ तथा सूँघा हुआ गुलाब है।

और जो बात गुलाब के लिए सत्य है वही बात किसी भी देखी हुई अथवा सोची हुई वस्तु के विषय में भी सत्य है। देखना, सुनना, अनुभूति होना, चखना, सोचना सदा ही होते हैं और सर्वदा उस अवस्था के अविचल घटक होने हैं, जबकि 'विषय' को, केवल इसलिए कि वह मुझसे भिन्न है, जो स्वय अपने से ही (जो मुझे अग्राह्य है) सोचा, चालाकी से प्रभावित अथवा तत्क्षान्तरित किया जा सकता है। और इसीलिए मैं इसे जिस रूप में सोचता हूँ उससे भिन्न हो सकता है, अथवा हो सकता है कि यह कुछ भी न हो। 'चेतना के इन एस्पैक्ट्स' तथा इनके शाश्वत मेरी चेतना के विषय में मुझे निश्चय है : ये मेरे 'मौलिक' हैं,

और उनकी समष्टि, जगत् भी मेरे भीतर है। शोपेनहॉवर ने अपनी महान कृति "द वर्ल्ड एज़ विल एण्ड आइडिया' [संकल्प तथा प्रत्यय के रूप में जगत्] को प्रारंभ करते हुए कहा है कि "जगत् मेरा प्रत्यय है"।

आत्मा की इस सहजानुभूति के चक्षुओं के द्वारा अपने संवेगों तथा प्रत्ययों के रूप में जगत् को अपने अन्तर्गत लेते हुए देख पाना महत्वपूर्ण है। आधुनिक दर्शन अग्राह्य हो जायगा जब तक कि कोई इस दृष्टिकोण को कम से कम नाटकीय या रूपकात्मक ढंग से स्वीकार नहीं कर लेता। मनस् एक छोटी सी वस्तु है, एक अनन्त विश्व में एक अकिंचन वस्तुमात्र, मनस स्वयं एक अनन्त वस्तु है, समस्त विश्व इसमें प्रतिबिम्बित होता है। यही वह विरोधाभास है जो प्रत्ययवाद को इसका आधुनिक रूप प्रदान करता है।

प्रत्ययवाद इस विरोधाभास का प्रतिवाद नहीं करता। आत्म के अन्दर जगत् को हमें दिखलाने में यह इस बात को अस्वीकार नहीं करता कि एक दूसरे अर्थ में आत्म जगत् के अन्दर होता है। यह मानना कि "दिक् तथा काल का सम्पूर्ण जगत् मेरे उस रूप के भीतर है जो मैं अब हूँ' एक प्रकार का 'मनोनिष्ठवाद' है जो मुश्किल से ही पूर्ण सत्य हो सकता है। फिर भी इसमें जितना सत्य है उसके साथ हमें न्याय करना चाहिए।

जब ह्वाइटहेड ने अपनी पुस्तक 'साइंस एण्ड द मॉडर्न वर्ल्ड' प्रकाशित की तो उसने उन सहजानुभूतियों का उल्लेख किया है जिसके कारण उसने मनोनिष्ठवाद को अस्वीकार किया। वास्तव में वे ये थे : कि मैं जगत् में हूँ जगत् मुझ में नहीं है, कि जगत् मुझसे पहले भी विद्यमान था और वह मेरे पश्चात् भी विद्यमान रहेगा, कि मेरा कर्म कालान्तर में एक ऐसे यथार्थ में परिवर्तन लाता है जो मुझसे भिन्न है। जब उसने अपनी पुस्तक नेचर एण्ड लाइफ (१६३४) प्रकाशित की तब उसने लिखा "हम जगत् में हैं और जगत् हममें है" (पृ० ४२)।

यदि इन दोनों विरोधी सहजानुभूतियों—"मैं जगत् में हूँ" "जगत् मुझमें है"—को समान रूप से वैध माना जाय तो हमारे सम्मुख एक ऐसा द्वैतवाद उपस्थित हो जाता है जो व्याघात से भीतर के विभिन्न अर्थों में अन्तर करके ही बचाया जा सकता है। इसकी कम से कम यह अपेक्षा है कि मेरे मनस् के बाहर कुछ होना चाहिए चाहे मैं जिसके विषय में सोचता हूँ उसे कितने ही पूर्णरूप में अपने विचार के अन्तर्गत ले सकूँ। इसके कारण आधुनिक दर्शन में अनेक आधे प्रत्ययवादी हैं। दकार्त तथा कांट इसके मुख्य उदाहरण हैं। स्पिनोज़ा तथा शैलिंग ने दोनों के बीच का मार्ग अपनाने का प्रयत्न किया और इसीलिए उनके दर्शन की परिसमाप्ति तटस्थता की तत्त्वमीमांसा के रूप में हुई। लाईबनित्स, बर्कले, फ़िख्टे, हेगल आदि के दर्शनों में जाकर प्रत्ययवाद पूर्ण स्पष्टता को प्राप्त होता है।

अध्याय २१

बर्क्ले

(१४१) जार्ज बर्क्ले (१६८५-१७५३) ने पाया कि हमारी तत्त्वमीमांसात्मक कठिनाईयाँ हमारे द्वारा ही निर्मित होती हैं : "पहले हम धूल उड़ा देते हैं, और फिर यह शिकायत करते है कि हम देख नही सकते।" हम अपने जगत् की ओर निहारते हैं और आकृतियाँ तथा रग दिखलाई देते हैं तब हम इस दृश्य मे मानसिक रूप से कुछ ऐसा जोड देते हैं जो वहाँ नही होता—'भौतिक द्रव्य'। हम उस तस्वीर मे 'भौतिक द्रव्य' को क्यों प्रक्षिप्त करते हैं ? क्योकि हम सोचते हैं कि कोई ऐसी वस्तु चाहिए जिसमे ये गुण हो, जो उन्हे सघटित रखती हो, तथा जब हम उन्हें नही देख रहे होते तब उनके अस्तित्व को बनाए रखने मे योग देती हो। इस प्रकार सुवर्ण एक द्रव्य है जिसमे पीलापन, भारीपन, नमनीयता, धात्वीय चमक आदि गुण होते हैं। 'यह द्रव्य' उस सामर्थ्य का आसन है जिसे हम स्वतन्त्र सत्ता रखने वाले प्राकृतिक विषयों से सम्बद्ध मानते हैं। हम वस्तु को द्रव्यत्व प्रदान करते हैं : यह हमे कभी उपलब्ध नही होता है : हमे केवल गुण उपलब्ध होते हैं। यदि इसे [द्रव्य को] छोड दिया जाय तो भी जगत् वैसा ही दिखाई देगा, उसी तरह व्यवहार करेगा और इसका उतना ही मूल्य होगा। तो हम इसे छोड़ देते हैं।

बर्क्ले ने इस परीक्षण को किया और पाया कि सम्पूर्ण तत्त्वमीमांसीय दृष्टिकोण तुरन्त सरल हो जाता है। भौतिक द्रव्य एक सतही गुत्थी है। आकृति तथा रग जैसे गुण, 'प्रत्यय' होते है. यदि वे किसी भी वस्तु मे निहित होते हैं तो वे उस मनस् मे निहित होते हैं जो उन्हें देखता है वे हममे 'भौतिक द्रव्य' द्वारा नही अपितु उस अन्य मनस् अर्थात् ईश्वर के मनस् के द्वारा उत्पन्न किए जाते हैं जो हम पर प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालता है, भौतिक द्रव्य का त्याग किया जा सकता है . और फलस्वरूप अत्यधिक राहत तथा प्रकाश [को प्राप्त किया जा सकता है]।

यह राहत देने वाला और सरलता प्रदान करने वाला सहजबोध बर्क्ले को तब हुआ जब वह अभी ट्रिनिटी कॉलेज, डबलिन का छात्र ही था। उसके मुख्य विचार जब प्रकाशित हुए तब वह अभी बीस-पच्चीस वर्ष का ही था (एन्यू थ्योरी ऑव विज़न [दृष्टि का एक नया सिद्धान्त] १७०६, प्रिन्सिपल्ज़ ऑव ह्यूमैन नॉलेज [मानव ज्ञान के सिद्धान्त] १७१०, डायलाग्स बिटविन हायलास एण्ड फिलानॉस, [हायलास तथा फिलानॉस के बीच वार्तालाप] १७१३)। उसके पास स्पष्ट तथा विश्वासोत्पादक लेखन की ऐसी असाधारण प्रतिभा थी कि वह अपने पाठकों को लगभग बिना किसी भी कष्ट के, जगत् को प्रत्यक्ष करने वालो तथा उनको प्रत्ययों के रूप मे देखने की ओर अग्रसर कर देता है, यह वह जगत् है जिसमे

चेतना के अतिरिक्त कुछ भी नही है, बिल्कुल कुछ भी नही,—और इसीलिए शुद्ध रूप से कोई भी भौतिक जगत् नही है।*

उसके समय मे ही उसके विचारो को 'अभौतिकतावाद' की संज्ञा दी गई, उसका निरीक्षण सुनिश्चित था तथा उसकी तर्कणाएँ युक्तियुक्त थी, तो भी ऐसा प्रतीत होता है कि उसने प्रकृति के ठोस जगत् के मूल को नष्ट कर दिया; अनेक विद्वानो को उसका मत अखण्डनीय विसंगति प्रतीत हुआ।

(१४२) बर्क्ले अपनी लौकिक युक्ति [पब्लिक आरग्यूमैन्ट] को संवेदन की परीक्षा से आरम्भ करता है। यह उपयोगी आरंभ है क्योंकि लगभग प्रत्येक व्यक्ति वास्तविक जगत् को उस जगत् के रूप मे ग्रहण करता है जिसे उसके नेत्र उसके सम्मुख उद्घाटित करते हैं। कुछ ही लोग ऐसे होगे जो इस अन्वीक्षा के लिए ठहरते हो कि वह सुनिश्चित रूप से क्या है जिसे हम देखते हैं जिसके आधार पर विश्वास करते हैं अथवा अनुमान करते हैं।

तो भी प्रत्येक व्यक्ति जो चित्र बनाता है, रंग भरता है, फोटो बनाता है, घूमती हुई तस्वीर की ओर देखता है उसका ध्यान असाधारण तथ्य की ओर जाता है. तीन आयामो का दो आयामो द्वारा प्रतिनिधित्व हो सकता है। नेत्र से प्राकृतिक दृश्य के प्रत्येक बिन्दु तक एक रेखा है, प्राकृतिक दृश्य के प्रत्येक बिन्दु से नेत्र तक एक प्रकाश की किरण है: नेत्र के सम्मुख किसी समतल पृष्ठ को रखा जायेगा तो वह इन सभी रेखाओ को काटेगा. यदि प्रकाश की इन किरणों का उद्भव दूर के विषयो की अपेक्षा उसी समतल पृष्ठ मे होता है, और यदि इनकी यथातथ्य रूप से वही रंग, मात्रा, तीव्रता आदि रहती है तो नेत्रो को वही दृश्य दिखाई पडेगा—यह इसके अतिरिक्त और क्या कर सकती है ? तो क्या दूरी वह नही है जो हम देखते है ?

यह बर्क्ले की प्रथम स्थापना [थीसिस] है। ऐसा प्रतीत होता है कि हम वस्तुओ को कुछ दूरी पर देखते हैं, और वह भी दूरी के एक क्रमिक माप के रूप मे। हम लोग दूरी का न्यूनाधिक सुनिश्चित तथा तात्कालिक आकलन कर लेते हैं—अन्यथा हमारी पहुँचने, घूमने उछलने, फेंकने, शिकार करने, पकडने की सामान्य प्रक्रियाएँ कभी भी कौशलपूर्ण नही होगी। भौतिक जगत् हमारे सम्मुख तीन आयामो मे प्रस्तुत है, दो मे नही। तो भी क्योंकि समतल चित्र गहराई का भ्रम प्रस्तुत कर सकता है, [अत] यह स्पष्ट है कि दूरी देखी नही जाती, अपितु अनुमित होती है। इसका कतिपय चिह्नों से अनुमान किया जा सकता है। यह एक ऐसा मानसिक तथ्य है जिसे हम नेत्रो द्वारा दिये हुए प्रदत्त मे जोडते है।

दूरी के कौन से चिह्न हैं ?

दृष्टि-आरेखो [डायाग्राम्स] की रेखाएँ एवं कोण नही, क्योंकि वे प्रत्यक्ष रूप मे अनुभूत नही होते। परन्तु हमें नेत्रो के मुडने, और दृष्टि-अक्षो की अभिबिन्दुता [कनवर्जेन्स] का

* मैं मान रहा हूँ कि प्रत्येक विद्यार्थी बर्क्ले का कुछ पढ़ेगा। और क्योंकि स्वयं का स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है, अत मूल पाठ में हमारा अपना विचार-विमर्श बर्क्ले के विचारों के जगत् में प्रवेश को सहायता तक सीमित किया जा सकता है।

अनुभव होता है, तथा जब विषय पास लाये जाते हैं तब विषयों की रूपरेखाओं को हम अस्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष करते हैं। यदि उन्हे बहुत पास लाया जाता है (और हम यह भी कह सकते हैं कि यदि वे बहुत अधिक दूर हो) तो उनकी रेखाएँ धुंधली पड जाती हैं। और साथ ही उस समय नेत्रो पर एक प्रकार का तनाव पड जाता है जब हम उन्हें पास के विषयो पर केन्द्रित करने का प्रयास करते हैं (और दूसरा तनाव यदि हम किसी दूर की वस्तु को स्पष्ट रूप से देखना चाहते हो)। इसके अतिरिक्त, यह मानते हुए कि विषय अपनी मापों को नही बदलते, हम उन्हें पास मानते हैं यदि वे बडे दिखाई देते हैं और दूर मानते हैं यदि वे छोटे दिखाई देते हैं। बर्क्ले दो दृष्टिपटलो पर विभिन्न बिम्बो के त्रिविम-प्रभाव [स्टिरियोस्कोपिक] से परिचित नही था। परन्तु उसके पास यह स्वीकार करने के लिए पर्याप्त [सामग्री] थी कि रग के धब्बो के समतल विस्तार मे ऐसे सकेत हैं जिनके कारण हम दूरी के विषय मे सोच पाते हैं, और उस दूरी का हमारे लिए यह अर्थ है कि हमे उस बिन्दु तक पहुँचने के लिए अथवा सफर करने के लिए इतना प्रयास करना होगा। सफल क्रिया, सम्पर्क, दबाव, की भविष्यवाणियाँ हमे नेत्रो मे ही प्राप्त होती हैं। हमारा दिक् का तीसरा आयाम ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रदत्त नही अपितु एक व्याख्या है जो वस्तुत मनस का कार्य है, उसे हम एक बाह्यतथ्य के रूप मे मान लेते हैं।

(१४३) बर्क्ले स्वय अपने विश्लेषण से यह अनुमान करता है कि कोई जन्मान्ध मनुष्य, यदि उसे यकायक दृष्टि प्राप्त हो जाए तो, तुरन्त तीन आयामो को नही देखेगा, उसे दृष्टि-सकेतों का अपनी मासपेशीय आदतो से समायोजन करना सीखना पडेगा, उसके नेत्रो के सम्मुख प्रस्तुत चित्र से उसे विषयो जैसे घनो तथा वृत्तो की कठोर आकृति को ग्रहण करने मे कठिनाई पडेगी।

ऐसे अनेक रोगी रहे हैं जो जन्म से ही, आशिक रूप से, अधे थे और जिन्हें शल्य क्रिया द्वारा दृष्टि लौटा दी गई। उनमे से एक का मनोवैज्ञानिक प्रोफसर लाटा द्वारा बडी सावधानीपूर्वक अध्ययन किया गया।* जॉन कैरथ की आँखें बचपन से ही पूर्ण रूप स मोतियाबिन्दु से ग्रसित थी। उसके सुनने की शक्ति तीक्ष्ण थी और वह बिना किसी भय के अपने जन्मस्थान स्काटलैण्ड के छोटे से कस्बे मे, इधर-उधर दौडने म समर्थ था। वह पुष्प विक्रेता के सहायक के रूप मे कार्य कर सकता था और स्पर्श के आधार पर गुलदस्ते बना सकता था। वह रोशनी के सूक्ष्म अतरो मे थोडा बहुत भेद कर सकता था, रोशनी की दिशा का निर्धारण कर सकता था, और रात-दिन का भेद कर सकता था। तीस वर्ष की उम्र मे उसके मोतियाबिन्दुओ को हटा दिया गया। सबसे पहले उसने जो देखा वह शल्य-चिकित्सक का चेहरा था। मुँह की गतियो द्वारा जो चिकित्सक की आवाज के साथ-साथ हो रही थी उसने, उसके चेहरे का अनुमान किया, जब उसने देखा तो उसने स्वय अपने चेहरे का अपने हाथो से अनुभव किया। कोई व्यक्ति सोच-विचार कर उसके लिए गेंद तथा खिलौने जैसी ईंट ले आया, उसने वस्तु की अनुभूति के लिए अपने हाथो को घुमाया और फिर गोल वस्तु तथा चौकोर कोनों वाली वस्तु को ठीक-ठीक बता दे दी। उसने कहा कि वस्तुओ को हाथों से

* ब्रिटिश जरनल ऑव साइकोलॉजि, खण्ड पहला, अक २, जून, १६०४।

टटोलने की प्रक्रिया से 'उसके मनस् मे वह धारणा [नोशन] बनी' जो उनके आकारों और उन आकार नामों के अर्थों की सूचक थी। दूरी के विषय मे उसके नये अनुमान अनिश्चित थे। अंधेरे म घूमने का उसका पुराना आत्मविश्वास नष्ट हो गया, और अपनी गतियों के मार्ग-दर्शन के कार्य को सुनने की इन्द्रिय से देखने की नयी इन्द्रिय को स्थानान्तरण करके वह बिना आँख खोले घूमने मे भयभीत होने लगा। इस बात से हमे पता लगता है कि अकेली दृष्टि दूरी के परिमाण को नही बनाती, और कि तीसरे आयाम के प्रत्यय का, जो बीज रूप मे विद्यमान रहता है, स्पर्श करने तथा क्रिया के अनुभवो की सहायता से विकसित होना आवश्यक होता है। इस सीमा तक बर्कले की इस स्थापना की सपुष्टि होती है कि दूरी का हमारा दृष्ट प्रत्यक्ष व्याख्या है, प्रत्यक्ष प्रदत्त नही।

(१५४) बर्कले की स्थापना का यह विनीत प्रारभ है यह लगभग ऐसे सिद्धान्त के अनुरूप है जैसे यह कि जिसे हम विषय के गुण के रूप मे सोचते हैं (इस स्थिति मे तीसरा आयाम) वह, तब भी जब मनस् इस प्रक्रिया से अनभिज्ञ हो, मनस् की देन हो सकती है, विषयों का प्रतीत्यात्मक स्वतन्त्र अस्तित्व—उनके अवलोकित होने से स्वतन्त्र—भ्रमात्मक हो सकता है।

प्रकृति के एक पक्ष की दृष्टि से वह सिद्धात पहले ही स्वीकार कर लिया गया था। रग, ध्वनि, स्वाद, गन्ध—जिनका बहुत पहले ही निरीक्षण किया गया था कि भिन्न भिन्न प्रत्यक्ष-कर्ताओ के लिए वे भिन्न भिन्न होते हैं और फलत वे वस्तुनिष्ठ तथ्य नहीं होते। आधुनिक विचार अभी इस मत पर पहुँचा था कि हमारे रग, के प्रत्यक्ष मनस् मे विषय से किसी प्रकार के रगहीन निसरणो से उद्दीप्त माने जाने चाहिएँ—रग 'मानसिक' है भौतिक नहीं। लॉक ने इन गुणो को जो इस अर्थ मे 'मानसिक' हैं उन गुणो से जो विषय मे हैं अलग करने का प्रयत्न किया। यह स्वीकार करते हुए भी कि जब तक देखने के लिए मनस्—तथा—नेत्र नहीं है तब तक रग भी नहीं हैं, जब तक सुनने के लिए मनस् तथा कर्ण नहीं हैं तब तक ध्वनियाँ भी नहीं हैं निश्चय ही यहाँ तक कि समस्त मानसिकता के अभाव मे भी, भौतिक विषय की अपनी स्थिति, आकृति, माप, गति, ठोसपन होता है। ये वे गुण हैं जिनके द्वारा भौतिकी गणना करती है, इनका सवेदन के बाह्य कारणो की व्याख्या मे उपयोग किया जाता है, जैसाकि हम अभी दृष्टि के सदर्भ म देख चुके हैं और हम यह कल्पना नहीं कर सकते कि ये नहीं हैं (लॉक का ग्रथ एस ए (निबन्ध), दूसरी पुस्तक, आठवाँ अध्याय रैण्ड पृ २३८ और आगे)।

यहाँ तीसरे आयाम के विषय में बर्कले के विचार प्राथमिक तथा गौण गुणों के बीच के भेद को समाप्त करना आरभ करते हैं—दिक् तथा स्थिति के विषय में कुछ मानसिक है। और चिन्तन करने पर समस्त देश पर यही लागू होता है! प्रकृति को ऐसे दो भागो में नहीं बाटा जा सकता जिनमे से एक मानसिक हो और दूसरा अमानसिक हो। यदि रग मानसिक है, तो दिक् तथा आकृति को भी, जो रग द्वारा अधिकृत है, उसी प्रकार मानसिक होना चाहिए और यदि दिक् मानसिक है तो सभी अन्य 'प्राथमिक गुणों गति, ठोसपन, आदि को भी मानसिक होना चाहिए।

इस प्रकार बर्कले उस मत के विरुद्ध विद्रोह कर रहा है जिसे प्रोफेसर ह्वाइटहेड ने आगे जाकर 'प्रकृति का विभाजन' कहा है। प्रकृति सम्पूर्ण रूप से एक ही वस्तु है—सूर्यास्त के रंग सूर्यास्त से सम्बन्धित हैं और विपरीत क्रम से सूर्यास्त अपने रंगों से सम्बन्धित है। तो या तो यह सब प्रत्यक्षकर्ता के बाहर है अथवा यह सब प्रत्यक्षकर्ताओं के प्रत्यक्ष के भीतर है। बर्कले बाद वाले विकल्प को ग्रहण करता है।

(१४५) यह दिखलाने के बाद कि विषयों के समस्त गुण अथवा विशेषताएँ मानसिक हैं बर्कले उस 'द्रव्य' के विषय में विचार करता है जो उनके लंगर के रूप में सक्रिय है और प्रत्यक्षकर्ता से बाह्य रूप में सुरक्षित रूप में उन्हें बांधे रखता है।

उसकी युक्ति का निष्कर्ष (जिसे प्रिन्सीपिल्स ऑव ह्यूमन नॉलिज में विकसित किया गया है) इस पश्याय के शीर्ष भाग पर अभिव्यक्त किया गया है। उसे यह दिखाने में कोई कठिनाई नहीं हुई कि वस्तुओं के कल्पित 'द्रव्य' का न तो विज्ञान और न सामान्य जीवन में उपयोग किया जाता है। रसायनविद् हमेशा इस बात का निर्धारण कर सकता है कि उसके सम्मुख विषय स्वर्ण है या नहीं, परन्तु ऐसा वह इसके 'द्रव्य' की जाँच के द्वारा नहीं करता, वह अपने निष्कर्षों पर पूर्ण रूप से इसके गुणों के आधार पर पहुँचता है—विभिन्न अम्लों में इसकी घुलनशीलता, इसमें सम्मिलित अनुपात तथा भार. ये ही वे सब हैं जिनसे उसे काम लेना है, और ये ही वे सब हैं जिनकी उसे आवश्यकता है। क्या स्वर्ण का 'द्रव्य' अनुभव के उस तथ्य के लिए नाममात्र नहीं है कि ये गुण आपस में सम्बद्ध हैं?

(१४६) बर्कले की युक्ति को संक्षेप में रखें। अनुभव के निर्माण में मनस् अपनी भूमिका को सर्वदा भूलता रहा है। वह यह नहीं देख पाता कि रंग तथा ध्वनि उसी के कार्य हैं। उसे यह बात सीखनी पड़ती है कि ठीक इसका 'प्रत्यय' है। द्रव्य को ग्रहण करने के रूप में यह वस्तुओं को उन्हीं के स्वरूप में प्रत्यक्ष करता प्रतीत होता है। वह यह भूल जाता है कि 'द्रव्य' इसी के अपने प्रत्ययों में से एक है (अथवा प्रत्यय की प्राप्ति का प्रयत्न है) जिसके द्वारा वह अपने अनुभव को उदारतापूर्वक एक ऐसी सत्ता से सम्पन्न करना चाहता है जो स्वयं से स्वतन्त्र है। यह प्रयास आवश्यक रूप से असफल हो जाता है। मनस् के परे मनस् कोई टेक स्थिर नहीं कर सकता। और न ही यह स्वयं से अपने अनुभवों, अपने 'प्रत्ययों' को अलग कर सकता है।

भौतिक विषयों को इस रूप में मानना सुविधाजनक है मानो वे स्वयं के द्वारा ही अस्तित्ववान हो सकते हैं—हमें प्रत्येक बिंदु पर अपने आपको यह याद दिलाने की आवश्यकता नहीं है कि वे हमारे प्रत्यक्ष हैं। अतः जब हम कहते हैं कि किसी वस्तु का अस्तित्व है तो हम इसे मानसिक रूप से स्वतन्त्रता से सम्पन्न करते हैं: हम इसे ऐसा मानते हैं मानो "अस्तित्व में होने का अर्थ स्वतन्त्र होना है।" जब हम विषय की इस सामर्थ्य पर बल देना चाहते हैं कि यह हमारी अनुपस्थिति में भी अपने स्वरूप तथा प्रक्रियाओं को बनाए रखता है, तो हम यह मान लेते हैं कि "अस्तित्ववान होने का अर्थ भौतिक द्रव्य होना है।" परन्तु जब हम स्वयं को और इस सत्य को याद करते हैं कि कोई भी विषय सर्वदा चेतना का, मनस् का, विषय होता है, तो हम कहते हैं कि 'अस्तित्व रखना प्रत्यक्ष किया जाना है।"

यह बर्कले का सूत्र है, एस्से एस्ट पर्सिपाइ [सत्ता दृष्टता है] । जिसमे उसने इस वाक्यांश को जोड़ा भ्राउट पर्सिपेरे [अथवा प्रत्यक्ष करना], क्योंकि प्रत्यक्ष करने वालो का भी अस्तित्व है। अपनी समग्रता मे समस्त यथार्थ प्रत्यक्ष करने वाले तथा प्रत्यक्षों में, विचारको तथा उनके विचार मे निहित है।*

यह सिद्धान्त कि होने का अर्थ प्रत्यक्ष किया जाना है जर्मनी के एक समकालीन दार्शनिक आन्दोलन का आधार है, जिसे अस्तित्ववादी दर्शन [ऐक्सिस्टेन्स फिलॉसोफि] के नाम से जाना जाता है। इन विचारकों के अनुसार (जिनमें फाईन्बुर्ग के प्रोफेसर हाइडेगर और हाइडलबर्ग के प्रोफेसर यास्पर्स) सर्वाधिक मूर्त सत्ता भौतिक नही, अपितु मनस् में गृहीत भौतिक है, और मनस् उस समय सर्वाधिक मूर्त नहीं होता जब वह प्रत्यक्षकर्ता के रूप में निरीक्षण करता है, अपितु तब होता है जब वह अपने सम्मुख उपलब्ध वस्तु पर आत्म-त्याग होकर ध्यान देता है। यदि हम यथार्थ को खोजें तो हम उसे अनुभव में गहन तथा तीव्र रूप मे अनुभूत पायेंगे।

(१४७) बर्कले आलोचना के प्रतिकूल नहीं है, जो उसकी युक्ति पर सदेह करते हैं उन्हें वह यह बताने के लिए आमन्त्रित करता है कि इसमे दोष कहाँ है। वह हमारी आपत्तियो का पूर्वानुमान कर लेता है और उनके उत्तर देता है। इन कठिनाइयों मे से सबसे अधिक [चिर] स्थायी शायद ये हैं, कि वह यथार्थ तथा भ्रम के बीच के भेद को नष्ट करता प्रतीत होता है, और जब विषयो का कोई प्रत्यक्ष नहीं करता है तब उनके अस्तित्व के प्रश्न का हल करने मे वह असफल रहता है।

(१४८) क्या बर्कले का प्रत्ययवाद यथार्थ तथा भ्रम के बीच के भेद को नष्ट करता है ?

---

* प्रोफेसर जी. ई. मूर ने १९०४ में एक लेख 'प्रत्ययवाद का खंडन' लिखा। युक्ति यह थी कि 'अस्तित्व होना अस्तित्व होना है', 'होना होना है।'

उसकी मान्यता थी कि यह प्रस्तावित समता एक स्पष्ट तार्किक भूल था कि 'होने' का अर्थ 'प्रत्यक्ष किए जाना' है : जो कुछ भी हम उचित रूप से कह सकते हैं वह यह है कि "होना होना है।" यह आपत्ति पूर्णतया शाब्दिक है तथा बहुत गलत तर्क है। हम जब कभी भी संपूर्ण वस्तु से इसके एक पक्ष को अलग करते हैं जैसे किसी सतह से रंग को उसकी आकृति तथा उसके आकार से, तो हम अपने आपको इस अमूर्तिकरण के विषय में यह कहकर स्मरण दिला सकते हैं कि 'रंगीन होने का अर्थ है आकृति तथा आकार से युक्त होना।' बर्कले का मत है कि "अस्तित्व होना" वाक्यांश एक इसी प्रकार का अमूर्तिकरण है : हम इस तथ्य को पूर्ण कर देते हैं जब हम यह कहते है कि "अस्तित्ववान होने का अर्थ किसी विषय का होना है, किसी विषय के होने का अर्थ है उसका प्रत्यक्ष होना।"

स्वयं नव्य यथार्थवाद, जिसके प्रोफेसर मूर संस्थापक हैं, इस सिद्धान्त पर आश्रित है कि "होने का अर्थ है संवेदित होने की योग्यता का होना।" यह आश्चर्य की बात है कि दर्शन का एक आन्दोलन ऐसे रिक्त सिद्धान्त पर आधारित हो सके जैसे कि "होना होना है, और इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं।"

बर्कले का विश्वास इसके विपरीत था। जड द्रव्य को अस्वीकार करने मे, उसने केवल उस विषय को अस्वीकार किया जिसके विषय मे किसी भी मनुष्य ने कभी भी वस्तुत नहीं सोचा था, क्योंकि उसका कोई अर्थ नहीं होता। उसने यह महसूस किया कि वह बुद्धि के कौशल के विरुद्ध जो 'जड द्रव्य' के अमूर्तिकरण को गढ़ता है साधारण दृष्टि के पक्ष का पोषण करता है। यथार्थ तथा भ्रम के बीच के भेद को स्पष्ट रूप मे बताने के लिए वह तत्पर है।

जब हम किसी भ्रम को भ्रम के रूप मे जान लेते हैं, यथा जब हम पेडो के बीच से दीखते हुए आकाश को पानी मान लेने की भूल से छुटकारा पा लेते हैं तो अनुभव सर्वदा अनुभव का स्थानापन्न होता है, एक अधिक विश्वसनीय अनुभव एक कम विश्वसनीय अनुभव का स्थान ले लेता है। 'यथार्थ' इस प्रकार का अनुभव है जो स्वय को समस्त आगे आने वाले निर्णय मे बनाए रखता है। अत यह ऐसा कुछ नही है जो अनुभव के बाहर हो, अथवा बर्कले के शब्दो मे, प्रत्यय के बाहर हो। यथार्थ से भ्रम के अनुभव को जो चिह्न पृथक् करते हैं वे निम्नलिखित हैं

यथार्थ (१) स्पष्ट, सबल, सजीव, असदिग्ध है, इसमे (२) व्यवस्था तथा सामजस्य है। हम इस का वर्णन सूक्ष्म विस्तार के रूप मे कर सकते हैं और स्वप्न की भाँति यह कभी भी हमारे हाथो की पकड से लुप्त नही होता। विशेष तौर पर इसके (३) जैव परिणाम होते हैं—यह सुख तथा दुःख को उत्पन्न करता है, वास्तविक आग जला देती है वास्तविक भोजन हमे जीवित रखता है, वास्तविक चट्टान अपनी स्वाभाविक निष्क्रियता का प्रदशन करती है। आप जितनी अधिक उग्रता से भिडते हैं, यदि आप डाक्टर जानसन द्वारा पत्थर मे पैर मारकर खण्डन की दिशा मे अग्रसर होते हैं, उतने ही अधिक निश्चित रूप से आप बर्कले के हाथो मे कठपुतली बन जाते हैं। क्योंकि कोई भी यह नहीं मानता कि चोट लगे हुए अगूठे मे जो पीडा होती है वह चेतना के बाहर है और यहाँ पीडा तथा प्रतिरोध एक साथ होते हैं। अनुभव से सीखना' यथार्थ से ही शिक्षा ग्रहण करना है, परन्तु हम जो सीखते हैं वह यह है कि क, ख की ओर ले जाता है, अग्नि दहन की ओर ले जाती है—हम अपने अनुभव के बीच के सम्बन्ध को सीखते हैं—और सबध के ये नियम, विचार के विषयो के रूप मे हमारे जगत् के प्रत्यक्ष के अग हैं। यथार्थ अनुभव मे ही रहता है।

क्या हम 'यथार्थ' के इन चिह्नों म यह भी जोड सकते हैं कि (४) यह हम से बाहर है? भौतिक यथार्थ का अधिकाश भाग हमारे शरीर से बाहर होता है और बर्कले की युक्ति के प्रति बहुत कुछ प्रतिरोध का स्रोत यह 'बाह्यतत्र' है। परन्तु 'शरीर के बाहर' अथवा 'मस्तिष्क के बाहर' अथवा—'नेत्रो के सम्मुख' का अर्थ मनस् के बाहर नहीं है। शरीर, मस्तिष्क, नेत्र, सभी देशगत विषय है, और वे अय सभी भौतिक वस्तुओ के साथ इस अर्थ मे मनस् के बाहर हैं कि वे विषय हैं, स्वय मनस् नहीं। परन्तु बर्कले दिखा चुका है कि दिक् तथा इसके सभी घटक मानसिक हैं, वे सभी अनुभव के गुण हैं, वे अनुभव के बाहर नहीं हैं।

यह सब यह सकेत करता है कि यथार्थ केवल मानक अनुभव है, और भ्रम ऐसा अनुभव है जो किसी एक अथवा अधिक पक्षों मे मानक के स्तर तक आने मे असफल हो जाता है।

बर्कले की इस दृष्टि के अन्तर्गत जगत् की समस्त यथार्थता वैसी ही बनी रहती है जैसे ऐसे किसी भी व्यक्ति के मनस् में हो सकती है जो अमूर्त प्रत्ययों के द्वारा पथभ्रष्ट नहीं होती।

तो भी हमने यथार्थ के एक लक्षण को छोड़ दिया है जो इनसे अलग प्रतीत होता है। यह (५) सक्रिय है अथवा बाह्य कर्म की उपज है। मैं इसकी रचना नहीं करता। मेरे पास इस वरण का कोई अधिकार नहीं है कि जब मैं अपनी आँखें खोलूंगा तो मैं क्या देखूंगा। इसका बर्कले के लिए यह तात्पर्य है कि यह हमारे मनस में केवल उसी सक्रिय वस्तु द्वारा उत्पन्न की जाती है, अर्थात्, एक सजीव आत्म द्वारा, जो हमारे बाहर है, किसी निष्क्रिय जड़ द्रव्य द्वारा निश्चय ही कदापि उत्पन्न नहीं की जाती है।

(१४९) क्या बर्कले का प्रत्ययवाद ऐसे विषयों को जो अनुपस्थित हैं अथवा जिन्हें देखा नहीं जा सकता, बिना उन पर ध्यान दिये छोड़ देता है, उदाहरण के लिए ऐसे विषय जैसे परमाणु अथवा अज्ञात तारे, अथवा ऐसी शक्तियाँ, जिनका प्रत्यक्ष नहीं किया गया है और जो आंशिक रूप से अज्ञात हैं, जिनसे भौतिकी सम्बन्धित है? अथवा साधारण तथा रात्रि में घरों का साज सामान [फर्नीचर], पृथ्वी का भीतरी भाग जिसका प्रत्यक्ष नहीं किया गया है, हमारे अन्दर की तथा बाहर की निरन्तर प्रक्रियाएं जो बिना हमारे ज्ञान के अपनी राह पर चलती रहती हैं और जो जगत् की वृद्धावस्था की गति को पूर्ण रूप से बनाये रखती हैं?

यहाँ बर्कले का उत्तर भी पूर्ण है। अव्यवहित प्रत्यक्ष का आंशिक जगत्, वैज्ञानिक विचार द्वारा पूर्ण तथा अविच्छिन्न समग्र में परिणित कर लिया जाता है। प्रत्यक्ष का यह पूरक स्पष्टतः हमारे लिए सर्वप्रथम विचार का विषय है, और विचार मनस् के बाहर नहीं है। विज्ञान 'द्रव्य' [की धारणा] का उपयोग नहीं करता यह केवल नियम का उपयोग करता है, वह नियम जिसके द्वारा अनुभव एक दूसरे का अनुमान करते हैं, एक दूसरे पर आश्रित होते हैं, और इस तरह सर्वदा एक दूसरे के अनुपूरण द्वारा जगत् के एक पूर्ण चित्र का निर्माण कर लेता है।

तो जब हम यह कहते हैं कि प्रकृति का तब भी अस्तित्व होता है जब उसे कोई भी मनुष्य नहीं देख रहा होता और कि इसका तब भी अस्तित्व था जबकि इसको देखने वाले किसी मनुष्य का अस्तित्व नहीं था, तो हमारा केवल यही तात्पर्य हो सकता है कि नियम अभी भी मान्य हैं, अतीत में भी और भविष्य में भी बिना काल अथवा देश में सीमित हुए, और यदि उनको सोचने के लिए किसी शाश्वत मनस् का अस्तित्व हो तो यह सत्य हो सकता है। प्रकृति की शाश्वत सत्ता तथा व्यवस्था की एक और केवल एक मात्र गारन्टी ईश्वर का मनस् है।

□□□

अध्याय २२

मनोनिष्ठ प्रत्ययवाद

(१५०) अब हम प्रत्ययवाद के तर्क पर बर्कले की चिन्तन-धारा से स्वतन्त्र होकर विचार करना चाहते हैं।

प्रत्ययवाद की निषेधात्मक प्रतिज्ञप्ति यह है कि प्रकृति स्वतन्त्र रूप से यथार्थ नहीं है। यह बर्कले द्वारा परिभाषित अर्थ में यथार्थ है। इसका एक आन्तरिक मानदण्ड [मानक] है जो भ्रमों का निराकरण करता है। परन्तु यह स्वतन्त्र एवं स्वतः पर्याप्त सत्ता के रूप में यथार्थ नहीं है: इसकी यथार्थता उस जीवन पर निर्भर करती है जो इसके पीछे विद्यमान रहता है।

प्रकृति की स्वतन्त्रता का भ्रम बहुत सीमा तक इस विश्वास से उत्पन्न होता है कि हम जिन वस्तुओं को प्रत्यक्ष करते हैं वे ही वस्तुएँ अपने प्रत्यक्ष किए जाने का कारण हैं दूसरे शब्दों में, कि प्रकृति में एक वास्तविक तथा आधारभूत क्रिया है जो मनस् को प्रभावित कर सकती है और जो वस्तुतः हमारे संवेदनों को उत्पन्न करती है।

यह धारणा भ्रान्त है, यह पूर्णतया एक ऐसी युक्ति से सिद्ध किया जा सकता है, जो बर्कले की युक्ति से स्वतन्त्र है। यह युक्ति इस प्रकार की है कि यदि यह मान लिया जाय कि स्वतन्त्र प्राकृतिक क्रिया का सिद्धान्त सत्य है तो इससे आत्मव्याघात प्राप्त होगा।

(१५१) यदि सरल रूप से कहा जाय तो इस युक्ति की मुख्यतः यह अपेक्षा है कि हम दो को गिन सकें और यह याद रख सकें कि क्या-क्या था। यह इस प्रकार है: यदि भौतिक वस्तुएँ हमारे प्रत्यक्षों का कारण हैं, तो वे हमारे प्रत्यक्ष नहीं हैं, और हमारे प्रत्यक्ष, उनके कार्यों के रूप में, वस्तुएँ नहीं हैं: अपितु हमारे प्रत्यक्ष वही हैं जो हमें जगत् से प्राप्त होते हैं, अतः हमारे सम्मुख स्वयं जगत् नहीं होता, अपितु इसका केवल मनोगत मानसिक प्रत्यय होता है। परन्तु यह निष्कर्ष प्रकृतिवाद की इस मान्यता के विरुद्ध है कि हमारे सम्मुख यथार्थ जगत् होता है।

यह कथन इतना संक्षिप्त हो सकता है कि इसे समझने में कठिनाई हो। अतः मैं इस तर्क को अपेक्षाकृत पूर्णतया अधिक सावधानी पूर्वक उपयुक्त रूप दूँगा। प्रकृति की कोई भी वस्तु (व) तथा विषयी (वि) लें और इस प्राकृतिक व्याख्या का अनुगमन करें कि वि व को कैसे जानता है।

उदाहरण के लिए मान लीजिए कि व कोई मोमबत्ती है, और अब हम प्रकाश की भौतिक क्रिया के मार्ग को नेत्र के माध्यम से दृष्टि-पटल [रेटीना] तथा मस्तिष्क [ब्रेन]

तक देखें। मस्तिष्क मे घटने वाली घटना अपने आप में न तो प्रकाशमान है न ही मोमबत्ती के आकार की है, परन्तु मस्तिष्क की उस घटना के आधार पर, और साथ ही साथ उसके सहित, मनस् (वि) मे मोमबत्ती का सस्कार (इम्प्रेशन) होता है। इस सस्कार को यथार्थ मोमबत्ती (व) से अलग करने के लिए व, की सज्ञा दी जा सकती है। यह कार्य है, मोमबत्ती का प्रकाश कारण है स्पष्टत कार्य-कारण अभिन्न नही हैं।

अब हमे इस बात पर विचार करना है कि हम जो इस प्रक्रिया का अनुगमन करते हैं स्वय ही मोमबत्ती के विषयी हैं, और वस्तु की ओर हमारी वही अवस्था है जिसमे (वि) स्थित है। मैं स्वय को एक उदाहरण के रूप मे लूँ, और स्वय को वि, की सज्ञा दूँ।

तब मेरा मोमबत्ती का सस्कार, व, स्वय मोमबत्ती अर्थात् व, से भिन्न होगा।

परन्तु अब, सस्कार कौनसा है और मोमबत्ती कौनसी है? मैं अपने सस्कार को अस्वीकार नहीं कर सकता, सस्कार वही है जो मुझे उपलब्ध है ठीक उसी प्रकार जैसकि वि के लिए सस्कार व, वही है जो उसे उपलब्ध है। परन्तु मुझे जो प्राप्त है वह वही है जिसे मैं अभी तक व कह रहा हूँ। तो, व मेरा सस्कार होना चाहिए, न कि यथार्थ मोमबत्ती। वास्तविक कारण मुझसे दूर छिटक गया है, और मेरे पास जो जगत् बच गया है—उसमें अनेक सस्कार व, हैं, अर्थात् वह जो मेरे सस्कारों का जगत् है।

प्रकृतिवाद से प्रारम्भ करके, जो प्रकृति की मेरे सम्मुख उपस्थित प्रतीति को ऐसी यथार्थ वस्तु के रूप मे वास्तविकता प्रदान करता है जिससे मेरा वास्ता पडता है, हम मनोगत प्रत्ययवाद मे पहुँच जाते हैं, जो उस प्रारम्भ का विरोध करता है।

इससे मनोगत प्रत्ययवाद सत्य सिद्ध नही होता। यह मेरी प्राकृतिक यथार्थवाद की मूल धारणा को गलत सिद्ध कर देता है। यदि मनोगत प्रत्ययवाद सत्य है, तो इसे और अधिक प्रमाणो की आवश्यकता है।

(१५२) अनुभव को मनस् में सन्निविष्ट करने के विषय मे अन्य साक्ष्य :

(अ) प्रत्यक्ष तथा स्मृति के बीच न तो कोई विरोध है न ही वे एक-दूसरे से पृथक् हैं और न ही उनके बीच कोई स्पष्ट रेखा है। क्या कोई भी व्यक्ति अपने स्वय के अनुभव मे उस बिन्दु की स्थिति बतला सकता है जिस पर कोई ध्वनि सुनाई देना बन्द हो जाती है और वह स्मृति का विषय रह जाती है? अनेक सिलेबॅल्स[1] के किसी शब्द को सुनने म अभी उच्चारित सिलेबॅल्स उस अक्षर के साथ ही प्रतीत होता है जिसका उच्चारण ठीक अभी ही किया जा रहा है। परन्तु अतीत का अस्तित्व केवल मनस् मे होता है। अत शायद वर्तमान का अस्तित्व भी उसी रूप मे हो।

(१५३) (ब) मनस् शब्द में क्या सन्निविष्ट है? कोई मनस् अपने विचारों एव सवेदनों के बिना पूर्ण नही होगा। परन्तु प्रकृति के विषय या तो विचार के अथवा या सवेदना के अथवा दोनो के विषय होते हैं। अत प्रकृति मे ऐसा कुछ नही है जो मनस् का आवश्यक भाग न हो।

(१५४) (स) जब हम प्रकृति को मनस् के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु के रूप मे लेते हैं, तो हम इसके 'बाह्यपन' अथवा इसकी 'वस्तुनिष्ठता' के विषय मे सो— प्रश्न यह है कि

बाह्यपन अथवा वस्तुनिष्ठना से हमारा क्या तात्पर्य है। उत्तर चाहे कुछ भी हो, वस्तुनिष्ठना कोई ऐसा विषय होना चाहिए जिसमे मेरा तात्पर्य है अथवा जिसे मैं सोचता हूँ; और विचार का मनस् से परे जाने का प्रयास स्पष्ट तया प्रारम्भ मे ही असफल होगा : मनस् सर्वदा कह सकता है कि,

जब पंख उड़ाते हैं मुझको
मैं स्वयं पंख ही होता हूँ।

यह सत्य है कि विचार हमें सर्वदा यथार्थता के निकट लाता है, परन्तु यह भी सत्य है कि जितना अधिक हम सोचते हैं उतना ही अधिक वस्तु विचार की वस्तु बन जाती है, अर्थात् यह और अधिक पूर्ण रूप से 'विषय में समा जाती है'। कान्ट की क्रिटीक ऑव प्योर रीज़न (१७८१) यह दिखाने का प्रयास है कि न केवल देश और काल, प्रकृति के कोरे ढाँचे के रूप मे, अपितु द्रव्य तथा कारणता तथा प्रतिक्रिया और मात्रा एवं सम्बन्ध के प्रत्यय भी सभी उन भौतिक वस्तुओं की रचना करते हैं जिनसे विज्ञान सबधित है, ऐसे विचार हैं जिनसे मनस् अनुभव के अनगढ पदार्थ को रूपायित करता है। (वॉटसन, सिलक्शन्ज़ फ्राम कान्ट पृष्ठ ६२–१२८)

(१५५) इमैनुएल कान्ट (१७२४–१८०४) बर्कले की अपेक्षा कम परिष्कृत लेखक है और पारदर्शी रूप से स्पष्ट होने से बहुत दूर है। उसका महान कार्य उसके जीवन मे बहुत बाद मे सम्पादित हुआ, और यह विषय विस्तार के महान् प्रयास का सकेत देता है। परन्तु यह असाधारण प्रतिभा वाला विचारक है, उसकी चेतना अपने विचार की सुव्यवस्थित सरचना में महान् प्रयास का रूप ग्रहण करती है। कान्ट के विचारो की व्याख्या प्रस्तुत करना इस पुस्तक के क्षेत्र के बाहर होगा। परन्तु इसके कतिपय प्रेरकों को आपके सम्मुख रखना ठीक रहेगा।

बर्कले के समान कान्ट भी अपनी क्रिटीक को दिक् की प्रकृति पर चिन्तन से प्रारम्भ करता है। परन्तु वह काल को दिक् के साथ जोड देता है. जगत् के विस्तार की उन सीमाओ को प्रसार के रूप मे ग्रहण करना चाहिए जिसमें विश्व का प्रसार है; इन दोनों को साथ-साथ लिया जाना चाहिए। ये दोनो इस दृष्टि से समान हैं कि इनमे एक-सी ही समस्याएँ उत्पन्न होती है। दोनो ही अन्तहीन प्रतीत होते हैं; क्योंकि यदि हम सीमा बाँधने का प्रयास करते हैं, तो सर्वदा उनके परे कुछ और रहता है। सत् होने के स्थान पर अभाव के रूप मे, प्रत्येक अग्राह्य प्रतीत होता है। क्योकि यदि हम किसी भी वस्तु को दिक् में देखते हैं, तो हम तुरन्त इसे उस दिक् से अलग करते हैं जिसमे यह होती है, और यदि हमारे पास कोई घटना होती है, तो इसे हम उस काल से अलग करते हैं जिसमे यह घटित होती है : देश-काल के विषय मे ऐसा कहना अधिक उपयुक्त होगा कि वे प्रत्यक्ष वस्तुओ के चारों ओर जो रिक्तता है उसके सूचक हैं, यह कहने की तुलना मे, कि वे इन वस्तुओ से परिपूरित होते हैं। तो भी प्रत्येक की एक निश्चित सरचना होती है : दिक् अवस्था का वैविध्य है, प्रत्येक अन्य सभी से पूर्णत. भिन्न होती है, काल तिथियो का वैविध्य है, प्रत्येक अन्य सभी से भिन्न होती है। यदि दिक् तथा काल का कोई कण हो तो, वह इतना सूक्ष्म होता है कि उसकी स्थिति के सूक्ष्म विभाजन को कर पाने की सभावना को कोई सीमा नही होती है। वे दोनो

अवच्छिन्न होते हैं—उन दोनों में ही कोई अन्तर नहीं होता, क्योंकि यदि कोई अन्तराल होता है तो वह दिक्-अथवा-काल का अन्तराल होगा : दिक् मे कोई छिद्र नहीं हो सकता क्योंकि कोई छिद्र हुआ तो वह स्वतः दिक् होगा। प्रत्येक का गणितीय रूप से विवेचन [निरूपण] किया जा सकता है। कान्ट का विचार था कि रेखागणित विशिष्ट रूप से दिक् पर तथा अंकगणित काल पर प्रयुक्त होती है। परन्तु अन्तरालों [इन्टरवॅल] की सामान्यीकृत रेखागणित दोनों पर प्रयुक्त होती है, और अंकगणित भी दोनों पर प्रयुक्त होती है, क्योंकि भेदों के बिना कोई रेखागणित नहीं हो सकता और अंकों के बिना कोई भेद नहीं हो सकते और फिर आगे प्रत्येक सातत्यक [कन्टिन्यूअम] के वर्णन के लिए अंक-सिद्धान्त के प्रयोग के उस क्षेत्र की आवश्यकता है जो अपरिमित समूहों से सम्बंधित होता है।

दिक् तथा काल जगत् की किसी भी दृष्टि के लिए रहस्य प्रस्तुत करते हैं। प्रकृतिवाद विशेष रूप से इस तथ्य से उलझन मे पडता है कि वे समस्त प्राकृतिक घटनाओं से अलग होते हैं। उनमें कोई विकास नहीं होता, वे अपरिवर्तनीय हैं, उनका कोई आदि नहीं हो सकता था। क्योंकि सभी आरम्भ काल में होते हैं, और इसीलिए काल प्रत्येक आरम्भ के पहले और बाद में होता है। काल समस्त परिवर्तन का मापक है, परन्तु उसी कारण से, स्वयं काल-क्रम परिवर्तित नहीं हो सकता।

काल तथा दिक् की प्रकृति मे जो रहस्य हैं उनकी दृष्टि से हरबर्ट स्पेन्सर उन्हें 'अचिन्त्य' कहता है। कान्ट उनका दूसरा विवरण प्रस्तुत करता है।

कान्ट की रुचि इस प्रश्न में है कि हम, देश तथा काल को कैसे जानते हैं। यह तो नही कहा जा सकता कि हम उन्हें इन्द्रियो से देखते हैं क्योकि वे स्वयं मे अगोचर हैं और वे इन्द्रिय सवेदन की सीमाओं का अतिक्रमण करते हैं। उदाहरण के लिए, हम जानते हैं कि दिक् हमारे पीछे भी है और साथ ही साथ आगे भी है। जैसा कान्ट ने इसे रखा है, दिक् 'अनुभव द्वारा प्रदत्त नहीं होता' क्योंकि वस्तुओं का तब तक अनुभव नहीं हो सकता जब तक कि दिक् इस प्रकार के अनुभव को स्थान देने के लिए 'तत्पर' न हो। यह सभव नही है कि हम दिक् पर ध्यान न दें। यद्यपि हम इस बात की कल्पना कर सकते हैं कि देश मे स्थित सभी वस्तुएँ अन्तर्धान हो जाएँ, परन्तु यह कल्पना नहीं कर सकते कि स्वयं देश अदृश्य हो जाए।, (यहाँ कल्पना का एक ऐसा प्रयास सन्निविष्ट है जिसके सम्बन्ध में सावधानी बरतनी चाहिए। जैसे ही आप यह कल्पना करते हैं कि दिक् मे एक भी वस्तु नहीं रही वैसे ही जो बचा रहता है क्या वह वही है जो दिक् है ?) इसमे यह सन्निविष्ट है कि यह हमे उस रूप मे दिया हुआ नहीं है जिस रूप मे इसमे स्थित विषय। उस समय भी जब इन्द्रियो का कोई विषय नही है तथा दिक् की धारणा अदम्य है क्या यह मनस् की अपनी क्रिया की उपज नहीं है ?

अपने क्षेत्र में अनेक एकल उदाहरणों को अन्तर्भूत करते हुए दिक् तथा काल इस अर्थ मे 'प्रत्यय' नहीं हैं कि वे वर्ग के नाम हैं। जैसे कि मनुष्य का प्रत्यय सभी मनुष्यों को अन्तर्भूत करता है। क्योंकि दिक् केवल एक ही है, सभी 'देश' इसके अंश है। और फिर इसके समस्त सम्भव भाग एक साथ होते हैं (जबकि समस्त सभव मनुष्यों का अस्तित्व एक

साथ नहीं होता) • बिना अन्वेषण के इसे असीम समष्टि के रूप में जाना जाता है। हम इसे कैसे जान सकते हैं जब तक कि हम स्वयं इस धारणा के रचयिता न हों? और इसके अतिरिक्त भी एक अन्य, तथा कान्ट के लिए निर्णायक, साक्ष्य है जो हमें दिक् के मर्म तक पहुँचाता है, अर्थात् यह कि, स्थान-स्थान पर उसके परीक्षण की आवश्यकता के बिना रेखागणित उसके सभी भागों के सम्बन्ध में चाहे वे कितने ही दूरस्थ क्यों न हों वैध मानी जाती है। (नॉन इयूक्लिडियन ज्यामिति तथा सापेक्षता की भौतिकी के विकास ने दिक् के विषय में इन प्रतिज्ञप्तियों में से कुछ का संशोधन किया है। फिर भी पाठक के लिए यह स्मरण करना उचित होगा, कि भौतिक सिद्धान्त की बहुत सी भाषा साधारण पदों के बदले हुए अर्थ का उपयोग करती है। इस प्रकार जब 'वक्र दिक्' की ओर संकेत किया जाता है, तो वक्रता [कर्वेचर] किसी ऐसे पूर्व मान्य भौतिक माध्यम पर प्रयुक्त होती है जो कान्ट के दिक् में स्थित होता है, स्वयं दिक् पर नहीं क्योंकि वक्रता का परिमाण होता है और उसका कोई मापक तब तक नहीं हो सकता जब तक कि सीधी [ऋजु] रेखाएँ न हों।) इससे कान्ट ने जो निष्कर्ष निकाला वह यह है कि दिक् संवेदन से प्राप्त सामग्री के संघटन में वह क्रम है, जो स्वयं मनस् की क्रिया है। वह इसे प्रत्यक्ष का प्रागनुभविक प्रकार कहता है। हमारी रेखागणित एक सार्वभौम रेखागणित है क्योंकि जिस विषय पर यह प्रयुक्त होती है वह हमारी अपनी संरचना होती है, जो सब स्थानों पर एक जैसी है। काल के लिए एक इसी प्रकार का तर्क इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि काल आन्तरिक प्रत्यक्ष का प्रागनुभविक प्रकार है, जो मुख्यतः अनुभवों के पौर्वापर्य का क्रम है। संख्या का विज्ञान प्रागनुभविक है, और गति का विज्ञान शुद्ध गति विज्ञान जो दिक् तथा काल के सम्बन्ध में जो विचार हैं उन्हें एक व्यवस्था देता है, उसी प्रकार प्रागनुभविक है।

यदि दिक् तथा काल मनस् के कार्य हैं तो समस्त प्रतीतिक जगत् अपने विस्तार एवं अपने भागों के परस्पर सम्बन्ध में भी उसी विशेषता से युक्त रहेगा। यदि हम यह मानते हों कि जगत् की सीमा एक स्थिर बाह्य तथ्य है तो इस कारण से जगत् के आदि तथा अन्त के विषय में मानसिक प्रश्न अव्यवस्था की ओर प्रेरित करेंगे। हम पाते हैं कि हम इस मान्यता के लिए कि जगत् का काल में कोई आरम्भ नहीं है तथा दिक् में कोई सीमा नहीं है उचित कारण दे सकते हैं हम यह भी पाते हैं कि हम उतने ही अच्छे कारण इस विचार के भी दे सकते हैं कि काल में जगत् का कोई न कोई आरम्भ अवश्य रहा होगा (क्योंकि अनन्त शृंखला का कोई अन्तिम बिन्दु नहीं होता, तथा काल के क्षणों की शृंखला अब [नाउ] पर पहुँच चुकी है), तथा दिक् में कोई न कोई सीमा अवश्य रही होगी। यह अवस्था एक 'विप्रतिषेध' है. दोनों ही प्रतिज्ञप्तियाँ अपरिहार्य प्रतीत होती हैं, परन्तु दोनों सत्य नहीं हो सकतीं। इसी प्रकार वस्तुओं की विभाजनीयता के विषय में भी वे अनन्त रूप से विभाजनीय हो भी सकती हैं और नहीं भी हो सकती। इन विप्रतिषेधों ने कान्ट के मनस् पर बहुत पहले ही प्रभाव डाला, तथा काल तथा दिक् पर उसके उन विचारों से स्वतन्त्र रूप में जिनकी ऊपर समीक्षा की गई है उसे इस विश्वास की ओर उन्मुख कर दिया था कि जगत् के ये लक्षण वस्तुनिष्ठ नहीं हैं और कि इस प्रश्न का कि जगत् का आदि है या नहीं कोई वस्तुनिष्ठ उत्तर नहीं दिया जा सकता। हम जहाँ कहीं भी जाते हैं, वहीं हम

अपने साथ दिक्-काल का क्रम ले जाते हैं, इसलिए इतिहास को हम कितना पीछे अथवा नक्षत्रीय विश्व को बाहर की दिशा में अथवा वस्तुओं की सूक्ष्म सरचना मे अन्तर की ओर तक ले जा सकते हैं, इसकी कोई सीमा नही है परन्तु अपने आप मे, वस्तुओं का कोई देशीय कालिक पक्ष नही होता, अत इस अन्वेषण का कोई प्रसग नहीं है।

अब तक काण्ट का चिन्तन अनुभव के आकारात्मक पक्ष से सम्बन्धित था। परन्तु उसकी विषयवस्तु क्या है ? यह बड़े आश्चर्य की बात है कि, जबकि मानव जाति बजाय दिक् तथा काल को मनोनिष्ठ मानने के सवेदन से प्राप्त सामग्री (गौण गुणों) को मनोनिष्ठ मानने के लिए करीब करीब तत्पर थी, तब काण्ट इस सवेद्य सामग्री को उस दिए हुए 'वैविध्य' (मैनीफोल्ड) के रूप मे ग्रहण कर लेता है जिसे हम स्वय उत्पन्न नही करते और जो निश्चय ही किसी बाह्य क्रिया का सकेत देता है। मनस् के द्वारा समस्त व्यवस्थीकरण में यह पूर्वापेक्षित है। दिक् काल की क्रम व्यवस्था पर ही द्रव्य, कार्य-कारण सम्बन्ध, जगत्-तन्त्र के हमारे प्रत्ययों की सरचना निर्मित होती है। इन प्रत्ययो, अथवा 'कोटियों' के विषय मे काण्ट को कहना पड़ा जैसा उसने दिक् तथा काल के विषय मे कहा था (१) वे अनुभव मे प्रदत्त नही होते (इसी कारण लॉक, बर्कले, ह्यूम, इन्हे अनुभव मे प्राप्त नहीं कर सके), (२) वे अनुभव को सम्भव बनाते हैं, क्योंकि इनके बिना गुण से गुण का विश्वसनीय साहचर्य तथा सम्बन्ध उतना नही हो सकता जितना बताया गया है, और (३) अत वे मनस् के कार्य हैं, तथा प्रागनुभविक रूप से अनिवार्य हैं। इस प्रकार बर्कले के साथ यह कहना कि कोई भौतिक द्रव्य नही है, या ह्यूम के साथ यह कहना कि कोई वस्तुनिष्ठ कार्य कारण सम्बन्ध नही है ठीक नही है, जैसे प्रकृति अथवा किसी बुद्धिगम्य अनुभव जैसा कुछ भी है तो द्रव्य तथा कारण इसकी सरचना मे विद्यमान हैं। परन्तु मनस् के बिना प्रकृति मे कोई व्यवस्था नहीं होगी, तब प्रकृति विविध सामग्री का केवल अज्ञेय, अदेशीय, अकालिक एव अकारक स्रोत मात्र रह जायगी।

जब हम प्रकृति जगत् को वस्तुनिष्ठ तथ्य के रूप मे ग्रहण करने का प्रयास करते हैं तो हमे द्रव्य की केवल वे ही उलझनें प्राप्त नही होतीं जिनसे बर्कले तथा ह्यूम जूझे थे, अपितु कार्य कारण सम्बन्ध तथा वस्तुओं की समष्टि के विषय मे विप्रतिषेध भी मिलते हैं। यदि कारण होते ही हैं तो कहीं प्रथम कारण भी होने चाहिए, स्वतन्त्र उत्पत्ति भी होनी चाहिए (जैसा वस्तुतः स्वतन्त्र सकल्प मे होता है), और प्रथम कारण नही हो सकते, क्योंकि किसी भी उत्पत्ति का कोई अपना हेतु अथवा पूर्व कारण होना चाहिए। इसी प्रकार जगत् की भी अपनी समष्टि है, इस पर हम एक समष्टि के रूप मे सोच सकते हैं, और जगत् की कोई समष्टि नहीं हो सकती, क्योंकि इसे किसी सीमा मे बांधा नहीं जा सकता और न ही इसका समापन किया जा सकता। जब हम यह जान लेते हैं कि कार्य-कारण सम्बन्ध तथा स्वय जगत् का प्रत्यय, मनस् के सदर्भ के बाहर उन विषयो पर प्रयुक्त नहीं किये जा सकते, तब ये विप्रतिषेध हल हो जाते हैं। ये कोटियाँ केवल 'अनुभव' पर प्रयुक्त होती हैं, और तत्त्व-मीमासा की समस्त उलझनें उन्हे उन वस्तुओं पर जैसी वे स्वय मे हैं—प्रयुक्त करने में उत्पन्न होती हैं। (फलत) कोई भी वैज्ञानिक तत्त्वमीमासा नहीं हो सकती।

कान्ट [redacted] विचार-तन्त्र के इस अभिमत को सशक्त पारिभाषिक प्राविधिक स्पष्टीकरण के रूप मे लिया जा सकता है कि मनस् उस जगत् के रूपायण में एक अंग है जिसको यह एक स्वतन्त्र एव स्व-सचालित विषय के रूप मे प्रत्यक्ष करते हुए प्रतीत होता है। जगत् के विषय में विचार करने तथा उसका साक्षात्कार करने मे मनस् स्वय अपने बोध को पुन प्राप्त करता है।

□□□

अध्याय २३

मनोनिष्ठ प्रत्ययवाद की परीक्षा

(१९६) अपने शुद्ध रूप मे मनोनिष्ठ प्रत्ययवाद बर्क्ले अथवा कांट में उपलब्ध नहीं होता। [इन दोनों में से] प्रत्येक ने वैयक्तिक मनस् तथा बाह्य जगत् के बीच किसी भेद को तो माना ही है, तो भी प्रत्येक ऐसी युक्तियों का प्रयोग करता है जो एक प्रकार के पूर्ण मनोनिष्ठवाद को न्यायोचित ठहरायेंगी : "जगत् मेरी अवधारणा है।" लाइबनित्स का दर्शन इसी दिशा मे उन्मुख प्रतीत होता है। उसके लिए प्रत्येक आत्म एक एकक [मोनैड] है, जो अनुभव का एक ऐसा विश्व है (जो किसी भी बाहरी प्रभाव के लिए) पूर्णत बद्ध है, जो प्रत्येक अन्य एकक से पूर्णतया स्वतन्त्र होते हुए भी रहीते के रूप मे लिपटी अपनी चित्रमाला अनावृत कर रहा है, (लाइबनित्स, मोनैडोलॉजि, [एककविज्ञान] रैन्ड, पृ० १९९–२१४)। यह इस सिद्धान्त का तार्किक परिणाम है कि मैं जो कुछ भी प्रत्यक्ष करता अथवा सोचता हूँ वह 'मेरे मनस् मे है"। क्योकि मेरे चिन्तन का कोई भी विषय क्यों न हो, चाहे वह सम्पूर्ण जगत् हो अथवा समस्त अतीत अथवा भविष्य का इतिहास हो, तब भी मैं हमेशा इस वाक्यांश को पहले जोड सकता हूँ कि 'मैं सोचता हूँ', और यह तुरन्त विषय को मेरे प्रत्यय के रूप मे प्रदर्शित कर देता है। "मैं सोचता हूँ" उस अधिकार के छुपे हुए अथवा अर्द्ध चेतन संवध की ही स्वीकृति है जो मेरे समस्त विषयों को मुझसे बांधता है, तथा जिसे मैं अपना आत्म कहता हूँ उसमे उन सभी को एकत्रित करता है।

हम दर्शन को असयत मानते हैं। शब्दश. यह एक वैश्वक अहवाद है (इसे माक्स स्टरनर के द्वारा अपने ग्रन्थ डेर आइन्सिगे उन्ट आइन आइगेन्टुम [व्यक्ति और उसका गुण] में बडे उत्तेजनापूर्ण ढग से उन नैतिक परिणामों के सहित स्थापित किया गया था जो इस चिन्तन से अनुगमित होते माने जा सकते हैं कि मेरे सभी विषय, जिनमे मेरे साथी मानव भी सम्मिलित हैं, मेरे सम्मुख प्रस्तुत बिम्ब मात्र हैं)। इस समय हमारा कार्य इस उद्विग्नता की परिभाषा करना है और यह देखना है कि यह हमें कहाँ ले जाती है। प्रत्ययवादी अन्तर्दृष्टि इतनी गहरी जमी हुई है कि वह तत्त्वत गलत नहीं हो सकती, इसका वर्तमान रूप इतना स्व आवेष्ठित है कि वह पूर्णत सही नहीं हो सकता। इसके प्रतिपाद्यो के दोष को तभी देखा जा सकेगा जब उन्हें उनके तार्किक परिणामों मे घटा दिया जाएगा, जैसे निम्नलिखित परिणाम

(क) जगतो की अनेकता :

यदि मेरा जगत् मेरे विचारों द्वारा निर्मित है, तथा मेरे विचार मेरी क्रिया की उपज हैं, और यदि प्रत्येक व्यक्ति, जैसाकि वह प्रत्येक-अन्य व्यक्ति से भिन्न प्रतीत होता है—तो

प्रत्येक विचारक के लिए अलग प्रकृति सहित अलग दिक्-काल का जगत् होना चाहिए [फलस्वरूप] उतने ही जगत् हो जायेंगे जितने मनस् हैं। इस निष्कर्ष को लाइबनित्स स्वीकार करता है, क्योंकि प्रत्येक एकक स्वय मे ही सम्पूर्ण सूक्ष्म विश्व [माइक्रोकॉज़्म] है।

प्रत्येक विचारक के लिए, दिक् एक तथा अनन्त होगा, जैसी कि कांट की मान्यता थी, परन्तु प्रत्येक विचारक का भिन्न दिक् होगा अत पूर्ण तथा अनन्त दिकों की अनेकता हो जायेगी, जिसमे से कोई भी किसी अन्य से सम्बन्धित नही होगा। कांट ने यह कभी स्पष्ट नहीं किया कि क्या वह भी उस मनस् को बहुसख्यक मानता है जो सवेदन की सामग्री पर अपने दिक् आकार को मढ देता है। यदि ऐसा है तो उसे भी अनेक दिकों की उपस्थिति को स्वीकार करना होगा। (यह इस बात से स्पष्ट है कि हम एककों को दिक् में छितरे हुए नहीं सोच सकते। तब, वे कैसे एक दूसरे से अलग किए जाएँगे ?)

(१५७) (ख) सर्वाहृवाद [सॉलिप्सिज्म]

मैं यह नहीं भूल सकता कि मेरे पडोसी मेरे जगत् के ही अग हैं, और कि मेरे [मनस्] मे उनके भी प्रत्यय हैं। उनके लिए मुझे प्रत्ययो के तर्कशास्त्र को स्वीकार करना पडेगा तब जिन्हें मैं अन्य मनस् के रूप मे ग्रहण करता हूँ उन पर विचार करते समय मैं अपने स्वय के चिन्तन के विषयों पर विचार कर रहा होऊँगा। तब विचार के अन्य मूल स्रोतो से मेरा कोई वास्तविक सभाषण नही होगा, कोई वास्तविक सामाजिक जीवन नहीं रहेगा। प्रेम तथा घृणा मूक अभिनय मे परिवर्तित हो जायेंगे। प्रत्येक व्यक्ति केवल अपने मे ही बन्द हो जायेगा—सोलुस इप्से [केवल आत्म]।

लाईबनित्स इस निष्कर्ष को स्वीकार करने के लिए भी तैयार था उसने कहा कि एककों के 'कोई गवाक्ष नही होते" और बहुत से विचारकों ने यह महसूस किया है कि यह निष्कर्ष तार्किक रूप से अपरिहार्य है, और कि हम अपने आपको इससे केवल श्रद्धा के आडे हाथो द्वारा ही बचा सकते हैं जो प्रयोजनवादानुसार तो न्यायोचित है, परन्तु बौद्धिक रूप से नही। मनोनिष्ठवाद की युक्ति से बिल्कुल स्वतन्त्र रूप से भी, अनेक विचारकों को यह स्पष्ट रूप से प्रतीत हुआ कि हम अपने स्वय के अतिरिक्त अन्य मानसो को प्रत्यक्ष नहीं करते, परन्तु उनके अस्तित्व को निश्चित रूप से स्वीकार करने के हमारे पास प्रयुक्त तर्क उपलब्ध हैं हम व्यक्तियो के अस्तित्व का अनुमान करते हैं अपना नही। परन्तु अनुमान भी, निस्सन्देह एक विचार होता है . और अन्य चेतन व्यक्तियो का विचार उनकी वास्तविक उपस्थिति नहीं है। अनुमान के द्वारा मैं स्वय अपनी वैयक्तिकता के घेरे से मुक्त नहीं हो सकता।

(१५८) (ग) ईश्वर भी [सर्वाहृवाद के] अन्तर्गत :

दकार्त तथा बर्क्ले दोनो आत्म के जादुई घेरे से बचने के लिए ईश्वर की अवधारणा का आश्रय लेते हैं। बर्क्ले सवेदन मे निष्क्रियता के ज्ञान को निश्चयपूर्वक बाह्य यथार्थ का चिह्न बताता है परन्तु अपने ऊपर कर्म किये जाने का बोध क्या 'प्रत्यय' नही है ? मुझ मे अपनी निष्क्रियता का प्रत्यय है, और यह प्रत्यय भी कि यह किसी कर्त्ता की अपेक्षा करता

है। परन्तु ये पुन मेरे ही विचार हैं। अनुभव की सामग्री के माने हुए कारण [हेतु] के रूप मे ईश्वर एक परिकल्पना बन जाता है, मेरे मनस् के भीतर का तथा मेरे मनस् द्वारा निर्मित विषय क्या (पदार्थ) जड द्रव्य मे अथवा अन्य मनसों मे विश्वास से अधिक अच्छा हेतु ईश्वर मे विश्वास के लिए है ? अथवा, क्या ईश्वर तथा अन्य मनसो को समान रूप से विश्वास के विषयो के रूप मे मुझे अपने ही मनस् के भीतर विद्यमान नही मानना चाहिए ?

(१५९) इन परिणामो से मनोनिष्ठ प्रत्ययवाद असिद्ध नही होता। ये इसका विरोध करते भी प्रतीत नहीं होते। ऐसा सोचा जा सकता है कि कोई उन सभी को सैद्धान्तिक विश्लेषण के परिणाम के रूप में स्वीकार करे और साथ ही ह्यूम की भांति उस समय इससे अन्यथा विश्वास की स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखे जब अपने मित्रो की संगति मे, बुद्धि की कठोरता अवकाश पर हो।

परन्तु मनोनिष्ठवाद कतिपय उन सहजबोधो के भारी विरोध का भी मुकाबला करता है जिन्हे उन सहजबोधो के साथ-साथ रख देना चाहिए जो प्रत्ययवाद की ओर ले जाते हैं। हमे यह सहजबोध है कि हम अकेले नही हैं, और जिन लोगों से हमारा सामना हो रहा है वे यथार्थ तथा वर्तमान व्यक्ति हैं। हमे यह सहजबोध भी होता है कि हमारे अनुभव के दिक् तथा काल उनके दिक् तथा काल के अनुरूप ही हैं, और इसलिए प्रकृति जगत् एक ही है अनेक नही।

ये सहजबोध विशेष रूप से प्रथम अवस्था मे इतने दृढ होते हैं कि अनेक लोगो ने इन्हें किसी भी ऐसे दर्शन के विरुद्ध पर्याप्त तर्क के रूप मे ग्रहण कर लिया है जो यह प्रदर्शित करता है कि सर्वाहवाद इसके परिणामो मे से एक है।

परन्तु, यदि हम बुद्धि मे विश्वास रखते हैं तो हम इन सहजबोधो को भी सप्रत्ययात्मक रूप मे बदलने को बाध्य हैं, और हम इन्हे कोरे अनालोचित सिद्धान्त के रूप मे नही छोड सकते। जब एक सहजबोध दूसरे सहजबोध से टकराता है, तो वह विचार के लिए विशिष्ट अवसर होता है। सर्वाहवाद में विश्वास नही करने मात्र से उसका खण्डन नहीं होगा।

(१६०) प्रोफेसर आर० बी० पैरी मनोनिष्ठ प्रत्ययवाद के दोषो का निर्देशन तथा नामकरण करते हुए उसका बौद्धिक विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। उनमे से प्रमुख तर्काभास अहकेन्द्रिक विषमावस्था के रूप मे युक्ति देना है। (प्रेजेन्ट फिलोसोफिकल टेन्डेन्सीज [वर्तमान दार्शनिक प्रवृत्तियाँ] पृ० १२६–१३२)। यह तो माना ही जाता है कि हमारी स्थिति 'अह केन्द्रित' है, अर्थात् हम जो कुछ भी सोचते हैं वह हमारा विचार होता है हम "मैं सोचता हूँ" से दूर नही जा सकते, जो सभी विषयो को 'अह' मे बाँध देता है। परन्तु यह परिस्थिति एक विषमावस्था है। क्योंकि यह हमे उन विषयों को जानने से रोकती है जिन्हे हम न तो देख सकते हैं और न सोच सकते हैं। और (पैरी का विश्वास है कि) ऐसे विषय हो सकते हैं। उसका तर्क है कि हम अह केन्द्रित सत्ताओं के रूप मे जो कुछ पता लगा सकते हैं उसके आधार पर सामान्यीकरण करना दोषपूर्ण है, जैसे, मानो कोई नीला चश्मे वाला व्यक्ति यह कहे कि जगत् मे कुछ भी लाल नहीं है। यह कथन कि 'मुझे अपने विचारो के अतिरिक्त कुछ भी नहीं मिल सकता" इस बात को समाहित नहीं

करता कि 'मेरे विचारो के अतिरिक्त किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं है', क्योंकि 'विषमावस्था' तो मुझे केवल निषेधात्मक उदाहरणो का पता लगाने से रोकती है जो वे वस्तुएँ हैं जो मेरे प्रत्यक्ष तथा विचार से परे हैं।

यह आलोचना, जो यूँ निपुण प्रतीत होती है, विषय की तह तक पहुँचने में असफल हो जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि सभाव्य अनदेखे तथा अविचारित निषेधात्मक उदाहरणो की वकालत करने मे, प्रोफेसर पैरी सोचते हैं कि वे (अपनी यथार्थवादी सामर्थ्य के अनुसार) ऐसे विषयों के बारे मे सोच सकते हैं जिनके बारे मे वे (अपनी अहं-केन्द्रित सामर्थ्यानुसार) नही सोच सकते। मनोनिष्ठवादी ने उन पर पहले ही विचार कर लिया है। मनोनिष्ठ प्रत्ययवाद के सम्बन्ध मे समस्या वह भय नहीं है कि ऐसे विषयो का अस्तित्व हो सकता है जो, हमारे अहं के घेरे के कारण, हमें प्राप्य नही, अपितु कठिनाई यह है कि यह प्रत्ययवाद उन तथ्यों का प्रतिवाद करता प्रतीत होता है जो हमें वस्तुत उपलब्ध हैं, अर्थात् अन्य व्यक्ति जो यहाँ उपस्थित हैं, जगत् की एकात्मता जिसमे हम सभी भागीदार हैं। इन अनुभवों अथवा सहजबोधो के प्रति हमे अवश्य ही न्याय करना चाहिए।

(१६१) जब हम देख लेते हैं कि, ब्रड्ले यह दिखा सका था कि यथार्थ तथा अयथार्थ अनुभव के आन्तरिक भेद हैं, उसी प्रकार आत्म तथा अनात्म भी अनुभव के आन्तरिक भेद हैं तब हम समस्या के मर्म के निकट आ जाते हैं। कहने का आशय है कि प्रत्येक आत्म आत्म चेतन है, अपनी स्वय की चेतना से युक्त है, स्वय का ही प्रत्यय है, और (क्योंकि प्रत्येक विचार उसका विरोधी है जो वह नहीं है) उसका प्रत्यय भी है जो स्वय वह नही है।

सर्वाहंवाद स्वय अपना ही खण्डन करता है।

जो कोई भी यह कहता है कि 'मैं केवल अपने विचार जान सकता हूँ' एक अव्यक्त मान्यता को स्वीकार करता है स्वय को अपने विचारो तक सीमित करने की कल्पना मे, वह इस कल्पना को अगीकार कर रहा है कि वह कुछ और भी जान सकता है, अन्यथा तो उसकी उक्ति का कोई महत्त्व नही रहेगा। वह प्रोफेसर पैरी के समान है जो यह सोचता है कि ऐसे विषय हो सकते हैं जिनके विषय मे उसका अहं केन्द्रित आत्म नही सोचता है। इसलिए उसका दावा "केवल उसके विचारो" की अपेक्षा एक विस्तृत क्षितिज को स्वीकार करता है यह स्वीकार करने के लिए कि वह केवल स्वय तक ही सीमित है उसे मानसिक रूप से अपने से बाहर जाना होगा। इसलिए एक दार्शनिक के रूप में लाइबनित्स, जब वह दावा करता है कि एकको मे गवाक्ष नही होते तब वह स्वय को उन सभी के बाहर स्थित कर रहा होता है और उनके अनेकत्व को तथा उन्हें अपने एकक से भिन्न जानने में वह अपने इस एकक को पर्याप्त गवाक्ष दे रहा है--शायद वहाँ दीवारों का नितान्त अभाव है।

अब मेरे लिए उसके विषय मे जो मैं स्वय नहीं हूँ अथवा जो मेरे प्रत्ययों के परे है, सोचना तब तक असम्भव होगा जब तक कि अनुभव उस सामग्री को उपस्थित नहीं करता जो आत्म तथा अनात्म की सकल्पनाओं को एक साथ मेरे सम्मुख लाए।

मनोनिष्ठवाद (तथा इसीलिए सर्वाहवाद) का दोष इस मान्यता मे निहित है कि जो आत्म नही है उसका विचार वदतोव्याघात (शाब्दिक विरोध) है, जबकि व्याघात इस दावे म निहित है कि आत्म, आत्म के विचारो तक सीमित है।

परन्तु मनोनिष्ठवाद अपने इस प्रश्न से चिपका रहता है कि, मेरे मे परे किसी भी वस्तु का प्रत्यय कैसे हो सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर दर्शन मे एक निर्णायक क्षण है।

(१६२) ज्ञान का स्वभाव उसे ग्रहण करना है जो ज्ञाता [सैल्फ] नही है। साधारण रूप से प्रत्यय वह है जो किसी ऐसी वस्तु का प्रत्यय है जो विचारक से अनन्य नही है। प्रत्यक्ष करना अपना लेना है, जो 'प्रदत्त' है उसे अपना स्वय का बना लेना है विषय का मेरा विचार मेरे अधिकार की मात्रा है, जो उमे कल्पना मे तथा अन्तत तथ्य के रूप मे पुन उत्पन्न करन की मेरी सामर्थ्य की मात्रा मे प्रदर्शित होती है। आनुभविक रूप मे जानना मेरे प्रत्यय के रूप मे सक्रमण है, वह प्रत्यय की तथ्यात्मक उपस्थिति नही इसकी पहली अवस्था उससे सम्पर्क है जो ज्ञाता नहीं है।

मनोनिष्ठ प्रत्ययवाद का सत्य यह है कि मैं जो कुछ भी जानता हूँ अथवा जिसका भी मुझ में प्रत्यय है यह मेरा हो जाता है। मैं उसका स्मरण करता हूँ, उसे धारण करता हूँ, कल्पना तथा स्वप्न मे इसका उपयोग करता हूँ, इसे हजारों रूपो मे पुन उत्पन्न करता हूँ। ऐसा कुछ भी नही है जिसे हम प्रत्यक्ष कर सकें और पुन उत्पन्न नही कर सकें, और वस्तुत धारण करते हुए, हम तुरन्त प्रत्येक आने वाले सस्कार को पुन उत्पन्न करने लग जाते हैं। जगत् मेरा प्रत्यय बन जाता है। परन्तु अपने प्रथम प्रस्तुतिकरण मे यह मेरा नही होता और जबकि कान्ट तथा लाइबनिज इस बात मे सही हैं, कि स्वय सवेदन एक सक्रिय प्रक्रिया है जिसमे मनस अपनी सामग्री की व्याख्या अपने स्वय के विचारो द्वारा करता है, वे यह मानने मे गलती करते हैं कि इस क्रिया के कारण ही, हम साथ ही निष्क्रिय अथवा ग्रहणशील स्थिति मे भी नही हैं। कान्ट ने इस बात पर जोर दिया कि हम अनुभव की सामग्री को ग्रहण करते हैं, परन्तु उसके रूप की रचना करते है इसके विपरीत अपेक्षाकृत सत्य दृष्टि यह है कि हम सामग्री तथा रूप दोनों को ग्रहण करते हैं, और दोनो की पुनर्रचना करते हैं। अनुभव हमारे भीतर बाहर से आता है।

तो, स्वाभाविक प्रश्न, इस बाह्य तथा सक्रिय यथार्थ के स्वरूप के विषय में है।

(१६३) यहाँ प्रकृतिवादी चाहता है कि हम पुन उसी अवस्था पर लौट जाएँ जिसमें यह अनात्म [नॉट सैल्फ] जड द्रव्य अथवा ऊर्जा द्वारा निर्मित होता है। परन्तु हम ऐसा नहीं कर सकते। यह स्थिति बौद्धिक रूप से अयुक्तियुक्त है (१५१ वाँ परिच्छेद), ठीक उसी प्रकार जैसे कि बर्गसा ने इसे सहजबोध मे अयुक्तियुक्त बना दिया है। सच्चे दर्शन को, उस सबको सुरक्षित रखना चाहिए जो मनोनिष्ठ प्रत्ययवाद मे सत्य है, उस जडतत्त्व का विनाश जिससे समस्त भौतिक वस्तुओ का पूर्णतया आत्म निर्भर निर्जीव सत्ता अर्थात् प्रकृति के स्वतन्त्र जगत् में मूलस्थ होना समझा जाता है। प्रत्ययवाद की इस निषेधात्मक उक्ति का परिहार सभव नहीं। हम पुन प्रकृतिवाद की ओर नहीं लौट सकते।

और यह निषेधात्मक उक्ति भी सत्य है कि सत्य का स्वरूप मानसिक है। गलती पूर्णतया सम्बन्धकारक (स्वत्वबोधक) 'मेरे' मे निहित है। कुछ है जो आत्म से परे है और स्वय मेरे जितना हो यथार्थ है : परन्तु यह बाह्य यथार्थ जड पदार्थ नहीं है, यह अन्य मनस् है। ऐन्द्रिय अनुभव मे जो मुझ पर क्रिया करता है वह मेरे मनस् के अतिरिक्त कोई अन्य मनस् होता है।

क्योंकि केवल अन्य आत्म ही किसी आत्म को सीमित अथवा उस पर क्रिया कर सकता है। आत्म दिक् के समान है : यह केवल अपनी तरह की ही किसी वस्तु द्वारा सीमित हो सकता है। जो हमारे भ्रमों को दूर करता है वही यथार्थ है, परन्तु वह क्या है ? जब मैं किसी गलती मे सुधार करता हूँ, तो कोई असत्य निर्णय विस्थापित होता है, किसी मृत तथ्य द्वारा नही, अपितु किसी सत्य निर्णय द्वारा। सत्य निर्णय वह है जिसे मानने के लिए मै बाध्य हूँ। परन्तु निर्णय किसी निर्णय करने वाले मनस् से सम्बद्ध होता है। इसलिए यथार्थ का जगत्, जो सत्य का जगत् है, वह सार्वभौम तथा अन्तिम निर्णय अर्थात् किसी सार्वभौम आत्म, का जगत् है।

इस प्रकार हम मनोनिष्ठ प्रत्ययवाद से वस्तुनिष्ठ प्रत्ययवाद की ओर चले जाते हैं।

अब हम वस्तुनिष्ठ प्रत्ययवाद की अवस्था पर प्रकृति की दृष्टि से तथा अपने सामाजिक जगत् की दृष्टि से, विचार करेंगे।

टिप्पणी : प्रत्ययवाद के समालोचकों ने बहुत समय तक इसको ज्ञान के मनोनिष्ठ सिद्धान्त से अभिन्न माना है : अब उसकी स्थिति को अधिक न्यायसगत रूप मे रखने और इस प्रकार दर्शन की समकालीन विचारधाराओं मे आपस मे अधिक अच्छी समझ उत्पन्न करने का समय है, ये वे दर्शन हैं जिनमे से सभी ने शताब्दी भर समस्या पर जो वाद विवाद रहा है उससे सीखा है।

ज्ञान के सिद्धान्त के रूप मे सर्वाहवाद लुप्तप्राय है। सामान्य रूप से इस बात को मान लिया गया है कि अनुभव एक ऐसी सत्ता के ज्ञान को सन्निविष्ट करता है जो हम नहीं हैं। हम कभी भी अपने तक सीमित नहीं रहे। प्रश्न यह है कि वह अन्य वस्तु क्या है ? यह (कि यह अन्य वस्तु) मेरा विचार (है) प्रत्ययवाद का आधारहीन उत्तर नहीं है। इसका उत्तर है, कोई चेतन जीवन जो स्वय को मेरे विचार के सम्मुख प्रदर्शित करता है। अनुभव करना अनात्म से हमारा समागम है, परन्तु यह किसी खाई के पार किसी वस्तु को छूना नहीं है, यह वस्तुत पार करना है, और कुछ अपनाना है। ज्ञानमीमासात्मक यथार्थवाद जानने की प्रथम स्थिति की एक स्थिर स्थिति की ओर प्रवृत्त होता है : सत्य; परन्तु यह शुद्ध रूप मे किसी प्रक्रिया के बीच की अवस्था है।

स्वय मनोनिष्ठ सहजबोध का उचित मूल्य क्या है इस बात को आकने मे हम असमर्थ रह जाते हैं, क्योंकि इस पर बहुत अधिक निर्मित हो चुका है। इसका प्रभाव अभी भी एक ज्ञानमीमासात्मक ट्रिक के रूप मे ही पडता है और हम तब सतुष्ट हो जाते हैं जब हम उसका 'खण्डन' कर चुके होते हैं, अथवा उसे तत्काल अस्वीकार कर देते हैं मानो हमने इसका पूर्णतया निराकरण कर डाला है। यह पाने पर कि यह विश्व की गुत्थी का पूर्ण हल नही है, हम इसे विश्व संरचना के आंशिक सकेत के रूप मे देख पाने मे भी असफल रहते

है। अव्यक्त 'मैं सोचता हूँ' की अवहेलना नहीं करनी चाहिए : इसको अ-महत्त्वपूर्ण मानने का अभिनय करना आत्म को भूलने के सिद्धान्त की रचना करना है जो विशिष्ट क्रिया के लिए उचित है। परन्तु सत्ता का ऐसा कोई पूर्ण निरूपण नहीं है जो उसके प्रत्येक पोर में प्रविष्ट होने वाले आत्मत्व की पहुँच को अलग रख सके। यह आत्मत्व न केवल प्रत्यक्षकर्ता आत्म है अपितु इच्छा करने वाला, चिन्ता करने वाला आत्म भी है। मनोनिष्ठ युक्ति से यह भलीभाँति स्पष्ट हो गया है कि वस्तुओं की तथ्यात्मकता उनका सारतत्त्व नहीं है : किसी रूप में, उनका सत् वही है जो उनका अर्थ है।

अन्त में, मनोनिष्ठ विश्लेषणों के कतिपय निष्कर्षों पर इसलिए ध्यान नहीं दिया जाता क्योंकि वे हमारे जीवन के रक्त में इतने गहन रूप से पैठ चुके हैं। जड़वाद मर चुका है। हमारे पास जो बचा है वह 'अनुभव' है। और यदि ये अनुभव की अन्तिमताएँ नहीं तो, उसके प्रारम्भिक विश्लेषणों के रूप में सम्भव हुए हैं जैसे ह्यूम के भेद प्रतीत्यात्मक [फिनॉमिनॉलॉजिकल] दृष्टिकोण, माख्, पीयर्सन, पांकरे की वर्णनात्मक पद्धतियाँ, भौतिकी का नवीन मनोनिष्ठवाद, स्वतः नव्य-यथार्थवाद [निओ रियलिज़्म]।

दार्शनिक जगत् को इन निष्कर्षों को मानने के लिए तत्पर रहना चाहिए।

/

अध्याय २४

वस्तुनिष्ठ प्रत्ययवाद

(१६४) वस्तुनिष्ठ प्रत्ययवाद प्रकृति की इस अनुभूति के साथ आधे रास्ते तक तो चलने को लिए तैयार है कि प्रकृति मुझमे अथवा निजी आत्म मे, नहीं है, अपितु इसका मुझसे पूर्व भी अस्तित्व था और मेरे पश्चात् भी रहेगा।

यह उस सबको भी सुरक्षित बनाए रखता है जो मनोगत प्रत्ययवाद मे वैध है। मनोगत प्रत्ययवाद ने असदिग्ध रूप से यह दिखा दिया है कि जडवाद एक असभव दर्शन है। और इसने मनस् की वास्तविक सृजनात्मक शक्ति को दिखाकर इस दृष्टि का सबल समर्थन किया है कि जो यथार्थ है वह मानसिक है। क्योंकि यद्यपि प्रकृति का अनुभव सबसे पहले हमें एक बाह्य माध्यम द्वारा होता है, [परन्तु] हम तुरन्त, जो हमे दिया हुआ होता है, उसकी व्याख्या करने तथा उसे पुन प्रस्तुत करने लगते हैं पहले हम निष्क्रिय होते हैं और फिर सक्रिय। यह हम [मूक] क्रिया की असाधारण सीमा तथा शक्ति ही है जो वस्तुनिष्ठ प्रत्ययवाद की इस निर्भीक परिकल्पना को न्यायोचित ठहराती है कि कोई मनस् प्रकृति की रचना कर सकता है, कि प्रकृति की पृष्ठभूमि मे तथा उसके अन्दर जो यथार्थ है वह मानसिक हो सकता है।

(१६५) स्वप्न की प्रक्रिया पर ध्यान देकर हम इस बात को भलीभाँति समझ सकते हैं कि मानसिक क्रिया क्या कर सकती है क्योकि निद्रा में बाह्य यथार्थ के अनुचित हस्तक्षेप समाप्त नही होते अपितु न्यूनतम हो जाते हैं। सजीव स्वप्न में ऐसा ही लगता है जैसे यह पूर्णतया मूर्त्त हो, इच्छाओ तथा महत्वाकाक्षाओं को चरितार्थ [प्राप्त] करने की दिशा मे और इससे विपरीत दिशा मे हमारे मुख्य भयो तथा आशकाओ को वास्तविक आकार देने मे यह बहुधा यथार्थ से भी अधिक होता है—क्योंकि स्वप्नो मे ही बिलकुल पूरी तरह से हमारे ' स्वप्न साकार होते हैं"। अपने जाग्रतावस्था के अनुभवों की भाँति ही हम स्वप्नों के प्रति भी निष्क्रिय होते हैं, चेतन आत्म स्वप्न की घटना के प्रवाह पर नियन्त्रण करने की थोडी ही शक्ति रखता है। तो भी समस्त चित्रात्मक विस्तृत विवरण मे स्वप्न हमारे मानसों की अर्थात् हमारी मनोगत कल्पना की ही उपज होना चाहिए।

अब जाग्रतावस्था मे, मनस् एक ही प्रकार सक्रिय होता है यद्यपि दिन के प्रकाश मे तारो के समान, इसकी क्रिया आशिक रूप से उस वस्तु की अधिक सुप्रकाशिता से जिसे हम 'वास्तविक' जगत् कहते हैं मन्द हो जाती है परन्तु यह पूर्णत मन्द नही होती यह सिद्ध करना सरल है कि हम जो देखते हैं उसकी सरचना मे हम प्रत्येक क्षण अपना योग कर रहे होते हैं। हम कोई ध्वनि सुनते हैं, हम तुरन्त ही इसे किसी पदचाप,' किसी 'घण्टी' अथवा किसी 'मोटर के होर्न' के रूप मे अर्थ दे देते हैं, और ध्वनि के साथ ही दृष्टि बिम्ब को भी

जोड देते हैं। प्रत्यक्ष दृष्टि मे भी उसके स्थान पर, जो वस्तुत [बाह्य जगत् मे] है, अधिकाश मे हम वही देखते हैं जिसे हम देखना चाहते हैं। नही तो पेशेवर जादूगरो के लिए हमे धोखा देना अपेक्षाकृत कठिन होता और प्रूफशोधक वर्ण-विन्यास मे अधिक निश्चित रूप से त्रुटियो को देख पाता। कलाओ मे से कुछ, तथ्य के मानसिक अनुपूरण पर निर्भर होती हैं। चलचित्रो को 'दो रगो' मे रगने की प्रक्रिया केवल लाल तथा हरे रगो का उपयोग करती है, परन्तु द्रष्टा रगो के अधिक पूर्ण विस्तार को देखता है, वह अपनी ओर से नीले तथा पीले रगो को जोड देता है और फिर चित्र का आनन्द इस प्रकार लेता है मानो वे रग उसी चित्र मे थे। ऐसे चित्रो मे गति, दूरी और रग के कुछ अवयवो का सातत्य द्रष्टा द्वारा प्रदान किया जाता है। इस प्रकार सवेदन की सामग्री, जिसके विषय मे कान्ट ने भी यही माना कि उसका मनस मे आयात होता है, किसी सीमा तक मनस् की उपज होती है।

वास्तव म हमारी यह सारी क्रिया, गौण होती है क्योकि इसकी अधिकाश सामग्री, पहले के किसी अनुभव से प्राप्त की जाती है परन्तु इससे जो बात प्रदर्शित होती है वह यह है कि अनुभव मे ऐसा कुछ भी दिया हुआ नही होता जिसे पुन उत्पादन करने मे हम समर्थ न हो। हम अपने जगत् के मौलिक सृष्टा नही हैं, वरन् इस सृजनात्मकता मे नौसिखिए हैं हम यह सीख रहे हैं कि अपने ही भण्डार से किसी जगत् की रचना कैसे की जा सकती है। जिस प्रकार, जब हम इतिहास का अध्ययन करते हैं, तो वहाँ ऐसा कुछ भी अभिलिखित उपलब्ध नहीं होता जो हमारी अपनी प्रकृति का न हो (एमरसन का इतिहास पर लेख देखें) उसी प्रकार, जब हम प्रकृति को ग्रहण करते [समझते] हैं, तो इसके ताने बाने में ऐसा कुछ भी नही होता जो हमारी पुनरुत्पादन की शक्तियों के लिए अनजान रहता हो।

यह मानव मनस् की इस सृजनात्मक शक्ति की सत्ता ही है जो वस्तुनिष्ठ प्रत्ययवाद की परिकल्पना को बल प्रदान करती है हमारी अपनी सत्ता मे कोई ऐसा तत्त्व विद्यमान है जो प्रकार की दृष्टि से उस क्रिया के सदृश है जो प्रकृति को उत्पन्न करती है और उसे हमारे सम्मुख प्रस्तुत करती है।

(१६६) यह परम मनस् वस्तुत हमारे अपने मन से केवल महानता मे नही, गुणात्मक रूप मे भी भिन्न होगा। हमारे मनस् केवल अनुभव से सीखने के पश्चात् ही सृजन कर सकते हैं परन्तु विश्व-मनस् को अनुभव के गुणो को स्वय अपने से बिना किसी पूर्व सरचना के प्रकट करना चाहिए, अत उसे पूर्णत सक्रिय होना चाहिए, अशत निष्क्रिय नही। इसके अतिरिक्त जगत् के अपने सुविचारित चिन्तन मे, जो जगत् की सृष्टि भी है, यह जगत् को केवल अपने को नहीं अपितु हमे भी प्रस्तुत करता है, और अन्य मनसो को विश्व-प्रत्यक्ष सम्प्रेषित करने की यह प्रक्रिया स्पष्टत साधारण रूप से अपने लिए किसी विषय की कल्पना करने की प्रक्रिया से भिन्न है।* इस प्रकार अन्य मनसो की भाँति विश्व मनस् में विचार एव सकल्पेच्छा के तत्त्व रहने पर भी, जिनके कारण 'मनस्' शब्द के प्रयोग का औचित्य है,

* हमारे अपने अस्तित्व का भी विश्व मनस् से भिन्न मनसों के रूप में, लेखा-जोखा लिया जाना चाहिए। इन तथा अन्य समस्याओं में जो उसकी परिकल्पना में निहित हैं, वस्तुनिष्ठ प्रत्ययवादी ऐसी सृजनात्मक कृतियों में विचार करता है जैसे रायस का 'दि वर्ल्ड एण्ड दि इन्डीविजुअल' [जगत् और व्यक्ति] विशेष रूप से दूसरा खण्ड देखें।

विश्व मनस् अन्य मानसों से अत्यन्त गहन रूप से भिन्न है। विश्व-मानस् विचार एवं संकल्पेच्छा के तात्त्विक अंगों के अनिवार्य तत्त्वों, जो 'मनस्' पद को न्यायोचित बनाते हैं, के संदर्भ में हमारे मानसों के समान होते हुए भी मूलरूप मे हमारे मनसों से भिन्न हैं।

परन्तु ये भेद मुख्य परिकल्पना, कि प्रकृति की सत्ता किसी सृजनशील मनस् के द्वारा संकल्पित (और इसलिए विचारित) होने मे है, पर प्रभाव नही डालते।

(१६७) कभी कभी इस बात को वस्तुनिष्ठ प्रत्ययवाद के लिए पर्याप्त प्रमाण मान लिया गया है कि यह प्रकृतिवाद तथा मनोनिष्ठ प्रत्ययवाद दोनो की कठिनाइयो से बचता है, और साथ ही मानव जाति की प्रत्ययवादी सहजानुभूतियो को भी संतुष्ट करता है। यह वह परिकल्पना है जिसकी ओर हम स्वभावत तब पहुँच जाते हैं जब हम मनोनिष्ठवाद मे जो सत्य है उसको प्रकृतिवाद मे जो सत्य है उससे जोडने का प्रयास करते हैं। संक्षेप मे यह इन दो अपूर्ण तथा अपर्याप्त दृष्टियो का 'संश्लेषण' है।

इसे कभी-कभी द्वन्द्वात्मक प्रमाण कहा जाता है पक्ष [स्थापना थीसिस] (प्रकृतिवाद), विपक्ष [प्रतिस्थापना एन्टीथीसिस] (मनोनिष्ठ प्रत्ययवाद) की ओर अग्रसर करता है, और ये दोनो मिलकर सपक्ष [संस्थापना सिन्थेसिस] की ओर ले जाते हैं।

परन्तु जो कुछ भी हम इस प्रकार की संस्थापना के लिए उचित रूप मे कह सकते हैं वह यह है कि यह पिछले दोनो सिद्धान्तो मे अपेक्षाकृत अच्छी है, यह उस सब सत्य की व्याख्या देती है जिसे अभी तक प्रकाश मे लाया गया है। फलत इसका अतिक्रमण किया जा सकता है (जब तक कि इससे दूर जाने का प्रत्येक प्रयास हमे पुन इसी पर न ले आए)। इस बात के लिए कि प्रकृति सृजनात्मक मनस् पर निर्भर होती है अन्य प्रमाणो की खोज उचित ही होगी। मुझे इनमे से कुछ प्रमाणो का उल्लेख करने दीजिए, उत्पत्ति के द्वारा नही अपितु संकेतो [सुझावो] के द्वारा।

(१६८) कि जिस प्रकार जीवन केवल जीवन से आता है: उसी प्रकार मनस् केवल मनस् से आता है।

पास्चर ने यह संभाव्य बनाया कि वर्तमान परिस्थितियो मे, जीवित अंगी केवल पिछले जीवित अंगियो से ही आ सकते हैं। ऐसा कहा जा सकता है कि बर्गसा मे अपने ग्रन्थ क्रोयेटिव इवोल्यूशन मे इस सिद्धान्त का सामान्यीकरण इस निष्कर्ष के रूप मे किया है कि विश्व मे समस्त जीवन एक ही स्रोत लेलाँ वीता[1] से आता है। इस मान्यता के लिए कारण है कि बर्गसा का 'जीवन' स्वभावत मानसिक है, और इस सिद्धान्त को और आगे चलकर इस रूप मे विशेषीकृत किया जा सकता है कि "मनस् केवल मनस् से ही आता है।" मनस् जब किसी अ-मानसिक वस्तु से 'उद्भूत' होता प्रतीत होता है, तो जड पदार्थ, स्नायु-कोष अथवा मस्तिष्क की विशेष व्यवस्थाएँ, जो इसके भौतिक अंगों के रूप में काम करते हैं, मनस् के अंगी हो जाते हैं, केवल तभी यदि मनस् पहले से ही विश्व मे विद्यमान हो।*

---

* लायड मार्गन, इमरजेन्ट इवोल्यूशन [नवोत्क्रान्ति विकास], एल टी हाबहाउस, डवलपमैन्ट एण्ड परपस [विकास तथा उद्देश्य], एस एलेक्जेण्डर अपनी स्पेस, टाइम एण्ड डीइटी [देश, काल तथा देवता] नामक पुस्तक में इससे विपरीत दृष्टि रखता है।

(१६६) कि कारणता उद्देश्य-मूलक है।

'नवीनतर साध्यवाद' पर अपने अध्याय (ऊपर पचासवाँ और आगे के परिच्छेद) में हमने यह दिखाया है कि कारणता उद्देश्य से संगत है। हमने इसकी स्थापना के लिए कोई *विध्यात्मक प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया कि प्रकृति की कारणात्मक ऊर्जा उद्देश्यपरक है।* परन्तु ऊर्जा क्या है ? क्या यह केवल गणित है ?

शॉपनहॉवर का यह विश्वास था कि एक ऐसा बिन्दु है यथा स्वतः हमारी संकल्पेच्छा, जहाँ हमें ऊर्जा का एक आन्तरिक बोध होता है। जो ऊर्जा मस्तिष्क में रासायनिक अथवा विद्युतीय प्रतीत होती है, मनस् में वही संकल्प-ऊर्जा के रूप में प्रकट [प्रतीत] होती है, और यह इसका सच्चा स्वरूप है। स्पेन्सर केवल इस विचार को मस्तिष्क से बाह्यजगत् में ले जाता है जब वह यह युक्ति देता है कि किसी भार को उठाने में भार की साम्यावस्था में, नीचे की ओर खिंचाव, मात्रा में ऊपर की ओर खिंचाव के बराबर होना चाहिए, और वस्तुएँ केवल तभी प्रकार में समान होती हैं जब वे मात्रा में समान होती हैं : तो [इस अवस्था में] ऊपर की ओर खिंचाव की अनुभूति नीचे की ओर खिंचाव के स्वरूप के लिए संकेतवत् होगी।

परन्तु वैज्ञानिकों ने जिस रूप में ऊर्जा के नियमों को माना है उसमें कतिपय ऐसे संकेत मिलते हैं कि उन्होंने प्रकृति को एक प्रकार का नैतिक गुण सहज ही प्रदान कर दिया है। गिरती हुई वस्तुओं के नियम पर अपने परीक्षणों में, गैलिलियो को सुनिश्चित माप की अपर्याप्त प्राविधिक सुविधाओं से बाधित होने के कारण [वस्तु के] गिरने की गति को झुके हुए तल पर लुढ़का कर धीमा करना पड़ा। ऐसा करने में उसकी पूर्वमान्यता यह थी कि तल के अधोभाग में गेंद का वेग [विलॉसिटि] समान होगा चाहे तल का ढलाव कुछ भी क्यों न हो। वह कौनसा विचार था जिसने [उसे] इस पूर्वधारणा की ओर उन्मुख किया ? उसने सोचा कि यदि हम तल के ढाल में परिवर्तन करके गेंद की अन्तिम गति को बदल सकें, तो विभिन्न ढलावों को इस प्रकार जोड़ना सम्भव हो जायगा कि ढाल पर गेंद को अधिक रफ्तार के साथ लुढ़काकर और फिर पुनः ढलाव पर धीमी रफ्तार से चढ़ाकर, गेंद को इसके स्रोत [वह स्थान जहाँ से उसे पहले लुढ़काया गया था] की तुलना में ऊँचा चढ़ाया जा सकता है। और ऐसा उसने उन आधारों पर असम्भव माना, जिन्हें आज हम ऊर्जा के संरक्षण का सिद्धान्त मानते हैं, परन्तु जो गैलिलियो के लिए केवल एक प्रसिद्ध दृढ़ विश्वास था कि प्रकृति की प्रक्रियाओं में एक ऐसी न्यायनिष्ठा थी जो कुछ नहीं से कुछ प्राप्त करने की इच्छा का कभी भी पोषण नहीं करती थी। उसने अनुभव किया कि प्रकृति में एक न्याय-प्रिय न्यायाधीश के लक्षण जैसा कुछ है, शायद कठोर परन्तु विश्वसनीय, अपरिवर्तनीय, निष्पक्ष।

कभी कभी प्रकृति के नियमों की तुलना जीवित प्राणियों के स्वभावों से की गई है (रॉयस, दि वर्ल्ड एण्ड दि इन्डीविजुअल दूसरा खण्ड, पृ. २२६) : निश्चिततया वे ऐसी [व्यवस्थाएँ] हैं जिनके प्रति प्रकृति के भीतर की सजीव वस्तुओं का स्वभाव प्रतिक्रिया करता है। उपर्युक्त विचार यह सुझाते हैं कि प्रकृति के नियमों का एक बौद्धिक [रैशनल] अर्थ हो

सकता है, और यह कि प्रकृति की घटनाएँ—यद्यपि [वे] हमारे अपने कार्यों की भाँति सकल्प के अनेक भिन्न प्रकार के आवेगों को अभिव्यक्त नहीं करती—एक सगत सकल्प को अभिव्यक्त कर सकती हैं जो सम्पूर्ण विश्व-व्यवस्था को अनुप्राणित करता है।

(१७०) कि नियम बुद्धि की एक अभिव्यक्ति है।

वस्तुत जब हम प्रकृति से मनस् को निष्कासित करने का प्रयास करते हैं तो प्रकृति मे नियम की सकल्पना ही चक्कर मे डाल देती है। हम सामान्यतया भौतिक नियमो को घटनाओ की नियमित शृखलाओं के वर्णनात्मक सक्षेपो के रूप मे मान लेते हैं : जब क घटता है तो ख घटता है। अर्थात् क प्रकट होगा यह ख के प्रकट होने का एक प्रकार के सकेत का रूप रखता है। अब हम यह भलीभाँति जानते हैं कि किसी मनस् द्वारा सकेत का प्रत्यक्ष करना और उसके प्रति उपयुक्त प्रतिक्रिया करना क्या अर्थ रखता है। परन्तु हम इस की कुछ भी कल्पना नही कर पाते कि एक पूर्णत निर्जीव जगत् मे किसी सकेत का क्या अर्थ हो सकता है।

नियमो मे से एक सरलतम नियम को लें, न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण की सकल्पना। इसमे यह निहित है कि विश्व म प्रत्येक कण की गति उसमें उपलब्ध प्रत्येक अन्य कण की अवस्था एव मात्रा के प्रति सतत तथा तत्काल प्रतिक्रिया करती रहती है। इस प्रकार की बात कैसे सभव है। घटनाओ का वर्णन करते समय हमारी जो पूर्वमान्यताएँ हैं उनमे यह अत्यन्त महत्ती है और उचित ही। परन्तु फिर भी यह अस्थिर कर देता है और दर्शन के लिए 'कैसे' का प्रश्न बना ही रहता है।

लार्ड बेकन जड वस्तुओं को किसी प्रकार के परस्पर ग्रहण से युक्त मानने के लिए तैयार था परन्तु यह मानने के लिए नहीं कि उनमे चेतन प्रत्यक्ष भी होता है। हरमैन लोत्से (१८१७ १८८१ पैरी की पुस्तक रीसैन्ट पास्ट [अधुनातन अतीत] पृ ६०-६१ तथा रैन्ड पृष्ठ ७४५-७५७ देखें) प्रत्येक कण को इस सीमा तक सवेदनशील मानने के लिए तैयार नहीं था। उसने इस बात की ओर सकेत किया कि विश्व के अनेक परिवर्तनो को एक परिवर्तन के रूप में माना जा सकता है, एक ऐसे विशाल सन्तुलन के रूप मे जो निरन्तर बिगडता और बनता रहता है। और उसका प्रस्ताव यह था कि इस प्रकार का परिवर्तन एकाकी मनस् की ओर सकेत करता है, जिसके अन्तर्गत प्रत्येक आंशिक परिवर्तन प्रत्येक अन्य आशिक परिवर्तन के साथ तत्काल समायोजित होता रहता है।

हम यह निस्सकोच स्वीकार करते हैं, जैसे *लोत्से सकेत करता है, कि मानवीय नियम का* केवल तभी अस्तित्व होता है जब इस पर सोचा जाता है यदि सभी देशवासी सोए हुए हो, तो उस देश के नियम का 'अस्तित्व' पिकविकी [हास्यास्पद] अर्थ मे ही हो सकता है। फिर प्रकृति के नियमो का अस्तित्व किस अर्थ मे है? केवल इस अर्थ मे कि घटनाएँ उन्हीं के अनुसार होती हैं : उनका यदि 'पालन' नही तो 'प्रत्यक्ष' किया जाता है। और यह ज्ञान को समाविष्ट करता प्रतीत होगा, यदि प्रकृति के अशो मे नही तो इसके समग्र मे। क्योंकि कोई नियम कार्य करने के एक तरीके के रूप मे एक प्रकार की सामान्यता है एक 'सामान्य', और जो सामान्य है वह केवल मनस् द्वारा ही ग्राह्य है। ऐसा लोत्से का विचार है।

(१७१) यदि ये संकेत सत्य हैं तो हमारी यह मान्यता न्यायोचित होनी चाहिए कि प्रकृति की व्यवस्था का कारण प्रकृति मे बुद्धि [रीज़न] की वस्तुत उपस्थिति है। ईश्वर के अस्तित्व के लिए विश्वमूलक तर्क मे (ऊपर ३२वां परिच्छेद) कार्यरूपी प्रकृति से कारणरूपी किसी प्रबुद्ध सृष्टा का अनुमान किया जाता है। यह सृष्टा सृष्ट जगत् से भिन्न था। वस्तुनिष्ठ प्रत्ययवाद की दृष्टि यह होगी कि जगत्-मनस् प्रकृति की प्रक्रियाओ के अन्तर्गत ही है: कि वे प्रक्रियाएँ उस मनस् की ही तर्कणाएँ हैं, तर्कणा जिसमे कारण से कार्य की ओर का मार्ग परिणामों का निगमन है, और इसमे विचार की संगति रहती है और लक्ष्य की दृढता रहती है। विज्ञान की प्रगति आलंकारिक अर्थ मे नही अपितु शाब्दिक अर्थ मे होगी, विश्व-विचार का विकास होगी। और यह तथ्य कि विज्ञान जगत् पर सोच सकता है, कि सफल परिकल्पनाएँ उपलब्ध होती हैं इस तथ्य से समझा जायगा कि जगत् अपने ताने-बाने में किसी शाश्वत विचार के विषय के अतिरिक्त कुछ भी नही है।

इसी प्रकार (ऊपर ३२वां परिच्छेद) उद्देश्यमूलक तर्क को भी, भिन्न आधारों पर पुनः स्थापित करना होगा। ऐसा नही है कि किसी परिसमाप्त कृति के रूप मे जगत् का सम्बन्ध किसी ऐसे परोपकारी देवता से जोडा जाय जो कोई बाह्य रचनाकार हो। परन्तु प्रकृति की प्रगति ही, अर्थात् जगत् की सत्ता एव उसके परिवर्तन, घटनाओ के क्रम मे किसी वर्तमान वैश्विक उद्देश्य का कार्य है। प्रकृति न केवल अतीत की ओर से गति प्राप्त करती है अपितु भविष्य की ओर गत्योन्मुख है, और चाहे हम यह देखें या न देखें जो कुछ है और उसमे जो गति है और वह जिसकी ओर यह गति होती है, उस सबमे मूल्य एव अर्थ है।

□□□

अध्याय २६

प्रकृति का अस्तित्व क्यों है

(१७२) अनेक व्यक्तियों के लिए, शायद अधिकांश व्यक्तियों के लिए, दर्शन में स्थैर्य-बिन्दु इस बात में निहित है कि हमें प्रकृति, [अथवा] भौतिक प्रकृति को किस रूप में ग्रहण करना है। दिक् तथा काल में, अपने महान् विस्तार में, क्या यह इस रूप में निष्प्राण है कि जीवन एवं चेतना के चिह्न कहीं-कहीं हैं अथवा क्या यह पूर्णत सप्राण है ? क्या समग्र जगत् में कोई अर्थ है, अथवा क्या दिशाहीन अर्थशून्य वैश्वक परिवर्तनों के अनन्त अनुक्रम में 'अर्थ' एवं उद्देश्य मानव प्रसंग की एक अस्थायी विशिष्टता मात्र है ?

यह कहा जाता है कि 'प्रकृति शून्य से घृणा करती है' : यह भी कहा जा सकता है कि मानव प्रकृति अर्थ की शून्यता से घृणा करती है। इतने बड़े पैमाने पर किसी अनन्त निरर्थक अर्पण की सकल्पना इतनी अस्वीकार्य है कि बिना किसी दर्शन के मनस् स्वयं प्रकृति के क्रिया-कलाप पर उद्देश्य आरोपित करने लगता है। प्रकृतिवाद हमें यह स्मरण कराता है कि यह एक अन्यायोचित मानवीकरण है, और हमें इस प्रकार के सकुचित आत्मप्रेक्षण से बचने की प्रशिक्षा देता है। [परन्तु] प्रत्ययवाद इस वृत्ति को न्यायोचित ठहराता है : प्रकृति में अर्थ है।

परन्तु इसका क्या अर्थ है ? यदि जगत् आत्म का जगत् है तो प्रकृति का अस्तित्व ही क्यों है ?

प्रत्ययवाद उत्तर दे सकता है कि यह इस विषय में अधिक निश्चित है कि समग्र दृश्य का कोई अर्थ है इसकी तुलना में कि वह अर्थ स्वय क्या है। यह उचित रूप से कह सकता है कि इस अन्वेषण को कि प्रकृति का अस्तित्व क्यों है भविष्य पर छोड़ा जा सकता है। फिर भी, यदि यह इस विषय पर कुछ प्रकाश डाल सकेगा तो इसकी स्थिति अत्यधिक सुदृढ़ हो जायगी। वस्तुत [इस विषय में] इसके पास कुछ कहने को है।

(१७३) इतना कहना पर्याप्त नहीं है कि 'उद्देश्य के चिह्न' यहाँ-वहाँ हैं। [यहाँ-वहाँ] पूर्णता के खण्ड हैं जो प्रत्येक व्यक्ति को मिलते हैं, और जिन्हें समग्र के गुण के सकेतों के रूप में काव्यात्मक अन्त प्रेरणा ग्रहण कर लेती है। जगत् में दूर-दूर तक सौंदर्य तथा भव्यता छितरे हुए हैं (वे इसलिए आकर्षक प्रतीत होते हैं कि वे निष्प्राणता अथवा अस्पष्टता की पृष्ठभूमियों में चमक उठते हैं) : ऐसी समजसताएँ हैं जिन्हें हम खोजते हैं और ऐसी गहरी तथा अनखोजी समजसताएँ भी हैं जिनका मनस् को हल्का-सा बोध होता है, ऐसी सजीव वस्तुएँ हैं जो यह दिखाती हैं कि जगत् में क्या सभावनाएँ हैं, और इन असख्य जीवों का यदि आनन्द नहीं तो (कम से कम) उनकी प्रबल जिजीविषा [विल-टू-लिव] [तो दृष्टिगत होती ही] है।

परन्तु ये संकेत प्रकृति के अर्थ का निर्माण करने के लिए बहुत आंशिक [खण्डित] हैं, जो कम से कम हमारी दृष्टि में और इनके विरुद्ध कुरूपता, जडता, शून्यता, अनुपयोगिता तथा निर्दयता है उनके अन्तहीन परिमाण को रखना पड़ेगा। सजग बुद्धि पर जो प्रभाव पड़ता है वह कुछ मिश्रित होता है मानो किसी अधोमुख खिचाव के विरुद्ध कुछ अर्थ की दिशा में प्रकट होने के लिए संघर्षशील हो। उस प्रत्ययवाद की अपेक्षा जो समग्र के लिए किसी उद्देश्य से प्रतिबद्ध है द्वैतवाद तथ्यों की व्याख्या अच्छी तरह कर सकता है। यदि हम प्रकृति के विषय में यूनानियों के विचार की ओर संक्षेप में लौटें तो यह हमारे परिप्रेक्ष्य (के निर्माण) में सहायक होगा।

(१७४) यूनान के महान् विचारक बिना प्रत्ययवाद पर पहुँचे उसकी ओर अग्रसर हुए, 'जड' के तथ्य के विरुद्ध जो न केवल मनुष्य की आत्मा की अपितु वस्तुओं में अर्थ की उपलब्धि [अनुभूति] की बाधा अथवा रुकावट प्रतीत हुआ।

प्लेटो के लिए अर्थ शाश्वत प्रत्ययों में सकेन्द्रित होता है (क्योंकि प्रत्यक्ष अर्थ के अंश की रूपरेखा के अतिरिक्त और क्या है ?) और जड घटक प्रत्ययों की पूर्णता में दोष का स्रोत है क्योंकि प्रत्यय जैसा कि हम देख चुके हैं, वस्तुओं के रूप में 'साकार' होते हैं और इन [वस्तुओं] में से कोई भी शुद्ध प्रकार [प्योर टाइप] के पूर्ण अर्थ एवं गौरव को चरितार्थ नहीं करती। मनुष्य का नैतिक जीवन उन आवेगों से संघर्ष है जो शरीर में उत्पन्न होते हैं, इसका प्रत्ययों के प्रति शुद्ध प्रेम भौतिक इच्छाओं एवं विशेष मनोभावों के रूप में विकृत हो जाता है इसका विचार संवेदन के अनुचित हस्तक्षेपों से विक्षुब्ध हो जाता है, इसकी अभिलाषा [आकांक्षा] मृत्यु की ओर होती है (ध्यान जिसका बिम्ब होता है) जब वह इस बाधा से मुक्त होगा और अन्ततः शिव के प्रत्यय (जो ईश्वर है) पर, उसके सम्पूर्ण सौन्दर्य में मनन करने के योग्य होगा।

प्लेटो की जड पदार्थ की वह धारणा, जो रहस्यमय कीट के रूप में उन सबका निषेध है जो चिन्तन तथा आत्मा की प्रकृति है, मध्ययुग में विचारारूढ़ रही और हमारे संपूर्ण साहित्य में वह आज भी विद्यमान है।

तथापि, प्लेटो के लिए भी, यह चेतावनी बनी रही कि 'शरीर ग्रहण' पूर्णरूप से कलंक नहीं है। भौतिक रूप में अस्तित्व के अपने लाभ हैं : वे आत्माएँ जो मृत्यु द्वारा कुछ समय के लिए देह से छूट जाती हैं [पुनः] जीवित हो उठती हैं। जड पदार्थ काल में अस्तित्व के लिए स्पष्टरूप से अपरिहार्य माध्यम है और अमर प्रत्ययों तथा समान रूप से अनश्वर जड पदार्थ के सतत् साहचर्य में कुछ न कुछ अर्थ होना चाहिए।

प्लेटो और उसके महान् शिष्य, अरस्तू में एक भेद तो उनके जड पदार्थ के विषय में निर्णय में निहित है—अरस्तू इसे अपेक्षाकृत गौरवपूर्ण स्थान देता है। निश्चित रूप से, यह 'आकार [फ़ार्म]' अर्थात् जो आध्यात्मिक सिद्धान्त का विरोधी है, और समस्त वस्तुएँ आकार की वृद्धि की ओर बढ़ रही हैं जो उनके भौतिक अंश को अर्थ देता है (जैसे विकास के नियम के अन्तर्गत सभी उच्चतर संघटन की ओर अग्रसर होते हुए माने जाते हैं)। परन्तु यदि जड पदार्थ नहीं होगा तो जिसे आकार दिया जाय ऐसा आत्म के पास कुछ भी नहीं

होगा। बिना शरीर के, कोई मानव मनस् नहीं होगा। ऐसी कोई व्यक्तिगत आत्मा नहीं हो सकती जो मृत्यु के समय अपने को [देह से] अलग कर ले और अपने आप ही जीवित रह जाए, क्योंकि आत्मा शरीर का आकार (अथवा जीवन) है—यह इसकी परिभाषा है,—हम कह सकते हैं कि यह शरीर की क्रिया का मानचित्र है, बौद्धिक आनन्द की प्राप्ति के लिए इसकी समस्त क्रियाओं के एकीकरण का फलन है। इस प्रकार एक शुद्ध आकार के अतिरिक्त जो ईश्वर है, (और एक अविकसित सुझाव कि 'सक्रिय बुद्धि' शरीर की मृत्यु के पश्चात् भी बनी रह सकती है) शरीर तथा आकार अपृथक्य हैं। इसके अतिरिक्त, अरस्तू जड़ पदार्थ को 'संभावनाओं' के निवास के रूप में मानता है—क्योंकि संभावनाएँ शून्य नहीं हो सकतीं—वे जगत् का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण हैं—और क्योंकि भविष्य की संभावनाएँ किसी न किसी रूप में वर्तमान में रहती हैं अतः यह मानना स्वाभाविक है कि वे ऐसे तत्त्व से सम्बन्ध रखती हैं जिसने अभी तक आकार धारण नहीं किया है परन्तु जो आकार धारण करने में समर्थ है, अर्थात् जड़ पदार्थ से।

प्राचीन काल के इन महान् विचारकों के लिए, प्रकृति एक ऐसे मार्ग का प्रतिनिधित्व करती है जो हयर्थक, विक्षुब्ध करने वाला, सताने वाला है, और अरस्तू के लिए जगत् का शुद्ध आध्यात्मिकता की ओर बढ़ने के प्रयास का एक आवश्यक मार्ग है। सर्वोत्कृष्ट की दृष्टि से प्रकृति माध्यम है, निकृष्टतम की दृष्टि से यह एक बाधा, एक दुर्भाग्य है।

(१७५) कांट के उत्तरवर्ती प्रत्ययवादियों को यह देखने का श्रेय दिया जाना चाहिए कि उनकी समस्या के पूर्ण क्षेत्र को प्रकृति के इन सभी पक्षों के प्रति न्याय करना होगा जिसके कारण यूनानी (और वे ही नहीं अपितु मानव जाति में से अनेक अपने अचिन्तनशील क्षणों में) द्वैतवादी हो गए थे।

इसके अतिरिक्त, उनके दर्शन में जड़ पदार्थ एवं मानसिक पदार्थ के बीच का तीव्र विरोध भी उपलब्ध था जो आधुनिक जगत् को दकार्त की देन है : जड़ पदार्थ सुनिश्चित रूप में वह है जो मनस् नहीं है, विस्तार के विरुद्ध विचार। उन लोगों ने इन कठिनाइयों को ही अपने हल का आरम्भ-बिन्दु बनाया। यह तथ्य कि भौतिक प्रकृति मनस् से ध्रुवात्मक रूप से विपरीत (एकदम उलटी) है,—देशज, परिमाणात्मक, असंवेदनशील—कि यह रुकावट डालती है, निष्फल कर देती है, हमारा विरोध करती है,—जड़ प्रकृति की यह प्रतिरोधता तथा निश्चेष्टता ही इसके प्राथमिक [मूल] उद्देश्य का उद्घाटन करती है। क्योंकि यह ऐसा विरोध है जिसकी मनस् को गहनतम आवश्यकता है।

अतः फिश्टे [का दर्शन]। फिश्टे ने मनस् का तत्त्व सङ्कल्पेच्छा को माना : संकल्पेच्छा को अपने को क्रिया में अभिव्यक्त करना चाहिए : कर्म का अर्थ सामग्री का रूपायित होना, अथवा बाधाओं पर विजय प्राप्त करना है। सामग्री एवं बाधा दोनों होनी चाहिए अन्यथा न तो सङ्कल्पेच्छा होगी और न मनस्। 'कार्य' में मनुष्य अपनी प्रथम नैतिक विजय को प्राप्त करता है, और अपने पहले नैतिक पाठों—मेहनत, तथ्य के प्रति निष्ठा, दृढ़ता [अध्यवसाय], दूरदर्शिता, उत्साह—को सीखता है। मनुष्य के नैतिक होने के लिए यह आवश्यक है कि कोई जड़ जगत् हो : प्रकृति "हमारे कर्तव्य के लिए वह सामग्री है जिसे संवेद्य

बना दिया गया है।" अब, यदि, हम एक ऐसे विश्व-मनस् की कल्पना कर सकें जो अपने उद्देश्यों में से एक को किसी 'व्यक्ति' के स्वतन्त्र नैतिक सत्ता के विकास के रूप में लेना है, तो हम देख सकते हैं कि किसी प्राकृतिक परिवेश की रचना जिसमें प्रचुर मात्रा में कष्ट, अरुचि, संकट हो, इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उचित साधन होगा।

कांट के लिए कर्तव्य अलौकिक में विश्वास के लिए प्रवेशद्वार था (ऊपर ६७वाँ परिच्छेद), फिश्टे के लिए कर्तव्य प्रकृति की समझ के लिए मुख्यद्वार था। बिना प्रयास के, कोई नैतिकता नहीं हो सकती, बिना विरोध के, कोई प्रयास नहीं हो सकता, भौतिक तथ्यों व जगत् के बिना, कोई विरोध नहीं हो सकता। प्रकृति का अस्तित्व इसलिए है कि यह सान्त मनसों के नैतिक जीवन की एक आवश्यक शर्त है।

(१७६) शैलिंग तथा हेगेल में हमें इस मनस् के विरोधी के रूप में एक दूसरा ही अर्थ मिलता है जिसे, हम प्रकृति कहते हैं। प्रकृति इसलिए आवश्यक है कि मनस् आत्म-चेतन आत्म-संयम प्राप्त कर सके।

अपने देश अथवा अपनी भाषा के ज्ञान के दो चरण हैं: वह ज्ञान जो कोई व्यक्ति अपने देश में रहकर प्राप्त करता है अथवा भाषा के प्रयोग द्वारा प्राप्त करता है, और वह ज्ञान जो कोई व्यक्ति विदेशों में यात्रा करके जब घर लौटता है तब होता है। ऐसा कहा गया है कि वह व्यक्ति जो केवल एक भाषा जानता है, कोई भी भाषा नहीं जानता: कोई व्यक्ति किसी वस्तु के अर्थ या मूल्यांकन किसी अन्य वस्तु से तुलना करके ही कर सकता है।

इसी प्रकार हेगेल का सुझाव है कि मनस् को, जैसा यह है, अपना मूल्यांकन करने के लिए स्वयं का निरसन करना चाहिए, इसे एक ऐसे जगत् में विचरण करना चाहिए जो इसकी प्रकृति से असम्बद्ध है और फिर पुनः अपने में लौट आना चाहिए। प्रकृति ही यह दूसरा पक्ष है, [और] प्रकृति ही 'आत्म का अन्यत्व' है। प्रकृति में से ही मनस् आता है, क्योंकि प्रकृति छद्मवेषी मनस ही है। प्रकृति से आविर्भूत होकर, मनस् अज्ञान से आरम्भ करता है और ज्ञान प्राप्त करता है, इस प्रकार यह ज्ञान का मूल्यांकन करता है। जिस प्रकार कोई प्रतिभाशाली व्यक्ति अपनी प्रतिभा का इसलिए विनाश कर देता है क्योंकि उसके लिए वे योग्यताएँ नहीं हैं, वरन् केवल प्राकृतिक प्रत्यक्ष हैं,—उसे स्वयं की अपनी शक्ति का महत्त्व ज्ञात नहीं है, उसी प्रकार बिना उस मापन के जो अज्ञान से ज्ञान की यात्रा के दौरान उत्पन्न होता है पूर्ण बुद्धि भी अपूर्ण तथा अधूरी वस्तु होगी। नैतिक रूप से भी मनस् की वह अवस्था जो अशुभ में पूर्णतया अनभिज्ञ है अपूर्ण है, मानो इसके किसी आयाम का अभाव हो: पाप स्वयं नहीं तो, इस चिन्तन का अवश्य प्रवेश होना चाहिए, जिससे कि कोई भी सकलेच्छा पाप के स्पष्ट अस्वीकरण में समर्थ हो जाए जिसे हम पुण्य [वर्चू] कहते हैं। इन सत्यों को दृष्टि में रखते हुए, हम हेगेल के इन विचारों का सामान्य अर्थ ग्रहण करते हैं, जब वह प्रकृति से जीवन तथा मनस् के विकास को आत्म [गाइस्ट][1] का अपनी ओर लौटने का, ओडिसी [भ्रमण], के रूप में वर्णन करता है।

हेगेल की घोषणा है कि जगत् का चरम नियम यह विरोधाभास है, जीने के लिए मरना: जो जीवन देता है, वही उसे पाता है। जगत् की तथा इतिहास की संरचना में एक 'द्वन्द्व-

न्याय' है। स्थापना [अमूर्त प्रत्यय अथवा अमूर्त पूर्णता) को संस्थापना (मूर्त, पूर्णता) को प्राप्त करने हेतु (क्रमिक, अपूर्ण, विश्रृंखलित, बहु-भौतिक अस्तित्व) प्रतिस्थापना का रूप ग्रहण करना पड़ता है। इसलिए आत्मा [स्पिरिट] का स्वरूप प्राप्त करने के लिए बुद्धि प्रकृति में प्रवेश करती है। निर्दोषता पाप के कारण स्वर्गोद्यान से बहिष्कृत होती है परन्तु (जैसा सर्प ने वस्तुतः वायदा किया था) अच्छे और बुरे का ज्ञान प्राप्त करती है और अन्ततः हृदय के स्व ज्ञानशील औचित्य के रूप में मुक्ति [रिडेम्पशन] प्राप्त करती है। अपरिमित जिसमें परिमित बहिर्गत है अपूर्ण अथवा 'असुगयुक्त' अपरिमित है (जिसका एक प्रकार ऋजु रेखा है)। यदि अपरिमित को अपरिमितता के प्रति अपने दावे को पूर्ण रूप से सिद्ध करना है तो अपरिमित को इस योग्य होना चाहिए कि वह परिमित के आकार के रूप में भी प्रकट हो सके। 'उपयुक्त अपरिमित' वृत्त के समान परिमित तथा अपरिमित की एकता है। जगत् का सबसे अधिक गहनतम सत्य सामान्य का विशेष में, विश्व-आत्म का ऐन्द्रिय-तथ्यों में, मूर्तिकरण है।

(१७७) ये सुगम अवधारणाएँ कल्पना को रहस्यात्मक [विचित्र] लगती हैं और बुद्धि को विश्व के रहस्य में प्रविष्ट होने के बोध की ओर मार्गदर्शित करती हैं : यह ऐसा बोध है जिसमें कुछ विचारक विश्राम करते हैं जबकि वे जो तथ्यों पर बल देते हैं इतने अधिक चिन्तनात्मक उत्साह में संकोच करते हैं।

उनके मूल में एक अपेक्षाकृत सरल विचार निहित रहता है जिसे पूर्ण रूप से शब्दशः अभिव्यक्त किया जा सकता है। रिक्त मनस्, मनस् होता ही नहीं। मनस् होना और विषयों से सम्पृक्त होना एक ही बात है। अब एक ऐसे शुद्ध रूप से चिन्तनशील मनस् की कल्पना की जा सकती है जो केवल अमूर्तिकरणों द्वारा, जैसे अंकों द्वारा सम्पृक्त हो। परन्तु इस बात के लिए कि मनस् का एक स्वरूप [स्वलक्षण] अथवा व्यक्तित्व हो सके, चिन्तन तथा मूर्त क्रिया में कोई भेद होना चाहिए। पहले चिन्तन और उसके पश्चात् क्रिया संभव होनी चाहिए। अब क्रिया का अर्थ है कि कोई विचार ऐन्द्रिय-जगत् में अनन्त अन्त सम्बन्धों द्वारा प्रवेश करता है। इस प्रकार हमारे लिए जो 'संकल्पेच्छा' है ऐन्द्रिय-जगत् उसका एक आवश्यक अंग है। प्रकृति इसलिए भी आवश्यक है कि मनस् संकल्पेच्छा के रूप में विशेषित हो सके।*

इस प्रकार, प्रकृति मनस् के लिए केवल उपयोगी नहीं है अपितु यह इसलिए आवश्यक है जिससे मनस् का एक मूर्त तथा सक्रिय यथार्थ के रूप में अस्तित्व हो सके। हम प्रकृति तथा मनस् को इस रूप में ग्रहण नहीं कर सकते कि मानो मनस् अपने आप में ही कुछ हो। प्रकृति मनस् की धारणा के लिए इतनी आवश्यक है कि यदि मनस् प्रकृति की उपज नहीं हो सकता, तो प्रकृति को मनस् की सक्रिया [फ़ंक्शन] होना चाहिए।

□□□

* दि हैल्डेन, द्रूथ बोडी एण्ड फ्रीडम [आत्मा, इसका शरीर तथा स्वतन्त्रता], पृ ८१ और इसके आगे।

अध्याय २६

प्रत्यक्ष प्रमाण

(१७८) सिद्धान्त के रूप में, प्रत्ययवाद उस सीमा तक समर्थन पाता है जिस सीमा तक यह प्रकृति के अस्तित्व की व्याख्या कर सकता है, इस दिशा में यह काफी दूर चला गया है। [इस दृष्टि से] प्रकृतिवाद ने कुछ नहीं किया, क्योंकि इसकी दृष्टि में कुछ करने की आवश्यकता ही नहीं थी : प्रकृति का अस्तित्व है, और इससे अधिक जानने का कोई प्रश्न नहीं है, इसके यहाँ होने के कारण पूछना मूर्खता है। प्रकृतिवाद वस्तुओं के अर्थ के सम्बन्ध में समस्त अन्वेषण की प्रारम्भ में ही अवज्ञा करता है। प्रत्ययवाद इस जिज्ञासा को प्रोत्साहित करता है, और इसके साथ आगे बढ़ता है।

परन्तु अभी तक अन्ततः प्रत्ययवाद ने हमें जो प्रदान किया है वह केवल एक मत है : यह घटनाओं का प्रातीतिक जगत् के पीछे एक परिकल्पनात्मक स्रोत सुझाता है, जो हमारी पहुँच के बाहर है। यह एक अच्छा मत हो सकता है, परन्तु क्या इसकी सत्यता का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण है ? क्या विश्व-आत्मा को विद्युत् के समान मानना चाहिए, जो कोई ऐसी सत्ता हो जिसे हम इसके प्रभावों के कारण स्वीकार करें, परन्तु जिसके स्वरूप के विषय में हम अज्ञानी हैं और सदा रहेंगे ?

तत्त्वमीमांसा तब तक असन्तोषप्रद रहती है जब तक कि यह अज्ञात शक्तियों के विषय में केवल मतों का प्रतिपादन करती है, यद्यपि इन मतों पर अत्यन्त प्रभावशाली तर्क द्वारा ही पहुँचा जा सकता है। मेरे अपने निर्णय के अनुसार, यह एक प्रकार की अपूर्ण तत्त्वमीमांसा है, क्योंकि यथार्थ च है कुछ भी हो, हम उससे सब समय सम्बन्धित होते हैं : वह हमारे चारों ओर है और हममें है। यदि प्रत्ययवाद सत्य है तो हमें मनस् की सर्जनात्मक क्रिया के विषय में कुछ प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध होने चाहिए।

अब मैं इस प्रश्न पर विचार करूँगा कि क्या अनुभव किसी ऐसे प्रमाण को प्रस्तुत करता है। आरम्भिक चरण के रूप में, मेरा यह प्रश्न है कि हम यह कैसे जानते हैं कि हमारे अपने मनस् के अतिरिक्त भी जगत् में कोई मनस् है।

(१७९) हम अपने चारों ओर अन्य मनसों की उपस्थिति के विषय में निश्चित हैं। [इस विषय में] हम इतने निश्चित हैं कि जो दर्शन सर्वाहंवाद की ओर ले जाता है उसे बिना किसी और तर्क के ही हम त्याज्य मान सकते हैं।* हम [इस विषय में] इतने सहज रूप से निश्चित हैं,

* जैसा कि हमने देखा, मनोनिष्ठ प्रत्ययवाद सर्वाहंवाद में परिणत होता है। हमने पाया कि सर्वाहंवाद स्वयं ही अपना खण्डन कर लेता है। (१५७वाँ और १६२वाँ परिच्छेद) सर्वाहंवाद के खण्डन से ही केवल काम नहीं चलेगा अपितु हमारे वर्तमान अन्वेषण से यह भी अपेक्षित है कि वह उसके स्थान पर किसी विध्यात्मक समाधान को प्रस्तुत करेगा।

क केवल पिछली दो शताब्दियों में ही इस प्रश्न ने कि अन्य मनसों को हम कैसे जानते हैं, मनुष्यों को पर्याप्त रूप से प्रभावित किया है जिससे गम्भीर विचार विमर्श उद्दीप्त हुआ है। ज्ञान की समस्याओं में यह एक अत्यधिक चकराने वाली समस्या सिद्ध हुई है।*

कारण यह है कि अन्य मनसों के प्रत्यक्ष के लिए हमारे पास कोई इन्द्रिय नहीं होती। हमारी इन्द्रियाँ हमारे समक्ष ऐसे ऐन्द्रिय गुणों को प्रस्तुत करती हैं, जिन्हें हम भौतिक वस्तुओं के साथ जोड़ना सीखते हैं, परन्तु दूसरा मनस दृष्टि, श्रवण, स्पर्श का कोई विषय नहीं हो सकता। ऐसा कहा जाता है कि हमें अपना प्रत्यक्ष साक्षात् रूप से 'आत्म चेतना' में होता है (यद्यपि मनोवैज्ञानिक बहुधा ऐसे किसी भी प्रत्यक्ष को अस्वीकार करते हैं) हम मनस् की अपनी स्थितियों को 'अन्त प्रत्यक्ष' [रिफ्लैक्शन लॉक] अथवा 'आनन्द' [एनज्वायमेंन्ट: एलेक्जेण्डर] अथवा 'सहजबोध' [बर्गसा] के द्वारा जानते हैं। परन्तु पुनः यहाँ भी, अन्तर्दृष्टि की कोई भी विधि हमें अन्य मनस् का प्रत्यक्ष ज्ञान प्रदान नहीं कर सकती।

अन्य मनसों के इस समूह का हमारा ज्ञान जिससे हम इतने प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित प्रतीत होते हैं—तथा जो [ज्ञान] सामाजिक व्यवहार के लाखों तेजी से होने वाले तथा सफलता देने वाले दृश्यों में इतनी प्रचुर मात्रा में सत्यापित होता है कि इस पर सन्देह करना मूर्खतापूर्ण होगा—क्या यह मात्र परिकल्पना अथवा कल्पना है? यदि यह सत्य है तो कम से कम सर्वाहवादी की बात आधी तो सही है। अन्य मनसों का हम प्रत्यक्ष नहीं करते, हम केवल उनके विषय में सोचते हैं।

परन्तु यदि यह स्थिति है तो, जैसा कि ज्ञान के लगभग सभी सिद्धान्त मान लेते हैं, क्या यह असाधारण बात नहीं है कि अपनी ही परिधि में सीमित मनस् ने कभी भी ऐसा सोचा हो कि जगत् में अन्य मनस् हो सकते हैं? यदि किसी व्यक्ति को अभी तक पासवाले मनस् का बोध न हो, तो अनुभव में (इस दृष्टिकोण के अनुसार) ऐसा कुछ नहीं है जो उसे ऐसा प्रत्यक्ष प्राप्त करने के लिए बाध्य कर दे। इस विषय पर ध्यान देने की आवश्यकता है।

(१८०) हमें कुछ सुविधा होगी यदि हम अपने आपको, यथासम्भव, उस बिन्दु पर ले आएँ जहाँ हमारे लिए सामाजिक आदान-प्रदान आरम्भ ही होते हैं। शिशु सर्वप्रथम अपने सामाजिक परिवेश को किस रूप में ग्रहण करता है?

निश्चय ही वह अपने शरीर तथा अन्यों के शरीर के सादृश्य के आधार पर नहीं [जानता]। यह ऐसी व्याख्या है जिसका सहारा लेने का लगभग प्रत्येक व्यक्ति प्रयत्न करता है। 'हम अपने ही जैसे अन्य शरीरों को देखते हैं, हमारे शरीर किसी आत्म द्वारा अनुप्राणित होते हैं अतः अन्यों के इसी प्रकार के शरीर भी इसी तरह अनुप्राणित होते हैं।" परन्तु शिशु अपने स्वयं के शरीर को देखने के बहुत पहले ही सामाजिक प्राणी होता है। और हम भी, मानसिकता को वर्तमान तथ्य के रूप में स्वीकार करने से पूर्व कभी भी सादृश्य की प्रतीक्षा नहीं करते यदि कोई भौंपू बोलने लगे तो हमें उसकी ओर ध्यान देना होगा। निस्सन्देह, एक बार यदि हम सामाजिक बन गये तो, शरीर से शरीर का सादृश्य सहायक होता है—

* यह द्रव्य की समस्या का एक प्रकार है। सर्वाहवाद सामाजिक अनुभव इसी तर्क का एक सरल-सा प्रयोग है। जिसके द्वारा बर्कले ने भौतिक द्रव्य का निरसन किया था।

जब हम यह जानना चाहते हैं कि किसी पशु को कैसी अनुभूति होती है, उदाहरण के तौर पर एक केंकड़ा, तो हम उसके चेहरे को खोजने का प्रयास करते हैं, परन्तु यह व्याख्या देना निरर्थक है कि हम सर्वप्रथम किसी सामाजिक परिवेश के विषय में चेतन कैसे हुए।

क्या निर्जीव वस्तुओं के विपरीत सजीव वस्तुओं के व्यवहार की किसी विशिष्टता के कारण शिशु कदाचित अन्य मानसों के विषय मे सोचता है, जो कोई ऐसी स्वत स्फूर्त गति है जिसकी यान्त्रिक कारणों द्वारा व्याख्या नहीं की जा सकती ? यह अत्यधिक असमाध्य है सर्वप्रथम इसलिए कि शिशु साथी व्यक्तियों के अभिज्ञान के पूर्व तर्क की प्रक्रिया की प्रतीक्षा करता प्रतीत नहीं होता दूसरे इसलिए कि आरम्भ म यह सजीव तथा निर्जीव में कोई स्पष्ट भेद नहीं करता, तीसरे इसलिए कि यह भी पूर्ण रूप से निश्चित नहीं है कि कोई भी इस बात को परिभाषित कर सकता है कि उस भेद का वाह्य संकेत क्या है ? विलियम जेम्स का विचार था कि चेतन जीवन का कार्यकारी संकेत यह हो सकता है कि 'साधनों के वरण के द्वारा साध्यों की खोज'। इस सूत्र के आधार पर एक सजीव मेंढक तथा निर्जीव रेलगाड़ी के इञ्जिन मे भेद किया जा सकता है, परन्तु इसमें यह जानना कठिन होगा कि क्या स्वचालित तारपीडो की अपेक्षा कोई पतंगा सजीव होगा अथवा दोनों में से कोई एक चेतन होगा।

भाषा मानसिकता का अच्छा संकेत है, निस्सन्देह ही यह ऐसा संकेत है जिसका सर्वाधिक उपयोग हो सकता है हमारे लिए कठिन होगा कि हम किसी तोते अथवा सुनिर्मित यन्त्र-मानव को बुद्धि से युक्त न मान लें। परन्तु एक बार पुन हमें शिशु के विषय में प्रश्न करना चाहिए शिशु कैसे जानता है कि जगत् मे भाषा जैसी भी कोई वस्तु है ? क्योंकि जब तक अन्य मनस् न हों तब तक सारे जगत् मे शोर है, कोई शब्द नहीं। भाषा के विषय मे सुनने के पूर्व ही वह एक सामाजिक प्राणी हो चुका है।

'उद्दीपन प्रतिक्रिया' के उस मानदण्ड के साथ जिसका अनुमोदन रॉयस ने किया है, यह कठिनाई है, यद्यपि प्रतिक्रिया किसी भी अन्य भाषा मे पहले की [वस्तु] है, शिशु के रोने की प्रतिक्रिया स्वरूप उसकी सहायता होती है शिशु सान्त्वना के प्रभाव के साथ सदसकरुण को जोड़ने लगता है—वह आदिम सर्वप्राणवादी है। हाँ, परन्तु इस तरह से तर्क करने के लिए यदि वह ऐसा करता है तो उसके लिए उसका रोना किसी अन्य व्यक्ति के प्रति सम्प्रेषण है, और अन्य मनस् का प्रत्यय पहले से ही विद्यमान होना चाहिये।

ये सभी मत आदिम सामाजिक अनुभव की वास्तविकता से अधिक तर्क का विषय बना देते हैं। यह बात वास्तविकता के साथ नहीं बैठती कि मानव शिशु पहले एक असामाजिक व्यक्ति विशेष होता है, और फिर, विचार की किसी प्रक्रिया द्वारा इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि जगत् मे अन्य मनस् भी हैं। आरम्भ से ही वह परिवेश से इस प्रकार सम्बन्धित होता है मानों उसका विश्वास था कि यह सजीव तथा प्रतिक्रिया के लिए तैयार है : वह जब-तब अपनी मांगे रखता रहता है और यदि उन पर ध्यान न दिया जाय तो शिकायत करता है।*

* वह उस व्यवहार को इतनी सहृदयता एवं तत्परता से अपना लेता है जिससे यह लगता है कि उसके परिवेश में अन्य मनस् भी हैं और इससे उसके व्यवहार को किसी ऐसी 'सामाजिक प्रवृत्ति' अथवा किसी ऐसी चेतना विशेष के रूप में समझा जा सकता है जो सूक्ष्म गन्ध एवं स्पर्श संवेदनाओं से उत्प्रेरित होती है। केवल यह 'सामाजिक प्रवृत्ति'—जो व्यवहार के वर्णन

हमें इस बात की अधिक सावधानी पूर्वक परीक्षा करनी होगी कि अनुभव में ऐसा सरल संकोचहीन तथा अलौकिक सामाजिक गुण कैसे हो सकता है।

(१८१) कोई भी अन्य मनस् जो हमारे अनुभव मे उपस्थित है, विषयों द्वारा सम्पृक्त होना चाहिए : क्योंकि, जैसा हमने कहा, शून्य [विषयों से असम्पृक्त] मनस् कोई मनस् नहीं होता। इस मनस् के प्रत्यक्ष के लिए मुझे कम से कम उन विषयो का प्रत्यक्ष कर लेना चाहिए जिनसे यह सम्पृक्त या अर्थात् मुझे कतिपय विषयों का प्रत्यक्ष करना चाहिए और यह जानना चाहिए कि ये केवल मेरे नहीं है अपितु साथ ही साथ उस अन्य मनस् के लिए भी हैं।

क्या जगत् में ऐसे भी विषय हैं जिन्हें स्वभावत ऐसे विषयों के रूप मे माना जाय जिनका हम सभी प्रत्यक्ष कर सकें ? निश्चितया दिक् मेरे और अन्यो के लिए समान है, वस्तुत किसी को एकान्त प्राप्त करने के लिए प्रयास करना पड़ता है—दीवारें बनानी होती हैं, दरवाजे बन्द करने होते हैं, आदि—यह सार्वजनिक वैसे ही हो जाता है। इसी प्रकार दिक् मे उपस्थित भौतिक वस्तुएँ भी प्रकृति के सामान्य विषय हैं, उन्हे सामान्य बनाने के लिए हमे कुछ भी नहीं करना होता : इसके विपरीत हम उनकी सामान्यता को उनकी यथार्थता के चिह्न के रूप मे मान लेते हैं, हमे जो दिखाई देता है यदि हम उसमे सन्देह करते हैं तो हम किसी अन्य को उसके साक्षी के लिए बुलाते हैं। और यदि हम उन्हे अपनी 'सम्पत्ति' बनाना चाहते हैं, तो हमे उन्हे किन्ही विशिष्ट चिह्नों के द्वारा अलग करना होगा जिससे हम उनकी अन्यों के द्वारा चोरी अथवा छीना झपटी से रक्षा कर सकें। यदि हम इस बात का पता लगा सकें कि हमने दिक् तथा भौतिक वस्तुओं को कब सामान्य विषयो के रूप मे मानना प्रारम्भ कर दिया था, तो हमें वही हमारे सामाजिक अनुभव का प्रारम्भ भी मिलना चाहिए।

परन्तु मुझे ऐसा कोई काल नहीं मिल सकता जब दिक् तथा भौतिक वस्तुओं को सामान्य विषयो के अतिरिक्त अन्य किसी रूप मे माना जाता था, मुझे सदेह है कि ऐसा कोई भी काल पाया जा सकता है। और इसी कारण दिक् न्यूनतम भौतिक विषय है जो किन्हीं भी दो मानव मानसो मे समान होता है। यदि न्यूनतम का अभाव हो, तो सम्प्रेषण प्रारम्भ ही नहीं हो सकता जब तक दो व्यक्तियों मे कुछ समान न हो (उदाहरण स्वरूप दिक्)। वे तब तक एक दूसरे के निकट पहुँच ही नहीं सकते और बातचीत तो प्रारम्भ ही नहीं कर सकते। आप स्वय किसी ऐसे व्यक्ति को कैसे सम्बोधित करेंगे जिसके साथ आप किसी भी विषय मे भागीदार नहीं होते ? सम्प्रेषण थोड़े से अधिक हो सकता है, परन्तु यह शून्य से कुछ नहीं बना सकता। अत. हमेशा ही कोई न कोई न्यूनतम विषय रहा होगा जिसे समान माना गया होगा, और यह न्यूनतम विषय दिक् प्रतीत होता है।

के लिए उपयुक्त हो सकती है—हमारे विशेष प्रश्न को अनुत्तरित छोड़ देती है। फलतः यदि यह प्रस्तावित किया जाए कि यूथ में रहने वाले पशु अन्य मनस् के प्रत्यय के साथ उत्पन्न होते हैं, और उन्हें इस प्रत्यय को कभी सीखना नहीं पड़ता, यहाँ सहज प्रवृत्ति की दुहाई देना यह मान लेना है कि अनुभव से उत्प्रेरित हुए बिना मनस् में सहज प्रत्यय हो सकते हैं। हम इस सीमा तक चक्रक दोष को पसंद नहीं करते।

अब यदि कोई भी वास्तविक सामाजिक अनुभव है तो वह यह होना चाहिए कि स्पर्श इन्द्रिय से प्राप्त अन्तर्वस्तु सहित हमारे दिक् का अनुभव आरम्भ से ही एक सामान्य विषय हो, अर्थात् आरम्भ से ही इसको स्वरूपतः अनुभव का ऐसा क्षेत्र माना जाय जो निजी नही है, जिसमे मेरे मनस् के अतिरिक्त अन्य मनस् भी भागीदार हैं और जो आगे की साझेदारी के लिए निमन्त्रण तथा मच है। और क्या स्थिति यह नही है ? शिशु के द्वारा आरम्भिक ऐन्द्रियानुभवो को ऐसे शुद्ध रूप से निजी तथ्यो के रूप मे ग्रहण नहीं किया जाता जो उसके भीतर उद्भूत होते हो, वे उसके द्वारा एक ऐसी क्रिया को निर्दिष्ट करते हैं जो उसके परे घटित होती है। सवेदन को मनस् ग्रहण करता है, परन्तु *निष्क्रियता सक्रियता का आन्तरिक भाग है*—ये दो तथ्य नही वरन् एक हैं। जिस प्रकार नतोदर तथा उन्नतोदर को एक ही क्षण मे जान लिया जाता है ठीक उसी प्रकार निष्क्रिय होने का ज्ञान साथ ही साथ किसी ऐसी अन्य सत्ता का ज्ञान भी है जो सक्रिय है, प्राप्त होने का ज्ञान कुछ दिये जाने का ज्ञान भी है। परन्तु किसी आत्म पर किस प्रकार की सत्ता क्रिया कर सकती है ? मेरा उत्तर है, अन्य आत्म। अनुभव के आरम्भ मे, जो कुछ भी आत्म से भिन्न है, आत्म पर क्रिया करता है, वह अन्य मनस् है अपने प्रति किये गये किसी बाह्य कार्य के आन्तरिक पक्ष को पहचानने के साथ-साथ ही शिशु को सामाजिक चेतना होती है. उसका ऐन्द्रिय सवेदन प्रत्यक्ष सामाजिक अनुभव है।

इसी कारण ऐन्द्रिय अनुभव को एक सामान्य गठन [बनावट] दिक् द्वारा निर्दिष्ट किया जाता है, और ऐन्द्रिय गुणो को दिक् की 'वस्तुओ' के गुणो के रूप मे एकत्र किया जाता है — ऐसे विषय के रूप मे जो इस आत्म और उस आत्म दोनों के लिए समान होते हैं। ऐसे भौतिक जगत् मे, भाषा आरम्भ से ही स्वाभाविक होती है। इसका भौतिक अन्यत्व इसके सामाजिक अन्यत्व से अनुगमित होता है, और इसके विपरीत नही। क्योकि यह स्वय को अकेला अनुभव नही करता इसीलिए वह दिक् को एक सामान्य विषय तथा आगे के सम्प्रेषण के लिए आरम्भिक बिन्दु के रूप मे मानता है।

(इस बात पर ध्यान दें कि अन्य आत्म सबसे पहले अपरिभाषित तथा असीमित रहेगा, जो शरीर से नहीं परन्तु अपने प्रति होने वाली क्रियाओ के बाह्य पक्ष मे केन्द्रित है, आरम्भिक मनस् के लिए, अन्य केवल विश्व-मनस् होगा। विशिष्ट सहयोगियों को जो कि (शिशु के लिए) शरीर से सम्बन्धित हो जाते हैं वह प्रतिक्रियाओ के अनुभव से समग्र सामाजिक परिवेश मे से अलग कर लेता है)।

अत इस प्रश्न के उत्तर मे कि क्या विश्व मनस् का अनुभव सभव है, मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि हमारा प्रकृति का जो अनुभव है उसके मूल मे ही विश्व-मनस् का अनुभव है। [ऐसा नहीं है कि] पहले तो अकेली प्रकृति का अनुभव होता है और बाद मे उसे अन्य प्रत्यक्ष करने वालों के साथ जोड दिया जाता है। हम जन्म से सामाजिक हैं। हम क्रमशः अमूर्तिकरण की सामर्थ्य प्राप्त करते हैं हम स्वय को अन्यो से भिन्न सोचना सीखते हैं, और प्रकृति को हम सभी से भिन्न मानते हैं। स्वतन्त्र असामाजिक विषय अमूर्तिकरण

की महान् उपलब्धि है। अपने सच्चे तथा मौलिक स्वरूप में प्रकृति मानसों के बीच है : प्रकृति का अनुभव करना विश्व-मनस् का अपनी सर्जनात्मक क्रिया में अनुभव करना है।*

(१८२) इस युक्ति का प्रभाव केवल उस आदि सहजबोध का स्मरण करना है जो हमसे अपनी सर्वव्याप्तता द्वारा छिपा हुआ है। ऐसा नहीं होता कि हम विश्व-मनस् की झांकी को सावेगिक गहनता के असाधारण तथा अनियमित अनुभवों में खोजते हों, कारण यह है कि वह मनस् हमारे सम्मुख स्पष्ट भौतिक सवेदन के स्थायी प्रवाह में उपस्थित होता है।

सवेदन को एक कोरे तथ्य के रूप में लें—कुछ ऐसा जो प्रस्तुत हो—रंग का एक धब्बा, कोई शोर,—तो यह मात्र तथ्य ही रह जाता है, इसका न तो कोई अर्थ है और न ही इसका कुछ किया जा सकता है परन्तु हम इसे कभी भी उस रूप में ग्रहण नहीं करते। इसे हम किसी विषय के सकेत के रूप में लेते हैं, और विषय का विचार किसी वस्तु का होता है जिसके विषय में अधिक जानना हमारा काम होता है। और हमें अपने 'कारण' को जानने के लिए आकृष्ट करता है इसका इतिहास होता है : अर्थात् अन्य सभव अनुभवों के साथ सम्बन्धों का उसका क्रम होता है। परिपक्व मनस् की भाँति ही आरम्भ के मनस् के लिए प्रत्येक सवेदन अन्वीक्षण की क्रिया का आह्वान करता है। यह जैव अर्थ में 'उद्दीपक' हो सकता है, जो किसी 'प्रतिक्रिया' का आह्वान करता है या उसे उद्दीप्त करता है जैसे पीडा की टीस (किसी से) बचने के आवेग को तत्क्षण जन्म देती है। परन्तु जैव प्रतिक्रिया के अतिरिक्त ज्ञाता की प्रतिक्रिया भी सर्वदा होती है "मुझे इस सवेदन को किसी ऐसी वस्तु के सकेत के रूप में पहचानना चाहिए, जो मुझे इसकी खोज के लिए प्रेरित करता है"। यह मनस् की एक आदिम उदारता है [और] यदि आप चाहें तो इसे विश्वास की क्रिया भी कह सकते हैं, जो सवेदन में किसी सत्ता के सदर्भ को जोडता है जिस पर ध्यान देने की आवश्यकता है : मेरे मत में यह समस्त कर्तव्यों में से अत्यधिक आधारभूत कर्तव्य सवेदनों के जगत् में नहीं विषयों के जगत् में जीवित रहने के कर्तव्य की स्वीकारोक्ति है। यह ध्यान देने योग्य है कि जब तक कर्तव्य का यह आदिम बोध (हममें) न हो, और जब तक इसका अनुगमन नहीं किया जाय, तब तक न तो भौतिक विषयों का ज्ञान और न ही सामाजिक जगत् का ज्ञान होना शुरू होता है जिसमें वे समान रूप से उपलब्ध हैं, यह एक ऐसा उत्तरदायित्व है जिसे प्रत्येक मनस् को अकेले निभाना पडता है, क्योंकि परिकल्पनानुसार इसके आशय को उसे स्पष्ट करने के लिए जगत् में कोई भी नहीं है, मनस् का यह अत्यन्त महत्वपूर्ण निर्णय है।

परन्तु मेरा प्रस्ताव है कि जानने के उत्तरदायित्व की चेतना, जो समस्त प्राणों के अनुभवों के मूल में है, उसी तरह अन्य मनस् की चेतना भी है, क्योंकि किसी जीवन विहीन विश्व के प्रति हमारा कोई उत्तरदायित्व नहीं हो सकता। इस बात के लिए बहुधा युक्ति दी

* जो तर्क यहाँ प्रस्तुत किया गया है उसे अधिक विस्तार के साथ मेरी पुस्तक 'दि मीनिङ्ग ऑव गॉड इन ह्यूमन एक्सपीरियन्स' [मानवीय अनुभव में ईश्वर का अर्थ] के १७वें से २२वें अध्याय में दिया गया है। कठोर सक्षेपण के स्थान पर पूर्ण रूप से प्रस्तुत तर्क को समझना सर्वदा ही सरलतर रहा है।

गई है कि ईश्वर मानव-मनस् के समक्ष [अन्त करण] मे उपस्थित होता है, और विवेक को ऐन्द्रिय-अनुभव से बहुत भिन्न माना गया है । परन्तु यहाँ मै इस बात की ओर सकेत कर रहा हूँ कि जिस तरीके से हम प्रत्येक क्षण ऐन्द्रिय-अनुभव को प्राप्त करते हैं उसमे विवेक अथवा नैतिक उत्तरदायित्व का अश रहता है, इसे हम कल्पना का नही अपितु 'सत्य' का ताना बाना मानने के लिए अपने को बाध्य पाते हैं । मै यह कहना चाहता हूँ कि इस बात का निरन्तर आभास कि विश्व-मनस् उपस्थित है, हमारे इन्द्रिय-सवेदन से वस्तुनिष्ठ सत्य को प्राप्त करने के लिए सहज प्रवृत्यात्मक रूप मे एक माँग के रूप मे उपस्थित होता है ।

उत्तरदायित्व की यही भावना हमे आगे जाकर वैज्ञानिक बना देती है, और प्रकृतिवाद के मापदण्डो को नियोजित कर देती है । इस प्रकार हम देखते हैं कि आशिक दृष्टि मे हमे प्रकृतिवादी बनाने वाली वस्तु वही है, जो अधिक पूर्ण आत्म चेतनता के साथ लिए जाने पर हमे वस्तुनिष्ठ प्रत्ययवादी बना देती है ।

(१८३) इस अन्तर्दृष्टि के साथ, कि प्रकृति का अस्तित्व क्यो है ? हमारे पास इस प्रश्न का दूसरा उत्तर भी है । प्रकृति का अस्तित्व इसलिए है कि हम सामाजिक प्राणी बन सकें । विरोध के जटिल एव अन्तहीन तन्त्र के निर्माण के लिए, सार्वजनिक विषय के रूप मे तटस्थ, रगहीन, निर्जीव, स्थायी तथा उदासीन, आदान-प्रदान, सहकारिता तथा सघर्ष, सहमति तथा निर्णय का कोई आधार होना चाहिए - यह आधार प्रकृति है ।

□ □ □

अध्याय २७

[विशिष्ट प्रश्नों के सम्बन्ध में]
प्रत्ययवाद के प्रयोग

किसी भी प्रकार के दर्शन का अर्थ उन परिणामों अथवा निष्कर्षों में पूर्ण रूप से प्रकट हो सकता है, जो विशिष्ट प्रश्नों से सम्बन्धित होते हैं। वस्तुनिष्ठ प्रत्ययवाद के जिन निष्कर्षों पर हमने विस्तार से विचार किया है, उनमें से एक इस प्रश्न का उत्तर है कि प्रकृति का अस्तित्व क्यों है। अब हम कतिपय तत्त्वमीमांसीय प्रश्नों पर इसकी दृष्टि से विचार करें जो पहले भी हमारे सम्मुख थे—मनस् तथा शरीर का सम्बन्ध, स्वतन्त्रता की समस्या, मानव आत्म की नियति। इसके पश्चात् मानव जीवन तथा आचार के सम्बन्ध में पृथक् अध्याय में विचार करेंगे।

(१८४) मनस् तथा शरीर का सम्बन्ध :

भौतिक विषयों में शरीर एक भौतिक विषय है परन्तु यह अन्य सभी विषयों से इस बात में भिन्न है कि इसे दोहरी भूमिका निबाहनी पड़ती है। यह भौतिक प्रकृति का एक अंश है, और यह आत्म के लिए साधन है, और यह आत्म के साथ जो इसका उपयोग करता है इतना घनिष्ठ रूप से घुला-मिला है कि बहुधा दोनों को अभिन्न मान लिया जाता है।

इन दो भूमिकाओं के अनुरूप शरीर हमारे समक्ष दो रूपों में प्रकट होता है : (१) एक अंगी के रूप में, कारणों तथा कार्यों के एक संश्लिष्ट तन्त्र के रूप में, सभी शरीर-क्रिया विज्ञानों के एक विषय के रूप में और (२) अर्थों की एक ऐसी नगर व्यवस्था के रूप में जिसकी प्रत्येक रेखा, तथा प्रत्येक गति, किसी विशेष अर्थ की सूचक है। प्रकृतिवाद के लिए प्रथम लक्षण शरीर की यथार्थता है, प्रत्ययवाद के लिए दूसरा यथार्थ है, और पहला उससे अनुगमित होता है।

प्रकृति के अंग के रूप में प्रत्ययवाद के लिए शरीर से सम्बद्ध कार्यकारण के वे सभी सम्बन्ध लागू होते हैं जिन्हें विज्ञान उद्घाटित करता है और साथ ही साथ वह अर्थ भी उस पर प्रयुक्त होता है जिसे प्रकृति से सम्बद्ध माना जाता है। प्रकृति सामान्य विषयों का एकत्रीकरण है [और यह] मनसों को सम्प्रेषण में सहायता करती है · तदनुसार शरीर एक सामान्य विषय है, शरीर के माध्यम से प्रत्येक आत्म अन्यों को दृष्टिगत होता है तथा उनकी पहुँच में होता है, [इसे] उनके द्वारा पकड़ा जा सकता है और चोट पहुँचाई जा सकती है, [इसे] उनके द्वारा सहायता दी जा सकती है तथा लाभ पहुँचाया जा सकता है। शरीर के

माध्यम से आत्म अन्य मनसो से सप्रेषण करता है और उनके सप्रेषणों को ग्रहण करता है यह सम्बन्ध के उस सेतु के अश का निर्माण करता है जिसका सम्पूर्ण विस्तार प्रकृति है।

परन्तु शरीर तब तक भाषा के विचित्र साधन के रूप मे कार्य नही कर सकता जब तक कि शेष प्रकृति की तुलना मे इसका नियमन अपेक्षाकृत शीघ्रता से न होता हो। यह मेरे प्रत्यक्ष नियन्त्रण का क्षेत्र है। मुझसे विलग विषय मेरी अवज्ञा कर सकते हैं मेरे शरीर को तो आज्ञा माननी पड़ेगी—केवल उस अवस्था को छोड़कर जिसमे यह मेरी भावनाओं को प्रकट कर देता है। जबकि मैं यह नही चाहता कि वे प्रकट हो यह उस समय मेरे चेतन आत्म की अपेक्षा अर्द्ध चेतन तथा स्वाभाविक आत्म की आज्ञा का पालन करता है। भेड़िया कभी भी पूर्ण रूप से सफलतापूर्वक भेड की खाल को ओढ नही सकता क्योकि शरीर आत्म को सहजप्रवृत्यात्मक स्थितियों की सार्वजनिक स्वीकृति को प्रस्तुत कर देता है। शौपेनहॉवर के अनुसार यह सकल्पेच्छा की ("सकल्पेच्छा का वस्तुकरण") बाह्य अभिव्यक्ति है, पशुओ के शरीर उनके रहने, चलने, फिरने, लड़ने, खाने, पीने, सहवास करने, स्वय को एव दूसरो को बचाने, सप्रेषण करने, छुपाने के तरीको के सम्पूर्ण विन्यास को प्रकट कर देते हैं। शरीर उसके चरित्र का सर्वाधिक उपलब्ध सकेत और साथ ही साथ उस क्षण की सकल्प क्रियाओ का वाहक बन जाता है।

परन्तु शरीर अपने स्वामी को कैसा प्रतीत होता है? यदि यह [शरीर] अन्य विषयो की तुलना मे आत्म से अधिक निकट से सम्बद्ध नही हुआ तो यह प्रत्यक्ष नियन्त्रण के क्षेत्र के रूप मे कठिनता से ही कार्य कर सकता है। यदि मेरी टाँग टूट जाती है तो यह घटना सार्वजनिक प्रत्यक्ष का विषय होगी। शल्य चिकित्सक इसकी चिकित्सा कर सकता है, परन्तु पीडा केवल मुझ तक सीमित रहेगी। मेरे शरीर से मुझे, सवेदनो के निरन्तर प्रवाह का,—तापक्रम का, आराम अथवा कष्ट का, स्थिति एव मासपेशियों के तनाव का, स्वस्थ होने अथवा न होने का (सामान्य शारीरिक चेतना), जीवन की प्रक्रियाओ की गति का, अस्पष्ट सामान्य बोध होता है, तथा मेरी मासपेशियाँ क्या कर रही हैं इस बात की अधिक स्पष्ट सूचना प्राप्त होती है जिसे [मेरे अतिरिक्त] कोई अन्य नहीं भोगता है। शरीर की यह समग्र सवेदनशील चेतना ही वह शरीर है जो 'मेरे मनस् के भीतर' और फलस्वरूप आत्म का एक अपृथक्य अग है। शारीरिक क्रिया की हमारी चेतना हमारे कर्म करने के निर्णयो से इतनी घनिष्ठता से एक हो जाती है कि हम यह नही कह सकते कि पहले हम निर्णय लेते हैं और तत्पश्चात् उपयुक्त मासपेशियो की क्रिया करते हैं परन्तु वस्तुत निर्णय तथा क्रिया एक ही अनुभव होते हैं मैं गेंद फेंकता हूँ—मैं अपने हाथ को हिलाने की क्रिया को कर्म के पृथक् अश के रूप मे ग्रहण करने के विषय मे भी चेतन नही हूँ, मेरा ध्यान कार्य पर, अर्थात् फेंकी हुई गेंद पर कदाचित् स्वत लक्ष्य पर, टिका हुआ है और बीच की समस्त कड़ियाँ दृष्टि से ओझल हो जाती हैं। इस अर्थ मे शारीरिक क्रिया का अनुभव मेरी सकल्पेच्छा का एक अनिवार्य अग है,—दूसरो के द्वारा दृष्टिगत मेरा शरीर नहीं, अपितु मेरे द्वारा अनुभूत मेरा शरीर इच्छा के कृत्य मे भौतिक परिवर्तन के अनुभव के बिना सकल्पेच्छा, सकल्पेच्छा नही होगी, और मानव आत्म जैसा वह है वैसा नहीं रहेगा।

अत प्रत्ययवादी के लिए, यह प्रश्न ही नही उठता कि क्या मनस् मस्तिष्क पर क्रिया करता है, और कैसे करता है अथवा क्या क्रिया-प्रतिक्रिया होती है अथवा समानान्तरवाद होता है। शरीर अथवा मस्तिष्क ऐसी कोई अन्य सत्ता नही है जो मनस् पर क्रिया कर सके अथवा मनस् उस पर क्रिया कर सके शरीर तथा मस्तिष्क मनस् को अभिव्यक्त करते हैं, अर्थात् दिक् क्या भौतिक घटना की भाषा में रूपान्तरित होते हैं। यदि कोई बाहरी निरीक्षक इस हद तक चला जाता है कि उसे एक जीवित मनुष्य का मस्तिष्क दिखाई देने लगता है, तो वह जो कुछ देखता है वह, जो कुछ वह व्यक्ति अनुभव कर रहा होता है तथा सोच रहा होता है उसका अधिक आन्तरिक तथा सुनिश्चित वाह्य सकेत होता है। मनस् मस्तिष्क पर इस तरह क्रिया नहीं कर रहा होता है जैसे प्रकृति का एक अंग दूसरे पर करता है समग्र प्राकृतिक चित्र उन सम्बन्धों की सगत अभिव्यक्ति होती है जो चेतना के विश्व के भीतर होते हैं। विश्व मनस् तथा प्रकृति के बीच के सम्बन्धो का नियम—इसका वाह्य स्व-प्रकाशन—उस विशेष रूप का निर्धारण करता है जिसे शरीर क्रिया-विज्ञान का स्वरूप [पैटर्न] ग्रहण करेगा। प्रत्ययवादी वह सब सीखने के लिए तत्पर है जो शरीर क्रिया-वैज्ञानिक उसे स्नायु तथा मस्तिष्क की क्रिया के बारे में सिखा सकता है। वह इन निरीक्षणो मे उन दो स्थापनाओं को भी जोड देता है जो शरीर क्रिया वैज्ञानिक की खोजो की व्याख्या देती हैं

(१) मनस् मस्तिष्क क्रिया के समरूप नही है,

(२) यथार्थ के क्रम मे, मनस् प्रथम है, तथा मस्तिष्क क्रिया अनुमित होती है। उदाहरण स्वरूप, जब हम कहते हैं कि जगत मनस् पर स्नायुओ तथा मस्तिष्क के माध्यम से क्रिया कर रहा है तो अपेक्षाकृत पूर्ण तथा सुनिश्चित कथन यह कहना है कि वे सकल्पेच्छाएँ जो जगत् की घटना मे अभिव्यक्त होती हैं उस मनस् पर क्रिया कर रही हैं और मस्तिष्क इस कार्य सम्पादन को अपनी स्वय की भौतिक भाषा मे लिपिबद्ध कर लेता है।

साधारण रूप म हमे शरीर की जो अनुभूति होती है उससे यह बात अत्यन्त घनिष्ठ रूप मे मेल खाती है। यह आत्म से अभिन्न नहीं अपितु सम्पत्ति के सदृश्य अधिक है—जैसे हम कहते हैं 'मेरा मकान' वैसे ही हम कहते हैं 'मेरा शरीर', परन्तु फिर भी अनेक अपेक्षाओ से यह आत्म के तुल्य है—हम यह नहीं कहते हैं मेरा शरीर यहां है' अपितु यह कहते हैं कि 'मैं यहां हूँ'। अन्यो की दृष्टि से शरीर द्रव्यकर्ता के रूप में आत्म का प्रतिनिधित्व करता है [अथवा] यों कहा जा सकता है कि किसी व्यक्ति के मनस् के लिए शरीर वैधानिक सिक्के के रूप मे ग्रहण किया जाता है। परन्तु विशेषतौर पर यह अर्थों का भण्डार है, और हम इन अर्थों को तत्काल देख लेते हैं जो उन्हे धारण करता है, और प्राय उन भौतिक गुणों को भूल जाते हैं जो उन्हें हम तक पहुँचाते हैं। [यह कल्पना कीजिये कि] (किसी घनिष्ठ मित्र की भौतिक आकृति का उसके अनुपस्थित होने पर कितना सच्चा चित्र बनाया जा सकता है) ?

इसका अर्थ यह नहीं है कि कोई मनस् विशेष मूलत अपने शरीर को उत्पन्न करता है। शेष प्रकृति की भाँति ही शरीर भी प्रत्येक को व्यक्ति से भिन्न किसी अन्य स्रोत से प्राप्त होता है। जिस प्रकार हम अपने आपको उत्तराधिकार में प्राप्त करते हैं उसी भाँति हम

अपने शरीरो को भी उत्तराधिकार से प्राप्त करते हैं। परन्तु यह मनस् भी पहले निष्क्रिय होता है और तत्पश्चात् सक्रिय, जो इसे प्राप्त होता है उसकी यह पुनर्रचना करता है। केवल, शरीर कल्पना की अपेक्षा कम नम्य होता है यद्यपि शेष प्रकृति की तुलना मे वह बहुत अधिक नम्य होता है: वह अपने स्वामी के करणों की छाप से अप्रभावित नहीं रह सकता। इस प्रकार जन्म के समय शरीर (तथा मनस्) हमे वसीयत के रूप में प्राप्त होते हैं, चालीस वर्ष की अवस्था में हम शरीर (तथा मनस्) का अपनी इच्छाओं के अनुसार निर्माण करते हैं।

(१८५) स्वतन्त्रता ·

यदि मनस् शरीर का नियन्त्रण तथा निर्माण करता है, शरीर मनस् का नियन्त्रण तथा निर्माण नही करता: तो नियन्त्रण की इसी अवस्था को 'संकल्पेच्छा की स्वतन्त्रता' माना जाता है। आत्म-निर्माण की सामर्थ्य स्वतन्त्रता की मूर्त अभिव्यक्ति है।

स्वतन्त्रता की सच्ची आलोचना पर हम पहले ही विचार कर चुके हैं (बाईसवाँ परिच्छेद): जब मैं कहता हूँ 'मैं वरण करता हूँ: मैं निश्चय करता हूँ' तो देखने वाले [दूसरे] व्यक्ति के लिए यह आत्म जो वरण करता है एक ऐसा पात्र है कि जिसका वरण करना उसकी प्रकृति का एक अनिवार्य अंग है। क्योंकि इसकी इच्छाएँ प्रकृति तथा परिवेश से निर्धारित होती है, अतः कोई भी चतुर वैज्ञानिक [उसके] निर्णय के विषय मे भविष्यवाणी कर सकता है। ऐसा कोई "मैं" नही है जो करणों के तन्त्र के बाहर रहता है तथा व्यवहार को कोई मौलिक दिशा देता है।

प्रत्ययवाद का उत्तर है कि "मैं" आत्म कारणों के उस तन्त्र के सर्वदा बाहर होता है जिसका वह प्रत्यक्ष करता है: जिस क्षण उसे यह बोध होता है कि वह कारणो से प्रभावित है, उसी क्षण वह उन कारणों से स्वतन्त्र होता है: यह उस व्यक्ति के समान है जिसने अपने विरुद्ध होने वाले षडयन्त्र के विषय में सुन लिया है—"हम क को यह कहानी कहेंगे और वह विश्वास-प्रवण होने के नाते, इस सबमे विश्वास कर लेगा ......" वह व्यक्ति तत्काल विश्वास-प्रवणता खो देता है और उस कहानी की प्रवचना से मुक्त हो जाता है। यदि राज्य सरकारें चंचलता पूर्वक (बरट्रेन्ड रसल के विनोदी सुझाव को ध्यान में रखते हुए) यह खोजलें कि औषधियो अथवा भोजन द्वारा नागरिकों के आन्तरिक स्रावो का नियन्त्रण कैसे किया जा सकता है, जिससे उन्हें शान्त अथवा युद्धरत, सहनशील अथवा चिड़चिड़ा बनाया जा सके,—और यदि नागरिको को इस विधि का ज्ञान हो तो यह उनकी सामर्थ्य में है कि वे अपने व्यक्तित्व को 'कारणो' से प्रभावित होने दे सकते हैं अथवा उससे रोक सकते हैं। यह प्रचार [प्रोपेगण्डा] का इतिहास है। जब तक इसका पता न लगा लिया जाय तब तक यह मानसिक प्रवृत्तियो को प्रभावित करता है उसके बाद और नहीं। सक्षेप मे स्वतन्त्रता आत्म की उस शक्ति पर निर्भर करती है जिसके द्वारा वह कार्य-कारण सम्बन्ध की उस शृंखला को जान जाता है जिसमे इसका भौतिक स्वरूप ग्रस्त हो जाता है, और इसके विषय मे जानकारी होने के कारण यह उस कार्य-कारण सम्बन्ध की योजना की तुलना मे अधिक यथार्थ है [अर्थात्] इसके द्वारा उपयोग किये जाने के स्थान पर इसका उपयोग करने में

सभी प्रकार के कारण आत्म पर प्रभाव डालते हैं और उसका अतिक्रमण करते हैं : खाली पेट क्षुधा को उत्पन्न करता है, आकस्मिक शोर आशंका को उत्पन्न करता है, प्रहार क्रोध को उत्पन्न करता है। इनमें से प्रत्येक अवस्था में एक स्वाभाविक यान्त्रिक प्रक्रिया होती है, ऐसी प्रतिक्रिया जो सबके गिरने की तुलना में अधिक स्वतन्त्र नहीं है। परन्तु जैसे ही मैं इस प्रक्रिया के बारे में सचेत होता हूँ और यह कहने में समर्थ होता हूँ, कि "मैं क्रोधित हो रहा हूँ' तब मैं क्रोध में अधिक निरत नहीं रहता और कारण केवल इसी दिशा में प्रभाव डालते हैं, जो मेरे उद्देश्यों के अनुकूल होती है। आत्मावलोकन की शक्ति (मावेग के 'रहने स्वीकृति के द्वार' पर कार्य करते हुए)* वह वस्तु है जो किसी मनस् के इतिहास तथा किसी भी शुद्ध रूप से यान्त्रिक प्रक्रिया के इतिहास के बीच एक दूरी उत्पन्न कर देती है।

कई आदतें मनस् में न्यूनाधिक यान्त्रिक रूप में स्थापित हो जाती हैं, और उनकी चेतना नहीं होती—उदाहरण के रूप में बच निकलने की आदत, किसी कठिनाई का सामना करने की अपेक्षा उसके चारों ओर घूमते रहने [की प्रवृत्ति], यह किसी व्यक्ति के चरित्र का एक अंग बन जाता है उसके जीवन की एक शैली' हो जाता है। यह सभावना अधिक है कि इस प्रकार की आदत तब तक बनी रहेगी और व्यवहार को निर्धारित करती रहेगी जब तक कि कोई वस्तु या कोई व्यक्ति कर्ता को इस बात का बोध न कराए कि उसकी अमुक आदत है। क्योंकि व्यक्ति की मानसिक शैली शारीरिक आकृति ग्रहण करने लगती है और इस प्रकार सार्वजनिक दृष्टि के लिए गोचर होने लगती है। यह निश्चय ही किसी काल-बिन्दु पर घटित होगी। जिस क्षण व्यक्ति को यह स्पष्ट बोध होता है कि "मैं बचने की कोशिश कर रहा हूँ, कायर हूँ, शिथिल हूँ," उस क्षण वह स्वयं में तथा बचने वाले स्व में एक अन्तर कर लेता है. [उसी क्षण] उसकी स्वतन्त्रता का आरम्भ हो जाता है। काण्ट का यह कथन सही था कि मनस् को यह बोध है कि वह उससे श्रेष्ठ है जो अपने आप में केवल प्राकृतिक है, जैसे उसकी सहज प्रवृत्तियाँ, इच्छाएँ, आदतें हैं; इसका काम उनको विनष्ट करना नहीं है अपितु उनका उपयोग करना है। आत्म-चेतना प्रकृति को स्वतन्त्र आत्म के स्वामी के पद से हटाकर सेवक बना देती है।

(१८६) मानव नियति :

व्यक्ति के करणों के क्षेत्र में स्वतन्त्रता अव्यवहित रूप में प्रयुक्त होती है। आत्म के क्षेत्र के बाहर स्वतन्त्रता व्यक्ति को प्रकृति पर पूर्ण शासन प्रदान नहीं करती। हम अपने कृत्यों को जो अर्थ देते हैं उन अर्थों के अतिरिक्त हम किसी भी वस्तु को प्रत्यक्ष रूप से नियन्त्रित नहीं कर सकते। ऐसी अनगिनत वस्तुएँ रह जाती हैं जो हमारी शक्ति से बाहर होती है।‡ भौतिक तथा सामाजिक परिस्थिति, वृद्धावस्था, व्याधि के ऐसे ज्वार होते हैं जिनके विपरीत कोई भी व्यक्ति (अपनी नाव) नहीं खे सकता। जो प्रत्ययवादी है तथा जो प्रत्ययवादी नहीं है मृत्यु उन दोनों को समान रूप से जीत लेती है।

---

* दि सैल्फ़, इट्स बौडी एण्ड फ्रीडम [आत्म, इसकी देह तथा स्वतन्त्रता] तीसरा अध्याय।

‡ एपिक्टिटस, डिस्कोर्सेज (वार्ताएँ) प्रथम पुस्तक, पहले अध्याय से तुलना कीजिए।

परन्तु प्रत्ययवादी, जो यह जान लेता है कि प्रकृति जो उसके उद्देश्यो के प्रति उदासीन प्रतीत होती है, और जो उसके विचार एवं सकल्प का भी प्रतिरोध करती है—को इस बात का आश्वासन है कि विश्व के क्रिया-कलापों में उसका भी कोई स्थान है यदि प्रत्येक वस्तु मनस् के प्रभाव मे है तो वह यह अनुमान करता है कि—

(१) जगत् मे कुछ भी अर्थहीन नहीं हो सकता : क्योकि मनस् के कार्य सर्वदा सार्थक होते है।

(२) जगत् की वस्तुओ के अन्तर्गत होने के कारण मानवीय सत्ताएँ भी सार्थक होनी चाहिए, तथा कदाचित् ऐसा कहना कि मानवो का प्राक्कलित महत्त्व है, विकासवादी प्रक्रिया के कार्य पर अत्यधिक बोझा डालना नही होगा यह भी निगमित होगा। और इससे यह भी निगमित होगा कि

(३) मानवीय मूल्यांकन निरपेक्ष मूल्यांकन के विरुद्ध नहीं हैं, चाहे वे मानवीय सीमाओ के कारण कितने ही सापेक्ष क्यो न हो। मूल्यो पर निर्णय देने की हमारी प्रणाली विश्व मनस् के निर्णय की प्रणाली से आवश्यक रूप से सगत होनी चाहिए, क्योकि इससे अधिक निरर्थक और कोई अवस्था नहीं हो सकती कि विश्व प्रक्रिया मूल्यांकन करने वाले मनुष्यो की एक ऐसी जाति को जन्म दे दे जिनके निर्णय मूल्यो के सही निर्णयो से असगत हो। ज्ञान मे, सौन्दर्य में, औचित्य मे हमारी रुचि पूर्ण रूप से नितान्त दिशाहीन नही हो सकती। अथवा, विध्यात्मक रूप मे कहा जाय तो अपनी इन अनुशसाओ मे हमे अस्तित्व के परम अर्थ को अव्यवहित रूप मे ग्रहण करने के अधिक निकट पहुँचना चाहिए। और यदि यह सत्य है तो कदाचित् हम यह भी स्वीकार करते हैं कि।

(४) हमारी गहनतम सकल्पेच्छा की दिशा मे असभव के रूप मे पहले से कुछ भी सीमित नहीं किया गया है, यद्यपि हमे उस ढग का कोई भान नहीं है, जिसके द्वारा इस प्रकार की इच्छा चरितार्थ होती है।

मृत्यु तथा मृत्योपरान्त जीवन के सदर्भ मे, मृत्यु के विषय मे कह चुके हैं कि यह प्रत्ययवादी तथा जो प्रत्ययवादी नही है, उन दोनो को समान रूप से जीत लेती है। केवल, प्रत्ययवादी के लिए विजेता निर्जीव प्रकृति न हो कर विश्व व्यवस्था का नियम है, जो सार्थक व्यवस्था है। यदि यह बात सार्थक है कि उसका अपना जीवन मृत्योपरान्त भी रहना चाहिए, तो शरीर के निपात के साथ न तो उसके शान्त व्यक्तित्व का और न ही उसकी चेतना का अदृश्य होना आवश्यक है। इस दृष्टि के अनुसार, जैसाकि हम कह रहे थे मृत्यु का अर्थ शरीर का विनाश है,—अर्थात् उस सेतु का नाश है जो साथी व्यक्तियो के मध्य सम्बन्ध जोडता है। मृत्यु इस विषय मे कुछ भी सिद्ध नहीं करती कि विश्व मे मनसो के अन्य समूह हैं या नहीं, तथा सम्बन्ध की वे कडियाँ हैं या नही जो उनके बीच स्थित हैं। कोई व्यक्ति मृत्योपरान्त जीवित रहता है या नही यह इस बात पर निर्भर है कि क्या वह व्यक्ति मृत्योपरान्त जीवित रहने के योग्य है। अपेक्षाकृत अधिक यथार्थ को अपेक्षाकृत कम यथार्थ किसी भी दशा मे विनष्ट नही कर सकता।

□□□

अध्याय २८

प्रत्ययवाद तथा नैतिकी

(१८७) हम प्रत्ययवाद पर नैतिकी के रूप में नहीं अपितु तत्त्वमीमांसा के रूप में विचार कर रहे थे, (मेरा विश्वास है कि) हम यह भूल गए हैं कि आइडियलिज्म [प्रत्ययवाद] 'आदर्शों' पर प्रभुत्व जमाता प्रतीत होता है : कोई भी दर्शन न तो आदर्शों पर और न ही उनके समर्थन पर एकाधिकार रखता है। अब यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या प्रत्ययवाद जीवन की कला के विषय में कुछ विशिष्ट कहता है। इतिहास की दृष्टि से इसके पास कहने को बहुत कुछ है : प्राचीन दार्शनिकों में से अधिकांश महान् नीतिशास्त्रीय शिक्षक या तो प्रत्ययवादी रहे हैं अथवा उनकी तत्त्वमीमांसा में प्रत्ययवादी प्रवृत्ति थी।*

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही, यह अवस्था बदल गई है। बहुत से विचारकों ने नैतिकी के तन्त्र प्रस्तुत किए हैं जो स्वयं अपने पाँवों पर खड़े होने का दावा करते हैं, जो न तो किसी प्रत्ययवादी अथवा अन्य प्रकार के ईश्वर विज्ञान पर और न तत्त्वमीमांसा पर निर्भर हैं। वे यह प्रश्न उठाते हैं कि क्या अन्ततः नैतिकी के मापदण्ड मानवीय जीवन की एक भौतिक स्थिति नहीं है, वे शायद हमारी सामाजिक पारस्परिक सहायता की मनोवृत्ति की (जिसका क्रोपाटकिन ने गुणगान किया है) उपज हैं—वे ऐसी विशेषताएँ हैं जो निम्नतर पशुओं में भी क्रूरता एवं स्वार्थपरता को कम करती प्रतीत होती हैं। मनोविज्ञान (जो अट्ठारहवीं शताब्दी के इंगलैण्ड से समस्त दिशाओं में फैल गया) का उदय नैतिकी की इस दृष्टि को बढ़ावा देगा, उसी प्रकार ज्ञानोदयकाल तथा क्रान्ति के समय में फ्रान्स का अनुभव भी उसमें योगदान करेगा। इससे पूर्व कि हम इस बात पर ध्यान दें कि प्रत्ययवादी हमारे समक्ष कौनसा व्यावहारिक ज्ञान प्रस्तुत करते हैं, हमें यह विवेचनात्मक प्रश्न उठाना चाहिए कि क्या किसी भी तत्त्वमीमांसा से उपयुक्त सम्बन्ध हुए बिना नैतिकी स्वतन्त्र मानवीय रुचि का विषय नहीं है।

(१८८) संक्षेप में कहें तो व्यावहारिक जीवन दो विषय से सम्बन्धित हैं, साध्यों के अपनाने में [और] साधनों के चयन से। बुद्धिमानी तथा मूढ़ता, अथवा उचित तथा अनुचित के

---

* इस प्रकार, सुकरात, प्लेटो, अरस्तू, एपिक्टीटस,......सामूहिक रूप से मध्ययुगीन चिन्तक ...... कान्ट, फिश्टे, हेगेल, शॉपेनहॉवर, टी. एच. ग्रीन, एफ. एच. ब्रेडलि, जोसिया रॉयस। (मेरे अनुसार) उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व के अत्यधिक उल्लेखनीय अपवाद थे एपिक्यूरस, हॉब्ज, मॉन्तेन, शैफ्ट्सबरी, बैन्थम। स्पिनोजा को, जो निश्चय ही आधुनिककाल के महान् नीतिशास्त्रीय विचारकों में से एक था, मुझे तत्त्वमीमांसीय रहस्यवादियों में मिलाना चाहिए।

बीच उठने वाले प्रश्नों को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है आप कौनसे लक्ष्यों को खोज रहे हैं ? उनको प्राप्त करने के लिए आप कौनसे साधनों का उपयोग कर रहे हैं ?

परन्तु शुभ अथवा मूल्य अनुभव के विषय हैं परिकल्पना के नहीं, और उसी प्रकार उन तक पहुँचने के सर्वोत्तम तरीके उस अनुभव द्वारा निर्देशित किए जाते हैं, जिसे वैज्ञानिक ज्ञान ने तीक्ष्णता प्रदान की है। वस्तुओं के वे गुण जिनके कारण वे हमें शुभ अथवा अशुभ, हानिकारक अथवा लाभदायक लगते हैं, तथ्यात्मक होते हैं—अर्थात् वे मानव स्वभाव तथा परिवेश के एवं उसके बीच सम्बंधों [में प्राप्य होते हैं] तत्त्वमीमांसा में नहीं। विश्व को समग्र रूप में जीवित अथवा मर्त्य मानकर वस्तुओं के गुण अथवा मूल्य कैसे बदले जा सकते हैं ? प्रत्येक कल्पनीय जगत् में, अपनी प्रकृति तथा मनोवैज्ञानिक के नियमों के अनुसार, रंग, ध्वनि, गन्ध एवं उनके संयोग सुखद अथवा दुःखद, संगत अथवा विरोधी होंगे।

इस विश्वास से, कि कोई सर्वज्ञ चेतना प्रकृति की रचयिता है सुन्दरता और अधिक सुन्दर, अथवा मानव की दयालुता और अधिक हितकारी, अथवा न्याय और अधिक उदात्त किस प्रकार होंगे ? किसी भी जगत् में चाहे वह भौतिक हो अथवा किसी दूसरे प्रकार का स्वास्थ्य एवं स्वतन्त्रता उपयुक्त लक्ष्य होंगे [और] व्याधि एवं गरीबी ऐसे अशुभ होंगे जिनका निर्वासन उपयुक्त होगा; आत्म-संयम आत्म सम्मान में वृद्धि करेगा [जबकि] विश्वासघात जीवन को अव्यवस्थित करेगा। ये कारण एवं कार्य के विषय हैं। अनुभव का तर्क [डायलेक्टिक] ये बातें [मानव] जाति को सिखलाता है* ये बातें लोकोक्तियों की बुद्धिमत्ता में सम्मिलित हो जाती हैं, प्रत्येक नयी पीढ़ी अपने बड़ों से ग्रहण करती है, न्यूनाधिक रूप में इन पर अविश्वास करती है, स्वयं उन्हें परखती है, और अपने दायित्व पर उनके सत्य का अन्वेषण करती है। साध्य अथवा मूल्य, जिनकी प्राप्ति में मानवीय आनन्द सन्निहित है, युग के तरव में ही शाश्वत रूप से स्थिर रहते हैं, और उनकी प्राप्ति के साधन जीवन की विवेकपूर्ण प्रणाली, प्रकृति तथा समाज की प्रदत्त व्यवस्था द्वारा अनुशासित होते हैं। तत्त्वमीमांसा इस आकलन में नहीं आती।

इस कारण से, अनेकों विचारकों ने यह माना है कि तत्त्वमीमांसा (और उसी प्रकार ईश्वरविज्ञान) नैतिकी में कोई योगदान करने के स्थान पर, उसमें असम्बद्ध विचारों के प्रवेश द्वारा, उसको बिगाड़ने की ओर प्रवृत्त होती है। अनुभव तथा बुद्धि पर आश्रित नैतिकी दृढ़ आधार रखती है और इसीमें उसका आकर्षण है। ईश्वर के आदेश अथवा वस्तुओं की तथाकथित अन्तिम प्रकृति पर आश्रित नैतिकी उस प्रत्येक संदेह के साथ हिल जाती है जो हमारी तत्त्वमीमांसात्मक सामर्थ्य पर आक्रमण करता है। इस प्रकार फ्रान्स में, जो आधुनिक देशों में अत्यधिक बुद्धिवादी है, धर्म से राज्य को मुक्त करवाने के लिए जो लम्बा राजनैतिक संघर्ष चला उसके साथ केवल एक ऐसी सहज प्राप्य नैतिक शिक्षा को स्थापित करने का प्रयास जुड़ा हुआ था जो स्थायी अथवा सामाजिक रूप से सुरक्षित होने का दावा कर सके।

* 'ह्यूमन नेचर एण्ड इट्स रिमेकिंग' [मानव प्रकृति और इसकी पुनर्रचना] का तेईसवाँ तथा चौबीसवाँ अध्याय देखें।

रूस, मैक्सिको और तुर्की फान्स के उदाहरण का अनुसरण कर रहे हैं। परन्तु बिना तत्त्व-मीमांसा के किस प्रकार की नैतिकी स्थापित हो सकती है ?

(१८६) नैतिकी उन व्यवहारकुशल नियमों की सहृति नहीं है जो हमारी कामनाओं की पूर्ति में अत्यधिक सफल तरीकों की ओर निर्देश करते हैं यदि ऐसा हो तो, यह अर्थव्यवस्था के विज्ञान की एक शाखा होगी। नैतिकी उचित तथा अनुचित के विवेक से सम्बद्ध होती है: हमारे व्यवहार की दृष्टि से यह किसी ऐसे मानदण्ड (अथवा 'प्रतिमान' [नार्म]) से सम्बद्ध होती है, जिसमे हम 'चाहिए' [ओ'ट], [नैतिक] बाध्यता (ओब्लिगेशन) कर्तव्य [ड्यूटी] की भावना से सम्बन्धित होते हैं।

निस्सन्देह मानव प्रकृति इस प्रकार के मानदण्डों को उत्पन्न करने मे समर्थ है, विशेषतया सामाजिक समूहों मे। परिवार के छोटे से समुदाय के प्रभाव ग्रहण करने वाले सदस्यों के रूप मे, जीवन के आरम्भ मे ही, हमे व्यवहार तथा आदत के बने-बनाये वे मानदण्ड उपलब्ध हो जाते हैं जिन्हें हमारे गुरुजन चाहते हैं अथवा स्वीकार करते हैं। और क्योंकि ये गुरुजन तथा हमारे साथी, हमारे स्वार्थरहित व्यवहार के समर्थन की ओर प्रवृत्त होते हैं और साधारणतया उससे लाभान्वित होते हैं, तथा आत्म-आग्रह के अधिक उग्र प्रकारों की निन्दा करते हैं, [फलतः] ऐसी अपेक्षा के साये मे बढ़ते हैं जिसमे हमसे यह आशा की जाती है कि हम लोग अपने अभिमान अर्थात् अपनी स्व केन्द्रित नैतिकता के प्राकृतिक बोध को कम करें तथा अपने को निश्चिततया, समूह मे एक से अधिक नही, सम्भवतया एक से भी थोड़ा कम मानें। कोई भी मानव समूह उस मानदण्ड को उत्पन्न करने मे असफल नही हो सकता जो हम यह स्मरण कराने मे निहित है कि "अन्य मनुष्यों का भी अस्तित्व है", यद्यपि कोई भी मानव-समूह, मात्र अपने प्राकृतिक अधिकार से, अपने स्व केन्द्रित सदर्भ पर विजय प्राप्त करने मे, तथा अन्यों के अस्तित्व को हमारे लिए उतना ही महत्त्वपूर्ण बनाने मे जितना हमारा अपना है, पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं करता। यह स्मरणीय है कि समूह के मानदण्ड केवल अन्यों के द्वारा अपेक्षित होने अथवा मान्य होने से कभी भी नैतिक मानदण्ड नही बनते। जब तक मैं उन्हें व्यक्तिगत रूप से नैतिक मानदण्ड के रूप मे न ग्रहण करूं तब तक वे मेरे लिए कर्तव्य नहीं बनते। परन्तु प्रत्येक सामान्य व्यक्ति, समय पाकर, इस बात को जान जाता है कि जिस समूह का वह सदस्य है, उसका उस पर कुछ अधिकार है, तथा उसे इसका उपयोगी सदस्य होना 'चाहिए' [ओ'ट]। वह जिस नैतिकी का वरण करता है उसे हम सहज प्राप्य सामाजिक नैतिकी कह सकते हैं। समूह की विचारधारा से सानुरूपता की स्थिति को पीछे छोड़, वह उस स्थिति में पहुँच सकता है जहाँ वह समूह के कल्याण के लिए स्वतन्त्र तथा बौद्धिक प्रयास करे। ऐसा करने मे चाहे उसे प्रचलित भावनाओं के विरोध का सामना करना पड़े, चाहे अपने वैयक्तिक कल्याण का बलिदान करना पड़े।

इस प्रकार सामाजिक नैतिकी आत्माभिव्यक्ति की नैतिकी का एक अंग बन जाती है, क्योंकि जिस आत्मा की अभिव्यक्ति होती है वह, अंशतः समझदार तथा सामाजिक होती है। कोई भी सामान्य मनुष्य पूर्ण नैतिक अलगाव अथवा केवल अपने स्वय की परिधि मे प्रसन्न नही होता इसलिए अपने भोग विलासो के बाद रह जाने वाले स्वाद के प्रति हमारी

संवेदनशीलता हमें पशुओं के स्तर से ऊँचा उठाने में सक्षम है। अन्यों के तथा समान हित के प्रति सम्मान की इन शालीन प्राकृतिक भावनाओं के कारण ही फ्रान्स के धर्म निरपेक्ष शिक्षक : "मानवीय व्यक्तित्व के प्रति सम्मान—अपने लिए और साथ ही दूसरे के लिए, विज्ञान के प्रति आदर, उसकी विजयों के प्रति प्रशंसा का भाव, यह आशा कि इसकी और भी अधिक महान् विजय होगी, मानवता से प्रेम, उसकी प्रगति में आत्मविश्वास, और उसके लिए योगदान करने की इच्छा, और इस उद्देश्य के लिए मातृभूमि' से प्रेम, पर विश्वास करते हैं। क्योंकि फ्रान्स, क्रान्ति तथा जनतन्त्र के लोग, सभी के कल्याण के लिए कार्य करेंगे।"*

(१६०) यदि कोई सभ्यता इस प्रकार की भावनाओं पर विश्राम करती है, तो वह वस्तुतः किसी मूर्त तथा वास्तविक [वस्तु] पर विश्राम करती है परन्तु ऐसे समाज के भविष्य के लिए यह बात परम गम्भीरता का विषय हो जाती है कि ये भावनाएँ कितनी प्रबल हैं, तथा उन्हें पर्याप्त रूप से सबल बनाने की दिशा में शिक्षा कितना प्रयास कर सकती है। शिक्षा सर्वशक्तिमान नहीं है : हमारी पश्चिमी कलाओं में नैतिक शिक्षा अपेक्षिक पिछड़ी हुई है। यह पर्याप्त नहीं है कि ये भावनाएँ केवल नाटकीय रूप में प्रकट हों। स्वयं देश भक्ति भी पर्याप्त नहीं है।

परन्तु सामाजिक मानदण्ड के अतिरिक्त, सभी मानवीय प्रकृति में कुछ अंश तक अन्य मानदण्ड उपस्थित रहते हैं। [इनमें] सौन्दर्यपरक मानदण्ड एक है। हमारे कार्य सुन्दरता अथवा कुरूपता से युक्त होते हैं, और जब हमें इन गुणों का बोध होता है, तब उसमें गर्व एवं गरिमा की भावनाएँ मिली रहती हैं। कोई भी व्यक्ति न तो अन्यों की, और न ही अपनी दृष्टि में, कुरूप, भद्दा, घृणास्पद अथवा अभद्र होना चाहता है।

आन्तरिक वैयक्तिक गुण के इस सौन्दर्यपरक बोध के प्रबल सहायक के रूप में, एक प्राकृतिक नियम है (जिसके विषय में निरन्तर अधिकाधिक बोध होता जाता है) जिसके द्वारा ये गुण व्यक्तित्व में प्रत्यक्ष रूप से अभिव्यक्त हो जाते हैं। सुन्दरतम व्यक्तित्व के शारीरिक पक्ष पर अपनी छाप डालता है। कठोरता, सांसारिकता, शिथिलता, भावना की स्थूलता, गोचर व्यक्ति की चाल-ढाल तथा मुद्राओं में स्पष्ट हो जाते हैं। वैयक्तिक अहम्मन्यता नैतिकता में योगदान करती है। हाल के वर्षों में इसने असंख्य मनुष्यों को एक प्रकार के भौतिक अनुशासन तथा आत्म-संयम की ओर—अर्थात् नवीन कठोर जीवन की ओर प्रेरित किया है। इसका भविष्य असीम महत्त्व का है।

यह गर्व उस सच्चे सौन्दर्यपरक मानदण्ड का बाहरी आवरण है जो बाहरी प्रेक्षक को भूलने में समर्थ है। व्यवहार की चारुता तथा अनुकूलता भव्य आन्तरिक सन्तोष हैं। इन्होंने 'जेंटलमैन' [सज्जन] तथा 'लेडी' [महिला, देवी] के लुप्तप्राय आदर्श की अवधारणाओं में योगदान किया है, जो प्रबल सौन्दर्यानुभूति तथा सज्जन प्रतिष्ठा की भावना से संयुक्त हुई हैं। शैफ्ट्सबरी के तीसरे अर्ल का विचार था कि वह नैतिक नियमों को

---

* बाइल जो हिस्तो आर द लोद्रे नेझे ऑ फ्रोंस [हिस्ट्री ऑव सोक्युलर आइडिया इन फ्रान्स : फ्रान्स में धर्म निरपेक्ष विचार का इतिहास] पृ० ३१६।

सम्पूर्ण संहिता को सुसवादिता के प्रतिमान से अनुशासित कर सकता है * और हमें फीडरस [वार्तालाप-ग्रन्थ] के अन्त में दी हुई सुकरात की उदात्त प्रार्थना का स्मरण हो आता है :

प्रिय पान [प्रकृति-देवता] और सभी अन्य देवताओ [आप] जो इस स्थान में भ्रमण करते हैं, मेरे अन्तरतम मनुष्य को सुन्दरता प्रदान करें और बाह्य एवं आन्तरिक मनुष्य एक हो जाएँ।

(१६१) मेरा विचार है कि मान-प्रतिष्ठा के जिस मानदण्ड का अभी उल्लेख किया गया वह तत्वमीमासा से रहित नैतिकी की उच्चतम पहुँच की सीमा का निर्धारण करता है। यह एक ऐसा मानदण्ड है जो अप्रवर्तनीय उत्तरदायित्वों, उदाहरण के लिए 'मान-प्रतिष्ठा का ऋण', के प्रति सूक्ष्म संवेदनशीलता को सन्निविष्ट करता है। समाज के आभिजात्य वर्गों से इसके सम्बन्ध का इतिहास बहुत सौभाग्यपूर्ण नहीं रहा है मानो यह केवल प्रभुत्व सम्पन्न उच्च वर्ग के लिए ही रहा हो, शूरवीर अथवा किसी अफसर का मान, जैसा कि यूरोपीय सैन्य परिवेश में समझा गया है, किसी के बाह्य व्यक्तित्व के प्रति आदर दिखाने की विवेकहीन चिन्ता रहा है। परन्तु सारैनो डी बरगेरेक अथवा युक्तिसंगत समकालीन बहादुरी के नियमों में जो आत्मगौरव होता है उसमें मान-प्रतिष्ठा का अधिक सच्चा सारतत्त्व होता है।‡ यह अभी भी, भेदभाव पर आश्रित अभद्र अहम्मन्यता की अपेक्षा उत्कृष्टता के बोध पर आधारित है : परन्तु वह अभद्र अहम्मन्यता स्वयं अपनी होती है, और मान-प्रतिष्ठा के भाव में धर्मसकोच को त्याग कर उस आत्म की सांसारिक लालसाओं को पूरा करने के लिए अनेक अवसरों का लाभ उठाने के प्रति घृणा का भाव निहित होता है। मान-प्रतिष्ठा आत्मसम्मान का प्रसून [फल] मात्र है। यह किसी व्यक्तित्व को ऐसे क्षेत्रों [स्थानों] पर पहुँचा सकता है जिनकी न तो केवल सामाजिक मानदण्ड में और न ही केवल सौन्दर्यमूलक मानदण्ड में अपेक्षा होगी।

(१६२) हमारा कहना है कि ये मानदण्ड अपने अस्तित्व के लिए किसी भी तत्त्वमीमासीय सिद्धान्त पर निर्भर नहीं हैं। वे मानव प्रकृति की, कम से कम कतिपय मानव-प्रकृतियों की, स्वत स्फूर्त उपज हैं,—और हमें उनके बीज पशुओं में मिलते हैं। अब हमारा प्रश्न है कि यदि कोई तत्त्वमीमासीय विश्वास भी उपस्थित हो तो क्या वह उनमें कोई अन्तर लाता है ?

यह स्पष्ट है कि, जिस रूप में हमें ये भावनाएँ मिलती हैं, उसमें वे परिवर्तनशील भी हैं तथा खडनीय भी। हम यह मान कर नहीं चल सकते कि, केवल वशानुक्रम की प्रक्रिया के कारण वे स्थायी तथा पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न हो जाएँगी। हम उन्हें प्रशसनीय तथा प्रतिमगत मान सकते हैं। परन्तु यदि व्यक्तियों के किसी भी समूह में उनका अस्तित्व नहीं होता अथवा बहुत निर्बल रूप में होता है तो क्या स्थिति होगी ? क्या हम उन्हें उत्पन्न कर

* कैरक्टरिस्टिक्स ऑव मैन, मैनर्स एण्ड ओपिनियन्स (मनुष्यों, आचरणों तथा अभिमतों के लक्षण), १७११।

‡ आलफ्रेड डी विग्नो, सा कैने डी जौंक, नवाँ अध्याय।

सकते हैं ? वह व्यक्ति जो कहता है कि "मुझे न तो मान-प्रतिष्ठा में और न ही वैयक्तिक सौन्दर्यबोध में कोई रुचि है, मुझे अधिक साधारण स्तर पर आनन्द मिलता है। इसके लिए मुझे कोई क्षमा याचना नहीं करनी है क्योंकि प्रकृति ने मुझे इसी रूप में बनाया है," बड़ी सीमा तक अभेद्य अवस्था में होगा।

जिन भावनाओं का बीज पहले ही विद्यमान न हो उनका 'विकास' शिक्षा नहीं कर सकती। एक बार नैतिकी के अध्ययन पर टिप्पणी करते हुए मेरे किसी विद्यार्थी ने कहा था, 'आप यह सिद्ध नहीं कर सकते कि किसी व्यक्ति को अपने पड़ोसी से अवश्य प्यार करना चाहिए [ऑट]। और यदि आप ऐसा कर भी लें तो भी वह ऐसा करने के लिए उससे प्रेरित नहीं होगा।" इसे इस तरीके से रखें आप संगीत की रुचि से विहीन व्यक्ति के समक्ष यह सिद्ध नहीं कर सकते कि संगीत मधुर है, और यदि आप ऐसा कर भी दें तो भी आप इस बात में उसकी कोई सहायता नहीं कर सकेंगे कि वह उसका आनन्द ले सके। यही मुख्य कठिनाई है। और वास्तविक स्थिति यह है कि यद्यपि हममें से अधिक, कुछ पड़ोसियों को कुछ सीमा तक प्रेम करते हैं हममें से बहुत कम कुछ से अधिक को प्रेम करते हैं• 'मानव जाति' के प्रति बन्धुत्व की भावना की वास्तविक शक्ति गणितीय अभिव्यक्ति—उस सीमा का काल्पनिक चित्र जिसका अस्तित्व नहीं है—से अधिक नहीं। मानव जाति के प्रति सहृदय—हाँ, सहायता करने को भी तत्पर, जब तक कि उसकी कीमत बहुत अधिक न हो [धन-धान्य] सम्पन्न लोगों की भले स्वभाव की आत्मा, अनुकूल काल में परोपकार की वृत्ति। परन्तु क्या उनमें शौर्यपूर्ण बलि की भी सामर्थ्य है? अथवा क्या उनमें प्रत्येक अवस्था में वफादार रहने की सामर्थ्य है? हाँ ऐसा भी है, [परन्तु] तभी तक जब कोई व्यक्ति केवल अपने नैसर्गिक मनोवेग को ही सुनता है, और अपने व्यवहार के विषय में तर्क वितर्क नहीं करता। जो सोचता है वह खो सकता है।[हो सकता है कि कोई] तत्त्वमीमांसा इन उदार भावनाओं का सृजन न कर पाये जिन पर सभ्यता निर्भर होती है, परन्तु तत्त्व-मीमांसा के ऐसे प्रकार हैं जो, स्पष्टतया, उन्हें अयौक्तिक कहकर उनके आधार को क्षति पहुँचा सकते हैं। और यदि यह सत्य है तो निश्चय ही तत्त्वमीमांसा उनके सन्दर्भ में अप्रासंगिक नहीं है।

(१६३) वस्तुत यह प्रतिज्ञप्ति कि नैतिकी को किसी तत्त्वमीमांसा की आवश्यकता नहीं है निरर्थकता के निकट पहुँच जाती है इस कथन का यही अर्थ है कि नैतिकी यथार्थ की प्रकृति से सम्बद्ध नहीं है। हम स्वीकार करते हैं कि नैतिक भावनाएँ सहज प्रवृत्तियों से उद्भूत होती हैं, परन्तु हमें यह भी स्मरण रखना है कि सहज प्रवृत्तियाँ यथार्थ से सम्बन्ध स्थापित करने की प्रणालियाँ हैं। सहज प्रवृत्तियों के कोई सिद्धान्त नहीं होते • परन्तु उनमें कभी-कभी ऐसी प्रज्ञा होती है जो उपलब्ध सिद्धान्त की तुलना में गहनतर होती है, उनमें वे सहजानुभूतियाँ निहित रहती हैं जिनका सम्बन्ध उस जगत् के स्वरूप से होता है जिसमें वे सक्रिय होती हैं।* वे सामाजिक सहज प्रवृत्तियाँ निरोध एवं अवरोध जिनसे हमारे नैतिक मानदण्ड उद्भूत होते हैं हमारे यह जानने से बहुत पूर्व ही क्रियाशील रहते हैं कि इन

---

* ऊपर ८७वाँ परिच्छेद देखें।

सहजानुभूतियों का क्या तात्पर्य है परन्तु जब वैज्ञानिक तथा तत्त्वमीमांसीय विचार उत्पन्न होता है तो यह इन सहजानुभूतियों का या तो समर्थन करेगा या खण्डन, या तो उन्हें और पुष्ट करेगा या उनकी उपेक्षा करेगा।

यह सत्य नहीं है कि वस्तुओं के मूल्य तथा गुण उनकी प्रकृति के विषय में हमारे जो विचार हैं उनसे स्वतन्त्र रूप में स्थिर किये जाते हैं। यहाँ तक कि स्वाद एवं गंध के विषय में भी, वस्तु के विषय में जो धारणा होती है वह महक को प्रभावित करती है स्वाद के साथ भोजन करने के लिए रसज्ञ का यह जानना आवश्यक है कि भोजन के लिए क्या कस्तूरा है अथवा घोंघा। [यही बात] इससे भी अधिक उस मूल्य के सम्बन्ध में लागू होती है जो हम अपने पड़ोसियों पर आरोपित करते हैं। दूर की दृष्टि से वस्तुओं तथा मनुष्यों से हमारा व्यवहार कैसा होगा यह अनिवार्यतया इस बात पर निर्भर है कि उनकी प्रकृति क्या है। जहाँ तक हमारे उन साथी मनुष्यों का सम्बन्ध है जिनके विषय में हमसे यह अपेक्षा की जाती है कि हम उन्हें अपने भाई तथा समकक्ष मानें, वहाँ प्रश्न यह है कि वे क्या हैं? यदि हो सके तो आप इसका तत्त्वमीमांसा के बिना उत्तर दें। यदि वे जैव अंगी के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं तथा कार्य-कारण शृंखला के अधीन हैं, तो उनसे वैसे ही व्यवहार करना चाहिए। उस अवस्था में, एक विस्तृत शृंखला में, प्रत्येक का मूल्य दूसरे से भिन्न होता है, और इस प्रकार की सत्ताओं का बाहुल्य है [इस अवस्था में] सार्वभौम सम्मान अथवा बन्धुत्व की किसी भी भावना के ढोंग का कोई अर्थ नहीं है, समानता' का सिद्धान्त या तो मिथ्यात्व है अथवा छोटी समरूप समुदायों के लिए कोई प्रयोजनवादी पूर्वमान्यता है जिसको सम्पूर्ण मानवता पर बिल्कुल प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत, यदि समानता के उस मौलिक बोध को, जो साथ ही न्याय एवं परोपकार का आधार है, जीवन का पट्टा देना है तो, हमें यह आश्वासन मिलना चाहिए कि मनुष्य अंगी से कुछ अधिक है।

[परन्तु] अब, अनुभव से ही ऐसा संकेत प्राप्त होता है कि मानव प्रकृति के सम्बन्ध में कार्य-कारण दृष्टि असन्तोषप्रद है अर्थात्, यह असफल रहती है। मानवीय मनोविज्ञान का अध्ययन करें, मानवीय व्यवहार के 'नियमों' का पता लगाएँ, और फिर मनुष्यों के संचालन में उनको प्रयुक्त करने का प्रयास करें, और फिर देखें कि क्या होता है। उनको ज्योंही यह सन्देह हुआ कि आप उन पर कार्य तथा कारण की नीति का प्रयोग करने का प्रयत्न कर रहे हैं, वैसे ही वे आपके खेल को बिगाड़ देंगे। समाज का निरूपण कारणात्मक व्यापार की योजना के अनुसार नहीं किया जा सकता। यान्त्रिक 'संघटन [को माननेवाले] उत्साही कभी कभी यह मान लेते हैं कि यह हो सकता है, यूँ कहें, कि वे श्रम की नम्यता को एवं 'आर्थिक प्रेरणा' के व्यवहार के विषय में पूर्ण निर्धारण को मानकर चलते हैं (इसके विपरीत) यह सम्भव है कि श्रम अनम्य एवं अनुपयोगी सिद्ध हो और उसमें विद्वेष के आत्महननात्मक आक्रोश की सामर्थ्य हो। संगठन एवं रोग विज्ञान मनुष्यों की अपराधी प्रवृत्तियों के प्रति कार्य-एवं-कारण उपचार को अपनाते हैं, जो परिवेश से सम्बन्धित एवं रासायनिक होते हैं, [फिर भी] अपराध बढ़ता रहता है। कुछ समय में हम यह जान लेंगे कि हम अन्य मनुष्यों को केवल उसी के द्वारा प्रेरणा दे सकते हैं जिससे हम स्वयं प्रेरित होते हैं [अर्थात्] मूल्यो-न्मुखी चिन्तन के द्वारा, कारणात्मक चिन्तन के द्वारा नहीं। उनसे व्यवहार करने की एक-

मात्र सफल प्रणाली यह मान्यता है कि वे बुद्धिशील, स्वतन्त्र तथा उत्तरदायी व्यक्ति हैं, मान लीजिए कि वे आपके मूल्याकनो एव कर्तव्य के बोध मे भाग लेते हैं, जिस प्रकार आप एक यन्त्र से काम लेते है उस प्रकार उनसे काम लेने के प्रयास को बन्द कर दें, और आप अपने परस्पर अधिकार तथा कर्तव्यो पर विचार-विमर्श आरभ कर दें। तब आप उनका तब और अधिक, अपने उद्देश्यो के लिए साधन के रूप मे प्रयोग नही कर रहे हैं, जब आप उन पर उस प्रकार प्रभाव नहीं डाल रहे हैं जैसे कारण-कार्य पर, अपितु उनके साथ विचार करने का प्रयत्न कर रहे हैं। आप उनके प्रति 'सम्मान' प्रदर्शित कर रहे हैं, और सम्मान किसी भी सच्चे भाईचारे का आरभ-बिन्दु होना चाहिए। अनुभव हमे इस सीमा तक ले जाता है, और हम कह सकते हैं कि कोई भी तत्त्वमीमासा तब तक किसी भी आधुनिक सामाजिक सरचना का पोषण नही कर पायेगी जब तक वह व्यवहार के इस स्वरूप को न्यायोचित न ठहरा सके।

(१६४) यही प्रत्ययवादी तत्त्वमीमांसा प्रवेश करती है। इसकी घोषणा है कि मनुष्य कारणात्मक अथवा जैव यन्त्र से कुछ भिन्न है, और यह कि वह जो भी कुछ है उसी के कारण, सम्मान के योग्य है। यह सम्पूर्ण नैतिक तथा सामाजिक क्रिया-कलाप के मूल मे एक अनिवार्य आधार को रखती है।

II

इस अवस्था का प्रत्यक्ष करने वालो तथा उसे निर्भ्रान्त भाषा मे रखने वालो में कान्ट पहला आधुनिक विचारक था। उसने इस विषय को रूढ़िगत रूप मे रखा : "अब मेरा कहना है कि मनुष्य का अस्तित्व स्वय साध्य के रूप मे है, मात्र साधन के रूप में नहीं।"* वह आगे कहता है कि, इन बौद्धिक प्राणियों को व्यक्तियो की सज्ञा देते हैं, क्योकि "उनकी प्रकृति ही यह सकेत करती है कि वे अपने आप मे साध्य हैं।" व्यक्ति से पृथक् जिसे वस्तु कहा जाता है उसका हम जैसा चाहे वैसा उपयोग करने के लिए स्वतन्त्र हैं : वह तभी तक मूल्यवान है जब तक हम उसकी इच्छा करते हैं, इसका मूल्य इच्छा-सापेक्ष है, और यदि हम इस पर ध्यान देना बन्द कर दें तो मूल्य कम हो जाता है। वस्तुएँ अपने आप मे साध्य नही हैं, और इस कारण, हमारे आचरण पर उनका अधिकार सोपाधिक होता है : "यदि" हमें ऐश्वर्य अथवा विशिष्टता की कामना है तो, हमे अपने कार्य मे मेहनती होना पड़ेगा, यदि नही, तो हम जितना चाहे उतना आलसी हो सकते हैं। कान्ट का सुझाव है कि हम ऐसे नियमों को उपयुक्त रूप से 'सोपाधिक आदेश' कह सकते हैं : हमें उनका पालन केवल तभी तक करना पडता है जब तक कि हम लोग विषय को मूल्यवान मानते हैं। परन्तु व्यक्तियो के मूल्य का एक भिन्न स्तर होता है : उनका मूल्य वस्तुनिष्ठ तथा हमारी मनोदशा के परिवर्तनों से स्वतन्त्र होता है क्योंकि यह इस बात पर निर्भर है कि व्यक्ति क्या है, अर्थात् (इस बात पर कि व्यक्ति) एक स्वतन्त्र सत्ता है तथा किसी नैतिक बात को समझने मे समर्थ है,

* 'फ़ंडामैण्टल प्रिंसिपल्स ऑव द मैटाफिजिक्स ऑव मॉरल्स [नैतिक नियमों की तत्त्वमीमांसा के मलभूत सिद्धांत], टी. के. एबॉट द्वारा अनुवादित, चौथा सस्करण, पृ. ५६।

और इसीलिए बौद्धिक प्राणियों के समाज का सदस्य बनने योग्य है। इस प्रकार अपने आप मे साध्यो के रूप मे व्यक्तियों का अस्तित्व हमसे एक ऐसी माँग करता है जो निरुपाधिक है, अथवा कान्ट के शब्दो मे, 'निरुपाधिक आदेश' अर्थात् बिना किसी 'यदि' का आदेश :

इस प्रकार कर्म करो कि मानवता को प्रत्येक अवस्था मे साध्य मानो केवल साधन ही नहीं, चाहे वह तुम्हारे व्यक्तित्व मे हो अथवा किसी अन्य के।

अभी तक हमारे नैतिक सामान्य बोध की सभी अभिव्यक्तियो मे से यह अत्यधिक प्रभावशाली है। हम तुरन्त इसकी शक्ति तथा इसके प्रभाव को पहचान लेते हैं। समानता के उस मूलभूत तत्व को परिभाषित करने के अतिरिक्त—(जो मनुष्यो मे उपलब्ध सभी असमानताओ मे उपस्थित रहता है) जो सभी कानूनी अधिकारो तथा इसीलिए समस्त समानता एव न्याय का आधार है—यह सभी प्रकार के 'शोषण' का भी निषेध कर देता है। यह स्पष्ट रूप मे वासना का भी बहिष्कार करता है (कान्ट का प्रबन्ध १७८५ मे प्रकाशित हुआ था), क्योंकि वासना मे हम मनुष्यों के साथ वास्तव मे वस्तु जैसा व्यवहार करते हैं, उनका अपने आप मे साध्य के रूप मे नहीं अपितु साध्यो के लिए साधनों के रूप मे उपयोग करते हैं। जहाँ तक सच्चे समझौते के सबध (वेतन सम्बन्ध को समाविष्ट करते हुए) उन सबधों का स्थान लेते रहते हैं जो दबाव पर निर्भर होते हैं, वहाँ तक तो मनुष्य अपने साध्यो के लिए एक दूसरे का उपयोग साधन के रूप मे करते रहते हैं, परन्तु वे एक दूसरे की स्वतन्त्रता का भी सम्मान करते हैं [और] इस प्रकार कान्ट के सिद्धान्त का अनुशासन हो जाता है।

यह [सिद्धान्त] आत्म-सम्मान की भावना को बढाता है तथा उसे स्पष्ट करता है : क्योंकि यह इस बात का निषेध करता है कि मेरे वैयक्तिक सिद्धान्त का कभी भी पार्थिव प्रवृत्ति के लिए दुरुपयोग किया जाय। कान्ट [हमे] सावधान करता है कि हम यह मानने की भूल न करें कि हममे स्वतन्त्र मूल्यात्मक चिन्तन का जो तत्व है वह केवल हमारी प्राकृतिक इच्छाओ की सतुष्टि के लिए है। निसन्देह इसकी अपनी जैवसक्रिया है. बुद्धि (दृष्टि के समान ही) सभी प्रकार के व्यावहारिक महत्वपूर्ण साध्यों के लिए साधन के रूप मे विकसित हुई है। परन्तु एक बार विकसित हो जाने के पश्चात् बौद्धिकता (दृष्टि के ही समान) केवल साधन नही रहती अपितु साध्य के स्तर पर पहुँच जाती है और वस्तुत जीवन का मुख्य साध्य बन जाती है : बौद्धिक प्राणी होने से जो सन्तोष मिलता है वह किसी से भी कम नही है, और मानव गरिमा के वैयक्तिक गुण के किसी भी बलिदान की क्षतिपूर्ति जैव-आत्म के किसी भी मात्रा मे स्थूल परितोषणो से नहीं हो सकेगी।

(१६५) इस निरुपाधिक आदेश से हम कतिपय अव्यवहित अनुमान प्राप्त कर सकते हैं। सभी व्यक्तियो को साध्य के रूप मे मानना, उसी सीमा तक प्रत्येक व्यक्ति को समान मानना हैं : इसमे मानवीय व्यवहार मे समानता के सिद्धान्त का प्रवेश होता है। परन्तु जहाँ कहीं भी समानता प्रकट होती है वहाँ नैतिक तर्कणा म तर्कशास्त्र का उपयोग किया जा सकता है। मैं अपने कर्म के विषय मे इस प्रकार सोच सकता हूँ [वस्तुत] मुझे सोचना चाहिए मानों किसी भी अन्य व्यक्ति को उसी सिद्धान्त के अनुसार कर्म करना है—"यदि अन्य सभी व्यक्ति भी इसी प्रकार का कर्म करें तो क्या मैं उस कर्म का अनुमोदन करूँगा ?" अर्थात्,

मुझे अपने कर्म पर इस प्रकार विचार करना चाहिए मानो इसका सिद्धान्त अथवा 'नियम' [मैक्सिम] सभी व्यक्तियों के लिए सामान्य नियम बनने वाला हो, संक्षेप में, मानो कर्म करना उसी द्वारा अपने कर्म के भाव को व्यक्तियों के समग्र समुदाय के लिए विधान बना देना हो (जैसा मानवों मे अनुकरण की प्रवृत्ति के कारण वास्तव मे होता है) फलस्वरूप निरुपाधिक आदेश इस प्रकार का आकार ग्रहण कर सकता है

केवल उसी नियम के अनुसार कर्म करो जिसके विषय मे तुम साथ ही यह संकल्प कर सको कि यह सार्वभौम नियम बन जाना चाहिए।*

दूसरे शब्दों मे, अपने पक्ष मे अपवाद मानने की आदत का त्याग कीजिए, और कर्म के उन तरीकों का भी परित्याग कीजिए जो सामान्य होने पर आत्म-व्याघाती सिद्ध होते हैं। अपने आपको झूठ बोलने की अनुमति न दें, जबकि उस झूठ का समस्त प्रभाव सच्चाई की इस आदत पर निर्भर है जो आपकी अभिव्यक्ति को उसकी स्पष्टोक्ति के रूप मे स्वीकार्य बनाती है। अपने आपको चोरी करने की अनुमति न दें, जबकि आप के चोरी करने का संपूर्ण लाभ इस बात पर निर्भर करता है कि चोरी की हुई सामग्री को आपकी सम्पत्ति के रूप मे सम्मान दिया जाय। हिंसा न करें, जबकि आपके कृत्य के एकमात्र मूल्य समुदाय के मानदण्डों के द्वारा आपके अपने जीवन का सतत रक्षण है।

क्या आपको यह प्रतीत होता है कि ये नियम जो किसी न किसी रूप में सभी समाजों की संहिताओं मे उपलब्ध होते हैं, नैतिकी के अमूर्त एवं आन्तरिक पक्ष से सम्बन्धित हैं? जो नैतिक सिद्धान्त उनके प्रचलन का स्पष्टीकरण न कर सके वह निश्चिततः ही अपर्याप्त होगा। और कांट जिस तकणा को प्रस्तावित करता है वह बहुत हद तक विचार की वह धारा है जिसके द्वारा मानव जाति का नैतिक सामान्य बोध उन तक पहुँचता है। क्योंकि सभी समाजों के समक्ष एक ही समस्या है [अर्थात्] व्यक्ति विशेष की स्वार्थपरायणता और सभी को उनमें इस 'न्याय' के प्रत्यय को जगाना है कि उसे उन नियमों को स्वयं पर प्रयुक्त करना चाहिए, जिनका पालन करने की सलाह वह अन्यों को देता है।

(१९६) कांट द्वारा नैतिकी के निरूपण मे हमे यह बोध होता है कि हम नैतिक जीवन के केन्द्र के निकट पहुँच रहे हैं। आधुनिक नैतिक-चेतना पर विधि ▮ क्षेत्र मे और साथ ही साथ वैयक्तिक नैतिकता मे भी इसका गहरा प्रभाव रहा है और आगे भी रहेगा।‡ मानवीय

* यदि यहाँ 'सिद्धांत' शब्द कष्टदायक सिद्ध होता है, जैसाकि इसे होना चाहिए, यह स्मरण रखिए कि पड़ोसी आपके शाब्दिक व्यवहार की नकल नहीं करता, अपितु उस सामान्य प्रेरणा की करता है जिसे वह इसमें देखता है। यदि मैं लाल बत्ती होते हुए भी कार चलाता रहता हूँ, तो भी हो सकता है कि लाल बत्ती के होते हुए कार चलाते रहने की उसकी प्रवृत्ति न हो, परन्तु यह देखकर कि जब पुलिस अनुपस्थित होती है तो मैं यातायात के नियमों को गंभीरता-पूर्वक नहीं लेता तो इस 'सिद्धांत' के द्वारा उसे गति की सीमा का अतिक्रमण करने के लिए बल मिल सकता है। यह सिद्धांत' मेरी क्रिया की सामान्य प्रेरणा शक्ति है हो सकता है कि मेरे अपने मनस् में इसका स्पष्ट सूत्र न हो। कांट के नियम की यह अपेक्षा है कि हम पहले इस बारे मे स्पष्ट हों कि हमारा सिद्धांत क्या है।

‡ सी विल्म द्वारा संपादित ग्रन्थ 'कांट' (१७२४–१९२४) में रोस्को पाउन्ड का लेख देखें।

सहजानुभूति के प्रत्येक महान् रूपायण की भाँति पूर्ण को प्राप्त करने की तुलना में यह पूर्णता के निकट तक पहुँचता है, इसे एक ऐसी आलोचना का सामना करना है जो इसके महत्त्व के अनुपात मे उतनी ही तीक्ष्ण है।

एक ओर तो यह कहा गया है कि काट का निरुपाधिक आदेश इतना रिक्त है कि यह विशिष्टता की कोई माँग नहीं रखता। (स्वर्ण नियम [गोल्डन रूल] के लिए भी यह कहा जा सकता है कि इसका भी कोई विशिष्ट आदेश नही है, तो बहुत कम लोगो ने यह सुझाव देने की भूल की है कि इस नियम का कोई आदेश नही है क्योकि यह विशेष रूप से किसी भी वस्तु की ओर सकेत नही करता। हमे काट के सिद्धान्त प्रयोग से विहीन प्रतीत नही हुए हैं।) दूसरी ओर यह कहा जाता है कि यह बहुत कठोर है, और यह कि यह मानवीय व्यवहार के लिए एक असभव आदर्श रखता है। स्पष्टत ये दोनो आलोचनाएँ एक दूसरे का निषेध करने की ओर उन्मुख हैं।

काट के सिद्धान्त का मुख्य दोष उसके दर्शन मे स्वतन्त्र तत्त्वमीमासा का अभाव है। काट का तर्क है कि नैतिक नियम अपनी वैधता के लिए तत्त्वमीमासात्मक विश्वास पर निर्भर है * परन्तु साथ ही [उसका यह भी तर्क है] कि इस प्रकार के तत्त्वमीमासात्मक विश्वास के लिए जो एक मात्र आधार है वह नैतिक नियम की यह माँग है। परन्तु तत्त्व-मीमासा नैतिकी का आधार नही बन सकती यदि नैतिकी ही तत्त्वमीमासा का एक मात्र आधार हो। स्वय काट तत्त्वमीमासा की दृष्टि से प्रत्ययवादी नही है, वरन् वह तो एक ऐसा रहस्यवादी है जो प्रत्ययवाद की देहरी पर खडा है। इसी कारण, उसकी नैतिकी की अनिवार्य प्रतिज्ञप्तियाँ उस रूढिगत रूप मे रखी जा सकती हैं जिसमें हमने उन्हे [ऊपर] देखा है उनका कोई सैद्धान्तिक आधार नहीं है। तीन रूढियाँ उसके सिद्धान्त की धुरियों का निर्माण करती है: "शुभ सकल्प के अतिरिक्त बिना शर्त कुछ भी शुभ नही है", "अब मेरा कहना है कि मनुष्य का अस्तित्व अपने आप मे साध्य के रूप में है, मात्र साधन के रूप म नही", "अब मेरा कहना है कि यह प्रत्येक व्यक्ति जो स्वतन्त्रता की धारणा से विलग होकर कर्म नही कर सकता, वस्तुत स्वतन्त्र है।"‡

बिना अन्वीक्षण के मान लिए गए ये सिद्धान्त सभवत सत्य हैं, अथवा लगभग सत्य हैं जैसा काट को अभिप्रेत था ये मानवजाति के सामान्य नैतिक बोध के साथ सबध जोडते हैं। परन्तु जिस रूप मे इन्हें व्यक्त किया गया है उस रूप मे ये मुश्किल से पूर्णरूपेण सत्य हो सकते हैं, क्योकि वे परस्पर सगत नही: यदि हम शुभ सकल्प के एक मात्र निरुपाधिक शुभत्व को स्वीकार करें तो हम किसी भी व्यक्ति के परममूल्य को कैसे स्वीकार कर सकेंगे, चाहे उसका सकल्प शुभ हो अथवा नही हो? और क्या यह स्पष्ट है कि बिना उस जगत् के सदर्भ मे जिसमें वह रहता है और क्रिया करता है किसी भी व्यक्ति का मूल्य शुद्ध रूप मे आन्तरिक है? काट की इच्छा थी कि उन नैतिक सिद्धान्तो का पता लगा लिया जाय जो बिना कर्म के विशिष्ट परिणामों की ओर निर्देश के प्रागनुभविक रूप से शुभ हों।

---

* ऊपर १७वाँ परिच्छेद देखें।

‡ 'फ़न्डामैण्टल प्रिन्सिपल्ज़ ऑफ़ दॅ मैटाफिज़िक्स ऑफ़ मॉरल्स' (नैतिक नियमों की तत्त्वमीमांसा मूलभूत सिद्धात) पृष्ठ १०, ५१, ८०।

उसका ऐसा सोचना बिल्कुल ठीक था कि यदि किसी अनदेखी आकस्मिक स्थिति के द्वारा शुभ संकल्प के क्रियान्वयन में बाधा पड़े तो उससे उसके शुभत्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। परन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि कोई संकल्प बिना किसी भी प्रकार के परिणामों के शुभ हो सकेगा, क्योंकि उस अवस्था में यह सफलपेक्षा ही नहीं रहेगी।

वैयक्तिक मूल्य का हमारा अपना बोध निश्चित रूप से परिवर्तनशील है, और बड़ी सीमा तक इस दृढ़ विश्वास पर आधारित है कि ब्रह्माण्ड में हमारी कोई भूमिका है (ध्यान दें, मैं सामाजिक भूमिका के विषय में नहीं कह रहा हूँ, प्रत्युत एक ऐसे कार्य के विषय में कह रहा हूँ जिसका महानतर जगत् की प्रक्रियाओं में किसी प्रकार का वस्तुगत मूल्य है।) अथवा मनुष्यों का मूल्य उनके वैश्वक सम्बन्धों से निर्धारित होता है। यदि इस बात का कि "प्रत्येक व्यक्ति को अपने पड़ोसी का सम्मान अथवा उससे प्रेम करना चाहिए [कॉट]" कोई प्रमाण हो सकता है तो वह यह समझने पर आश्रित होगा कि यह पड़ोसी सम्पूर्ण [मानव जाति] के हितों को अपने ध्यान में रखता है अथवा रख सकता है, और वस्तुतः वह उन्हें क्रियान्वित होने में योगदान कर रहा है, भले ही ऐसा केवल अपने 'सिद्धान्त' के संसर्ग के कारण हो।

मानवता के मूल्य को रूढ़ि के रूप में मानने से इतिहास के वर्तमान क्षण में निश्चिततया ही कोई काम नहीं चलेगा। जो कमियाँ 'साधारण' अथवा स्वायत्त नैतिकी में विद्यमान रहती हैं वे ही कांट की नैतिकी में भी विद्यमान हैं, [इनमें से] प्रत्येक पड़ोसी के साथ अपने समान व्यवहार करने की सहज प्रवृत्ति पर निर्भर होती है। प्रवृत्ति तो है, परन्तु बौद्धिक आधार के बिना वह टिकी नहीं रहती। दासता का कोई प्रश्न नहीं है, परन्तु उसके स्थान पर ऐसी विभिन्न आधुनिक बातें हैं जो मानव जाति की स्पष्ट असमानताओं पर आधारित हैं। ऐसा समय कभी नहीं रहा जब अपेक्षाकृत कमजोर भाइयों अथवा पिछड़ी जातियों को राष्ट्रीय अथवा वैयक्तिक साध्यों के लिए साधनों के रूप में उपयोग करने की मनोवृत्ति और अधिक व्याप्त हो। और यद्यपि मनचूरिया तथा अबीसिनिया की क्रूर विजयों और स्पेन तथा चीन के युद्ध में स्वतन्त्र लोगों के अधिकारों के प्रति जो धीरे धीरे सम्मान की भावना जाग्रत हुई है उसकी बर्बर अस्वीकृति पर प्रकट रूप से लोकतन्त्रीय लोगों ने उचित रोष प्रदर्शित किया है तथापि ये ही लोकतन्त्रीय सरकारें ऐसे साम्राज्यों का भी सचालन करती हैं जिसमें उच्च लोगों के लिए निम्न लोगों की उपयोगिता व्यवस्था का प्राथमिक सिद्धान्त प्रतीत होती है। यदि हमें सभी मानव प्राणियों को स्वयसाध्य मानते हुए व्यवहार करना चाहिए [कॉट], तो ऐसा करने के लिए कोई तत्वमीमांसात्मक न्यायोचितता होनी चाहिए जो हमें न तो मानव मनोवेगों में उपलब्ध होती है और न ही कांट के रूढ़िगत सिद्धान्त में। यह हमें उसके उत्तराधिकारियों में उपलब्ध हो सकती है।

(१९७) हेगेल* मानवों को जगत् की सजीव प्रक्रिया में अन्तर्भूत मानता है, जो सभ्यता का इतिहास है और साथ ही विकासोन्मुख विचार का भी इतिहास है। इस सार्वभौम

* जी डब्ल्यू एफ हेगेल, १७७०–१८३१ उसका नैतिक सिद्धांत सर्वोत्तम रूप से उसकी पुस्तक 'फिलासोफि ऑव राइट' [अधिकार का दर्शन] में अभिव्यक्त हुआ है। रेबर्न की पुस्तक 'हेगेल्स एथिकल थ्योरी [हेगेल का नैतिक सिद्धांत] देखें।

प्रक्रिया मे सहभाग के द्वारा ही व्यक्ति अपनी स्वतत्रता एव अपने मूल्य दोनों को प्राप्त करते हैं।

हेगेल यह बताता है कि हमारी स्वतन्त्रता कोई ऐसी वस्तु अधिक है, जिसका विकास होता है तथा जिसका अर्थ हम विभिन्न परीक्षणो द्वारा समझते हैं जो न्यूनाधिक रूप मे भ्रान्त होते हैं, और ऐसी वस्तु कम जो आन्तरिक तथा अपरिवर्तनीय हो। हमारा ध्यान पहले (अ) अकेलेपन की स्वतन्त्रता की ओर जाता है। क्योंकि किसी के बीच मे पडने से हमारी स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है, [अतः] हम निर्लिप्तता मे, नियन्त्रण के अभाव मे, एक अपूर्ण जगत् मे अपूर्ण साथियो के साथ, सामान्य हितो मे भाग लेने से अस्वीकार मे स्वतन्त्रता को खोजते हैं। स्वतन्त्रता के नाम पर हम उससे प्राप्त समस्त दलों, सस्थाओ, गिरजाघरो, परम्पराओं को छोडने के लिए, तथा आवश्यकता पडने पर नष्ट करने के लिए तैयार रहते हैं जिन्हें अपनी दृष्टि से पूर्वजों का समझौता माना जा सकता है अथवा इसके विपरीत भ्रष्ट एव भ्रष्ट करने वाला माना जाता है। अकेला व्यक्ति स्वतन्त्र है—दायित्व-हीन है। उसे किन्ही भी दलगत गठबन्धनो से समझौता नही करना पडता, परन्तु अपने अपूर्ण साथी नागरिकों के बिना वह कुछ कर भी नही सकता। इस प्रकार की स्वतन्त्रता हमे निरर्थक रूप में निषेधात्मक, निर्मम तथा आत्मरव की विनाशक लगती है। यह जान लेने पर कि किसी वस्तु से स्वतन्त्रता की तुलना मे स्वतन्त्रता कुछ अधिक विध्यात्मक होनी चाहिए, कि यह किसी विषय के लिए स्वतन्त्रता है, हम दूसरे छोर पर विपरीत नीति की ओर चले जाते हैं, तथा (ब) हमारा ध्यान तत्कालीन आत्म-आग्रह की स्वतन्त्रता पर चला जाता है जिससे यह समझा जाता है कि जब और जैसी इच्छा हो उसे पूरा करें, जीवन जीने मे जीवन के श्रेय को जानें तथा समालोचन के उस बहुत अधिक कष्ट के बिना हम कार्य करें जो हमे जैव एव सामाजिक यथार्थ से पृथक् करता है। तब भी हम स्वय को असन्तुष्ट एव अस्वतन्त्र पाते हैं। क्योंकि आत्म एक होता है अनेक नहीं : सतुष्टियों के बाहुल्य में एक वस्तु अनभिव्यक्त एव असतुष्ट रह जाती है, [अर्थात्] समग्र व्यक्ति। असघटित आत्म किसी वस्तु का आनन्द नहीं उठा सकता : इस खोज में आधुनिक मनोरोग-विज्ञान प्लेटो की दृष्टि के विवेक की पुनः पुष्टि करता है (रिपब्लिक [गणतन्त्र], चौथी पुस्तक)। और स्वय मनोवेग भी, अत्यधिक परीक्षण एव परामर्श से नष्ट हो जाता है : इस प्रश्न के अतिरिक्त कोई भी प्रश्न निरन्तर पुनरावृत्ति से इतना नीरस नही हो जाता कि आज मैं सबसे अधिक क्या करना चाहता हूँ ? अन्ततः (स) हम मूर्त स्वतन्त्रता पर विचार करते हैं। यह वह स्वतन्त्रता है जो मानव जाति के सस्थागत जीवन मे भाग लेने के बन्धन को स्वीकार कर लेती है जिसका हमने पहले तिरस्कार कर दिया था। क्योंकि अन्ततः सामान्य जीवन के ये अपूर्ण रूप अपने मर्म में बुद्धि के अश होते हैं और इसके बिना हम अपने आपको नहीं जान सकते, ठीक उसी प्रकार जैसेकि हम अपूर्ण परिवार के बिना कभी भी ऐतिहासिक क्रम के अन्तर्गत नहीं होते, अथवा अपने समूह की अपूर्ण पारम्परिक भाषा के बिना एक भी विचार को सप्रेषित करने मे असमर्थ रहते। उनका महान् गुण यह है कि उनका अस्तित्व है [वे वास्तविक हैं] जबकि उन आदर्शों में इस गुण का अभाव है जिन्हें हमने इनके विरुद्ध आलोचनाओं के रूप मे प्रस्तुत किया, और जब तक वे [आदर्श] अपने

आपको सामान्य व्यवहार मे स्थापित नही कर देते तब तक वे केवल एक ऐसी भावप्रवणता मात्र रह जाते हैं, जो एक अयथार्थ काल्पनिकता है तथा जिसके कारण 'आदर्शवादी' सज्ञा व्यावहारिक भर्त्सना का रूप ले लेती है। प्रत्येक सस्था मे बहुत कुछ खोट है, परन्तु प्रत्येक उसके आधार पर जीवित रहती है जो इसमे ठोस होता है "इसमे जो भी वास्तविक है वह युक्तियुक्त होता है [क्योकि]जो भी युक्तियुक्त है वही वास्तविक है।" हम देखते हैं कि भाषा की भाँति समस्त नियम, परम्पराएँ, सस्थाएँ व्यक्ति के लिए या तो बन्धन हैं अथवा पख हैं। यह इस बात पर निर्भर है कि व्यक्ति में अधिकार की सीमा क्या है? यह ऐसा ही है जैसा कि श्रम योग्य कवियों के साथ होता है। वे काव्य के रूप के नियमो को छोडने मे स्वतन्त्रता का अनुभव करते हैं [परन्तु] काव्यात्मक शक्ति उनका उपयोग करती है। कोवेन्ट्री पैटमोर हेगेल के सम्पूर्ण सिद्धान्त को अपनी इन पक्तियो मे प्रतीकीकृत करता है

वे नियम का पालन करते हैं
फिर भी मूढो की भाँति नही,
वे उस चारण की तरह हैं जो
इस भीषणतम बन्धन मे भी
सुमधुर सुर ताल मे गाता है
और काल नियम के बन्धन मे
आजादी अनुभव करता है।

[वे नियमानुकूल जीवन जीते हैं, मूर्खों की तरह नही, अपितु कवि की तरह जो मधुर स्वर मे गाता है काल तथा नियम के कठोरतम बन्धनो मे बधकर और उनमे उसे बन्धन नही, मुक्ति मिलती है]।

जीवन की कला यह पता लगाना है कि नियमो एव सस्थाओं म सार्वभौम क्या है, और अपने आपको उससे सहमत करना है। हमारा उच्चतम नैतिक नियम यह है, तू अपने तथा उस वस्तुनिष्ठ बुद्धि [रीज़न] मे तादात्म्य ला, जो मानवजाति की सस्थाओ मे उपलब्ध होती है।

(१६८) हेगेल ने काण्ट का खण्डन नही किया है उसने उसकी कमी को पूरा किया है। और उसका तर्क दर्शन के इतने विश्वासोत्पादक अशो मे से है कि वह हमारे युग के मनस का एक अश बन गया है नैतिक सकल्प का अपना विधिवत् औचित्य एव स्वतन्त्रता होनी चाहिए, परन्तु उतना ही कर्म करने का भी उसका दायित्व है अर्थात् उसका यह कर्तव्य है कि यह अपने घेरे से बाहर आए और मनुष्यो के सामान्य प्रयासो मे भागीदार बने। जितनी किसी प्रत्ययवादी के लिए सभव है, हेगेल उस सीमा तक नैतिकी मे यथार्थवादी हो जाता है, उस सन्दर्भ म वह वस्तुओ को उसी रूप मे ग्रहण करता है, जिसमे वे होती हैं। रॉयस* इसी आधार पर (अपने सिद्धान्त का) निर्माण करता है। परन्तु वह समाज की प्रतिष्ठित सस्थाओं मे वस्तुनिष्ठ बुद्धि को अनिवार्य रूप से विद्यमान नही पाता। हेगेल का यह मानना

* जोसिया रॉयस १८५५-१९१६। उसकी पुस्तक 'फ़िलॉसोफि ऑव लायल्टि' [निष्ठा का दर्शन] में यह विवेचन, जिसे यहाँ सार रूप में प्रस्तुत किया गया है, विद्यमान है।

तो सही है कि उनमे औचित्य का मर्म तो है परन्तु स्वय हेगेल ने भी, जो परम्परावादी था, यह देख लिया था कि सस्थाओ का भी क्षय होता है प्रत्येक स्थिति इतनी अच्छी स्थिति नही होती कि उसे बनाये रखा जाय—युद्ध एव क्रान्ति की सशक्त प्रक्रियाएँ इतिहास को क्षयग्रस्त सस्कृतियो से शुद्ध करती हैं इतिहास जगत् के निर्णय का न्यायालय बन जाता है। अत रॉयस का मत है कि हमे अपने आपको सस्थाओ से, उनके तथ्यात्मक रूप में, नहीं जोडना चाहिए, अपितु उन आदर्शों से जोडना चाहिए जिनमे किसी भी समय आने वाली बौद्धिकता समाविष्ट होती है। सभव है कि य आदर्श अत्र रूप धारण करें क्योकि वर्तमान व्यवस्था मे बुद्धि का कुछ अश मूत्त रूप ग्रहण नहीं करता, और अपने चरितार्थ होने के लिए इसे हमारी सेवा की अपेक्षा रहती है। आदर्शों के प्रति निष्ठा प्राथमिक नैतिक सिद्धान्त है। और यद्यपि समान रूप से कर्तव्यनिष्ठ व्यक्तियो के निर्णयों मे परस्पर विरोध हो सकता है और हो सकता है कि वे स्वय को समान निष्ठा से परस्पर विरोधी आदर्शों की सेवा म तत्पर पाएँ, तो भी एक ऐसा आदर्श है जिसमे सब एक हो सकते हैं क्योंकि प्रत्येक विरोधी दूसरे की निष्ठा का सम्मान कर सकता है। [अत] निरपेक्ष सिद्धान्त यह है कि जहाँ कहीं भी निष्ठा मिले उसके प्रति निष्ठावान रहो।

III

(१६६) नैतिक आधार को युक्तिसंगत आधार सिद्ध करने की चिन्ता मे, कान्ट तथा हेगेल, सभी मनुष्यों को एक ही नियम के अन्तर्गत ले आते हैं (जैसा कि उन्हें वस्तुत होना भी चाहिए) और सभी के लिए एक ही प्रकार के व्यवहार की सिफारिश करते प्रतीत होते हैं। [परन्तु] वस्तुत यह स्थिति नहीं है, क्योकि एक ही सिद्धान्त को भिन्न परिस्थितियो मे प्रयुक्त करने से भिन्न परिणाम निकलने चाहिए। परन्तु क्तव्य इससे अधिक गहन रूप में वैयक्तिक है। मुझे ऐसे सिद्धान्त के अनुसार कर्म करना चाहिए [ऑट] जिसके बचाव के लिए मैं तत्पर रहूँ—मनुष्यो की सामान्य बुद्धि से यह मेरा सबध है परन्तु मूत्त रूप म मुझे वह करना चाहिए [ऑट] जो विश्व मे कोई भी अन्य व्यक्ति नही कर सकता।

इस अपेक्षा* को हम एक ऐसे सिद्धान्त के रूप मे अभिव्यक्त कर सकते हैं जो मेरे मत मे, उन विभिन्न सिद्धान्तों को समाविष्ट करता है जो प्रत्ययवादी नैतिकी से आए हैं अपना सामान्यीकरण करो, अर्थात् अपने आपको एक विशिष्ट सत्ता के रूप मे मानो, जिसके पास यथार्थ की एक ऐसी दृष्टि है जो अन्य किसी को प्रदान नहीं की गई है, जिसे अभिव्यक्त करना तुम्हारी नियति है इस अव्यक्त प्रत्यय को अभिव्यक्त करो, जगत् की अपनी अनुभूति अथवा सहजानुभूति को सार्वभौम बोध बनाओ, इसको कर्म मे समाविष्ट करो प्रचलित सामान्य जीवन म इसका निर्माण करो।

जैसाकि हमने देखा, नैतिक जीवन अनुभव को मनोनिष्ठ मूकाभिनय से कुछ अधिक मानने के आह्वान से आरम्भ होता है, मैं जानता हूँ कि मुझे स्वय सवेदन को वस्तुनिष्ठ सत्य के सामान्य जगत् के सकेत के रूप म लेना 'चाहिए' [ऑट]। मेरा प्रथम कर्तव्य यह है कि मैं सत्य के प्रति सम्मान के द्वारा अपने चारों ओर के बौद्धिक जीवन के साथ सगति रखते

* जो क्रमश फिश्टे नैक्ले तथा रॉयस की नैतिकी की रचनाओं में प्रकाश में आते हैं।

हुए पैर जमाऊँ और जमाये रखूँ। इस प्रकार की 'सत्यनिष्ठा' अथवा 'वस्तुनिष्ठता' का (जो सामान्यरूप से कलाकार का भी सद्‌गुण है) नैतिक जीवन में विशिष्ट रूप से प्रमुख स्थान होता है (गांधी ने सत्य एवं ईश्वर मे तादात्म्य माना है), क्योंकि यह किसी भी आगे के नैतिक विकास की शर्त है दो मानसों मे पारस्परिकता किस सीमा तक स्थापित होती है यह सीधे इस बात पर निर्भर है कि दूसरे के प्रति उनका कितना सद्‌भाव है। झूँठा अथवा धोखेबाज व्यक्ति अपने और जिसे वह धोखा देता है दोनों के बीच के सामान्य आधार का जानबूझ कर तोड़ता है,—जैसा कि मान्तेन ने कहा है 'झूँठ की तुलना मे मौन कितना अधिक सुखद [मैत्रीपूर्ण] है।' नैतिक प्रयास के द्वारा सामान्य आधार बनाना होगा और स्थायी रखना होगा। अर्थात् हम मानवों की सेवा तभी कर सकते हैं जब हम पहले जगत् मे जो बुद्धि के अपेक्षाकृत अमूर्त तत्त्व प्रतीत होते हैं—सत्य एवं न्याय की बहुत सीमा तक वैसे ही जैसा कान्ट ने उन्हें समझा था—उनकी आवश्यकता की पूर्ति कर दें।

अस्तित्व की मूर्त्त सामग्री, हमारी 'वस्तुनिष्ठ बुद्धि की सेवा' को जो हमारी वैयक्तिक देन है उसका निर्माण इसी आधार पर होना चाहिए। इस सेवा की तीन अवस्थाएँ हैं। पहला, जो कुछ जगत् म है उससे मेल (हेगेल की सूझ)। दूसरा, जगत् मे जो कुछ भी है उसकी (भीतर से) समालोचना। दोष की खोज अधिकांशत बहुत सरल होती है, किन्तु यदि गभीर रूप मे लिया जाय तो यह एक अनिवार्य नैतिक सक्रिया है जिसे कोई भी कर सकता है गलती को देख पाना एक देन है सुनिश्चित रूप मे रोग का निदान दृष्टि की एक विशिष्ट शक्ति से आता है और समान रूप से उस दोष के निराकरण की विशिष्ट सामर्थ्य की ओर भी निर्देश करता है। तीसरा, पुनर्रचना (रिक्रियेशन)। वैयक्तिक जीवन का सर्वोत्तम शुभ न तो स्वीकृति मे है और न समालोचना मे है, अपितु प्रत्ययों और फिर संस्थागत जीवन के पुनर्निर्माण मे है, जगत् मे ऐसा परिवर्तन लाना जो बना रहे क्योंकि वह बने रहने के योग्य है, किसी नियम मे संशोधन, किसी चित्र का चित्रण, किसी मेहराब का निर्माण, किसी बालक की शिक्षा,—इस प्रकार कर्म करना कि सत्य का आपका सचय जीवन के सार्वभौम प्रवाह मे मिल जाय। इस प्रकार नैसर्गिक 'शक्ति की संकल्पेच्छा' को इसका अपेक्षित क्षेत्र एवं तुष्टि प्रदान की जाती है, और साथ ही वस्तुओं के सुगुप्त जीवन के प्रति दायित्व के बोध को समादृत किया जाता है। किसी मनुष्य का मूल्य पूर्ण रूप से इस तथ्य मे निहित नहीं है कि वह व्यक्ति [पर्सन] है और न ही यह केवल उसकी शुभ संकल्पेच्छा में शुभ अभिप्राय के रूप मे माने जाने पर निहित है: यह उस मूर्त्त शुभ संकल्पेच्छा मे निहित रहता है जो जीवन के स्वरूप का निरूपण करती है। और इस दायित्वपूर्ण कार्य को पूरा करती है। यह एक ऐसी संकल्पेच्छा है जिसके सदैव उचित प्रभाव पड़ते हैं। यह एक साथ कर्तव्य का नियम है और आनन्द का भी।*

---

* 'दि मीनिंग ऑव गॉड इन ह्यूमैन एक्सपीरियन्स' [मानव अनुभव में ईश्वर का अर्थ] इक्कतीसवां अध्याय दि प्रोफ़ेटिक कान्शसनैस' [भविष्यवाणीयुक्त चेतना] 'मैन एण्ड दं स्टेट' [व्यक्ति तथा राज्य] इक्कीसवां अध्याय, 'दि ह्यूमन विल' [मानवीय संकल्प], 'ह्यूमन नेचर एण्ड इट्स री मेकिंग' [मानव प्रकृति तथा उसकी पुनर्रचना], ग्यारहवां तथा चौबीसवां अध्याय।

(२००) अब मानलो कि कोई मनुष्य इस प्रकार के नैतिक मानदण्डों के अनुसार जीवन-यापन का विचार कर लेता है। तो क्या उसके जीवन मे इससे कोई अन्तर नही पड़ेगा यदि उस जगत् की प्रकृति के विषय मे जिसमे उसका कार्य होना है, उसे कुछ आश्वासन मिल जाए ?

मानलो वह प्रत्ययवाद की तत्त्वमीमांसा के विषय मे निश्चित है, तथा इससे उन निष्कर्षों तक जाता है जिन्हें हमने पहले ही निगमित करके देखा है,* यथा प्रत्येक मनुष्य का विश्व-व्यवस्था मे एक अनुमानित अर्थ है, मूल्य के हमारे निर्णय अनिवार्य रूप से वैध [प्रामाणिक] होने चाहिए, हमारे अत्यधिक सार्वभौम मानदण्ड, जिनमे सम्मान, सौन्दर्य, निष्ठा मे नैतिक मानदण्ड सम्मिलित हैं, वस्तुओ की प्रकृति के प्रति तटस्थ नही हो सकते।

इन निष्कर्षों तक पहुँचने पर क्या कोई यह अनुमान नहीं करेगा कि क्योंकि ये मानदण्ड यथार्थ से असगत नही है, तो यह वैश्वक उदासीनता का विषय नहीं कि हम उनका (अनु) पालन करते हैं या नहीं ? और क्या यह इस बात पर अभी भी सदेह कर सकता है कि उसकी तत्त्वमीमासा नैतिकी के लिए सार्थक है ? यदि शुभ जीवन के अर्थ मे कोई परिवर्तन न भी हुआ हो तो, इसको खोजने का दायित्व एक नया महत्त्व ग्रहण कर लेगा। अथवा यो कहें कि उत्तरदायित्व को पहली बार इसका वास्तविक अर्थ मिलेगा क्योकि तटस्थ जगत् मे, उत्तरदायित्व का विचार एक निराधार कल्पना है। जीते-जागते जगत् मे, कर्तव्य की पुकार एक ऐसे उद्यम का आह्वान है जिसमे अन्तत वह व्यक्ति कभी भी अकेला नही हो सकता।

इस तत्त्वमीमासा के साथ यह मान्यता भी जुडी हुई थी कि शुभ सकल्प, जो जगत् की चरम सत्ता से सगत होने के कारण, अपने अज्ञात वैश्वक व्यापार म सफल हो रहा है, जबकि उत्तरदायित्व की उपेक्षा, अपने आप को कपटी आचरण मे लगाना, और इस प्रकार कार्लाइल के मुहावरे मे, प्रमुख वास्तविकताओ से सबध विच्छेद कर लेने का अर्थ है कि हम किसी प्रकार अनजाने ही इस प्रकार की सफलता की सभावना को समाप्त कर रहे हैं। क्योंकि जगत् की वस्तुनिष्ठ व्यवस्था यान्त्रिक नहीं अपितु नैतिक व्यवस्था है। प्रत्ययवादी नैतिकी का पक्ष इसी तत्त्वमीमासात्मक सत्य पर आधारित है।

एक सभव प्रत्ययवादी सहिता

हमारा विचार विमर्श लम्बा हो गया है : तो भी वह विस्तार से नहीं हुआ है,—अभी तक यह सिद्धान्तो से सम्बन्धित रहा है। [इन सिद्धान्तो के] वैयक्तिक एव सामाजिक रूप मे व्यवहार मे प्रयुक्त करने की बात चलते चलते ही हुई है। जीवन को जीने की कला के लिए अधिक निश्चित सुझावों के रूप मे कुछ सिद्धान्तो को यहाँ एकत्रित करें।

(१) (नैसर्गिक अथवा अर्द्ध चेतन सद्गुण : समस्त चरित्र का आधार) अन्य प्राणी के सग आदान प्रदान के रूप मे जीवन मे आनन्द लें वस्तुनिष्ठ बनें। अपने सवेदनों को, विषयों के उस जगत् के चिह्नो के रूप मे लें जिसे आपको, अन्य जो भी साथी हो, उनके साथ सामान्य जगत् के रूप मे मानसिक बनाना एव बनाए रखना है।

* ऊपर १८५वाँ परिच्छेद।

(२) (प्राथमिक चेतन सद्गुण) अपने आप मे इस रूप मे विश्वास करें कि आपको इस सजीव विश्व मे कुछ विशिष्ट कार्य करना है, अर्थात् आपकी विशिष्ट रूप से जो वैयक्तिक ज्ञानोपलब्धि है उसे आपको सार्वभौमिक बनाना है। यह विश्वास करें कि जीवन का अर्थ इस बात को करने (आत्मोत्कर्ष) मे निहित है, और आनन्द इसकी प्राप्ति के निकट पहुँचने मे निहित है, जबकि शारीरिक सुख सामान्य क्रिया मे आनुषंगिक है, और इन्हे आनन्द के सकेत के रूप मे लेना चाहिए, तत्त्व के रूप मे नही।

(३) (प्राथमिक अमूर्त सद्गुण) सत्यवादी बनें। सामान्य जगत् के निर्माण मे सत्य प्रधान साधन है। वैज्ञानिक सत्य प्राप्त करना, स्वीकार करना, उपयोग करना इस सद्गुण के पक्ष हैं। शाब्दिक सत्यता महत्त्वपूर्ण है, अन्यथा भाषा निकृष्ट चलन की चीज रह जाती : परन्तु इसका नैतिक पक्ष अपने साथियो के साथ एकता को बनाए रखने मे निहित है (और उस आत्म विघटन से बचने मे जो भ्रम का परिणाम है)। जहाँ यह एकता किसी और प्रकार से नष्ट होती है, जैसे युद्ध मे, वहाँ भाषा एक ऐसी थोथी वस्तु के रूप मे रह जाती है मानो जिससे सब अच्छाई निकल गई हो तब इसका कार्य इतना ही रह जाता है कि वह सघर्ष के मूल मे जो समान भूमि है (जो सदा होती है) उसके द्वारा सौहार्द को पुनर्स्थापित करे।

(४) न्यायी बनें : किसी भी व्यक्ति को अपने साध्यो के लिए केवल साधन न मानें, उस मानवीय समानता को पहचानें जो समस्त असमानताओं का आधार है।

कभी शोषण न करें और न ही शोषण को बढ़ावा दें, चाहे वह राजनैतिक साध्यो के लिए हो अथवा आर्थिक के लिए। चाहे श्रमिक हो अथवा मालिक कभी भी उसकी निर्बल स्थिति से लाभ उठाकर जीवन स्तर न गिराएँ।

न्यायी बनें . उन असमानताओं को पहचानें जो आधारभूत समानताओ पर आधारित हैं, और स्तर के उन भेदो को भी पहचानें जो सक्रियाओ के भेदो के लिए आनुषगी हैं। कभी भी द्वेष न करें और न ही कभी लालसा करें दूसरो के सौभाग्य मे आनन्द लें। भाग्य के स्वार्थपूर्ण उपयोग से घृणा करें चाहे वह उच्च कार्य मे हो अथवा निम्न मे।

न्यायी बनें : अपने एव अन्यो के अधिकारो की रक्षा करें, और इस बात को पहचानें कि बिना शुभ-सकल्प के किसी भी प्रकार के अधिकार नहीं होते, चाहे वे सम्पत्ति के हो अथवा कर्म के। नितान्त निजी अधिकार नहीं होते।

(५) जीवन की परिपूर्णता मे विश्वास करें, परन्तु कृत्रिम परिपूर्णता के लिए धोखा न दें।

जीवन की परिपूर्णता का अर्थ है नैसर्गिक क्षमताओ तथा सक्रियाओ का न्यूनाधिक पूर्ण क्रियान्वयन, इनके अन्तर्गत शारीरिक क्षमताएँ तथा क्षुधाएँ भी आ जाते हैं। आनन्द लेना एक कर्तव्य है—साधारणतया जिस पर बल देना आवश्यक नहीं होता जीवन का आनन्द एक ऐसा मार्ग है जो अनुशसा के नये आभासो को उद्घाटित करता है।

परन्तु इस आशय का कोई सिद्धान्त नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्येक वस्तु का आनन्द उठाना चाहिए। प्रत्येक आनन्द में सभी आनन्दों का सिद्धान्त सन्निहित है। जिस आनन्द के लिए मानसिक सतुलन [एकता] की बलि देनी पड़े वह जीवन मे कोई योगदान नहीं करता, और जिस आनन्द के लिए अन्य के कल्याण की बलि दी जाय अथवा जिसके लिए दुरंगा जीवन जीना पड़े वह मानसिक सन्तुलन का विनाश करने वाला होता है।

वेश्यावृत्ति एव अनुत्तरदायी काम सुख की लालसा दोनों स्थितियों मे हानिकर है। वे, सामान्य रूप से, स्नेह के बहाने स्वार्थी होते हैं तथा अन्य व्यक्ति का अपने व्यक्तिगत सुख के लिए साधन के रूप में उपयोग करते हैं, वे विषयीनिष्ठ आत्म-चेतना को अतिरंजित करते हैं और काम से असम्बन्धित सुखों के सहज आकर्षण को कम करते हैं। काम मानव दीप्तियों का महानतम अवसर है। इसे इसके स्वाभाविक अर्थ से अलग करने की माँग, महानतम रूप से मानव को भ्रान्त करना तथा मूल्य की यथार्थताओं के परित्याग का अवसर होगा।

(६) भिन्नता एवं संघर्ष के उपयोगों को समझें। शान्ति खोजें, परन्तु यदि शान्ति न हो तो शान्ति का दिखावा न करें।

'शान्ति' मानव जाति की आदर्श अवस्था का नाम माना जाता है। तो भी, जो आवश्यकता से अधिक मिलनसार हो अथवा कृपाकांक्षी हो, उसे सर्वत्र अश्रद्धा से देखा जाता है, तथा चरित्र के विकास मे विरोध के प्रशिक्षण की एक आवश्यक भूमिका है। प्रेम को छुपाना गलत है, क्रोध अथवा द्वेष को छुपाना भी उतना ही गलत है, व्यर्थ का धोखा है, और हानिकारक रूप में अपने को दबाना है। पाप की अनुपस्थिति की इच्छा मात्र से ही इसे जगत् से हटाया नहीं जा सकता : कभी-कभी इसे शुभ सकल्प (शत्रु से प्रेम करने तथा पाप को शुभ के द्वारा जीतने के विचार का आधार) से जीता जा सकता है। जो इसका सामना करने का सर्वोत्तम उपाय है। परन्तु शत्रु को जीतने में यह निहित है कि वह आपको सुन रहा है, और आपसे वैयक्तिक रूप में सम्बन्धित है : इसीलिए यह उपाय उन अवस्थाओं में प्रयुक्त नहीं किया जा सकता जिनमे आत्म-सतुष्ट आक्रामक किसी की नहीं सुन रहा हो—ऐसी बुराई को सघर्ष के द्वारा जीता जाना चाहिए। न्यायपूर्ण युयुत्सा के नैतिक उपयोगों को परिभाषित करने की असफलता हमारी सभ्यता की एक गलती हुई कमजोरी है, झूठे आदर्शवाद की प्रभावकारी आलोचना करने में नीत्शे जैसे विद्रोहियों ने बाजी मारली है। यह वह झूठा आदर्शवाद है जो विरोध के गहन नैतिक महत्व को उस समय भी अस्वीकार करता है, जब वह उचित होता है।

(७) विशिष्ट परिस्थिति के महत्व में विश्वास करें : स्थिति, सम्पत्ति, कार्य के क्षेत्र में किसी अन्य व्यक्ति के समान होने की माँग न करें। वैयक्तिक इतिहास में आप की अनन्यता के लिए आपके कर्तव्य की विलक्षणता पर्याप्त कारण है। आपका कर्तव्य अन्यों के समान बनना नहीं है, और न ही उनके असमान बनने मे है - यह तो अपनी परिस्थिति का उपयोग अपने आपको पहचानने तथा अपने आपको सार्वभौम बनाने के मार्ग को प्राप्त करने के लिए करना है।

अतः, परिस्थिति के प्रति कभी भी शिकायत न करें, कभी भी एक दूसरे पर दोषारोपण न करें, उन तोपों की माँग न करें जो ईमानदारी से आपको प्राप्त न होते हों—वे आपके लिए आवश्यक नहीं हैं, और सर्वाधिक महत्त्व की बात यह है कि असफलता के लिए कभी भी बहाना न बनाएँ : मनुष्य होने के नाते आपके कर्तव्य में (आवश्यक रूप से शिल्पकार, वकील, कलाकार के रूप में नहीं),—इस कर्तव्य में सफल होना सर्वदा ही संभव है।

☐☐☐

अध्याय २९

प्रत्ययवाद की परीक्षा

(२०१) प्रत्ययवाद का यह लाभ है कि यह [मानव] जाति की उन सहजानुभूतियों की व्याख्या करता है जो मनुष्य की आत्मा को गौरव प्रदान करती हैं और विश्व की मौन प्रक्रिया में मनुष्य को उसकी नियति में विध्यात्मक विश्वास प्रदान करती हैं। यह वह दर्शन है जो दार्शनिकीकरण को सार्थक बनाता है।

परन्तु इसके ये लाभ ही एक हानि को जन्म देते हैं। इसका हमारी आशाओं से बहुत अच्छा सामञ्जस्य है। यह मानवीय स्वाभिमान के समर्थन को सम्भवतः उस स्थान पर स्वीकार कर लेता है जहाँ बुद्धि का शान्त समर्थन—जो दर्शन का गुण है—डगमगा जाता है। यह सत्य है कि वस्तुगत प्रत्ययवाद अपने प्राथमिक सिद्धान्तों को अपरिहार्य के रूप में दिखाने का प्रयास करता है, परन्तु अभी तक इसकी सहज अनुभूतियों की तुलना में इसके प्रमाण कम विश्वासोत्पादक रहे हैं। इसके अतिरिक्त, तत्त्वमीमांसा में पूर्वमान्यताओं के बिना आगे बढ़ना सम्भव नहीं है, किसी दर्शन की नेकनीयती, इन प्रारम्भिक धारणाओं अथवा सहज अनुभूतियों को पहचानना और उनको स्वीकार करना है। और स्वीकार हो जाने पर उनके आधार पर शंका उठाई जा सकती है।

अतः स्थिति यह है कि दर्शन के अन्य सभी प्रकार, और विशेष रूप से प्रकृतिवाद के अनेक प्रभेद, प्रत्ययवादी दर्शन की शाश्वत स्थापना है, [अतः] यह आलोचना एवं आक्रमण का सनातन विषय रहा है। प्रत्येक नया 'आन्दोलन' इसके खण्डन के रूप में प्रकट होता है परन्तु इस आलोचना के योगदान से प्रत्ययवाद भी बना रहता है। इस प्रकार हमारे अपने कार्यक्रम में "प्रत्ययवाद की परीक्षा" को जो यहाँ स्थान मिला है उसका आंशिक रूप में पहले से ही पिछले प्रकारों में उल्लेख हो गया है। आगे आने वाले दर्शन के प्रकारों—यथार्थवाद तथा रहस्यवाद—में इसे और आगे ले जाया जायगा। इसकी तैयारी के लिए यहाँ हम प्रत्ययवाद के एक पक्ष पर ध्यान दे सकते हैं जो अधुनातन वर्षों में विशिष्ट रूप से आपत्तिजनक एवं आलोच्य प्रतीत हुआ है, [अर्थात्] परम आत्म का सिद्धान्त,—अथवा संक्षेप में, "परम" का सिद्धान्त।

(२०२) वस्तुनिष्ठ प्रत्ययवाद ने यह मान लिया है कि अनुभव की घटनाओं को बिना व्याघात के उस अन्य मनस् द्वारा हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया हुआ माना जा सकता है, जो हमारी मानवीय सीमाओं से मुक्त है। प्रत्ययवाद का यह विश्व-मानस् दार्शनिक रूप से ईश्वर के तुल्य है। "सृजन" [क्रिएशन] एक सतत प्रक्रिया बन जाती है, क्योंकि ऐसा नहीं माना जाता कि विश्व-मानस् की क्रिया को एक स्वतन्त्र भौतिक जगत् को स्थापित कर

सकती है और फिर उसे अपनी आन्तरिक समावनाओं को विकसित करने के लिए छोड देती है निश्चय ही इसको क्रिया व्यक्तियो* से सीधा सम्पर्क बनाए रखना है, वे व्यक्ति जो स्वय अपने को एक दीर्घ पूर्ववर्ती प्रकृति के परिणाम के रूप मे प्रकट करते हैं। परन्तु क्या ऐसा विश्व मनस् विचार का समतिपूर्ण विषय है? क्या हम इसे बहुत सीमा तक अपने जैसा ही विचार, उद्देश्य तथा अनुभूतियाँ प्रदान नहीं कर रहे हैं?

(२०३) हम लोग पहले ही बता चुके हैं (१९६ वे परिच्छेद म) कि पूर्ण सक्रिय मनस् किसी भी ऐसे मनस से गहन रूप से भिन्न होना चाहिए जो हमारे मानसो की तरह ही ग्रहणशील है और इसलिए अपने विषय के रूप मे जो कुछ प्राप्त करता है उस पर पूर्णतः निर्भर है। हम उन बिम्बो को पुन प्रस्तुत कर सकते हैं जो कभी हमारे सम्मुख उपस्थित हुए थे हमारे पास इस प्रकार के बिम्बो को गढने की कोई क्षमता नहीं है जिनका अनुभव मे कोई प्राक्रप नहीं है। (किसी ऐसे नवीन ऐन्द्रिय-सवेद्य की कल्पना का प्रयास एक अच्छा अभ्यास होगा जो ध्वनि तथा दृष्टि से उतना ही भिन्न है जितना ये दोनो एक दूसरे से भिन्न हैं। ह्यूम का विचार था कि इस दिशा मे, आविष्कार की हमारी शक्तियाँ किसी सवेदन की शृंखला के बीच म पडने वाली स्थितियो की कल्पना तक सीमित हैं। आधुनिक मूर्तिकला तथा वास्तुकला ऐसी विचित्र आकृतियो एव घुमावो का प्रयोग करती हैं जिनके विषय में कभी नही सुना गया परन्तु अधिकाश तथाकथित आविष्कार प्रदत्त सामग्री का अन्तिम सयोजन मात्र होता है।) किसी पूर्ण सक्रिय मनस् के लिए सभी बिम्ब मूल होंगे, [और] सृष्टि' शब्द उपयुक्त होगा। परन्तु क्या ऐसी सक्रिय सत्ता को 'मनस्' कहना उचित होगा, क्योंकि मनस् को हमने जो अर्थ दिया है वह बडी सीमा तक एक ओर तो इस बात से कि वह किसी विषय को ग्रहण करता है और दूसरे इस बात से कि जो लोग बडी सीमा तक अजानी हैं उनके चिन्तन के प्रयास के द्वारा निर्धारित होता है? अथवा क्या, रॉयस के शब्दो मे, यह कोई उद्देश्य हो सकता है, क्योंकि क्या 'उद्देश्य' इस बात की स्वीकृति नही है कि वह श्रेय जिसकी हम खोज करते हैं वर्तमान मे नहीं है, और कि हमे अपनी सीमित शक्तियो के कारण उसे प्राप्त करने मे विलम्ब होता है?

अत मानसिकता तथा व्यक्तित्व मे अनेक प्रकार की सीमाएँ निहित प्रतीत होती हैं, और यदि कोई व्यक्ति सीमित है तो यह बात व्याख्या की अपेक्षा रखती है, कारण या तो स्वय व्यक्ति मे निहित होगा अथवा किसी अन्य वस्तु मे। परन्तु यदि विश्व-मनस् एक यथार्थ सत्ता है तो, इसको सीमित करने वाला अन्य कुछ नहीं है ' इसके 'विचार करने' अथवा इसके 'उद्देश्य' का इसके अपने भीतर के अतिरिक्त अन्य कोई हेतु नही हो सकता। अत, विश्व-मनस् की प्रकृति पर जब हम चिन्तन करते हैं तो हम एक ऐसी सत्ता के विचार पर पहुँचते हैं, जो स्वय अपने को सीमित करती है, जिसका चरम स्वरूप असीमित अथवा अपरिमित है। ऐसी सत्ता के लिए 'मनस्' पद हमारी अपनी मानवीय आवश्यकता अर्थात् कल्पना को

---

* यदि सृजन का अर्थ शून्य में से किसी स्वतन्त्र भौतिक जगत् को अस्तित्व में लाना है तो [इस अर्थ में] प्रत्ययवाद मे कोई सृष्टि नहीं होती केवल अभिव्यक्ति होती है ईश्वर विषा सबधी यथार्थवाद के दृष्टिकोण के अनुसार यह एक घातक दोष है।

योग देने के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है—क्योंकि हम 'मनस्' को ही असीमित के सबसे अधिक निकट जानते हैं।

असीमित सत्ता के लिए पारिभाषिक संज्ञा 'दि एब्सोल्यूट' [परम निरपेक्ष] है। इस शब्द मे अन्तिमता की ध्वनि है जो अभिप्रेत है इसका प्रयोग प्रत्येक 'सापेक्ष' वस्तु के विरोध में, होता है, अर्थात्, प्रत्येक ऐसी वस्तु जो अपने स्वरूप के लिए इस या उस बाह्य अवस्था पर निर्भर होती है, जो किसी परिवेश से घिरी होती है, जो देश और काल म होती है और जिसका विशेष अस्तित्व सर्वदा बुद्धिशून्य तथा तथ्यात्मक होना है। विकास के प्रवाह में पिछली अवस्थाओं से जो कुछ भी उद्भूत हुआ है वह परिवर्तन के प्रवाह म है इसका स्थायित्व एव यथार्थ केवल 'सापेक्ष' है। अत परम को समस्त काल को अपने में सन्निविष्ट करना चाहिए, इसके पहले अथवा बाद मे कुछ भी नहीं हो सकता विकास एव इतिहास इसी के अन्तर्गत घटित होते हैं, स्वय इसका कोई इतिहास नहीं होता। यह कल्पना नही की जा सकती कि ऐसी सत्ता सवेगों से बाह्य घटनाओं के फलस्वरूप आन्तरिक उद्विग्नता से प्रभावित होती है वह न तो क्रुद्ध हो सकती है और न ही प्रशस्ति अथवा प्रार्थना से प्रसन्न होती है, और न ही ससीम प्राणियो के प्रति प्रेम के किसी उद्वेग से प्रभावित होती है, निश्चय ही वह ऐतिहासिक धर्म के ईश्वर से तादात्म्य नही रखती।

(२०४) एक और चरण हमारे लिए विश्व आत्म एक 'विषय है' जो हमसे भिन्न है। मेरे लिए यह 'अन्य आत्म है' तो क्या मैं भी इसके लिए 'अन्य आत्म हूँ'? यदि ऐसा है तो अभी भी यह एक सीमित सत्ता है यह मुझे छोड देता है। पुन यथार्थ सत्ता इस प्रकार की अपूर्णता को अपनी सीमितता के द्वारा ही स्वीकार कर सकती है मैं इसके लिए एक 'विषय' हो सकता हूँ परन्तु केवल उसके अपने कर्म के द्वारा मैं केवल उसी रूप मे एक स्वतन्त्र सत्ता हो सकता हूँ जिस रूप मे वह मेरी स्वतन्त्रता का स्वतन्त्र रूप से सकल्प करती है। क्योंकि यह मेरी सत्ता मे नहीं समा सकती इसलिए मुझे इसकी सत्ता के भीतर सम्मिलित होना होगा, मेरे अन्यत्व की सम्पूर्ण सीमा भी इसीके भीतर समा जायगी। सत् के अन्दर *विषयी एव विषय का एकीकरण होना चाहिए, क्योंकि दोनों ही परम एकत्व में* विद्यमान होते हैं।

परम के लिए, हम ससीम व्यक्तित्व मानसों के ऐसे समाज का रूप रखते हैं जिनसे यह अर्द्ध-सामाजिक सम्बन्ध रख सकता है, तो यह उस समाज को अपने मे उसी प्रकार समाविष्ट करेगा, जिस प्रकार मनोनिष्ठ प्रत्ययवादी को यह स्पष्ट हुआ कि उसके साथी भी वस्तुत 'उसके प्रत्यय' ही होने चाहिए। परम के लिए सर्वाहवाद सत्य होगा, यद्यपि हम, जो इसके अन्य आत्म हैं, उतने ही वास्तविक तथा स्वाधीन रहेंगे जितना हमे स्वय को प्रतीत होता है। इस प्रकार 'निरपेक्ष प्रत्ययवाद' मनोनिष्ठ एव वस्तुनिष्ठ प्रत्ययवाद के लक्षणों को एकत्व प्रदान करेगा यह उनका सश्लेषण होगा,—यद्यपि ऐसा करने के लिए इसको 'मानस' शब्द पर से अपने अधिकार को छोडने का खतरा मोल लेना होगा और इस प्रकार यह प्रत्ययवाद भी नहीं रह जायगा!

(२०५) इन विचारों का सामान्यीकरण इस रूप में किया जा सकता है जो शाब्दिक रूप से अत्यन्त सरल है

समस्त सीमित सत्ता सापेक्ष सत्ता होती है,

समस्त सापेक्ष सत्ता मे निरपेक्ष सत्ता निहित होती है।* इससे हम निम्नलिखित उप-सिद्धान्तों को निगमित कर सकते हैं।

समस्त आंशिक सत्ता (आंशिक सत्य, आंशिक शुभ को समाविष्ट करते हुए) में पूर्ण सत्ता, सत्य, शिव निहित होते हैं।

समस्त भ्रान्ति में सत्य की यथार्थता निहित होती है, समस्त अशिव मे शिव की यथार्थता निहित है।

समस्त विरोध तथा वैषम्य आंशिक दृष्टियां, आंशिक भ्रान्तियां हैं और इन्हें सत्ता की चरम एकता द्वारा अभिभूत किया जाना चाहिए।

(भिन्न पदों के मध्य) समस्त सम्बन्ध सम्बन्धित पदों की एकता को अन्तर्निहित करते हैं।

यदि इन सिद्धान्तो को जगत् की सरचना की रूपरेखा के निर्देश के रूप मे लिया जाए, तो हमे चिन्तन की एक ऐसी विधि प्राप्त हो जायगी जो समय पाकर हमे चरम सत्य पर पहुँचा देगी। हमे जो आंशिक सत्य प्राप्त है अनुभव के प्रवाह मे हम स्वयं उसे उसकी भ्रान्ति को उद्घाटित करने देंगे और इस प्रकार एक स्थिति से दूसरी स्थिति की ओर बढते हुए हम उस अवस्था पर पहुँच जाएँगे जिस तक प्रत्येक आरम्भ-बिन्दु ले जाता है। यह द्वन्द्वात्मक तर्कणा की सामान्य धारणा है जो हमे अनौपचारिक रूप से प्लेटो मे मिलती है, और जो हेगेल मे आकर उसके दार्शनिक तन्त्र का आधार बन जाती है।‡ परम सत्य, जो हमे इस यात्रा के अन्त में उपलब्ध होता है—और जिसकी अस्वीकृति मे इसकी स्वीकृति निहित है

'जब पख उडाते हैं मुझको
मैं स्वय पख ही होता हूँ'

उन आंशिक अन्तर्दृष्टियों को अस्वीकार नहीं करता जिन्होंने हमे इस तक पहुँचाया है : यह उन्हें समाविष्ट करती है, उनकी व्याख्या करती है और उन्हें यथास्थान रखती है। और हेगेल के लिए, परम सत्ता उस समस्त यात्रा को इसके विभिन्न सयोगों तथा भ्रान्तियों सहित

* किसी भी वस्तु के विषय म यह कहना कि अमुक वस्तु सापेक्ष है स्पष्टत एक अपूर्ण वाक्यांश का प्रयोग करना है यह किसी से' सापेक्ष है, जिस प्रकार गति का माप द्रष्टा की स्थिति एव गति स सापेक्ष होता है उस सापेक्षता क लिए वह सूत्र एक निरपेक्ष सूत्र होगा (यदि वह स्वयं किसी अन्य वस्तु से सापेक्षता न रखता हो जहाँ निर्देश पद सापेक्ष न रह जाए तब वह उस शृ खला का निरपेक्ष पद होगा)। सापेक्षता का पता केवल तभी चलेगा जब सम्बन्धित निरपेक्ष का पता चल जाएगा। सापेक्षता' का भौतिक सिद्धान्त एक ऐसे सूत्र को प्राप्त करने का प्रयास है जो सभी रूपान्तरणों के सदर्भ में सही बैठता है, अर्थात् जो एक निरपेक्ष सूत्र हो।

‡ आगे पृष्ठ और उसके आगे देखें।

समाविष्ट करती है क्योंकि वे भी सम्पूर्ण के महत्त्व एव गुण मे प्रविष्ट होते हैं यथार्थ समस्त प्रतीतियो को समाविष्ट करता है। जिन्हे भव प्रतीतियो के रूप मे जान लिया जाता है वे अब भ्रमोत्पादक नही रहतीं।

(२०६) मैं कह चुका हूँ कि ये सिद्धान्त शाब्दिक रूप मे सरल हैं। ये सरल होते हैं, परन्तु ये अपनी अत्यधिक अमूर्तता के कारण मनस् को उद्वेलित कर देते हैं। ये अन्तिमता की ओर ले जाते प्रतीत होते हैं, और जिज्ञासु के मन मे इस प्रकार की धारणा उत्पन्न करते हैं कि उसने परम को प्राप्त कर लिया है क्योंकि, क्या परम प्रत्येक सापेक्ष म निहित नहीं है, और क्या व्यक्ति के सम्मुख सापेक्ष नहीं होता ? कम से कम हमें यह विश्वास है कि कोई निरपेक्ष सत्य है, और कोई परम सत्ता है, इसमे सभी सघर्ष समाप्त हो जाते हैं, प्रत्येक प्रत्यक्ष कुरूपता सौन्दर्य मे अन्तर्भूत हो जाती है, प्रत्येक अशिव तथा दोष पूर्ण विजय के इतिहास मे घटनाओ के रूप मे प्रविष्ट हो जाते हैं। मनस् की इस अवस्था मे, पूर्णता का आकार मात्र उसके तत्व का रूप ग्रहण कर लेता है, और ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्णत्व के सिद्धान्त के प्रत्यक्ष द्वारा आत्मा भी विमोहित होकर लक्ष्य को प्राप्त करने के परिश्रम से मुक्ति प्राप्त कर लेती है।

क्या इन सिद्धान्तो की सरलता मे ही कोई ऊपरी आकर्षण नहीं है ? उनकी वृहद् सामान्यता म क्या इस ग्रन्थियुक्त वास्तविक विश्व के कतिपय तारतम्यात्मक लक्षणों की उपेक्षा नही हो जाती ?

(२०७) क्योंकि मानव जाति के लिए अन्तिमता के विचार मात्र मनोवैज्ञानिक रूप मे हानिप्रद हैं, [अत] उस काल ने जिसमे परम तत्व के विचार को बहुत प्रश्रय मिला एक ऐसे युग को निमन्त्रित किया जिसमे स्वय परम तत्व की सरलता की खिल्ली उडाई गई। ऐसा लगता था कि सर्व-एक तत्व का आदर्श अजेय है, और उस पर आक्रमण के लिए यदि दु साहसी नहीं तो किसी साहसी व्यक्ति की शक्ति की अपेक्षा थी। इस क्रान्ति का नेतृत्व करने के लिए विलियम जेम्स योग्य व्यक्ति था।* (वैराइटीज़ ऑव रिलीजियस एक्स-पीरियन्स [धार्मिक अनुभव की विविधताएँ] के १७ वें से २० वें भाषण तक [एव] ए प्लुरॅलिस्टिक यूनिवर्स [एक बहुत्ववादी विश्व] नामक पुस्तक से तुलना कीजिए)।

परम तत्व के विरुद्ध उसकी सहज आपत्ति इस बात पर आधारित थी कि परम जगत् की ससीम तथा व्यष्टि सत्ताओ की स्वाधीनता तथा स्वतन्त्रता को निगलता हुआ प्रतीत होता है। वह इस बात मे सदेह करता है कि जगत् का प्रत्येक तथ्य दूसरे प्रत्येक तथ्य से इतने घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है कि इसकी सत्ता अन्तत हमे परम की ओर ले जाती है। जगत् मे जो सम्बद्धता दीख पडती है वह शिथिल है कोई भी तन्तु हमे अन्त तक नही ले

---

* उसका स्वभाव इस घटना से पता चलता है एक बार जेम्स और रॉयस यह दोनों दार्शनिक चोकोरुआ में किसी शिलाखण्ड पर बैठे थे और जेम्स की पुत्री इन दोनों की तस्वीर खींच रही थी उस समय जेम्स ने मीठी चुटकी लेते हुए कहा "रॉयस ! मैं कहता हूँ सामने देखो, परम को भाड में झोंको।"

जाता। जगत् मे कार्य कारण सम्बन्ध, निर्धारण तथा व्यवस्थित अन्योन्याश्रित सम्बन्ध हैं, इसका अर्थ यही है कि इसमे अव्यवस्था नहीं है परन्तु यह पूर्ण रूप से कार्य कारण सबध द्वारा आबद्ध नही है और न ही *यह पूर्ण रूप से निर्धारित है, यह 'जड विश्व'* [ब्लाक यूनिवर्स] नही है, इसमे नवीनता [नव परिवर्तन], स्वतन्त्रता तथा मौलिक प्रारम्भ के लिए स्थान है। अपने सभी व्यवस्थापनो के लिए हमे कहना पड़ेगा "अभी भी *पूर्ण नहीं !"*

काल तथा परिवर्तन की यथार्थता को परम तत्त्व जोखिम मे डाल देता है क्योकि यह अपनी एक ही दृष्टि मे भविष्य को भूतकाल के साथ, समस्त काल को आवेष्टित कर लेता है। *यदि भविष्य को भी वर्तमान के साथ देखा जा सके, तो भविष्य भविष्य नहीं रह जाता* और हमारी सकल्पेच्छाओं के प्रति इसकी अधीनता नष्ट हो जाती है, और इसीलिए स्वतन्त्रता भी विलुप्त हो जाती है।

इस प्रकार का जगत् अत्यन्त सुरक्षित होता है : इसके सकट तथा साहसिक कार्य पूर्व-निर्धारित रूप मे समाप्त हो जाते है, और सबका योग चरम विश्रान्ति एव सुरक्षा है,— कोई भी खतरा वास्तविक नही है।

दूसरी ओर, *परम तत्त्व इस अर्थ मे निष्फल है कि इससे हम इस विषय मे कोई अनुमान* नहीं लगा सकते कि क्या होने वाला है। समस्त अतीत काल मे इसकी सत्ता, सवेदनशील ससीम प्राणियो के दुःखों एव विपत्तियों से सगत रही है, और जहाँ तक हम देख सकते हैं, यह भविष्य मे भी उनके अनुकूल रह सकता है। यह केवल अनुदर्शी रूप से क्रिया करता है। और ऐसा होने पर भी, यह हमारे लिए अशुभ को शुभ मे बदलने के लिए कार्य नहीं करता क्योकि न तो हमे निरपेक्ष दृष्टिकोण प्राप्त हुआ है और न हो सकता है।

(२०८) *क्योंकि परम तत्त्व का धर्म के ईश्वर से तादात्म्य नहीं होता,* अत कहीं ऐसा तो नही है कि किसी तार्किक आदर्श को ऐसी सत्ता पर अनुचित रूप से थोप दिया गया हो जो इतनी समृद्ध है कि वह इस आदर्श मे नही बध पाये ? वर्गीकृत ज्ञान के क्रम में प्रत्येक प्रश्न की परिभाषा क्रमश *उच्चतर जाति के पदो द्वारा दी जाती है,* और इस प्रकार *अन्तत* सभी कुछ पूर्ण के द्वारा परिभाषित किया जाता है। परन्तु सत्ता सर्वदा ज्ञान का अतिक्रमण करती है। परम तत्त्व का त्याग और एक ऐसे ईश्वर की ओर लौटना हमारी बौद्धिक, सौन्दर्यपरक तथा नैतिक सहज अनुभूतियों के सपूर्ण क्षेत्र के साथ अधिक न्यायसगत हो सकता है। एक ऐसे ईश्वर की ओर लौटना जिसे सपूर्ण नही माना जाता है, जो अशिव से पृथक् और उसका विरोधी है, जो एक ऐसे सघर्ष मे सभव भागीदार है जिसका परिणाम पूर्व निर्धारित नही है, और जिसमे हमारा भाग लेना वास्तव मे कोई अन्तर ला सकता है, अर्थात् जो एक ससीम ईश्वर है।

क्योकि अन्तत, ससीमता के लिए यह सदा ही क्यो आवश्यक हो कि वह अपनी व्याख्या दे ? हमारे चारों ओर जो कुछ है वह सीमित, बद्ध, अपने आसपास की वस्तुओ मे भी आशिक रूप से अन्तर्भूत, आशिक रूप से सतुष्ट और अपनी सीमित सत्ता मे ही पूर्ण होता है। यह तथ्यात्मक है, और वह है : वह स्वय को स्वीकार करता है, [हमे चाहिए कि] हम

इसे स्वीकार करें और इसके अस्तित्व को पूर्ण तक ले जाने या जो कृत्रिम उत्तरदायित्व है उसका त्याग करें।

(२०६) जेम्स का विद्रोह अंशतः स्वभावगत प्रतिक्रिया है, और उस सबके प्रति विस्मरणशील है जो इस प्रकार की कठिनाइयों को दृष्टि में रखकर ही परम तत्त्ववादियों और विशेषतः रॉयस* द्वारा लिखा गया है। परन्तु उसने सहृदय प्रवर्तक का कार्य किया है, निरपेक्षतावाद के आवरण के नीचे जो सुगुप्त असन्तोष है उसे उसने अनावृत कर दिया, उसने पुनरावृत्त बहुत्ववाद तथा ससीमतावाद की रुकी हुई धारा को निर्मुक्त किया, स्वतन्त्रता तथा काल की यथार्थता (बर्गसा) की पुनर्भिव्यक्ति को प्रोत्साहन दिया है, और यदि वह 'नव्य-यथार्थवाद' का, जिसके सम्बन्ध में शीघ्र विचार करेंगे, नहीं तो कम से कम इसके जन्म में उसने अवश्य योगदान किया है।

इसी बीच परम तत्त्व के अध्यारोपण [इनडिक्टमैण्ट] के सम्बन्ध में कुछ टिप्पणियाँ

(२१०) (i) यह प्रत्ययवाद पर नहीं अपितु एकत्ववाद पर अध्यारोपण है। यदि यह अध्यारोपण किया जाना सम्भव है तो यह पारमनीडीज, स्पिनोजा, प्लोटिनस, तथा फॉयरबॉख के एकत्ववाद पर समान रूप से प्रयुक्त होता है, और इनमें से कोई भी प्रत्ययवादी नहीं है। निरपेक्षतावाद पर यह उसी सीमा तक प्रयुक्त होता है, जिस सीमा तक यह निरपेक्षतावाद है, उसके आदर्शवादी पक्ष पर यह प्रयुक्त नहीं होगा। इसी कारण, 'निरपेक्ष प्रत्ययवाद' को मैंने प्रत्ययवाद के विशिष्ट प्रकार के रूप में नहीं माना है।

(२११) (ii) तथ्यों से असम्बद्धता और साथ ही साथ किसी अंश तक सम्बद्धता की माँग में उक्त तर्क उचित प्रतीत होता है। जगत् में शिथिल सन्धियाँ हैं, और सम्बन्धों के सूत्र हैं जो चूक जाते हैं। जगत् में नैतिक क्रम का अभाव भी है, ऐसा न हो तो विस्मृति एवं क्षमाशीलता असम्भव हो जाएँ और सम्पूर्ण नैतिक परिप्रेक्ष्य वक्रीकृत हो जाएँ। परमवाद के प्रस्तावक यह देखने में असफल हो गए हैं कि जगत् के यह दोनों लक्षण ही प्रामाणिक हो सकते हैं। कोई जहाज घाट पर है और फिर वही समुद्र के बीच में है दोनों स्थितियों में यह वही जहाज है और वही घाट है—उनके आपसी सम्बन्ध आकस्मिक हैं आन्तरिक नहीं। व्यापक के प्रयोजन को दृष्टि में रखते हुए जहाजों से घाटों के सम्बन्ध में और घाटों से जहाजों के सम्बन्ध (आन्तरिक सम्बन्ध) में विचार किया जा सकता है, परन्तु कोई भी व्यक्ति घाट से उस जहाज के सम्बन्ध में विचार नहीं कर सकता और न ही जहाज से उस घाट के विषय में जगत् की समस्त अनियन्त्रित गति, यात्रा, जगत में इस प्रकार की असम्बद्धता (बाह्य सम्बन्ध) पूर्वकल्पित होती है। दूसरी ओर सूक्ष्म खरोंचों एवं बिखरी हुई वस्तुओं से कोई चतुर जासूस यह अनुमान करने में समर्थ हो सकता है कि कौनसा विशेष जहाज किस विशेष घाट पर बाँधा गया था यहाँ पूर्ण अनाश्रय नहीं है। अभी-अभी यह

---

* जोशिया रॉयस का मुख्य ग्रन्थ 'दं वर्ल्ड एण्ड दि इन्डीवीजुअल' (१९००–१९०१), जैसा कि इसका शीर्षक इंगित करता है, परम निरपेक्ष सत्ता के जगत् में व्यक्तिगत जीवन तथा स्वतन्त्रता के यथार्थ को दिखाने का प्रयास करता है।

मानना पड़ेगा कि एक खण्ड अन्य खण्ड से अनन्त एवं आधारभूत रूप मे प्रभावित होता है, ऐसी घटनाएँ नही होनी जिनके अवशेष नहीं रहते, चिह्नों से रहित घटनाएँ, पूर्ण हैं। स्वाधीनता तथा पूर्णता दोनो को मानना होगा।

(२१२) (iii) परन्तु परम तत्व के विरुद्ध आक्षेप करना उतना ही निरर्थक है जितना यथार्थ के विरुद्ध आक्षेप करना ये पद एक ही सत्ता की ओर सकेत करते हैं क्योंकि यदि परम तत्व यथार्थ नहीं है तो वह परम तत्व नहीं है, और जब तक यथार्थ परम तत्व (अर्थात् स्वाधीन) न हो तब तक वह यथार्थ नही है। 'परम तत्त्व' किसी अपरिहार्य समस्या के अप्राप्य समाधान का केवल एक नाम है यदि जगत् म कोई परतन्त्र प्राणी है (और ऐसे प्राणी हैं), तो वह किसी पर अर्थात् किसी स्वतन्त्र सत्ता पर निभर होता है। यदि 'परम तत्व' शब्द आक्रामक हो तो आप उस अज्ञात राशि को 'क' कह सकते हैं। निरपेक्षतावादी को यह स्मरण दिलाना पर्याप्त है कि उसका यह पद तत्त्वमीमासीय समस्या का समाधान नहीं है अपितु समाधान के लिए मात्र स्थल है। परन्तु 'क' की अवधारणा का उन्मूलन स्वय तत्वमीमासात्मक अन्वीक्षा के उन्मूलन के द्वारा ही सम्भव है।*

अब हम उन आलोचनाओं की ओर उन्मुख होते हैं जो प्रत्ययवादी स्थिति से अधिक प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध हैं।

▫▫▫

* शायद सत्य के इस अत्यन्त अस्पष्ट भान के माध्यम से, शब्द एव आकार के पुजारियों अर्थात् 'ऐन्द्रिय प्रत्यक्षवादियों' का अधुनातन सम्प्रदाय अर्थ को ऐसी परिभाषा देता है जिससे तत्त्वमीमांसीय अन्वीक्षा को समाप्त किया जा सके क्योंकि तब अन्वीक्षा निरर्थक हो जाती है। यह सरल सी चाल है, परन्तु यह अनेक असावधान व्यक्तियों को भुलावे में डाल देती है खासतौर से उन लोगों को जो किन्ही अन्य कारणों से तत्त्वमीमांसा (अथवा तत्त्वमीमांसकों) के प्रति अरुचि रखते हैं।

अध्याय ३०

यथार्थवाद

(२१३) आधुनिक प्रत्ययवाद विचार का एक विशाल तन्त्र बन गया है। इसके सिद्धान्तों को जीवन के प्रत्येक विभाग, इतिहास, कला, धर्म, राजनीति तथा विधि पर प्रयुक्त किया गया है। परन्तु एव टॉमस एक्वीनम के पश्चात् सभी तन्त्र निर्माण कर्ताओं मे महानतम प्रत्ययवादी हेगेल (१७७०–१८३१) था। इतिहास-दर्शन पर उसके भाषण (जो उसके विचारों का सर्वोत्तम एव पठनीय परिचय है) तथा कला दर्शन, विधि दर्शन, धर्म दर्शन पर भाषणों ने न केवल इन विशिष्ट क्षेत्रों मे आगे आने वाले चिन्तन को प्रभावित ही किया अपितु वे विचार की असमाप्य निधि भी हैं (जो दुरूह पारिभाषिक शब्दावली मे सरक्षित है।) अशत यह प्रभाव प्रबल प्रतिक्रियाओं मे निहित था। काल मार्क्स ने, जो हेगेल का छात्र था, उसकी द्वन्द्वात्मक पद्धति को स्वीकार तो किया, परन्तु उसका प्रयोग उसने इतिहास की जडवादी अवधारणा पर किया।* यह अभी भी सत्य है कि प्रत्ययवादी परपरा का सपूर्ण बल तभी महसूस किया जा सकता है जब अध्येता ने इसके सिद्धान्तों का इन दिशाओं मे से एक या अधिक का अनुगमन किया हो।

जर्मनी के प्रत्ययवादी विचारको की प्रतिष्ठा तथा बर्कले के प्रभाव ने साथ मिलकर नवीन ज्योति को प्रज्वलित किया यथा इगलैण्ड मे कोलरिज तथा कार्लाइल, दोनो केयर्डों टी. एच. ग्रीन, एफ एच ब्रेडले, बरनार्ड बोसाके मे, अमेरिका मे कोलरिज के माध्यम से ऐमर्सन, दर्शन का सन्त लुइ स्कूल, जेम्स तथा रॉयस मे, फ्रान्स मे विक्टर कूजै, लैकेलियर, रैनूवीयर तथा दूसरों मे, इटली मे क्रोचे तथा जैन्टीली मे।

कभी कभी प्रत्ययवाद स्वय दर्शन के लिए एक अन्य नाम के रूप में प्रकट हुआ है। क्योंकि जगत् को समझने के लिए दर्शन को यह मानना आवश्यक है कि जगत् बोधगम्य है, कि विचार प्रकृति के अपारदर्शी पर्दे मे प्रवेश कर सकता है—और इसका अर्थ यह है कि वह यथार्थ जो प्रकृति की व्याख्या करता है, स्वय अपारदर्शी नहीं है, अपितु उसे विचार द्वारा उसी प्रकार समझा जा सकता है जिस प्रकार विचार अपने द्वारा समझा जा सकता है। इस प्रकार प्रत्ययवाद मानवीय आकाक्षा के इस मूलभूत विश्वास का केवल एक दार्शनिक रूप होगा कि जबकि "जो वस्तुएँ देखी जाती हैं वे अस्थायी होती हैं' वह यथार्थ जो अगोचर है और जो उन वस्तुओं को अनुप्राणित करता है, शाश्वत एव बोधगम्य दोनों है।

---

* मार्क्स एण्ड ऐन्जल्स, 'कम्यूनिस्ट मैनीफ़ैस्टो' [साम्यवादी घोषणापत्र]. ऐन्जेल्स, एफ 'ऑरिजिन ऑव फ़ैमिली एण्ड स्टेट [कुटुम्ब एवं राज्य का उद्भव] ल्युडविग फॉयरबाख।

परन्तु किसी भी दर्शन के लिए यह खतरनाक स्थिति है कि वह सचेत रूप मे दर्शन मात्र से अभिन्न मान लिया जाय अर्थात् रूढ़िवादी परम्परा मे परिणत हो जाए। क्योंकि जब यह मानने की परम्परा बन जाती है कि किसी दर्शन को स्थापित किया जा चुका है तब उस युग की चेतना जो आदतन उसे स्वीकार कर लेती है किसी नये दर्शन को प्रस्तुत नही करती अपितु (जे एच मिल के शब्दो मे) "एक और पूर्वाग्रह" को अपना लेती है। प्रत्यय-वाद के स्वास्थ्य के लिए यह ठीक रहा कि दूसरी ओर प्रकृतिवाद भी अधिक चौडी अथवा सँकरी धाराओ के रूप में सदा इसके साथ-साथ रहा, और अत्यधुनातन वर्षों मे दो अन्य प्रतिद्वन्द्वियो—यथार्थवाद तथा रहस्यवाद—ने जीवन का नया पट्टा ले लिया है। ये दोनो, जो परस्पर बहुत विरुद्ध समझे जाते हैं, मूलतः भिन्न प्रणालियो द्वारा प्रत्ययवाद मे संशोधन करने का प्रस्ताव करते है।

(२१४) मनस् की सामान्य मन. स्थिति के रूप मे, यथार्थवाद वस्तुओं के विषय मे हमारे निर्णयों से हमे तथा हमारी अभिरुचियों को अलग रखने तथा, वस्तुओ को अपनी कहानी कहने की स्वतन्त्रता देने की मनोवृत्ति है। यदि प्रत्ययवाद के लिए यह कहा जाय कि इसका स्वभाव प्रकृति मे मनस् को देखने का है, तो इस पक्ष से यथार्थवाद इसके पूर्णरूप से विपरीत है। प्रत्येक विषय को इसकी सम्पूर्ण विशिष्ट सुवास प्रदान करने के हेतु यथार्थवाद जगत् का निर्वैयक्तिकरण तथा निर्मानसीकरण करने, तथा ऐसी दृष्टि से वस्तुओं को अनन्य तथा तथ्यात्मक रूप मे देखने की ओर प्रवृत्त होता है, जिसे यह प्रत्ययवाद की तुलना में एक साथ अधिक वस्तुनिष्ठ तथा अधिक वैज्ञानिक मानता है।

यह सभव है कि यथार्थवादी प्रत्ययवाद मे मानवीय मिथ्याभिमान के कुछ अंश का अनुभव करें, मानो यह (प्रत्ययवाद) मनुष्य को "समस्त वस्तुओ का मानदण्ड" बना देता हो। श्रीमन् सन्तायना ने जर्मनी के प्रत्ययवाद के 'अहवाद' को प्रावबित आत्म के रूप मे विचित्र रूप से विश्व की व्याख्या देने के कारण खरोंचा है। यथार्थवादी मनस् को जगत् के अंश के रूप मे देखता है; अधिक सभव है एक गौण अंश के रूप मे जिसका विवेक की ओर प्रथम चरण अपने स्थान को बनाये रखने को सीखने मे निहित है।*

(यथार्थवाद ऐसा शब्द है जिसे बहुधा साहित्य तथा कला की प्रवृत्तियो, और राजनीति की कतिपय मोह दूर करने वाली अथवा मोहरहित नीतियों पर प्रयुक्त किया जाता है। दर्शन मे जिसे यथार्थवाद कहते हैं उसमें तथा इन प्रवृत्तियों मे कुछ समानता है, परन्तु बहुत अधिक नहीं। इन बातो मे सभी यथार्थवादों की दृष्टि में समानता है : उनकी रुचि विषयों के उसी रूप मे है जैसे कि वे हैं, उनका यह आत्मविश्वास कि हम विषयों को उसी रूप मे देख सकते हैं जैसे वे हैं, और प्रत्येक ऐसे मनोवेग से जो तथ्य के स्थान पर हमारी इच्छाओं अथवा

* इस विषय में यथार्थवाद प्रकृतिवाद के स्वभाव वाला है। प्रोफ़ेसर अरविन एडमैन द्वारा इसकी स्थिति को भलीभांति घोषित किया गया है : 'चिन्तन किसी अशांत जीव द्वारा अनिश्चित एवं परिवर्तनशील परिवेश में बहुत देर से प्राप्त की गई उपलब्धि है'—विश्व की चिन्तन द्वारा व्याख्या देने का अर्थ है मानो अन्तिम कड़ी यह सोचने लगे कि जिस शृंखला की वह अंतिम कड़ी है वही उसका निर्माण करने वाला भी है। फ़ोर वेज ऑव फिलॉसोफि [दर्शन की चार प्रणालियाँ], पृ. ८६।

आदर्शों को रख देता है, अथवा अन्यथा विश्व में हमारे चेतन आत्म को महत्त्वपूर्ण केन्द्र बनाने के प्रति उसका बैर। उदाहरण के लिए, कला में प्रत्ययवाद इस बात पर बल देता है कि विषय का तत्त्व इसका अर्थ अथवा आत्म है, और यह कि कला का कार्य इसी गुण को व्यक्त करता है। यह सम्भव है कि चित्रांकन में वस्तुचित्रण की अनुरूपता पर यह कम बल दे। यथार्थवाद का बल इस बात पर है कि एक एक बात पर ध्यान दिया जाय। वस्तुतः वह कोमल भावनाओं अथवा अभिरुचियों को आघात पहुँचाने में अतिरिक्त रूप में सक्रिय हो जाता है यदि उसे यह शंका हो जाती है कि वे हमारी दृष्टि से तथ्यों की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कुरूपता को ओझल करने का प्रयास कर रही हैं। इसी प्रकार दर्शन में, यथार्थवाद उस प्रकार की प्रवृत्ति के विरुद्ध सशंक रहता है जो जगत् के तत्त्व से अत्यन्त घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध होने की आशा रखती है और वस्तुओं की वास्तविकता के समीपतम पहुँचने में सावधानीपूर्ण, सूक्ष्म, निष्पक्ष एवं निर्भीक विश्लेषण की आवश्यकता पर बल देता है। वह तथ्यों एवं विचारणा को प्रारम्भिक बिन्दु मानता है और विश्वासों को उनकी उपयोगिता के आधार पर चुनने के स्थान पर जगत् के इस प्रकार अपरीक्षित रूप को उसके वाछित रूप से बहुत भिन्न पाने के लिए तत्पर रहता है।

यहाँ तक, विभिन्न यथार्थवाद सहमत हैं, परन्तु मनःस्थिति की इस सामान्य समरूपता को छोड़कर, वे विभिन्न मार्गों का अनुगमन करते हैं। दर्शन में किसी यथार्थवादी के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह मैकियावेली अथवा श्रीमन् चैम्बरलेन की राजनीति का अनुगमन करने वाला हो। भ्रान्ति से बचने के लिए प्रारम्भ में ही विद्यार्थी को दर्शन के संदर्भ में यथार्थवाद पर सोचते हुए कला अथवा राजनीति के यथार्थवाद को भुला देना अच्छा होगा।

(२१५) स्पष्टतः यथार्थवाद की यह सामान्य वृत्ति अपने आप में दर्शन का एक प्रकार होने के लिए पर्याप्त नहीं है। अपने को अथवा अपनी इच्छाओं को तथ्यों पर लादे बिना, उनको स्वयं को बोलने देना एक ऐसी मनोवृत्ति है जिसके लिए हम सभी को प्रयास करना होगा (और जिसका अनुभववाद विशेष रूप से पोषण करता है)। अतः यह एक प्रकार का ऐसा बौद्धिक गुण है जिसके लिए कोई भी व्यक्ति स्वेच्छा से यह स्वीकार नहीं करेगा कि वह उससे विहीन है, और इस सीमा तक प्रत्येक व्यक्ति एक प्रकार से यथार्थवादी है।

निश्चय ही मात्रा के भेद होते हैं। उदाहरण के लिए, प्लेटो की तुलना में अरस्तू अधिक यथार्थवादी है। वह कटिबद्ध है, और निरीक्षणकर्ता अधिक। वह विशेष रुचि के साथ तथ्यों का आश्रय लेता है जिसकी प्लेटो में कमी है। वह पृथक् वस्तुओं की विशिष्टता का आनन्द लेता है जगत् में वस्तु के विभिन्न प्रकारों के अध्ययन में तथा उन भिन्न प्रकारों के नियमों को सीखने में, जिनका ये वस्तुएँ पालन करती हैं, वह रुचि लेता है, वह उन व्यापक सामान्य सिद्धान्तों के लिए कम तत्परता से दौड़ता है जो विश्व में समाविष्ट हैं। वह दूसरे स्तर के सिद्धान्तों तथा आंशिक सामान्यताओं के महत्त्व को समझता है। संक्षेप में अरस्तू पर्याप्त सीमा तक एक वैज्ञानिक और साथ ही एक दार्शनिक भी है, वह उन सीमान्त क्षेत्रों में आनन्दपूर्वक रहता है जहाँ विज्ञान तथा दर्शन मिलते हैं। इसी के कारण वह विज्ञानों का महान् विभाजक बन गया है और उसने यान्त्रिकी, खगोल-

विद्या, वनस्पति-विज्ञान, नैतिकी, राजनीति, अलंकारशास्त्र, तर्कशास्त्र तत्त्वमीमांसा पर स्वतन्त्र प्रबन्ध [ट्रीटाइस] लिखे हैं। यूनानियों में वह श्रेष्ठ तन्त्र-निर्माता [सिस्टम मेकर] है, जो महत्त्वपूर्ण भेदों से हर्षित होता है और जब वह वस्तुओं में व्यक्त होता है तो उस समय वह स्वयं को एवं 'मनस्' को उस वर्णन से बाहर रखने में समर्थ रहता है।

(२१६) परन्तु क्या प्लेटो एवं अरस्तू के बीच इस मन स्थिति के वैपरीत्य के आधार में सिद्धान्त का कोई ऐसा भेद है जिसका उद्घाटन होना चाहिए? इस प्रकार की विषमताओं में कम से कम, भिन्न प्रकार के दर्शनों के बीज निहित रहते हैं।

सिद्धान्त की बात यह हो सकती है : अरस्तू वस्तुओं की विशिष्टता एवं भेद को जगत् के एक यथार्थ तथा महत्त्वपूर्ण लक्षण के रूप में ग्रहण करता है, जबकि प्लेटो के लिए प्रकार-लक्षण (अथवा 'प्रत्यय')—जो अनेक वस्तुओं में उनके आदर्श के रूप में सामान्य हैं—इन वस्तुओं के विषय में वास्तविक तथा महत्त्वपूर्ण बात है। प्रकृति की उन वस्तुओं पर, उन्हीं के लिए विचार करने में, जो अधिकांश में एक दूसरी से स्वतन्त्र हैं, तथा उतनी ही निरीक्षणकर्त्ता मनस् से स्वतन्त्र है, अरस्तू स्वयं को सक्षम पाता है—वस्तुतः उसे ऐसा नहीं लगता कि वह इस चर्चा में मनस् को भी घसीटे। समान जाति अथवा वर्ग की वस्तुएँ जिनका वर्णन प्लेटो एक ही प्रत्यय में सहभागी होने के रूप में करेगा, अरस्तू उनका वर्णन करते हुए कहेगा कि वे समान 'आकार' [फार्म] लिए हुए हैं : इस प्रकार वह इस सुझाव का परिहार कर देता है कि किसी सामान्य लक्षण का स्वयं में ही अस्तित्व हो सकता है—आकार तभी यथार्थ होता है जब वह मूर्त रूप ग्रहण करता है। निश्चय ही, आकारों का ग्रहण मनस् द्वारा होना है : परन्तु वे अपने अस्तित्व के लिए मनस् पर निर्भर नहीं होते। उनकी प्रथम सत्ता वस्तुओं में होती है, मनस् द्वारा उनका ग्रहण उसके पश्चात् होता है। स्वयं मनस् [के लिए यह] कोई सर्वव्याप्त वस्तु नहीं है परन्तु उन अनेक वस्तुओं में से एक है जिनसे मिलकर जगत् का निर्माण होता है और वस्तुओं तथा मनस् पर स्वतन्त्र रूप से विचार कर पाने के कारण अरस्तू यह न्यायोचित समझता है, कि उन्हें पृथक् [होने योग्य] सत्ताओं के रूप में माना जाय, और वह उन सभी को 'द्रव्य' की संज्ञा देता है।

यह विशेषता किसी दर्शन का प्रमुख लक्षण बन सकती है (अरस्तू के दर्शन में ऐसा नहीं होता)। फलतः वह एक विशिष्ट 'यथार्थवाद' है।*

हम कह सकते हैं कि यथार्थवाद (१) मुख्य रूप से जानने की एक प्रणाली है, जो बुद्धिवाद का एक ऐसा रूपान्तर है जिसका स्थूल रूप में उस बुद्धि में अधिमान्य [वरणात्मक] आत्मविश्वास के रूप में वर्णन किया जा सकता है जो विश्लेषण एवं विच्छेदन करती है, वस्तुओं में विभेदन की रेखाओं को तथा इकाइयों को लक्ष्य करती है, और जानने की इस प्रणाली में (२) यह तत्त्वमीमांसीय विश्वास निहित है कि जिन विषयों को हम देखते हैं वे ठीक उसी रूप में जैसे वे प्रकट होते हैं हमसे वास्तव में स्वतन्त्र हैं, और एक

---

* दर्शन में यथार्थवाद के अनेक प्रकार के भ्रान्तिजनक अर्थ हैं। हम इनमें से एक को लेकर चलेंगे।

दूसरे से भी [स्वतन्त्र हैं] । इसके सिद्धान्तों का हम इस वाक्यांश में संक्षिप्तीकरण कर सकते हैं, जो पृथक् दिखाई देता है वह पृथक् है ।

इस प्रकार, यथार्थवादी दृष्टि के लिए, जगत् के जोड़ ढीले पड़ जाते हैं । वस्तुओं की समग्रता को एक ही केन्द्र-बिन्दु से वर्णन करने के प्रयास को चाहे वह जड़ हो, मानसिक हो अथवा कोई अन्य, कृत्रिम तथा अनावश्यक चमत्कार मानकर छोड़ दिया जाता है । सभी एकत्ववाद निष्कर्षों पर पहुँचने की जल्दी में रहते हैं । हमें बुद्धि में निष्ठा रखनी ही पड़ती है परन्तु जब बुद्धि 'एकता खोजती है' (१०८ वां परिच्छेद), तो हममें जो यथार्थवादी पहरेदार है वह खतरे को सूंघ लेता है,—यह निश्चित है कि एकता की मानवीय इच्छा तथ्यों को झूठा कर देगी । साधारण प्रत्यक्ष जगत् को किसी एक वस्तु के रूप में नहीं (और न ही दो वस्तुओं के रूप में,—यद्यपि द्वैतवाद की स्पष्टतः यथार्थवादी प्रेरणा है), अपितु अनेक प्रकार की अनेक वस्तुओं के रूप में प्रस्तुत करता है और जबकि यह सत्य है कि एक अधिक गहन वैज्ञानिक निरीक्षण इन वस्तुओं को अनेक रूपों में सम्बद्ध दिखाता है, तो भी सम्बन्ध तथा एकता के बीच एक मौलिक भेद है । जगत् के अवयव, जिनमें प्रत्येक की द्रव्य रूपी सत्ता है, बिना किसी एक द्रव्य से अनुगमित हुए अथवा उसमें मिले साथ-साथ कार्यरत हैं ।

(२१७) आधुनिक प्रत्ययवाद के आगमन से पूर्व, यथार्थवाद की यह सरल अवस्था प्रचलित दार्शनिक अभिवृत्ति थी । ईश्वर में विश्वास के साथ यह तब तक पूर्णतः संगत थी, जब तक ईश्वर को समग्र विश्व के रूप में नहीं सोचा गया, अपितु उसे केवल ऐसी सर्वश्रेष्ठ सत्ता के रूप में माना गया जिससे हमें प्रकृति तथा मनुष्यों के उस जगत् को जिसमें प्रमुखतः पृथक्करणीय सत्ताएँ हैं अलग करना चाहिए । इस प्रकार अरस्तू ने ईश्वर को 'अन्तिम कारण', एक शाश्वत आत्मावलोकन करने वाली बुद्धि के रूप में माना, जो जगत् का सृजन नहीं करती परन्तु जिसकी ओर, शुभत्व के तत्त्व-रूप में, अरूप सामग्री से निस्सरित जगत् की समस्त वस्तुएँ बढ़ती हैं ।

टॉमस एक्वीनास (१२२७–७४), महान् स्कोलिस्टिक तथा विचारों का व्यवस्थापक जिसने अरस्तू की तत्त्वमीमांसा तथा ईसाइयों के ईश्वर विज्ञान को एक वृहत् संश्लेषण में समन्वित किया, अधिक संगत रूप में यथार्थवादी था । ईश्वर जगत् की सृष्टि करता है, परन्तु ईश्वर वह जगत् नहीं है जिसकी उसने सृष्टि की और न ही अधिक सुनिश्चित रूप में जगत् को वह अपने में सन्निविष्ट करता है । प्रत्येक की स्वतन्त्र रूप में बिना दूसरे की ओर संकेत के कल्पना की जा सकती है और उसका अध्ययन किया जा सकता है । ईश्वर तथा जगत् के बीच का सम्बन्ध विचारक तथा विचार जैसा नहीं है, अपितु एक मूल द्रव्य तथा उससे व्युत्पादित परन्तु पृथक् द्रव्य अथवा द्रव्यों के समूह के बीच सम्बन्ध जैसा है ।

सृजित वस्तुएँ इस अर्थ में यथार्थ हैं कि वे वास्तविक शक्तियों का प्रयोग करती हैं । उनमें (अरस्तू के द्वारा वर्गीकृत)* 'निमित्त कारणत्व' होता है जो अन्य वस्तुओं में नियमित

* पीछे पृ १०६, १०८ देखिये ।

और इसलिए विश्वसनीय परिणामों को घटित करने में समर्थ है। इसके अतिरिक्त सजीव वस्तुएँ अन्य वस्तुओं को सत्ता सप्रेषित करने की सामर्थ्य रखती हैं। ईश्वर सृजन करके फिर उस पर नियन्त्रण नहीं रखता, अपितु उसने अपनी सृष्टि को स्वत कार्य करने का अधिकार दे दिया है। *सृष्टिकर्त्ता की विभूति उसकी रचना की कमजोरी में दिखलाई नहीं पड़ती, अपितु उसकी सबलता में दिखलाई पड़ती है,* अत ईश्वर के गौरव को बढ़ाने के लिए निर्मित सत्ताओं की आन्तरिक शक्ति को घटाना झूठी भक्ति है।

टॉमस एक्वीनास के अनुसार, यह सत्य है, कि जगत् में जो कुछ भी किया जाता है वह ईश्वर के द्वारा किया जाता है और प्रथम दृष्टि में, यह बात उस प्रतिज्ञप्ति से असगत प्रतीत होती है कि निर्मित वस्तुओं की प्रकट कारणता यथार्थ है। परन्तु एक्वीनास दोनों कथनों पर बल देता है। सब कुछ ईश्वर द्वारा किया जाता है: *क्योंकि अपने व्यक्तित्व* के लिए प्राणी अपने सृष्टा पर निरन्तर निर्भर रहता है, यदि ईश्वर अपनी सृष्टि का भरण पोषण करना बन्द कर दे तो यह विनष्ट हो जाएगी। ईश्वर किसी भी ऐसे प्राणी को नहीं बना सकता जो उसके बिना एक क्षण के लिए भी, अपना कार्य चला सकता हो, क्योंकि यदि कोई ऐसा प्राणी होता तो उस क्षण वह स्वय अपना ईश्वर होता (सम्मा थियोलोजिका, (I/104/1)। अत ईश्वर, क्रियाशील प्राणियों को बनाए रखने में, कर्म को बनाए रखता है, और इस अर्थ में उस प्रत्येक कार्य को करता है जो किया जाता है।

ईश्वर के कर्म तथा प्राणी के कर्म में जो सम्बन्ध है वह (अपूर्ण रूप से) मोटर कार के चालक तथा उसके इन्जन के सम्बन्ध के सदृश्य है। मोटर कार अपनी शक्ति से चलाई जाती है, चालक की शक्ति से नहीं, तो भी जब तक चालक इन्जन को बराबर ईंधन [पैट्रोल] नहीं देता रहेगा तब तक मोटर कार कुछ नहीं कर सकती। मोटर कार अपने को स्वय चलाती है और तो भी यह मनुष्य [चालक] ही होता है जो मोटर कार को चलाता है। अत ईश्वर ऐसी अवस्था को बनाए रखता है जिसके बिना न तो वस्तुएँ हो सकती हैं और न ही 'कारण' हो सकते, इस अवस्था में, *वस्तुएँ उन शक्तियों का प्रयोग करती हैं जो* उनकी सत्ता को परिभाषित करती हैं। ये शक्तियाँ वास्तव में ईश्वर से नहीं अपितु प्राणियों से सम्बन्धित हैं, क्योंकि इन शक्तियों पर इन प्राणियों के विशिष्ट लक्षणों की छाप विद्यमान है—विभिन्न विषम नियमित रूप से विभिन्न परिणामों को जन्म देते हैं। नाना रूपों वाली इस नियमबद्धता में यह निहित है कि ईश्वर की एकमात्र शक्ति, मानों, उनकी अनेक तथा वैयक्तिक शक्तियों में निहित है और उनके माध्यम से अपरिवर्तित होती है (सम्मा कान्ट्रा जैन्टाइल्स, तीसरा भाग, पृष्ठ ६६)।

इस प्रकार, सन्त टॉमस प्लेटो की उस परम्परा की आलोचना करता है जो केवल अकालिक एव अपरिवर्तनीय प्रत्ययों को ही वास्तविक सत्ता प्रदान करती है और जिसके लिए भौतिक एव मानवीय क्रिया का समग्र क्षेत्र सत् [यथार्थ] की छाया मात्र है। इससे भी अधिक वह पहले ही [पूर्वाभास के रूप में] मैलब्रांश* जैसे विचारकों के सिद्धान्तों की भी

* निकोलस मैलब्रांश (१६३८-१७१५) दकार्त का ऐसा अनुयायी था जिसने मनस् की शरीर पर तथा शरीर की मनस् पर क्रिया की व्याख्या देने के दकार्त के प्रयास की असफलता का सामना करने का प्रयास इस प्रकार की किसी भी क्रिया को अस्वीकार कर के किया। मनस में किसी

आलोचना करता है, जिसके लिए मनुष्यों एवं वस्तुओं का समस्त गोचर व्यवहार वास्तव में ईश्वर की सतत प्रक्रिया से प्रभावित होता है और स्पष्टतः वह किसी भी ऐसे प्रतीतिवाद जिसका मूल बर्क्ले तथा ह्यूम के विचारों में रहा हो को स्वीकार नहीं करेगा जो जगत् को 'अनुभव' का एक निस्तेज तन्त्र बना देता हो। जो आन्तरिक द्रव्य एवं ऊर्जा से विहीन है, चाहे इसके साथ यह बात भी क्यों न जोड़ दी जाय कि प्रतीतियों का यह तन्त्र एक ऐसी दैवी सकल्पेच्छा से पोषित होता है जो हममें इन प्रतीतियों को उत्पन्न करती है। ईश्वर सत्ताओं के समूह का सरक्षण करता है, बिम्बों के समूह का नहीं। और हमें जब इस सृष्ट जगत् का बोध होता है तो हम जो प्रयत्न करते हैं वह प्रत्ययों अथवा प्रतीतियों का जुलूस नहीं है अपितु इन्हीं सत्ताओं का है, जो स्वायत्त शक्तियों से युक्त हैं, चाहे हम उनका प्रत्यक्ष करें या न करें।

यह सत्य नहीं है कि 'होना प्रत्यक्ष किया जाना है' : (किसी सृष्ट वस्तु के रूप में) सत् का अर्थ है उन शक्तियों का धारण एवं उपयोग जो ईश्वर द्वारा प्रदत्त तथा पोषित की जाती हैं। प्राणियों की सत्ता निश्चय ही निरपेक्ष नहीं है, क्योंकि यह सतत् रूप से ईश्वर पर निर्भर रहती है, परन्तु इस सीमा का अर्थ यह नहीं है कि यह किसी देखने वाले के प्रत्यक्ष पर, चाहे वह ईश्वर ही क्यों न हो, निर्भर करता है। क्योंकि ईश्वर का प्रेम इनका पोषण करता है, उसकी चित्र-चेतना नहीं और उसका प्रेम हमें, जो महानतम शक्ति प्रदान करता है, वह दूसरों से प्रेम करने तथा अन्यों को उत्पन्न करने की शक्ति है, अर्थात् प्रेम में किसी अन्य को सत्ता प्रदान करना है।

जॉन लॉक (१६३२-१७०४) भी इसी प्रकार का यथार्थवादी है, यद्यपि जिन कठिनाइयों का सामना उसने इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास करते हुए किया कि द्रव्य क्या है,—वह द्रव्य जो इन अनेक विशिष्ट सत्ताओं को उनके यथार्थ का सारभाग प्रदान करता है और जिनके स्पष्ट रूप से वर्णन ने एक ऐसे मार्ग को प्रशस्त किया जो सीधा बर्क्ले तक पहुँचता है।

इस प्रकार आधुनिक काल की सीमा तक यथार्थवाद किसी बहुत्ववादी विश्व का एक प्रकार का अपरोक्ष, उन्मुक्त, सक्षिप्त भोग [अनुभव] प्रतीत होता है, जिसकी विविधता में वही सतुष्टि मिलती है जो शेक्सपीयर, तोल्सतोय अथवा विलियम जेम्स में उपलब्ध होती है। यह सदेह क्षम्य होगा कि इन महान् विचारकों के द्वारा विश्व-चित्र को जो समय-सन्धियमयता प्रदान की गई है वह उस भारी प्रयोजनात्मक बोझ के कारण, जिसके समक्ष उनके सर्वांगीण सम्पन्न मनस् भी जब तब प्रत्यक्ष रूप से लड़खड़ा गये, अन्ततः इतनी सिद्धान्त की बात नहीं जितनी 'अन्वीक्षा' को स्थगित करने की है। अभी तक यथार्थवाद चेतन रूप से दर्शन का प्रकार नहीं बना : इसे आत्म-चेतन एवं परिभाषा के लिए आधुनिक प्रत्ययवाद के आघात की आवश्यकता थी।

को क्रिया के घटित होने के 'अवसर' पर तथा इसके विपरीत भी ईश्वर निरंतर शरीर में तदनुरूप प्रतिक्रिया उत्पन्न करने के लिए मध्यस्थता करता है। तदनुसार इस सम्प्रदाय [स्कूल] को अवसरवाद कहा गया।

(२१८) आधुनिक यथार्थवाद। क्योंकि प्रत्ययवाद आधुनिक जगत् में मनोनिष्ठ रूप में प्रस्फुटित हुआ, अतः आधुनिक यथार्थवाद ने सर्वप्रथम मनोनिष्ठ प्रत्ययवाद के विरुद्ध आलोचना के रूप में आकार ग्रहण किया और क्योंकि यह प्रत्ययवाद एक नये सहजबोध के रूप में आया, अर्थात् जिसे हमने 'मनोनिष्ठ प्रकाशना' कहा है, अतः यथार्थवादी प्रतिरोध ने स्वभावतः सर्वप्रथम परस्पर विरोधी सहजबोधों पर बल देने का रूप ग्रहण किया। यह डाक्टर जॉनसन की विधि थी, पैर पटकने का प्रसंग सहजबोध के विरुद्ध-सहजबोध की केवल एक अवस्था थी, बाद में अपने तार्किक तोपखाने के पहुँचने की प्रतीक्षा में, जो प्रायः विरोधी के तर्क में अपने आत्म विश्वास की कमी को अभिव्यक्त करने का पूर्णतः उचित तरीका था।

टॉमस रीड (१७१०-९६, स्कॉटिश स्कूल का संस्थापक) ने इस प्रकार की कुछ सहजानुभूतियों के चारों ओर दर्शन के एक तन्त्र का निर्माण किया, जिसे उसने 'साधारण बोध के सिद्धान्त' की संज्ञा दी।* बाह्य जगत् की यथार्थता की प्रत्यक्ष सहजानुभूति उनमें से मुख्य है। वे ह्वाइटहेड के ऊपर उल्लिखित उन आत्मनिष्ठ विरोधी सहजबोधों के, स्पष्ट रूप से पूर्वज हैं, जिनका आशय है कि आत्म एक ऐसे जगत् के अन्तर्गत है और उससे घिरा हुआ है जो उस आत्म के बिना स्वयं अपना आधार है, कि भौतिक प्रकृति की यह स्वतन्त्र स्थिति ऐच्छिक भौतिक क्रिया के उद्देश्य द्वारा पुष्ट होती है, क्योंकि कर्म में मैं एक ऐसे यथार्थ को बदलना चाहता हूँ जो मेरे से परे है। इनमें हम एक अन्य दृढ़ विश्वास को जोड़ सकते हैं, जो एकदम सहजबोधात्मक नहीं, अपितु साधारण बोध से सम्बन्धित है, वह यह कि जो मेरे लिए तथा मेरे समान अन्यों के लिए सत्य है वह सम्भवतः हम सबके लिए सत्य है यथा यह कि प्रकृति का जगत् मानसों के समग्र चेतन परिवार की मानसिक पहुँच के परे भी व्याप्त है, और वह हमारे समाप्त होने पर भी विद्यमान रहेगा।

प्रत्ययवाद के अनुसार, मनस् के प्रकट होने के पूर्व कोई जगत् नहीं हो सकता था: ऐसा कोई काल नहीं है जब किसी मनस् नहीं था, और उस मनस् के बिना अन्य वस्तु का अस्तित्व नहीं हो सकता था। उसी कारण, यह सम्भव नहीं था कि कोई वस्तु हो और वह पूर्णतया अज्ञात हो—सत्ता के ऐसे कोई दिशाहीन असम्बद्ध अंश नहीं हैं, जिन्हें इतिहास क्रमशः पाता हो तथा जिन्हें चुनकर वह उन्हें व्यवस्थित करता हो—ऐसा कोई अज्ञात जड़-द्रव्य अथवा ऊर्जा नहीं है जो सनातन रूप से अपने ही आधार पर अस्तित्ववान हो। [इसके विपरीत] यथार्थवादी की दृष्टि से, किसी विषय का अस्तित्व हो और वह ज्ञात नहीं हो यह भलीभाँति सम्भव है, किसी भी विषय के लिए यह पूर्णतया आकस्मिक है कि कभी उसे जाना जाय। और यदि समस्त मानसिकता का विनाश किया जा सके, तो जगत् में ऐसी अनेक वस्तुएँ—शायद अधिकांश वस्तुएँ—होंगी जिनके लिए इस घटना से कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। यदि जगत् में मनस् सर्वदा रहे हैं, तो यह पूर्णतया तथ्य की बात है, सिद्धान्ततः यह कल्पना करना पूर्णतः सम्भव होगा कि किसी भी मनस् के विश्व को जाने बिना उसका सदा अस्तित्व हो, और उस सम्पूर्ण मानसिकता के अस्तित्व में रहते हुए भी विश्व का बहुत सा भाग ऐसा

* 'इन्क्वायरी इन टु द ह्यूमन माइन्ड ऑन द प्रिन्सिपल्स ऑव कामन सेन्स' [साधारण बोध सिद्धान्तानुसार मानवीय मनस् की अन्वीक्षा], १७६२।

हो सकता है जो किसी भी मनस् को कभी भी ज्ञात न हो। यहाँ तक, यथार्थवाद प्रकृतिवाद से पूर्णत मेल खायेगा, और दोनो प्रत्ययवादी विरोधाभास के विरुद्ध साधारणबोध की सुखद संगति में होंगे।

(२१९) परन्तु यथार्थवाद बुद्धिवादी है, और इस बात को समझना है कि अपनी सुदृढ़ स्थिति की रक्षा हेतु इन तत्त्वमीमांसात्मक सहजानुभूतियों की पुष्टि प्रत्ययवाद के तर्क के विरुद्ध तार्किक प्रमाणो द्वारा करनी चाहिए। इसे प्रत्ययवादी कवच के कमजोर स्थल का पता लगाना चाहिए, और एक प्रतिरोधी ज्ञान-मीमांसा को स्थापित करना चाहिए। इसी कार्य को करने का प्रयास टॉमस रीड ने किया। उसने सोचा कि उसने प्रत्ययवाद की मूल भ्रान्ति को दकार्त के इस सिद्धान्त मे पा लिया है, "कि मेरे ज्ञान के समस्त विषय मेरे अपने मनस् के प्रत्यय हैं।" इसके विरुद्ध उसने यह बताया कि ज्ञान हमारे मानसों के परे पहुँच जाना है क्योंकि ज्ञान प्रत्ययों एव संवेदनों को ग्रहण करने मे कुछ अधिक है,—जानना निर्णय करना है, और निर्णय करने का अर्थ किसी अनुभव द्वारा स्वय [redacted] परे किसी विषय को निर्दिष्ट करना है। मुझे लाल रोशनी का संवेदन होता है, मैं निर्णय करता हूँ कि आग है, संवेदन मेरा प्रत्यय हो सकता है परन्तु निर्णय लेने की क्रिया इस प्रत्यय का निर्देश किसी अमानसिक यथार्थ की ओर करती है।

मनोनिष्ठवादी की भ्रान्ति का यह अच्छा आरम्भिक विश्लेषण था, और उसके निदान की अच्छी शुरूआत थी, परन्तु रीड अपने सिद्धान्त को आगे बढाने के लिए मुश्किल से ही पर्याप्त रूप मे तार्किक था। अत उसका स्कूल मुख्य रूप से विरोध के स्कूल का रूप रखता है और उसे अपेक्षाकृत अधिक निपुण एव अध्यवसायी तर्क करने वालो के प्रकट होने की प्रतीक्षा है। इन प्रारम्भिक बातो को संगतिपूर्ण ढग से विस्तार देने और उन भ्रमों से बचने, जिनमें प्रकृतिवाद तथा यथार्थवाद के नूतन रूप पड चुके थे, का काम उस समूह पर पडा जिसे नव्य-यथार्थवादी कहा जाता है, जिनका कार्य बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से शुरू होता है, तथा जिसमे मुख्यतया अमेरिका तथा ब्रिटेन के विचारक आते हैं।

□□□

अध्याय ३१

नव्य-यथार्थवाद

(२२०) परम्परावादी यथार्थवाद की तुलना में, समकालीन यथार्थवाद से एक हानि है और एक लाभ है।

हानि यह है कि आधुनिक यथार्थवाद में संघर्ष करने के कारण यह मुख्य रूप से वाद-विवाद में व्यस्त रहता है। इसका मुख्य उद्देश्य इस अर्थ में निषेधात्मक रहा है कि इसने उस तर्क प्रणाली पर आक्रमण किया जिसके द्वारा प्रत्ययवाद ने अपनी सहजानुभूतियों का समर्थन किया [परन्तु] यह एक ऐसा प्रयास है जो यदि पूर्ण रूप से सफल हो जाए तो भी प्रत्ययवाद अखण्डनीय रहेगा।

लाभ यह है कि यह ऐसे समय उदित हुआ जब तर्कशास्त्र में काफ़ी तेज़ प्रगति हो रही थी और उसके कारण हमें सुनिश्चित रूप से सोचने के नये साधन उपलब्ध हो रहे थे। (तर्कशास्त्र के अपेक्षाकृत नवीन पक्षों में योगदान करने वालों में कुछ लोग यथार्थवादी थे, विशिष्ट रूप से बर्ट्रेण्ड रसल; जबकि अन्य लोगों ने, विशेष रूप से ए० एन० ह्वाइटहैड ने, आरम्भ में यथार्थवाद में गहरी रुचि ली परन्तु और आगे चलकर उसमें परिष्कार किया)। अतः सतही रूप से आधुनिक यथार्थवाद एवं आधुनिक तर्कशास्त्र में उनके अनुकूल सोद्देश्यता के साथ गठबन्धन प्रतीत होती है।* इन नये साधनों ने नव्य-यथार्थवाद को इस योग्य बना दिया है कि वह सम्पूर्ण यथार्थवाद की मूल स्थापनाओं को अधिक स्पष्टता प्रदान कर सके। ये स्थापनाएँ हैं :

(१) कि ज्ञान के विषय अपने अस्तित्व अथवा लक्षण के लिए किसी भी मनस् पर निर्भर नहीं होते, और

(२) कि जगत् में अनेकता है, एकता नहीं, कि निश्चयपूर्वक विश्लेषण के माध्यम से ही हम यथार्थ तक पहुँच सकते हैं।

---

* यदि तर्कशास्त्र को तत्त्वमीमांसा के रूप में लिया जाय, तो उस अवस्था में यह प्रत्ययवाद होगा,—जो बौद्धिक [दि रेशनल] है वही सत् है, यदि तत्त्वमीमांसा यथार्थवादी है तो तर्कशास्त्र सुनिश्चितता का तटस्थ साधन मात्र हो सकता है।

प्रत्ययवाद तथा यथार्थवाद के बीच की मुख्य समस्या का 'आंतरिक' तथा 'बाह्य' संबंधों की स्थिति में रूपान्तर प्रत्ययवादी विश्लेषण का कार्य है। इन प्रत्ययवादियों में विशेष रूप से एफ. एच. ब्रैडले तथा जोसिया रॉयस उल्लेखनीय हैं : संबंधों के तर्कशास्त्र का विकास केवल अधुनातन तर्कशास्त्र में ही हुआ है।

नवीन युक्तियो के अतिरिक्त, नवीन यथार्थवाद की मुख्य विशेषता ज्ञान के विषयों की स्थिति के विषय म एक नया विकल्प प्रस्तुत करना है, जो ह्यूम के माध्यम द्वारा बर्कले से प्राप्त हुआ है। यदि हम भौतिक द्रव्य के खण्डन को स्वीकार कर लें तो प्रत्यक्ष स्वत अपने प्रत्यक्षकर्ता से जुड जाते हैं (बर्कले), परन्तु ह्यूम यह प्रश्न उठाता है कि क्या उन्हे किसी भी वस्तु से जोडने की आवश्यकता है—क्या वे असम्बद्ध रहते हुए प्रवाहमय नही है ? क्या वे अनुभव की इकाईयाँ नही हैं ? अपने अतिरिक्त, अपने अस्तित्व के लिए उन्हे किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता क्यों पडती है ? नव्य यथार्थवाद, जो प्रत्यक्षो को जडद्रव्य मे निहित उतना ही कम मानना चाहता है जितना मनस् द्वारा उन पर दावा, इस विकल्प को (शायद हताशा मे) ग्रहण कर लेता है, और असंबद्ध प्रत्यक्ष को 'तटस्थ सत्ता' का नाम दे देता है, क्योंकि यह न तो भौतिक है और न मानसिक।

हम इन स्थापनाओ पर विचार करेंगे।

(२२१) प्रथम स्थापना ज्ञान के विषय अपने अस्तित्व अथवा लक्षण के लिए किसी भी मनस् पर निर्भर नही होते।

बर्कले ने जब यह देखा कि उसके प्रत्यक्ष उसके मनस् म आराम से बैठे हुए हैं तो उसने यह मान लिया कि वे उसी के हैं। साथ ही उसने यह भी मान लिया कि वे मनसातिरिक्त किसी अन्य वस्तु से सम्बन्धित नही हो सकते। इस बात के लिए वह शायद ही कोई प्रमाण प्रस्तुत करता है, क्योंकि उसे चोली दामन सदृश यह परस्पर उपयुक्तता इतनी स्पष्ट प्रतीत होती है कि यह मानना आपत्तिजनक होगा कि किसी प्रत्यक्ष का अस्तित्व हो और वह किसी प्रत्यक्षकर्ता से सम्बन्धित न हो। प्रत्येक प्रत्यक्ष विषय असाधारण तथा विलक्षण रूप से प्रत्यक्ष होने के योग्य है।

परन्तु (यथार्थवादी पूछते हैं) क्या 'प्रत्यक्ष होने के योग्य है' वाक्यांश का कोई अर्थ है ? क्या जगत् मे कोई ऐसी भी वस्तु है जो प्रत्यक्ष होने के योग्य न हो ? मनुष्य का हाथ विशिष्ट रूप मे एक ऐसी वस्तु है जिसके साथ अन्य विशिष्ट वस्तुएँ, उदाहरणार्थ जग के हैंडिल, फिट की जा सकती हैं, परन्तु प्रत्यक्षीकरण ऐसी विशिष्ट वस्तु नही है, यह जिस विषय को ग्रहण करता है उसके लिए यह आवश्यक नही है कि वह अपने को प्रत्यक्षीकरण के अनुकूल बनाये। निश्चय ही कोई भी ऐसा विषय नही है जो ज्ञान का विषय होने मे *असमर्थ हो, क्योंकि ज्ञान आतिथ्य मे इतना तत्पर, अनाग्रही तथा पारदर्शी है कि वह (संवेदन* अथवा विचार से प्राप्त) किसी भी विषय पर, चाहे उसका अस्तित्व है या नहीं, विचार कर लेता है। अत इस तथ्य मे कि हम किसी वस्तु को जानते हैं अथवा उसके विषय म विचार करते हैं, अथवा उसका प्रत्यक्ष करते हैं, इसके लक्षण अथवा स्वतन्त्र अस्तित्व के लिए इसकी सक्षमता के विषय मे वस्तुत कुछ भी निहित नहीं है।

न तो बर्कले और न साधारण ज्ञान इससे पूर्णत संतुष्ट हैं। कम से कम प्रकृतिवादी मान्यताओं के आधार पर जगत् म अनेक वस्तुएँ हैं, जैसे प्रकाश की तरगें, जो प्रत्यक्ष किये जाने के लिए सक्षम नहीं हैं, नेत्र स्नायु मस्तिष्क की यान्त्रिकी के माध्यम से, हम उनका प्रत्यक्ष नही करते, वे हमम रग एव आकृति के प्रत्यक्षो को उत्पन्न करती हैं। इस हिसाब से,

प्रकृति मे कोई भी वस्तु जैसी वह स्वय मे है, प्रत्यक्ष होने के सक्षम नहीं है, पहले इसे रूपान्तरकर्त्ताओ, जिन्हें हम ज्ञानेन्द्रियाँ कहते हैं, से होकर गुजरना पड़ता है, और तब मनस् परिणाम को किसी स्वयम्भू वस्तु, इन्द्रिय प्रदत्त, मे परिवर्तित कर डालता है · यह सवेद-सामग्री, जो स्वय मनस् के सस्करण का रूप रखती है, विशिष्ट रूप से 'प्रत्यक्ष किये जाने के सक्षम' होनी चाहिए। यदि हम प्रत्यक्षीकरण का कारणता सबधी सिद्धान्त मानते हैं तो बर्कले का मत सबल रूप से पुष्ट हो जाता है।

परन्तु तुरन्त ही नव्य-यथार्थवादी को एक कठोर निर्णय लेने के लिए बाध्य होना पड़ता है : यदि वह अपनी मुख्य बात को— कि हम वस्तुओ को उनके प्रत्यक्षीकृत रूप से भिन्न, जैसी वे है उसी रूप मे प्रत्यक्ष कर लेते हैं—रखना चाहता है तो उसे प्रत्यक्ष की इस वैज्ञानिक व्याख्या से पूर्णत हाथ धोने पड़ेगे। ऐसा वह अनिच्छा से और आधे-मन से करता है* क्योकि वह वैज्ञानिको के पक्ष की ओर रहना चाहता है। परन्तु उसे इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है : ऐन्द्रिय-प्रत्यक्ष कोई परिणाम अथवा कार्य नही है अपितु "एक ऐसी क्रिया है जिसमे विषय या तो प्रदत्त होता है अथवा उद्घाटित होता है" (आर० बी० पैरी, फिलॉसोफि ऑव द रीसेन्ट पास्ट [अधुनातन भूतकाल का दर्शन], पृ० १९९) : मेरी इन्द्रियो के सम्मुख जो विषय प्रस्तुत होता है वह इस रगयुक्त, ध्वनियुक्त, गन्धयुक्त सामग्री का समूह ही है, और केवल इतना ही "प्रत्यक्ष किए जाने के सक्षम" नहीं है, अपितु यह सक्षमता उससे स्वतन्त्र रूप से सम्बद्ध है।

उसका मानना है कि 'ज्ञान' से यही तात्पर्य होता है। यदि जानने की प्रक्रिया ऐसी हो, जो अपने विषय का निर्माण, रूपान्तरण, अथवा किसी भी प्रकार से उसे परिवर्तित कर दे, तो यह ज्ञान नही भ्रम होगी : जानने की क्रिया का यह धर्म है कि वह वस्तुओ का वैसा ही वृत्तान्त दे जैसी वे हैं। अर्थात्, अस्तित्व के क्रम मे, पहले विषय होते हैं और बाद मे जाने जाते हैं। जानना विशिष्ट रूप मे पारदर्शी सम्बन्ध है · विषय ज्ञान के क्षेत्र मे इस प्रकार घटित होते हैं जैसे हिमलव किसी खिड़की के प्रकाश से होकर बिना किसी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन के गिरते रहते हैं। जानने की क्रिया वस्तुत क्रिया है ही नही · विषय 'वहाँ' होता भर है, और हम बिना किसी प्रयास के इसकी उपस्थिति को जान लेते हैं। विषय पर हम ध्यान देते हैं, उस पर अपनी दृष्टि को केन्द्रित करते है, परन्तु हम उसकी 'सरचना' नही करते, हम इन्द्रिय प्रदत्त को स्वीकार करते हैं, उसे अपने मानसिक इतिहास के एक भाग के रूप मे अपना लेते हैं, जो सदा के लिए स्मृति मे गुथ जाता है, जबकि यह, अर्थात् इन्द्रिय प्रदत्त, भौतिक वस्तुओं के सप्राण विश्व के अश के रूप मे रहता है। ज्ञान किसी वैयक्तिक इतिहास तथा घटनाओं के किसी भौतिक तन्त्र के बीच एक प्रकार की स्पर्शिता (टंन् जेंन-सि) है : यह एक ऐसा सबध है जो स्वीकार करता है तथा उपभोग करता है परन्तु दावा नहीं करता।

(२२२) इस दृष्टि तथा बर्कले की दृष्टि से, हमे यह मानने की आवश्यकता नही रहती है कि वस्तुओ के "गौण गुणो" उनके रग, गन्ध आदि का मनस् मे अस्तित्व होता है, जबकि

* आर. बी पैरी एवं डब्ल्यू. पी. मान्टेग के समान अनेक विचारक दोनों दृष्टिकोणों को मानने का प्रयत्न करते हैं—और ऐसा करना व्यर्थ है।

यथार्थ विषय केवल "प्राथमिक गुणों" से ही युक्त होते हैं (१४५वां परिच्छेद)। प्राथमिक एवं गौण गुण दोनों को प्रत्ययों के अन्तर्गत मानकर बर्कले ने प्रकृति के गुणों से उनके परिमाणों के इस संबंध विच्छेद का निराकरण किया, नव्य यथार्थवाद दोनों को स्वतन्त्र मानसातिरिक्त यथार्थता प्रदान कर, इस विच्छेद का निराकरण करता है। न तो सूर्यास्त का रंग नेत्र के कारण है, न ही नियाग्रा[२] की ध्वनि कान के कारण है, और न ही अग्नि का ताप त्वचा की ज्ञानेन्द्रिय के कारण है। ये गुण प्रकृति में ठीक उसी प्रकार हैं, जैसे वे दिखलाई देते हैं। हम कह सकते हैं कि ये विषयों में होते हैं अथवा विषयों से सम्बन्धित होते हैं परन्तु अधिकांश नव्य-यथार्थवादी, इस डर से कि कहीं ऐसा स्वीकार करने पर अनुभव की उनकी व्याख्या में 'द्रव्य' नाम के भूत का प्रवेश न हो जाए* यह कहना पसन्द करेंगे कि विषय इन गुणों का समुच्चय मात्र होता है।

(२२३) [अब] यह स्पष्ट होने लगता है कि यथार्थवादी किंचित सकड़ी पटरी पर चलने का प्रयत्न कर रहा है। निश्चय ही अग्नि गर्म होती है, परन्तु यह विश्वास करना थोड़ा कठिन लगता है कि जिस प्रकार यह हमें गर्म लगती है उसी प्रकार यह अपने को भी गर्म लगती है।† अनुभव के रूप में गर्मी को मनस् में सम्बन्धित होना चाहिए। स्वयं प्रकृतिवाद की दृष्टि से गर्मी की अनुभूति की यह व्याख्या उपयुक्त होगी, और प्रसंगवश हम यहाँ यह भी देखते हैं कि नव्य यथार्थवाद अपने आपको विज्ञान से विलग कर प्रकृतिवाद से भी अलग कर लेता है।

तो, अब यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि रंग, रूप, ध्वनि तथा ताप का प्रकृति में गुणों के रूप में अस्तित्व है, उनका अस्तित्व हमारे द्वारा अथवा किसी भी अन्य मनस् द्वारा प्रत्यक्ष किए जाने पर निर्भर नहीं है। [यदि ऐसा है तो] अब हम स्वप्नों, मृगतृष्णाओं,

* आर बी पैरी की पुस्तक 'दि न्यू रियलिज़्म' [नवीन यथार्थवाद] पृ १०३ से तुलना करें। "द्रव्य का सिद्धांत यथार्थवाद को उसके शत्रुओं के हाथों सौंप देता है।" क्योंकि यदि हम कहें कि मानसातिरिक्त वस्तु जिसकी ओर ज्ञान अपने विषय के रूप में संकेत करता है वस्तुओं का द्रव्य है तो गुण, मनस् तथा बाह्य द्रव्यों के बीच किसी अनिश्चित अवस्था में लटके रह जाएँगे और उन्हें इस बात का खतरा रहेगा कि यदि वे स्वयं पर आश्रित रहने में अक्षम रहते हैं तो मनस् उन्हें धर पकड़ेगा।

कुछ प्रतिपक्षी यथार्थवादियों अर्थात् आलोचनात्मक यथार्थवादियों ने यह सिद्ध किया कि यह भय साधार है, मानसातिरिक्त द्रव्य की परम्परा को बनाए रखने के लिए उन्होंने यह मान लिया कि ऐन्द्रिय गुण मनोनिष्ठ प्रतीतियाँ हैं। वे नव्य यथार्थवाद से अलग हटे हैं तथा कांट की ज्ञानमीमांसा की दिशा में बढ़े हैं। इस प्रकार नव्य-यथार्थवादियों की तुलना में उनके विचारों से हमें यथार्थवाद का प्रकारान्तर कम स्पष्ट होता है। खेद है कि हम उनके मत के विवेचन को यहाँ छोड़ रहे हैं।

† यथार्थवादी इस वाक्यांश पर आपत्ति उठाएगा, और उसका ऐसा करना तब तक सही होगा जब तक अनुभूति सपूर्वपक्ष (असम्प्शन) को समाहित करती है। परन्तु मेरे मत में अनुभूति को 'पूर्वपक्ष' में अन्तर्भूत कर देने पर हमें वह प्राप्त हो जाता है जो 'हमारा इरादा होता है।' मुझे आप बता दें कि ताप का अस्तित्व (१) दिक् में आणविक स्पन्दन, अथवा (२) अनुभूति के अतिरिक्त और कैसे हो सकता है और मैं इस वाक्यांश को बदल दूँगा।

भ्रमों, विभ्रमो, निर्णय की त्रुटियो को कैसे समझें ? क्या ये अयथार्थ विषय भी हैं तथा विचार से स्वतन्त्र हैं ? तथा उन विषयो को कैसे समझे जिन्हे हम सामान्यतया मूलतः विचार के विषय मानते हैं, यथा, गणित की संकल्पनाएँ, अंक, पूर्ण वृत्त, तार्किक नियम, प्राक्कल्पनाएँ, प्राकृतिक नियम के विषय मे हमारे तात्कालिक तथा परिवर्तनशील 'प्रत्यय'—जो सभी बुद्धि के अमूर्तिकरण हैं, 'सामान्यों' का जगत् है ? साधारण ज्ञान उन्हें कम से कम मानसिक तो मानेगा ।

परन्तु यदि हम इन्हे मानसिक मान लेते हैं तो, हम इन्द्रिय प्रत्यक्ष के विषयो की उस स्वतन्त्रता को संकट मे डाल देते हैं जो हमने उन्हे पहले ही प्रदान की है । क्योंकि ये विचार-विषय उनमे मिल जाते हैं और उनमे अपृथक् रहते हैं । ऐन्द्रिय विषयों तथा विचार-विषयों के बीच अन्तर करना तभी सभव होगा जब एक और विभाजन किया जाय जो उतना ही आपत्तिजनक होगा जितना प्राथमिक तथा गौण गुणो के बीच का भेद । अत नव्य-यथार्थवाद, अपनी दृढ धारणाओ के आधार पर बल पूर्वक असभाव्य विकल्प को स्वीकार कर लेता है : ये सभी विषय समान रूप से विचार से स्वतन्त्र हैं ।

तर्कशास्त्र तथा गणित के सत्य निश्चित रूप से प्रमाणित रहते हैं चाहे उनके विषय में कोई विचार करे या न करे । यदि पूर्ण वृत्त, सरल रेखाएँ आदि और उनके विषय मे जो शाश्वत सत्य हैं उनका प्रकृति मे कोई अस्तित्व नहीं है, तो उन्हे एक अपना क्षेत्र दिया जा सकता है जिसमे वे 'विद्यमान' हो, जहाँ हमारे विचार उनके सृजन का दावा किए बिना उन्हें पा सकते हैं ।

(२२४) यहाँ नव्य-यथार्थवाद को न केवल अपनी तर्कप्रणाली का आधार प्राप्त है अपितु वैचारिक इतिहास के एक ऐसे महत्त्वपूर्ण सूत्र का समर्थन भी प्राप्त है जिस पर हमने अभी तक ध्यान नहीं दिया है, तथा जो उसी प्रकार 'यथार्थवाद' भी कहलाता है, तथा ऐरिस्टॉटल से ही नहीं अपितु प्लेटो से भी जोडा जा सकता है । क्योंकि प्लेटो के लिए, 'प्रत्यय' दोषपूर्ण विशेष-वस्तुओ के सामान्य तथा पूर्ण प्रारूपो के रूप मे (१११वाँ परिच्छेद), यथार्थ है, और इस यथार्थ मे यह निहित है कि उनकी शाश्वत एव अपरिवर्तनीय सत्ता है जो केवल उस भौतिक सामग्री से स्वतन्त्र है जो उनसे मात्र सादृश्य रखती है, अपितु जो ऐसे किसी मनस् से भी स्वतन्त्र है जो उन पर चिन्तन करता है (ऐसा प्लेटो का विचार प्रतीत होता है) । देश तथा काल मे अस्तित्व होना निश्चिततया ही उनकी सत्ता का अग नहीं है, क्योंकि देश तथा काल मे अवस्थित विशिष्ट वस्तुएँ क्षणिक होती हैं, और न ही वे अपने विषय में चिन्तन पर निर्भर होते हैं, क्योंकि हम भी जन्म लेते हैं और मरते हैं : उनकी सत्ता की एक भिन्न विधा होती है जिस पर कहाँ, कब तथा कैसे के प्रश्न प्रयुक्त नहीं होते, और जिसकी ओर सर्वोत्तम ढग से किसी ऐसे रूपक द्वारा सकेत किया जा सकता है जिसका प्लेटो ने आदर्श राज्य के विषय मे लिखते समय सहारा लिया है :

"मैं जानता हूँ, तुम उस राज्य [सिटी] के विषय मे कह रहे हो जिसके हम सस्थापक हैं, और जिसका केवल विचार मे अस्तित्व है, क्योंकि मैं नहीं सोचता कि पृथ्वी पर कहीं भी ऐसा कोई राज्य है ।

"मेरा उत्तर था कि स्वर्ग मे इस प्रकार से राज्य की एक रूपरेखा बनाई गयी है, और जो चाहता है वह उसे अपने सामने रख सकता है, और इस प्रकार उसी के अनुसार अपने को शासित कर सकता है।"*

प्लेटो के इस विचार को उन विभिन्न मध्ययुगीन दार्शनिकों के विचारों मे प्रबल प्रतिध्वनि प्राप्त हुई, जो मानव मनस् पर तर्कशास्त्र के निरपेक्ष अधिकारों से प्रभावित थे। स्पष्टतया सामान्यों का एक ऐसा क्षेत्र है जिसकी अपनी व्यवस्था है, जिसे न तो हम निर्धारित करते हैं और न जिस पर हमारा कोई नियन्त्रण होता है, अपितु जिसे हम एक आज्ञाकारी की भाँति सामने रखते हैं। जाति [जीनस], जिसमे अनेक उप-जातियाँ सम्मिलित रहती हैं उपजातियों की तुलना मे केवल तार्किक रूप से ही 'उच्चतर' नहीं है, अपितु उच्चतर यथार्थ भी है उपजाति जाति से अनुमित होती है। तब सत् [बीइंग] जो उच्चतम सामान्य है, इस विचार तन्त्र की अत्यधिक यथार्थ सत्ता है, जो अन्य सभी को समाविष्ट करती है और उन सभी को एक सूत्र मे पिरोती है। इनमे से कतिपय मध्ययुगीन विचारकों के लिए, प्रत्ययों के इस सम्पूर्ण तन्त्र को, जहाँ तक इसकी वास्तविक वस्तुओं से पृथक् सत्ता है, ईश्वर के मनस् मे उसके शाश्वत विचारों के रूप में अस्तित्ववान् कल्पित किया जा सकता है।

आधुनिक यथार्थवाद महान् मध्ययुगीन विचारकों के ईश्वर विज्ञान की पूर्व सकल्पनाओं से पूर्णत मुक्त है। वह विशेष रूप से इस विचार का खडन करता है कि सामान्यों को ईश्वर अथवा किसी भी ऐसे अन्य मनस् की अपेक्षा है जो उनको यथार्थता प्रदान करे। यह स्वय को प्लेटो के विचार जगत् म अपरोक्षत पाता है, जहाँ प्रत्यय अपने ही आधार पर विद्यमान होते हैं।

(२२५) इस पूर्ण तथा शाश्वत व्यवस्था के क्षेत्र मे मानसिक दृष्टि के उन अन्य विषयों—स्वप्न, कल्पना तथा त्रुटि—को घुसेडना कुछ असगत सा लगता है। तो भी उन्हे मानसिक नहीं मानना चाहिए। क्या ये भी उसी अर्थ मे 'वस्तुनिष्ठ' नही हैं जिसमे वास्तविक वस्तुएँ हैं? किसी रात्रिस्वप्न के दौरान जो दैत्य मेरा पीछा करता है वह मेरे द्वारा रचित वस्तु नहीं है, यदि ऐसा होता तो मैंने उसे समाप्त कर दिया होता, और मेरे स्वप्न के दृश्य मे ऐसी वस्तुएँ होती है कि यदि मुझे उस स्वप्न को चित्रित करने के लिए नियुक्त किया जाय तो मैं उस चित्रित नही कर पाऊँगा। जो इस मूर्त परिवेश को उत्पन्न करता है वह मेरा विचारशील आत्म नही होता। तब क्या इन भ्रामात्मक विषयों के लिए, जो निश्चिततया ही वृत्तों अथवा अकों के समान 'शाश्वत' नही है, हमे दूसरा क्षेत्र अथवा क्षेत्रों को मानना पडेगा, तथा उनके विषय मे प्रोफेसर हॉल्ट के साथ यह कहना होगा कि 'अयथार्थ उससे अधिक मनोनिष्ठ नहीं है जितना यथार्थ है, क्योंकि कोई वस्तु वस्तुनिष्ठ होते हुए भी अयथार्थ हो सकती है।‡

कोई अशिक्षित व्यक्ति किसी सजीव स्वप्न को 'मानसिक' अनुभव न मानकर उसे किसी दूसरे जगत् की वास्तविक सैर मान सकता है। परन्तु असभ्य व्यक्ति भी साधारणतया अपनी

* रिपब्लिक [गणराज्य], नवाँ पुस्तक, ९९२।
‡ 'दि न्यू रियलिज्म' [नव्य यथार्थवाद], ३६७।

गलती को मानता है, और अधिक परिष्कृत लोगो के लिए भ्रान्ति एवं स्वप्न समान रूप से स्पष्टतया उनके 'अपने' विचार [प्रत्यय] होते हैं। चार्ल्स पर्स तो यहाँ तक कहता है कि मुख्यरूप से भ्रान्ति एवं अज्ञान के द्वारा ही—जिन्हे किसी न किसी पर आरोपित करना पडता है—सबसे पहले कोई व्यक्ति अपना बोध करता है। कुछ भी हो साधारण ज्ञान तथा दर्शन दोनो के लिए समानरूप से, यदि 'मनोनिष्ठ' शब्द का कोई अर्थ है तो इसे ऐसे तथ्यो पर प्रयुक्त करना चाहिए जिन्हे यदि एक व्यक्ति देखता है तो दूसरा नहीं देख सकता तथा जो 'वस्तुगत' तथ्यो के सम्बन्ध मे निर्णय लेने की प्रक्रिया मे भ्रान्ति उत्पन्न करते है।

परन्तु साधारण ज्ञान, सत्य का कोई अन्तिम मानदण्ड नही हो सकता। यदि नव्य-यथार्थवाद को इस मत को पक्का करना है कि मनस् के विषय मानसिक नही होते, तो इसे यह निश्चित कर लेना चाहिए कि ऐसा करने पर इसे यहाँ साधारण-ज्ञान का साथ छोडना पडेगा, जिसके साथ पहले हमने अति-उपयोगी मैत्री की थी। जिस कठिनाई पर हम अब पहुँचे हैं उससे हम यही अनुमान कर सकते हैं कि भ्रम के अधिक युक्तियुक्त सिद्धान्त के निर्माण के लिए यथार्थवादी को बहुत अधिक प्रवीणता की अपेक्षा है।* नव्य-यथार्थवादी को इससे बिल्कुल निराशा नही होती, पद्रुता उसका मुख्य लक्षण है। क्योकि नव्य-यथार्थवाद सूक्ष्म दर्शन है। यह निश्चय ही आश्चर्यजनक है कि प्रत्ययवादी विरोधाभास के विरुद्ध साधारण-ज्ञान के साथ प्रबल मैत्री से प्रारम्भ होकर, यह दर्शन के विशिष्ट रूप मे ऐसे व्यवसायरूपी विकास मे समाप्त हो जो सभी आधुनिक दार्शनिक अन्वेषणो मे अत्यधिक अयौक्तिक लगता है। इसके अतिरिक्त, यह दर्शन की सभी जटिलता का दण्ड भुगतता है: इसके सदस्य अत्यन्त भिन्न परिणामो पर पहुँचते हैं, और हम उनका अभी तक के इन अपूर्ण परिणामो मे अनुगमन नही कर सकते। जहाँ तक सम्भव है वहाँ तक हमने इस प्रथम प्रतिज्ञप्ति के प्रभावो की रूपरेखा प्रस्तुत की कि ज्ञान के विषय अपने अस्तित्व के लिए मनस् पर निर्भर नहीं होते।

(२२६) **दूसरी प्रतिज्ञप्ति :** जगत् मे अनेकता है, एकता नहीं; व्याख्या हमे अत्यधिक निश्चित रूप मे यथार्थ तक पहुँचाती है।

पाठक ने देखा होगा कि प्रथम प्रतिज्ञप्ति के अन्तर्गत यथार्थवाद के तर्क प्रत्ययवाद के केवल मनोनिष्ठ रूप को ही प्रभावित करते हैं। आजकल ऐसे बहुत कम प्रत्ययवादी हैं जो कहेंगे कि "वस्तु अपने अस्तित्व के लिए अपने जान लिए जाने पर निर्भर है"। उनमे से अधिकांश कहेंगे कि "वस्तुएँ अपने अस्तित्व के लिए, अपने लिए इच्छा किये जाने पर निर्भर है," अथवा वे अपने मूल्य अथवा अर्थ पर निर्भर हैं; और वे यह भी जोड देंगे कि प्राकृतिक विषयो के अस्तित्व का स्रोत निश्चिततया सीमित मानव ज्ञाताओं की सकल्पेच्छा नही है। वस्तुगत प्रत्ययवादी के लिए, अधिकांश मानवीय ज्ञान, समस्त 'आनुभाविक' ज्ञान, उत्पादक अथवा रचनात्मक के स्थान पर ग्रहणशील होता है, और वह यथार्थवाद के इस दावे के साथ सहमत होगा कि हम जिसे जानते हैं वह हमसे परे है। तो, जहाँ तक यथार्थवादी अपने को

* 'दि न्यू रियलिज्म' नामक पुस्तक में प्रोफेसर मान्टेग तथा प्रोफेसर होल्ट ने क्रमशः पाँचवें तथा छठे अध्याय मे इस अन्वीक्षा पर चर्चा किया है।

इस प्रतिज्ञप्ति कि "वस्तुएँ अपने अस्तित्व के लिए अपने ज्ञान लिए जाने पर निर्भर हैं' को खण्डन करने तक सीमित कर लेता है, वहाँ तक तो यह प्रत्ययवाद को कोई हानि नहीं पहुँचाता।

परन्तु वस्तुगत प्रत्ययवाद की यह अपेक्षा है कि जगत् को एकत्व के रूप मे ग्रहण किया जा सके, और यह कि इस एकत्व को, जो मानसिक है, जगत् की अनेक वस्तुओं के मूल स्रोत के रूप मे माना जा सके। यह एकत्व इन वस्तुओं के योग का परिणाम नहीं है। यदि नव्य प्रत्ययवाद की दूसरी प्रतिज्ञप्ति सत्य है, तो वस्तुगत प्रत्ययवाद अयौक्तिक सिद्ध हो जाता है।

(२२७) अब, भौतिकी मे विश्लेषण अणुओं, परमाणुओं, विद्युताणुओं [इलेक्ट्रॉन्स] को उद्घाटित करता है * यथार्थवादी, तथा विज्ञान की सामान्य दृढ धारणाओं के अनुसार ये क्रमश यथार्थ के अधिक निकट हो जाते हैं। जब हम गैस को अविच्छिन्न द्रव्य के रूप मे नहीं प्रत्युत उसे पृथक् अणुओं के द्वारा सरचित मानते हैं तब हम सत्य के अधिक निकट होते हैं, तथा, उस समय हम सत्य के और भी अधिक निकट होते हैं जब हम अपने मानसिक सूक्ष्मवीक्षण यत्र को सूक्ष्म विश्लेषण की अन्तिम सीमा तक पहुँचा देते हैं। इसी प्रकार जीवन विज्ञान मे अगी को कोषाणुओं मे विश्लेषित किया जा सकता है, और मनोविज्ञान मे, मनस् का विश्लेषण सवेदनों अथवा अनुभव के सूक्ष्म अवयवों के रूप मे किया जा सकता है।‡ क्या ये इकाईयाँ सम्पूर्ण अगी अथवा मनस् की तुलना मे उन्हें इकाई के रूप मे लेते हुए, यथार्थ के अधिक निकट हैं? यथार्थवादी को भय है कि जो हमारी समझ को सरल प्रतीत होता है वह हम निरन्तर गलत रास्ते पर ले जाता है जो 'ऊपरी सरलता' का दोष है‡ तथा प्रत्ययवादी विशेषरूप से इस दोष का तब शिकार होता है जब वह यह मान लेता है कि आत्म अथवा मनस् को एक मौलिक एकत्व के रूप मे लिया जा सकता है।

(२२८) उधर प्रत्ययवादी इस तथ्य से लाभ उठाने की ओर प्रवृत्त होता है कि विश्लेषण आणविक तत्वों के अतिरिक्त कुछ और भी उद्घाटित करता है यथा उनके आपसी सबध, उनके सबध के प्रकार, उनकी आपसी क्रियाओं की विधाएँ जिन्हे हम 'नियम' कहते हैं। इन व्यवस्थाओं एव नियमों की अपनी वास्तविकता होती है वे शून्य नहीं हैं। वह दिक जिसमे परमाणु सक्रिय हैं, शून्य नहीं है। एक परमाणु का दूसरे परमाणु के प्रति जो आकर्षण अथवा विकर्षण है वह उस परमाणु के स्वरूप का एक महत्वपूर्ण अश है। दो परमाणु जिनका सारतत्व एक दूसरे को आकर्षित करना है दो पृथक वस्तुएँ नहीं हैं अपितु एक ही वस्तु के दो अग हैं। और क्योंकि विश्व की प्रत्येक वस्तु अन्य सभी वस्तुओं से सम्बन्धित है, अत अन्तत विश्व एक ही सत्ता है।

इस सम्बन्ध मे यथार्थवादी उत्तर देता है कि हमें दो प्रकार के सबधों पर ध्यान देना चाहिए। ऐसे सबध होते हैं जो किसी पदार्थ की सत्ता के भाग होते हैं, और कुछ ऐसे भी

* यहाँ होल्ट स्पेन्सर के साथ सहमत है, 'दि न्यू रियलिज्म' [नवीन-यथार्थवाद] पृ ३११।

‡ 'दि न्यू रियलिज्म [नव्य-यथार्थवाद], पृ- ११।

होते हैं जो इस सीमा तक आनुषगी होते हैं कि उनके होने अथवा न होने से पदार्थ मे कोई अन्तर नहीं पडता। गैस के एक अणु को उसके अन्य अणुओं से अलग किया जा सकता है और फिर भी वह (लगभग) वही अणु रहता है, परन्तु किसी अगी के कोषो मे से किसी एक कोष को निकाल लिया जाय तो वह वही कोष नहीं रहता। तब हम कहते हैं कि इससे इसका 'जीवन' निकल गया है। दूसरे शब्दों मे, कोष की सत्ता का यह एक अनिवार्य लक्षण है कि वह किसी अगी का अग हो। इसके समीप के कोषों से इसके सबधों को 'आन्तरिक' सबध कहा जाता है, क्योकि ये कोष के स्वरूप के घटक तत्त्व होते हैं। अणु से अणु के सबधो, अथवा इससे अच्छा उदाहरण होगा, ईंट से ईंट के सबधों को 'बाह्य' कहा जाता है, क्योकि ईंट के स्वरूप के लिए यह सर्वथा आनुषगी है कि वह अन्य ईंटो के साथ है अथवा नही। नव्य यथार्थवादी इस बात को अस्वीकार नहीं करता कि विश्व की समस्त वस्तुएँ सबधित हैं—यह सबध ही उन्हें विश्व के रूप मे प्रस्तुत करता है, और न ही वह इस बात को अस्वीकार करता कि सबध यथार्थ होते हैं—वह इसको निश्चित रूप मे मानता है। परन्तु वह [साथ ही] इस बात को भी मानता है कि अनेक सबध शुद्ध रूप से बाह्य होते हैं,—विशेष रूप से वे सबध जो विश्व को एक सूत्र मे पिरो सकते हैं, जैसे विचार तथा उनके विषयो से उसका सबध—इस प्रकार हमारे पास स्वतन्त्र रूप से सम्बन्धित स्वतन्त्र वस्तुओ का एक समूह होता है,—यथार्थ वस्तुओ का एक आत्यन्तिक बहुत्व।

(२२६) क्योंकि यह स्थिति है अत हमे जगत् को अशों से समग्र के निर्माण के रूप में समझना चाहिए, समग्र से अशो के निर्माण के रूप मे नही। और मनस् चाहे कुछ भी हो, इसे यह निश्चित करने के लिए विश्लेषण के निष्कर्षों की प्रतीक्षा करनी होगी कि क्या यह स्वय कोई मौलिक एव सरल वस्तु है अथवा इसे अनेक विभिन्न सरल तत्त्वो का यौगिक माना जाना चाहिए। यह स्पष्ट है कि, यथार्थवादी इस प्रकृतिवादी प्रमाण को स्वीकार करने के लिए प्रवण है कि मनस् तब तक उत्पन्न नहीं होता जब तक स्नायु सस्थान से समन्वित अगी नही होते, और इन अमानसिक यथार्थों के एकीकरण से जो उत्पन्न होता है वह स्वय अनुमानतः यौगिक होता है सरल नही।

नव्य-यथार्थवाद के द्वारा मनस् का विश्लेषण अभी तक पूर्ण तथा सन्तोषजनक स्थिति मे नही पहुँचा है। परन्तु इसकी सामान्य योजना को जिसके अनुसार इसका वर्णन आगे बढ़ेगा विलियम जेम्स के द्वारा सुझाये गये मार्ग के अनुसार रेखाकित किया गया है।*

मनस् के तत्त्व, चाहे वे प्रत्यक्ष हों अथवा सवेदन हों अथवा कुछ और अधिक तात्त्विक हों, ये केवल वे 'तटस्थ सत्ताएँ' हैं जो अपने आपको भौतिक विषयो के रूप मे सकल्पित कर लेती हैं। जब ऐसी सत्ताएँ इसी प्रकार की अन्य सत्ताओं के साथ कार्य कारण सम्बन्धों मे

* 'एसेज इन रैडीकल एम्पीरिसिज्म' [मौलिक अनुभववाद पर निबन्ध] में पुन मुद्रित एक लेख 'डज कान्शसनेस एक्जिस्ट ?' [क्या चेतना का अस्तित्व है ?]। ई॰ बी होल्ट के 'दि न्यू रियलिज्म' में लिखे गये लेख 'दि कान्सेप्ट ऑव कान्शसनेस' [चेतना का अवधारणा] पृ॰ ३७२ और आगे से तथा बरट्रेन्ड रसल की पुस्तक 'एन एनेलेसिस ऑव माइन्ड' [मनस् का विश्लेषण] से तुलना करें।

प्रवेश करती हैं तो वे भौतिक वस्तुओं के जगत् का निर्माण करती हैं, जब उन्हे स्मृति में नैरन्तर्य तथा सचयन के क्रम मे जोडा जाता है तो वे मानसो का निर्माण करती हैं। जिस प्रकार चौराहे का चौक दोनों सडको मे सम्बन्धित है और उनमे से किसी से भी सम्बन्धित नही है, उसी प्रकार अपने सबधों के पैटर्न के अनुसार ये तत्त्व मनस् अथवा प्रकृति के अवयव बन जाते हैं। मनस् ऐसी विषय-वस्तुओं [कन्टेन्ट्स] के बीच सम्बन्धो का एकत्वरूप है जो विशिष्ट रूप से मानसिक नहीं हैं।

अत, इस मत के अनुसार, यह सोचने के स्थान पर कि ज्ञाता अपने विषयो का निर्माण अथवा उन्हे विशेषित करता है, विषय ज्ञाता को सरचित करते हैं। क्योंकि मनस् के सम्बन्ध मे इस मत के अनुसार, इन 'विषय वस्तुओं' तथा इनकी अन्यान्य क्रियाओ के अतिरिक्त और कोई अह [ईगो] नहीं है जगत् मे पृथक् सत्ता के रूप मे कोई 'चेतना' नहीं है, और न कोई ऐसी विशिष्ट क्रिया है जिसे मानसिक कहा जा सके और किसी आत्म को उससे विशेषित किया जा सके। जगत् की अनेक अनन्त तटस्थ-सत्ताओ मे से मनस् एक चयन है—एक ऐसा चयन जो किसी स्नायु तन्त्र की अपने परिवेश से प्रतिक्रिया की क्षमता द्वारा निर्देशित होता है तथा जो विश्व व्यवस्था के एक नियम के अनुसार जो प्रकृति के किसी भी *अन्य नियम के समान ही वस्तुनिष्ठ है। स्वप्न, कल्पना, भ्रमपूर्ण निर्णय, शेष की तुलना* मे और अधिक मनोगत नही हैं हम कह सकते हैं कि ये अच्छी तटस्थ सामग्री हैं, कल्पना के खण्ड-खण्ड बिम्ब हैं, जो कार्य-कारण सबध के क्रम मे अन्य तटस्थ वस्तुओ से सम्बन्धित नही हैं। (और यह अभी तक निर्धारित नही हुआ है कि जब वे किसी मानसिक सन्दर्भ का विषय नहीं होते तब वे कहां रहते हैं।)

इसलिए मनस् सापेक्ष रूप से स्थायी तत्त्वों का सापेक्ष रूप से अस्थायी तथा क्षणिक एकत्व होने के कारण गौण, अनुमित, तथा व्युत्पन्न होता है—और इसीलिए विश्व के सृजनात्मक सिद्धान्त के रूप मे अक्षय है।

(२३०) यथार्थवादी आलोचना का विषय जितना प्रत्ययवाद रहा है उतना ही एकत्ववाद भी, इसके बहुत्ववाद मे परम तत्त्व के लिए कोई स्थान नही है, यह परम के विरुद्ध विलियम जेम्स के अभियान को ही लेकर चलता है (पीछे २०१ से २१२ परिच्छेद देखें) परन्तु उसमे इसका अपना ही आग्रह रहता है। जगत् का एकत्व एक पक्ष से निरर्थक है, दूसरे पक्ष के अनुसार अनैतिक है।

यह निरर्थक है क्योंकि जो बात सभी वस्तुओ के लिए कही जा सकती है वह तार्किक रूप मे किसी भी वस्तु के लिए विशिष्ट नहीं हो सकती। मनस्, जैसा कि यह हमे जगत् मे उपलब्ध होता है, अ मानसिक वस्तुओं का विरोधी है, और इसी विरोध के द्वारा यह अपने विशिष्ट अर्थ का ग्रहण करता है। जब हम मनस् को प्रत्येक वस्तु का द्रव्य बनाने का प्रयास करते हैं तो हम इस विरोध को समाप्त कर देते हैं और इस प्रकार प्रतिज्ञप्ति का महत्त्व भी समाप्त हो जाता है। प्रत्येक वस्तु का 'मनस्' की ओर निर्देश अन्त मे जटिल एव अनुपयोगी हो जाता है, ऐसा इस कारण से और भी अधिक होता है क्योंकि हम इस विषय मे कभी भी पूर्णतया निश्चित नहीं हो सकते कि परम तथा सर्वत्र-व्याप्त मनस् किस प्रकार का होगा।

यह अनैतिक है : क्योंकि इसे यह मानना पड़ेगा कि परम निरपेक्ष मनस् में शुभ तथा अशुभ, जो जगत् मे समान आधार पर प्रस्तुत हैं, एक दूसरे से या तो सामञ्जस्य स्थापित कर लेते हैं, अथवा उनमे विरोध नही रहता। यदि परम निरपेक्ष मनस् को पूर्णत शुभ ही माना जाय, तो जगत् मे प्रस्तुत-अशुभ एक ऐसा भ्रमात्मक आभास होना चाहिए जो परम के दृष्टिकोण से लुप्त हो जाता है,—और जो उस सीमा तक हमारी दृष्टि से भी ओझल होता जाता है जिस सीमा तक हम उस दृष्टिकोण को प्राप्त करने मे सफल हो जाते हैं। यथार्थवादी की दृष्टि से यह उदासीनता एव नैतिक शिथिलता को प्रोत्साहन देना है यह घृणित के प्रति विद्रूप है। स्पाल्डिंग कहता है "सर्वदा एक ऐसा दर्शन शेष रहता है जो अशुभ को अपने पूर्ण व्यक्त रूप में प्रकट होने देता है और जो इसके अस्तित्व को समाप्त करने वाली तर्क की समस्त प्रणालियो को अप्रामाणिक मानता है।....अशुभ अशुभ है, और इसका न तो रूपान्तरण किया जा सकता और न इसके अस्तित्व को तर्क द्वारा समाप्त किया जा सकता"। पूर्ण के स्वभाव मे ही यह निहित है कि यह किसी भी पक्ष के प्रति पक्षपात नही कर सकता, परन्तु नैतिक जीवन किसी पक्ष को ग्रहण करना तथा सघर्षरत रहना है।

यथार्थवादी स्थिति अथवा यूँ कहे कि उस स्थिति के सम्बन्ध मे जिसे नवीन-यथार्थवाद के विशिष्ट रूप में ग्रहण किया गया है अभी इतना ही पर्याप्त है।

□ □ □

अध्याय ३२

यथार्थवाद की परीक्षा

(२३१) यथार्थवाद विचार का एक ऐसा तन्त्र है जो इस विचित्र परन्तु स्पष्ट बात को स्वीकार कर लेता है कि इसकी परीक्षा नहीं की जा सकती। इस तथ्य को यह अनिवार्य रूप से स्वीकार करता है कि इस प्रकार की अवस्था में विचार से स्वतन्त्र कोई भी विषय न तो उपलब्ध हो सकता है और न ही उसके विषय में सोचा जा सकता है। यह हमसे केवल यही अनुरोध कर सकता है कि हमें अपनी जानने की यह केन्द्रिक विधि की किसी घटना मात्र के आधार पर अविचारित अनुमान नहीं करने चाहिए।

यह तो ठीक है कि इसका लक्ष्य प्रत्यक्ष की प्रक्रिया का विश्लेषण करना है, और यह स्पष्टतया स्वीकार करता है कि प्रत्यक्ष का विषय द्रष्टा से स्वतन्त्र है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह द्रष्टा से सम्बन्धित नहीं है अपितु केवल यह है कि कोई सबंध ऐसा नहीं है जिसके कारण यह मानना पड़े कि [विषय] अस्तित्व के लिए द्रष्टा पर निर्भर है* मानो वह तत्काल तथा वहीं द्रष्टा के द्वारा उत्पन्न अथवा सृष्ट किया गया हो। और यथार्थवादी की यह बात असंदिग्ध रूप से सही है कि प्रत्यक्ष करते समय हम यह नहीं पाते कि हम ही विषयों का सजन कर रहे हैं। परन्तु इससे वह बात सिद्ध नहीं होती जिसकी उसे आवश्यकता है। क्योंकि (इस विषय में निश्चित होने के लिए कि ऐसी किसी भी प्रकार की कोई भी निर्भरता नहीं है जिसके विषय में उसने नहीं सोचा हो) उसे यह दिखाना होगा कि प्रत्यक्ष विषय में मनस् के स्वतन्त्र रूप से अस्तित्व रखने की क्षमता है। और ऐसा वह केवल इस प्रकार के भौतिक अथवा मानसिक परीक्षण द्वारा ही कर सकता है, जैसे विषयों के अस्तित्व की कल्पना विचार से पूर्णतः स्वतन्त्र होकर करने का प्रयास। यह एक ऐसा परीक्षण है जिसे स्पष्टतः कार्यरूप में परिणत नहीं किया जा सकता, यद्यपि डेविड ह्यूम जैसे विचारक ने भी इसका मूर्खतापूर्ण समर्थन किया था। विश्लेषण यह नहीं दिखा सकता कि विषय ज्ञाता से स्वतन्त्र है (अथवा उससे बाह्य रूप से सम्बन्धित है)‡ यह केवल यही निर्देश कर सकता है कि, इसके निर्णय में, [विषय की ज्ञाता पर] निर्भरता को अभी तक स्थापित नहीं किया जा सका है।

---

* दि न्यू रियलिज्म' [नव्य-यथार्थवाद], ११७१।

‡ इस प्रतिज्ञप्ति के लिए सहवर्ती प्रमाण के रूप में ब्रेन्टानो, माइनोंग हुस्सर्ल, में हम जिस प्रकार के यथार्थवाद के स्रोतों को पाते हैं वे विषय की स्वतन्त्रता को मनस् के अभिप्राय पर निर्भर मानते हैं, जबकि अलैक्ज़ण्डर इसे किसी दृढ़ विश्वास' पर सतायना सहज विश्वास' [ऐनीमॅल फ़थ] आदि पर आधारित मानते हैं, और अधिकांश अमरीकी यथार्थवादी परतन्त्रता के प्रमाण के अभाव से सन्तुष्ट हैं।

सो, यथार्थवाद हमारे सम्मुख कौन से सुनिश्चित आधार प्रस्तुत करता है ? मुख्य रूप से केवल दो : साधारणबोध की वे सहजानुभूतियाँ जिनमे न्याय नही करने का, यथार्थवाद पर आरोप लगाया जाता है, और प्रत्ययवादी पूर्वमान्यताओं के अतिरिक्त अन्यो के आधार पर जगत् के सुसगत सिद्धान्त की रचना की सभावना ।

(२३२) ये आधार वहीं तक उपयुक्त हैं जहाँ तक उन्हें स्थापित किया जा सकता है । दूसरे के विषय मे, मैं यह प्रदर्शित करने का प्रयास करूंगा कि यथार्थवाद के किसी भी वर्तमान रूप को यह कोई आधार प्रदान नहीं करता, क्योकि अभी तक कोई भी सगत यथार्थवादी तन्त्र उपलब्ध नही हुआ है । पहला आधार अधिक सारवान है । इस प्रकार हमारे सम्मुख एक रोचक स्थिति प्रस्तुत हो जाती है कि दर्शन का एक प्रकार जिसे विशिष्ट तथा अपनी बौद्धिकता का अभिमान या मुख्यतया सहजानुभूतियो द्वारा अनुशसित होती है,—वे सहजानुभूतियाँ जो प्रत्ययवाद के विरुद्ध इसके प्रतिरोध का निर्धारण करती हैं । (१६२वाँ परिच्छेद) ।

मेरी दृष्टि मे नव्य-यथार्थवाद मे जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं उसे हम उसकी दार्शनिक पूर्वजता कह सकते हैं, अर्थात्, यह देखने के लिए कि जाति की सहजानुभूतियो मे अदल-बदल करके क्या प्राप्त किया जा सकता है, यह [नव्य-यथार्थवाद] विषयो के जगत् के रूप मे नैसर्गिक दृष्टि की ओर प्रत्यावर्तन करता है । इस मान्यता पर विचार करें कि विषयो का हमारे नहीं देखने पर भी वैसा ही अस्तित्व होता है जैसा हमारे देखने पर होता है । इस पूर्वधारणा पर विचार करें कि प्रकृति बीच से विभाजित नही है । इस मान्यता पर विचार करें कि मनस् किसी अपेक्षाकृत विशाल जगत् मे है, जगत् किसी मनस् मे नहीं है । जगत् को स्वतन्त्र सत्ताओ के समूह के रूप मे देखें । पैरी के साथ यह स्वीकार करें कि 'मानव मनस् सहजरूप से तथा स्वभाववश ही यथार्थवादी है, अतः यथार्थवाद को सिद्ध करने की इतनी आवश्यकता नहीं है जितनी उसे आलोचना से बचाने की ।'"* यदि यह सत्य है, तो उस तन्त्र के लिए बडे सौभाग्य की बात है जो कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर सकता । इनको अभ्युपगमों के रूप मे स्वीकार करें और फिर देखें कि आप उनके द्वारा किस चीज का निर्माण कर सकते हैं । यह नव्य-यथार्थवाद का तत्त्व है, अनुभव की पुनर्रचना मे एक अनुप्राणित करने वाला परीक्षण ।

(२३३) निस्सन्देह, सभी अन्य सहजानुभूतियों की भाँति इन सहजानुभूतियों की व्याख्या की भी आवश्यकता है । हमे इस सामान्य विचारणा को जिसका अभी उल्लेख किया गया था, बिना सूक्ष्म परीक्षण के नही छोडना चाहिए कि मानव मनस् की सहजप्रवृत्ति स्पष्टतया यथार्थवादी है :—हमे स्मरण है कि बर्कले का विचार था कि वह दार्शनिकों के विरुद्ध सामान्य मनुष्य के पक्ष मे बोल रहा है ! साधारण बोध की सहजानुभूति स्वतन्त्र विषयों के विषय में क्या कहती है ?

मेरे विचार में, मुख्यतया यह [कहती है] कि अपने मे तात्त्विक रूप मे परिवर्तन किए बिना मैं विषयों को बदल सकता हूँ, और कि बिना अपने मे परिवर्तन किए विषय निरीक्षण-

* 'फ़िलॉसोफ़ि ऑव दें रीसेन्ट पास्ट' [अधुनातन भूतकाल का दर्शन], २०६ ।

कर्त्ताओं को बदल सकते हैं। जब मैं किसी ईंट की दीवार अथवा किसी पेड़ पर ध्यान दे रहा होता हूँ, तो मैं स्पष्ट रूप से अपने आप पर ध्यान नहीं दे रहा होता हूँ। अत जब मेरा ध्यान ईंट की दीवार से पेड़ पर चला जाता है तो मुझे अपने 'आत्म' में कोई परिवर्तन दिखाई नहीं देता,—ऐन्द्रिय विषयों के प्रवाह में आत्म एक स्थिर तत्त्व है कुछ ऐसा जो मेरे चारों ओर होता है। इसी प्रकार जब मैं ईंट की दीवार पर ध्यान देना बन्द कर देता हूँ और कोई अन्य निरीक्षणकर्ता मेरा स्थान ले लेता है तो उसे भी वही दिखाई देता है जो मुझे दिखा था, क्योंकि निरीक्षणकर्त्ताओं के प्रवाह में ईंट की दीवार स्थिर रहती है। अत निरीक्षणकर्ता एवं विषय सापेक्ष रूप में स्वतन्त्र हैं। परन्तु दो ऐसी बातें हैं जिनके विषय में सामान्य बोध कुछ नहीं कहता। यह इस बात को नहीं बतलाता है कि मैं जब स्वयं पर ध्यान देता हूँ तो उस समय उस दृष्टि क्षेत्र में कोई भी भौतिक विषय नहीं होता,—क्योंकि यह सत्य नहीं है मैं किसी भी विशिष्ट भौतिक विषय का त्याग कर सकता हूँ और तब भी मैं वहीं बना रहता हूँ परन्तु मैं उन सबका त्याग नहीं कर सकता न ही प्रकृति का त्याग कर सकता हूँ। और न ही सामान्य बोध यह बताता है कि भौतिक विषय जिसका मुझसे अथवा आपसे कोई सम्बन्ध नहीं है उसका किसी भी मानस से कोई सम्बन्ध नहीं है और इस अवस्था में भी वह उसी रूप में बना रहता है, इस विषय पर जो समस्या का मूल बिन्दु है, सामान्य बोध के पास कुछ भी कहने को नहीं है।

परन्तु एक सहजानुभूति ऐसी है जो इस समस्या पर प्रकाश डालती है। प्रोफेसर व्हाइटहेड द्वारा इसका मनोनिष्ठवाद के विरुद्ध तक अतिरिक्त तर्क के रूप में उल्लेख किया गया है। उनका कहना है कि 'मैं यह नहीं समझ पाता कि संवेदन के सामान्य जगत् के अभाव में विचार के सामान्य जगत् को कैसे स्थापित किया जा सकता है।'* उनकी मान्यता है कि हम विचार का यह सामान्य जगत् उपलब्ध होता है, क्योंकि क्या हम बातचीत नहीं करते? परन्तु हम तुरन्त इस सहजानुभूति के प्रति अधीन क्यों नहीं करते कि हमारा संवेदन का जगत् सामान्य जगत् होता है? क्योंकि निश्चिततया हम सभी इसे मानकर चलते हैं। एक ही ईंट की दीवार को क्रमश नहीं अपितु एक ही समय उसे अनेक निरीक्षणकर्त्ताओं द्वारा देखा जा सकता है। यह जानने के लिए कि दीवार को देखने में इस प्रकार से अनेक लोग हिस्सा ले सकते हैं, मुझे इन अन्य निरीक्षणकर्त्ताओं को देखने की इतनी अधिक आवश्यकता नहीं है। मैं इसे कैसे जानता हूँ? यह दीवार की 'वस्तुनिष्ठता' के अर्थ में निहित है यह मनोनिष्ठ रूप में केवल मेरी नहीं है क्योंकि वस्तु का स्वरूप ही ऐसा होता है कि उसे अनेक व्यक्तियों के द्वारा देखा जा सकता है। यदि यह सामान्यबोध है—और मेरा विश्वास है कि ऐसा है—तो सामान्य बोध यथार्थवाद के अनुरूप ही यह कहता है कि जानने की प्रक्रिया में मैं अपने से परे पहुँच जाता हूँ, विषय मुझसे स्वतन्त्र होता है परन्तु साथ ही इसकी यह भी मान्यता है कि अपने से परे जाने पर मैं एक ऐसे जगत् में पहुँच जाता हूँ जिससे मेरे अतिरिक्त अन्य मानस भी सम्बन्धित होते हैं,—और यह विशिष्ट रूप से यथार्थ-

---

* 'साइन्स एण्ड द माडर्न वर्ल्ड' [विज्ञान तथा आधुनिक जगत्] १२६ (पहला संस्करण)।

वाद नहीं रहना है। इस विषय में वस्तुतः प्रत्ययवाद सामान्य बोध के अधिक निकट आ जाता है।*

अब यदि इस समस्या के निश्चय के लिए हम केवल सहजबोध को अपील करें, तो यह यथार्थवाद के लिए कोई असंदिग्ध निर्णय नहीं देगा। परन्तु अभी हम यथार्थवादी विकल्प पर उसके सहजबोधात्मक आधार पर नहीं अपितु तार्किक गुणों के आधार पर विचार करने के लिए प्रतिबद्ध हैं।

(२३४) क्या प्रत्यक्ष का यथार्थवादी विश्लेषण प्रामाणिक है?

क्या जानना कोई ऐसा निष्क्रिय सम्बन्ध है, जिसमें कोई स्वतन्त्र विषय स्वतः उद्घाटित होता है? मैं ऐसा नहीं मानता। अत्यन्त स्पष्ट रूप से जानना सक्रिय होता है (ऊपर १६८वाँ परिच्छेद देखें)।

"मैंने नेत्र खोले, और जगत् वह रहा: यह जानना है। यहाँ मैंने नेत्रों को खोलने के (मात्र) पेशीय प्रयास के अतिरिक्त कुछ नहीं किया।" यथार्थवाद का सारा तर्क-दोष इन शब्दों के आभासित औचित्य में समाविष्ट है। इनमें सत्य का एक अंश है: जानने की क्रिया (मात्र) पेशीय प्रयास नहीं है, और वे लोग जो किसी अन्य प्रकार के प्रयास की कल्पना नहीं कर सकते उन्हें कभी भी इसका पता नहीं चलता। यह निर्णय का प्रयास होता है। जब तक निर्णय नहीं हो जाता तब तक कुछ भी नहीं जाना जाता, अनुभव का अर्थ है उन प्रश्नों का उत्तर पाना जो मनस् जगत् के विषय में उपस्थित करता है, यदि कोई प्रश्नात्मक क्रिया नहीं होगी तो कोई ज्ञान भी नहीं होगा। जगत् में क्या है इसे देखने के लिए भी केवल नेत्रों का खोलना ही पर्याप्त नहीं है, जैसाकि प्रत्येक वह व्यक्ति जानता है जिसने बहुत देर तक 'जो सामने है' उसे देखने का प्रयास किया है, और यह बात उन साक्षियों के उदाहरण से और भी अधिक प्रमाणित हो जाती है जो अपनी आँखों के सम्मुख घटित घटना के वर्णन में असफल हो जाते हैं। सम्भव है, पूर्णतया जिज्ञासाहीन व्यक्ति के लिए ईंट की दीवार न हो,

* तार्किक रूप से यह सम्भव है कि विषय अनेक मानसों से सम्बंधित हो क्योंकि प्रथमतः यह केवल स्वयं से ही सम्बद्ध है, यही यथार्थवाद का सिद्धांत है। परन्तु इस मत के पक्षपोषण के लिए सामान्यबोध की सहजानुभूतियों के प्रति अपील नहीं की जा सकती। क्योंकि सहजभाव में अनुभव पर विचार करने पर हमें जो स्पष्टतः दिखाई देता है वह दोवार या वस्तुनिष्ठता के दो पक्ष हैं, जिनमें दोनों से एक दूसरे को अनुमित किया जा सकता है। मान लीजिए कि विषय स्वतंत्र है, और केवल स्वयं से (अथवा सभी मानसों के अतिरिक्त केवल प्रकृति से) ही सम्बद्ध है, और इससे यह अनुगमित होता है कि यदि यह किसी भी निरीक्षणकर्ता को प्रस्तुत है तो यह सभी निरीक्षणकर्ताओं को एक सी ही अवस्थाओं में, प्रस्तुत होगा। दूसरी ओर, यह मानें कि मुख्य रूप से विषय अनेक मानसों में एक सामान्य पद है और इससे यह अनुगमित होता है कि इसे उनमें से किसी से भी सापेक्षरूप में स्वतंत्र प्रतीत होना चाहिए जैसे कि किसी भी पहिये के केन्द्र का अस्तित्व तीव्र गति के समय अपने आरों से स्वतंत्र प्रतीत होता है यद्यपि इसे उनके साथ एक ही रचना में सुबद्ध किया जा सकता है। इन दोनों विकल्पों के बीच, सामान्यबोध निश्चय करने का कष्ट नहीं करता, यद्यपि यथार्थवादी को यह जानना शेष रहता है कि क्या सहजानुभूति द्वारा जाना जा सकता है, अन्यथा गौण अथवा तृतीयक गुणों की पूर्ण आभा में किसी ऐसे भौतिक विषय का क्या अर्थ है जिसका प्रत्यक्ष नहीं होता हो।

पूर्णतः 'अन्यमनस्क' व्यक्ति के लिए, दीवार केवल तभी अस्तित्व मे आती है जब वह यह प्रश्न करना प्रारंभ करता है कि वह उसी दिशा मे ग्रोर क्यों नहीं रह सकता,—"ओह, यह ईंट की दीवार !" कोई व्यक्ति उतना ही जानता है जितना वह निर्णय की प्रक्रिया से निकलता है, वह तभी निर्णय करता है जब वह प्रश्न करता है, अन्यथा नहीं। जानना कुछ करना है।

यही वह क्रिया है जो मुझे सत्य की ग्रोर भी ले जाती है तथा भ्रम मे भी डालती है। केवल उपस्थित तथ्यो के रूप मे रग एव आकृतियाँ कुछ भी नहीं कहते, ग्रौर इसीलिए संभवत वे भ्रमात्मक अथवा प्रातिभासिक नहीं हो सकते। और यदि मैं अपने निर्णय को इन रग अथवा आकृति की उपस्थिति मात्र ग्रहण करने तक ही सीमित कर दूँ तो मेरा प्रत्यक्ष कभी भी भ्रामक नहीं हो सकता। परन्तु यदि खिड़की के शीशे पर बैठी हुई मकड़ी को एक मील दूरी पर मान लिया जाय ग्रौर यदि मुझे आकाश मे कोई दैत्य दिखाई पड़ने लगे, तो वहाँ भ्रम अवश्य है, ग्रौर यह भ्रम जगत् में जो कुछ उपस्थित है उसको मेरी देन मे निहित है। मैं केवल तभी भ्रम मे पड सकता हूं जब मैं कर्म करता हूँ ग्रौर भ्रम केवल मेरे अपने कर्म के कारण ही हो सकता है, मेरे निर्णय की भ्रमात्मक विषय वस्तुऐं मेरे द्वारा गढ़ी गई हैं। ग्रौर यदि मैं उस विषय पर सत्य निर्णय भी दे दूँ कि वह दो फिट दूर खिड़की के शीशे पर बैठी मकड़ी है तो भी मैं कर्म कर रहा हूँ। जानना कभी भी मात्र पारदर्शिता नहीं होता : यह सर्वदा कुछ करने मे निहित रहता है।

परन्तु क्या यह क्रिया उस विषय को परिवर्तित कर देती है ? ग्रौर यदि ऐसा है तो, क्या, जैसाकि यथार्थवादी की आपत्ति है यह जानने के अर्थ का विस्थापन नहीं है ?

इस प्रश्न मे उलझन है। मानलो ऐन्द्रिय गुण इस अर्थ मे मनोनिष्ठ हैं कि ईंट की दीवार तब तक लाल नहीं है जब तक कि कोई व्यक्ति उसे देखने के लिए अपनी आँखें नहीं खोलता तब क्या ऐसा करने पर मेरा ज्ञान मिथ्या हो जाएगा कि "यहाँ एक ईंट की दीवार है, इसलिए मुझे अपना रास्ता बदल लेना चाहिए ?" बिल्कुल भी नहीं। उस समय मैं उन परिस्थितियों के विषय मे कोई प्रश्न नहीं कर रहा होता हूँ जो मेरे सम्मुख उपस्थित विषय को लाल बनाती हैं, मैं उस विषय मे निर्णय नहीं कर रहा होता हूँ, ग्रौर इसीलिए इस पर

और एक तीसरा भी विकल्प है, जिसको मैं मानता हूं। अर्थात्, न तो कोई अनुभवाश्रित ज्ञाता और न ही अनुभवाश्रित ज्ञाताओं का समूह अनुभव मे किसी भी भौतिक विषय की उपस्थिति के बारे में सभी आवश्यक शर्तों का वर्णन नहीं कर सकता है द्रव्य रूप में, यह विषय ऐसे सभी ज्ञाताओं को 'प्रदत्त' है। परन्तु यह भौतिक जगत् द्वारा प्रदत्त नहीं है यह किसी ऐसी सक्रिय सकल्पेच्छा द्वारा प्रदत्त है जिसे उस अनुभव का सम्प्रेषण अभिप्रेत है। इस मत के अनुसार, सभी व्यक्तियों से जो मात्र द्रष्टा हैं स्वतंत्र होकर भी विषय की सत्ता होती है, तो भी इसका अस्तित्व मृत एव तथ्यमात्र नहीं है जो किसी प्रकार ज्ञेय होने के रहस्यात्मक सम्बन्ध में प्रकट हो जाता है। मुझे केवल यही मत सहजानुभूतियों की दृष्टि से पूर्ण रूप में उचित प्रतीत होता है। सभी इन्द्रिय प्रत्यक्ष करने वाले जब यथार्थवादी रूप से विषय के बारे में जानते हैं, तब वे यह भी जानते हैं कि वे जिसे जानते हैं वह उनसे अयत्र है, परंतु मनस से नितांत स्वतंत्र रूप में वे कुछ भी नहीं जानते। और न ही कोई ऐसी वस्तु है [जो मनस् से नितांत स्वतंत्र हो]।

ग़लत निर्णय नहीं दे रहा होता हूँ। मनस् जिसका प्रत्यक्ष करती है उसमें चाहे यह किसी भी सीमा तक क्यों न सलग्न हो, तब तक किसी भी प्रकार के मिथ्यात्व का प्रश्न नहीं उठता जब तक कि मेरे प्रश्न इस प्रकार के प्रश्नों तक सीमित हैं. "यह कौन सा रग है, सिंदूरी अथवा नारगी? पहाड़ी की चोटी अब और कितनी दूर पर है? इसके विषय मे मैं क्या कहूँगा,"—ये प्रश्न अनुभव के आन्तरिक सबंधो के हैं। स्पष्टतया, यह प्रश्न कि 'पत्तियों का तब कौन सा रग होता है जब इन्हें कोई नेत्र नहीं देख रहा होता?" एक ऐसा प्रश्न है जिसे न तो जीवन के सामान्य क्रिया-व्यापार के सदर्भ मे उठाया जाता है और न ही जिसका इस सन्दर्भ में सही या ग़लत उत्तर दिया जाता है। जब कोई प्रश्न उठाया ही न गया हो, और फलस्वरूप जब कोई उत्तर भी न दिया गया हो तो मिथ्यात्व का प्रश्न ही नहीं उठता।

परन्तु, यदि तत्वमीमासक के रूप में, मैं यह प्रश्न उठाऊँ कि वे कौन सी परिस्थितियाँ हैं जिनके तहत मैं किसी लाल रग को देखता हूँ? तो वस्तुत भ्रम के लिए अवसर है। यथार्थवादी से जिसकी यह मान्यता है कि विश्लेषण सत्य की ओर ले जाता है, यह अपेक्षा हो सकती है कि वह शरीर क्रिया विज्ञान के विश्लेषण का अनुगमन करे जो उसे सीधे इस निष्कर्ष पर पहुँचाएगा कि जगत् में तब तक कोई लाल रग नहीं हो सकता जब तक कि कोई नेत्र और कोई मनस् नहीं हो। यदि, विषय के लाल रग को बनाए रखने के लिए, वह प्रत्यक्ष के कारणता के सम्पूर्ण सिद्धान्त को अस्वीकार कर देता है (जैसा कि उसे करना चाहिए), तो ऐसा लगता है, कि साथ ही साथ उसे विश्लेषण की विधि को भी अस्वीकार करना होगा। तब वह यह कहने के लिए स्वतन्त्र है कि "जब लाल रग होता है तब मैं लाल रग देखता हूँ, इसके अतिरिक्त कोई परिस्थिति नहीं होती।" परन्तु इस प्रकार विज्ञान तथा साथ ही दर्शन का भी साथ छोड़कर, वह तब कोई प्रतिवाद नहीं कर सकता जब कोई अन्य व्यक्ति इस प्रश्न को महत्त्वपूर्ण मानें, वह उत्तर देता है कि प्रकृति के द्वारा प्रस्तुत आभास में मनस् एक घटक है,——यह एक ऐसा उत्तर है जिसमें निर्णय, और इसीलिए ज्ञान, अक्षुण्ण रहते हैं।

(२३५) हमने अभी-अभी भ्रम के यथार्थवादी सिद्धान्त को इस आधार पर अस्वीकार कर दिया है कि मेरे निर्णय के भ्रमात्मक विषय स्पष्ट रूप में मेरे ही द्वारा उत्पन्न हैं (२०७वाँ परिच्छेद)।* हमें इस बात को मानने से भी इन्कार कर देना चाहिए कि 'सामान्यों' [यूनिवर्सल्स] का प्रत्येक विचारक से स्वतन्त्र होकर भी या तो अस्तित्व होता है (जो भौतिक नियमों तथा वर्गों के जगत् मे व्यक्त होता है) अथवा वे (अपने निजी शाश्वत क्षेत्र में) अवस्थित है।

इसके दोहरे कारण हैं : पहला, (यद्यपि यह प्रारभिक विचार है परन्तु यह आधारभूत है, अत. इसका उल्लेख आवश्यक है), प्रत्येक सामान्य उसी रूप मे अर्थात् उसी कारण से विचार का विषय होना चाहिए जिस कारण से किसी उद्देश्य का प्रयोजन उद्दिष्ट होना, अथवा लगभग उसी कारण से जैसे तेवर के लिए तेवर का चढ़ाया जाना। बिना चेहरे की

* इस सम्बन्ध में बोल्ट तथा अन्य लोग सामान्य अथवा सारतत्वों के क्षेत्र से "व्यक्तिगत चयन" की बात करेंगे। आगे आने वाला तर्क इस प्रकार की व्याख्या के विषय में है।

थ्योरी मात्र अमूर्तिकरण ही रह जायगा, और अमूर्तिकरण ऐसा विषय है जो जब हम इसके विषय मे सोचना बन्द कर देते हैं तब अपने आप ही व्यवहार्य नहीं रहता।

दूसरे, यदि हम एक भी सामान्य को स्वतन्त्र अस्तित्व प्रदान कर देते हैं तो हमे सभी सामान्यो को स्वतन्त्र अस्तित्व प्रदान करना चाहिए · और सामान्य बहुत अधिक हैं ! प्रत्येक कल्पनीय प्रत्यय उस क्षेत्र मे विद्यमान होना चाहिए, अर्थात् अर्थ की प्रत्येक व्यजना अपने से लगभग अभिन्न अन्य व्यजनाओ से इस प्रकार शृंखलाबद्ध होती है कि हम उनके समस्त पुज को एक समरूप पूर्ण के रूप मे देखने लग जाते हैं। प्रत्ययो के ऐसे जगत् के सन्दर्भ मे हमारे विचार का कोई काम नहीं रह जाता।* यह एक ऐसे गोदाम के सदृश है जिसे इतना ठसाठस भर दिया गया है कि हम उसमे प्रवेश नहीं कर सकते। अथवा इससे अच्छा उदाहरण सगीत का एक ऐसा सग्रहालय होगा जिसमे सभी सम्भव लिखित एव अलिखित रचनाएँ हों, स्वरो के सभी सभव सयोजन जिन्हें किसी भी वाद्ययन्त्र पर ध्वनित किया जा सके जिसके फलस्वरूप स्वय सयोजक की सकल्पना—जिसमे अनन्त सभावनाओ का अस्वीकरण निहित रहता है—नष्ट हो जाती है, अपनी चयनात्मक सम्पूर्णता के कारण एक असीम स्रोत निरुपयोगी एव निरर्थक बन जाता है। सभी पक्षो से सामान्यो अथवा "सार तत्त्वो" का स्वतन्त्र क्षेत्र मुझे प्लेटो के औचित्य के बिना आधुनिक पुराण का एक अश प्रतीत होता है जो कल्पनाशीलता के अतिरेक का एक आश्चर्यजनक उदाहरण है तथा जो यथार्थवाद के सर्वोत्कृष्ट रूप मे तथ्यात्मक होने के अभिनिश्चय मे जो व्यग्य† है उसकी ओर सकेत करता है।

विलियम जेम्स ने इस परमपूर्ण मनस् पर इसलिए आपत्ति की क्योंकि इसमे बहुत कुछ समाविष्ट था, क्योकि इसे जगत् की प्रत्येक वास्तविक घटना की जानकारी हो सकती है, और उसे यह भी पता हो सकता है कि अमुक ऐसा क्यो है अन्यथा क्यों नही, अर्थात् जो "निरर्थक सूचना की एक अनन्त पुनरावृत्ति" है।‡ यदि यह किसी मनस् के विषय मे कहा जाय जिसका स्वरूप चयन करना है, और जिसे केवल वास्तविक जगत् पर ही ध्यान देना

---

* इस आभासात्मक क्षेत्र के अन्तर्गत यथार्थ अंकों की शृंखला के समान सुव्यवस्थित शृंखलाएँ आयेंगी, अनन्त होने पर भी जिनके सम्बन्ध ज्ञात तथा व्यवहार्य नियम हैं। परन्तु इस प्रकार की शृंखला के साथ इसमें सभी संभव दृष्टिकोणों से समस्त सम्भव विषयों पर सभी सम्भव परिवर्तन समाविष्ट होने चाहिएँ, अर्थात् वे सभी पक्ष होने चाहिएँ जिनके विषय में प्रश्न पूछे जा सकते हैं। परंतु 'समस्त सम्भव पक्षों' के समान कोई वस्तुविध नहीं है, और जो पक्ष हैं वे प्रश्नकर्त्ताओं की अपेक्षा रखते हैं।

‡ "इस बात के साथ कि प्रत्येक वस्तु क्या है, इसे उस के विषय में यह बोध भी होना चाहिए कि वह क्या नहीं है। ......इसके अतिरिक्त, यदि यह सत्य है कि कतिपय विचार हास्यास्पद हैं, तो परम ने पहले हो उन हास्यास्पद विचारों को उनकी हास्यास्पद स्थिति में उन्हें स्थापित करने के निमित्त उन्हें विचार विषय बना लिया होगा। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि उसके मनस् में वांछनीय तत्त्व से अधिक मात्रा में कूड़ा-करकट विद्यमान रहता है। इस प्रकार यहाँ ठीक ही यह अपेक्षा की जा सकती है कि यह निरर्थक सूचना की विपुलता, आधिक्य [उद्रेक] तथा अत्युर्वरता से फूट पड़ेगा" 'अ प्लुरलिस्टिक यूनिवर्स' [बहुत्ववादी विश्व], पृष्ठ १२७ और आगे।

है, तो यथार्थवादी की भाषा में ऐसे परमपूर्ण मनस् के स्थानापन्न के रूप में किसकी ओर संकेत करेंगे जो शाश्वत सारतत्वों का जगत् है तथा जिसके बाहर कुछ भी नहीं है।

(२३६) क्या विश्लेषण वास्तविकता पर पहुँचने का मार्ग है ?

विश्लेषण के फलस्वरूप जिन अन्तिम इकाईयों पर पहुँचा जाता है वे निश्चिततया ही अवास्तविक नहीं हो सकतीं। यथार्थवादी का इस मान्यता की असंगति की ओर निर्देश करना कि हम वस्तुओं की संरचना के विषय में जितना ही अधिक सोचते हैं उतना ही अधिक हम अन्तिम सत्य से दूर होते जाते हैं, बिल्कुल ठीक है। निस्सन्देह ही परमाणु, यदि हम उन तक कभी भी पहुँच सकें तो, ऐसी वस्तुएँ हैं जिनकी अवहेलना नहीं की जा सकती। परन्तु प्रश्न यह है कि, क्या वे स्व-पर्याप्त एवं अन्तिम हैं ?

यदि ये स्वतन्त्र एवं आत्म निर्भर सत्ताएँ हैं तो क्या हमें 'स्वाभाविक सहानुभूति' के अनुसार इस तथ्य को स्वीकार कर लेना चाहिए कि ये अनेक एक ही प्रकार के तत्त्व हैं जो एक ही सांचे के बने हुए हैं, और उनके उद्भव के विषय में कोई आगे के प्रश्न नहीं पूछना चाहिए ? अभी तक सृष्टि विज्ञान में यथार्थवादियों ने कुछ अधिक नहीं किया, परन्तु उन्होंने जो कुछ किया है वह अपरिहार्य रूप से हमें विचार की उस दिशा में ले जाता है जहाँ हम इन सूक्ष्म सत्ताओं को, अपेक्षाकृत सरल उत्पन्न करने वाली सृजनशील प्रक्रिया जो प्रोफेसर एलैक्जेंडर* के आदिम दिक्-काल के समान है, की ओर संकेत करना होता है।

(२३७) यथार्थवाद का इस संकल्पना के प्रति विद्रोह न्यायोचित है कि सभी सम्बन्ध 'आन्तरिक' होते हैं। ऐसे बाह्य संबंध भी होते हैं जो अपने पदों में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन प्रस्तुत नहीं करते। जैसा कि हम बता चुके हैं, जगत् में समस्त गति, आदान-प्रदान तथा प्रतिस्थापन बाह्य संबंधों पर निर्भर हैं।

परन्तु प्रत्येक बाह्य संबंध के साथ एक आन्तरिक संबंध भी होता है। किसी ईंट में इस बात से कोई अन्तर नहीं आता कि यह अन्य ईंट के समीप रखी हुई या उसके ऊपर रखी हुई है। परन्तु उसका दिक् में होना उसके लिए कुछ महत्त्व की बात है : क्योंकि दिक् में होने से उसके अन्य ईंट के समीप अथवा ऊपर होने की संभावना रहती है। और यह देशज लक्षण, जो कि प्रत्येक ईंट की सत्ता से अपृथक्करणीय है, उन्हें आन्तरिक रूप से संबद्ध करता है। बाह्य संबंध आन्तरिक संबंध का ही विशेषीकरण है। ये आन्तरिक संबंध अपरिहार्य हैं, तथा जगत् को एकत्व प्रदान करते हैं।

(२३८) यदि विश्लेषण सत्य पर पहुँचने का मार्ग है तो सिद्धान्ततः इसे हमें ऐसे विषयों की ओर ले जाना चाहिए जो अन्ततोगत्वा सरल एवं अविश्लेष्य हों। और जब हम एक ही वस्तु का विभिन्न तरीकों से विश्लेषण करते हैं तो हमें वे ही अन्तिम इकाइयाँ प्राप्त होनी चाहिएँ। उदाहरण के लिए, क्योंकि मनस् को उन्हीं तटस्थ सत्ताओं का पुंज माना जाता है जो भौतिक जगत् का निर्माण करती हैं अतः मनस् के विश्लेषण करने पर वे ही अपरिवर्तनीय सरल तत्त्व उद्घाटित होने चाहिएँ जिन्हें भौतिकी द्वारा प्राप्त किया गया है। क्या मनस् के विश्लेषण करने पर ऐसा होता है ?

* स्पेस, टाइम एण्ड डीइटि [दिक्, काल तथा देवता]।

मनस के लिए अन्तिम सरल तत्व रंग का धब्बा, स्नायविक आघात जैसा कुछ होना चाहिए जो संवेद्य हो। परन्तु यदि भौतिकी सही है तो ये बहुत जटिल प्रक्रियाओं के परिणाम हैं। और जैसा कहा जाता है, कोई जटिल प्रक्रिया किसी पूर्णतया सरल कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकती। तो क्या हमें अपने इस मत को बदलना चाहिए कि रंग का धब्बा सरल होता है ? अथवा हमें यह कहना चाहिए कि मानसिक विश्लेषण के सरलतत्व भौतिक विश्लेषण के सरल तत्वों के समान नहीं हैं ?

दोनों ही विकल्प यथार्थवाद के लिए उलझनपूर्ण हैं, परन्तु कुछ भी हो दूसरा तो अपरिहार्य है। भौतिक विश्लेषण के अन्तिम तत्वों, जैसे इलेक्ट्रॉनों को किसी भी अर्थ में मानसिकता के घटकों के रूप में मानना पूर्णतः असम्भव है। अतः यह मत कि मनस् सरल तटस्थ घटकों के जगत्-पुंज का एक प्रतिनिधि अंश है विश्लेषण के इस सिद्धान्त से निराशाजनक ढंग से असंगत है कि यह सत्य का उद्घाटन करता है।*

(२३९) इन परिस्थितियों में मनस् की इस संकल्पना का त्याग उचित लगता है। क्योंकि, रसल के मत को छोड़कर अभी तक मानव स्वभाव के संबंध में जितने भी सूत्र प्रस्तुत किए गए यह उनमें से शायद सबसे अधिक कंकाल जैसा एवं निस्तेज है। इसका दूसरा दोष यह है कि यह यथार्थवाद के एक अन्य मौलिक सिद्धान्त से असंगत भी है।

क्योंकि, विचार तथा इसके विषय के बीच जो स्वतन्त्रता है, वह सर्वोत्तम रूप में, तब प्रमाणित होती है जब जैसाकि हमने ऊपर (२०६वें परिच्छेद में) देखा, एक ही आत्म अनेक विषयों को ग्रहण कर सके और एक ही विषय के अनेक प्रत्यक्षकर्त्ता हों। अर्थात्, आत्म एक ऐसी सत्ता है जो तद्वत नहीं रहती है जबकि विषय परिवर्तित हो जाते हैं। परन्तु यदि आत्म विषयों का समूह हो तो विषयों के परिवर्तन के साथ साथ यह भी अनिवार्य रूप से बदल जायगा। तब इसका स्वतन्त्र विषयों के अपेक्षाकृत ऐसे स्थायी समूहों जैसे (यथार्थवाद के लिए) स्मृति तथा शारीरिक-संवेदनों के विषयों के सापेक्ष स्थायित्व के अतिरिक्त कोई स्थायित्व नहीं होगा। उन विषयों को मनस् से स्वतन्त्र रखने की केवल यही संभावना है कि मनस् में एक अन्य प्रकार की वस्तु की मान्यता दी जाए, जैसे उन प्रक्रियाओं की जिनके विषय में हम कह रहे थे।

(२४०) परन्तु विश्लेषण में हमारी जो निष्ठा है उसके संशोधन की भी आवश्यकता है। क्योंकि जगत् में ऐसे विषय हैं जो एक साथ सरल तथा जटिल हैं, एक दृष्टि से वे सरल हैं, दूसरी से जटिल हैं। रंग का धब्बा एक ऐसा विषय हो सकता है। स्वयं मनस् ऐसा अन्य विषय है। ऐसे विषयों के बारे में विश्लेषण हमें आंशिक सत्य ही प्रदान करेगा, परन्तु इसमें यह खतरा है कि यह उतने ही अधिक महत्वपूर्ण दूसरे भाग के बारे में कुछ भी नहीं कहे। विश्लेषण के सिद्धान्त में मिथ्या पूर्वमान्यता यह है कि सरलता केवल एक ही दिशा में उपलब्ध हो सकती है और वह सूक्ष्मवीक्षण यन्त्र की दिशा में। जगत् की सरलताएँ अनुमानत

---

* विलियम तथा मैरी कालेज के प्रोफेसर जे डब्ल्यू मिलर ने इस कठिनाई को ध्यान में रखते हुए एक ऐसे सिद्धांत को स्थापित किया है जिसके अनुसार मानसिक सरल तत्वों को भौतिक जटिल तत्वों पर अध्यारोपित कर दिया जाता है।

द्विध्रुवीय हैं। इसलिए यह सभावना रहती है कि सम्पूर्ण विश्व, अपने भागों में अनेक प्रकार के बाह्य सबधों की विविधता, शिथिल सम्बन्धों तथा स्वतन्त्रता के होते हुए भी चरम एकता तथा सरलता को बनाए रखता है।

(२४१) क्या यह ठीक है कि सभी वस्तुओं की एकता, यदि कोई ऐसी एकता है, नगण्य एवं निरर्थक तथ्य है? और विशेष रूप से, कि प्रत्ययवाद मे अशिव का निराकरण, अनैतिक है?

यथार्थवादी का इस ओर ध्यान आकृष्ट करना सही है कि इस प्रकथन मात्र से कोई भी वास्तविक समस्या नही सुलझ सकती कि परमपूर्ण [एब्सोल्यूट] मे सब एक हो जाते हैं। परन्तु यह प्रश्न भी उचित है कि क्या कोई भी इस प्रकार की एकता की स्वीकृति का त्याग कर सकता है, और क्या यह स्वय यथार्थवाद मे सन्निहित नहीं है? क्योंकि जगत् के सामान्य [यूनिवर्सल्स], चाहे उनका कोई स्वतन्त्र क्षेत्र हो, अथवा, चाहे वे तथ्यों मे हों अथवा विचार का विषय हो, उनका एक तन्त्र होता है, वे शिथिल रूप मे सम्बद्ध व्यवस्थाहीन नहीं होते। जाति उपजाति को सन्निविष्ट करती ही है, और एक उच्चतम जाति होती है जो उन सभी को अपने मे समाहित कर लेती है। सभव है इस उच्चतम सामान्य का विलक्षण गुण नहीं हो। परन्तु यह निरर्थक नही हो सकता, क्योंकि इसका अर्थ वही है जो इसमे समाविष्ट है, अर्थात् विश्व।

यह वह निष्कर्ष था जिस पर प्लोटिनस तथा स्कॉटस एरिजेना जैसे महान् प्लेटोई यथार्थवादी पहुँचे, जो मध्य यथार्थवाद की एक परम्परा मे आते हैं। सामान्यो के यथार्थवाद के अपने सिद्धान्त से उन्होने एक प्रकार का एकतत्ववाद अनुगमित किया तथा जैसा हम शीघ्र ही देखेंगे इसे रहस्यवाद कहा जाता है। 'सब कुछ मनस् है,' ऐसी प्रतिज्ञप्तियो के प्रति विरोध मे ये विचारक नव्य-यथार्थवादियों के साथ थे, इसलिए नही कि ये लोग एकता से बचना चाहते थे, परन्तु इसलिए कि उन्हे शीघ्रता मे किए हुए वर्णनो मे विश्वास नही था। यदि मैं गलती नही कर रहा हूँ तो आधुनिक यथार्थवादी, यदि वह अपने आधार-वाक्यो के अनुकूल है, तो वह स्वय को प्रच्छन्न रहस्यवादी के रूप में पायेगा। क्योंकि तर्कशास्त्र को जिस एकता की विचारो के क्षेत्र में आवश्यकता है वही उसके लिए तत्वमीमासात्मक एकता भी है।

(२४२) नैतिक समस्या [फिर भी] रह जाती है। इस बात मे कोई सदेह नहीं है कि जगत् में शुभ तथा अशुभ के सम्बन्ध का यह प्रश्न ही यथार्थवादी को मुख्य रूप से उन समस्त दर्शनों मे अविश्वास की ओर प्रेरित करता है जो परम अथवा एक की ओर निर्देश करते हैं।

यथार्थवाद शुभ तथा अशुभ को ऐसे भिन्न तथा विरोधी गुणों के रूप मे मानता है जो एक दूसरे से बाह्य रूप से सम्बन्धित हैं। अशुभ, अशुभ है तथा शुभ, शुभ है। शुभ का जगत् में सृजन करना होता है, यह एक ऐसा मानवीय अभियान है जिसे मानवीय प्रयास एव साधनो द्वारा चलाया जाता है। अशुभ को माफ नहीं करना है अपितु उसका समूलोच्छेद करना है, और यह सघर्ष भी एक मानवीय उत्तरदायित्व है। इसका उपाय वैज्ञानिक विश्लेषण है, प्रार्थना नहीं। यथार्थवाद की नैतिकी, जहाँ तक इसकी कोई विशिष्ट नैतिकी है, मानवतावाद है।

जानने के यथार्थवादी तरीके की कमजोरी यह है : कि विश्लेषण में अपनी प्रथिम न्य
निष्ठा में, यथार्थवादी यह भूल जाता है कि ज्ञान का यह मानवीय मग दो ओर ध्यान म फ़ृष्ट
करता है, जो ऐसे जगत् के लिए उपयुक्त है जिसमे सश्लिष्ट सरल भी हो सकता है। उमका
एक के लिए तो सही फोकस है परन्तु दूसरे के लिए नहीं है। यदि विश्व के ऐसे लक्षण हैं
जो प्रज्ञावान्, विवेकी लोगों से तो छिपे हुए हैं किन्तु बच्चों के समक्ष उद्घाटित हो जाते हैं
तो यथार्थवादी को वे उपलब्ध नहीं होंगे। दूसरा फोकस रहस्यवादी का है।

ooo

अध्याय २२

रहस्यवाद

जो कुछ भी एक नहीं उसको
अनुपस्थिति सदा सताएगी
[जो एक नहीं है वह सर्वदा अभाव के भाव से पीड़ित रहेगा।]

—जलालुद्दीन

अत, सभी सांसारिक चिन्ताओं से मुक्ति, और एकाकी से एकाकी की ओर उड़ान, यही देवताओं तथा दिव्य एवं सुखी मनुष्यों का जीवन है।

—प्लोटिनस

(२४४) यथार्थवादी वस्तुओं को विश्लेषणवादी दृष्टि से देखता है: वह हमें चेतावनी देता है कि, "जैसे आप बुद्धि में विश्वास करते हैं वैसे ही आपको बुद्धि के परिणामों में—परमाणु अथवा जगत् के अन्य बहुत से पदार्थ इसकी यथार्थ सत्ताएँ हैं, वे एक दूसरे से तथा ज्ञाताओं से स्वतन्त्र हैं—भी विश्वास करना चाहिए"। उसका विश्वास है कि प्रत्ययवादी आवश्यकता से अधिक एकतत्त्ववादी है और ऐसा इसलिए है क्योंकि वह विश्लेषणात्मक बुद्धि के निष्कर्षों को बहुत कम बल प्रदान करता है।

परन्तु हममें प्रत्ययवाद का एक दूसरे प्रकार का समालोचक भी है जो उक्त विचार के विपरीत यह घोषणा करता है कि वह, अर्थात्, प्रत्ययवादी आवश्यकता से अधिक विश्लेषण करता है। क्योंकि एकतत्त्ववादी होते हुए भी स्वयं में तथा अपने विषयों में, स्वयं में तथा अन्य मानसों में महान् आत्म तथा विश्व के समस्त सान्त आत्मों में, भेद करता है। यह सत्य है कि वह एकतत्त्ववादी है, उसकी मान्यता है कि सभी सान्त आत्म, तथा प्रकृति भी महान् आत्म पर आधारित है. परन्तु [वह यह भी मानता है कि] सान्त आत्म स्वतन्त्र हैं, और वह उनके अस्तित्व एवं क्रिया की स्वतन्त्र पृथक्ता को मूल्यवान मानता है, तथा [यह मानता है कि] प्रकृति उन सभी से भिन्न समान विषय है। शायद प्रत्ययवादी पर्याप्त रूप में एकतत्त्ववादी नहीं है, जिसका कारण यह है कि वह सत् से अपने सम्बन्ध के विषय में अन्तिम विचार के रूप में केवल बुद्धि पर ही निर्भर है।

क्योंकि हम जानते हैं कि वह ज्ञान जिसे हम "वस्तुनिष्ठ" कहते हैं किन्हीं पक्षों में अपूर्ण है' वह कुछ ऐसा है जो हमसे कुछ दूर ही रहता है। दया का वस्तुगत ज्ञान बिना पूर्वतः महत्त्वपूर्ण हुए पूर्ण रूप से परिशुद्ध हो सकता है' यह हो सकता है कि ऐसा ज्ञान विषय की तह तक न पहुँच पाये। "वैज्ञानिक व्यवस्था" किसी व्यक्ति को मनुष्यों का अच्छा व्यवस्थापक नहीं बनाएगी। यहाँ तक कि सहजानुभूति भी, जो अपने सजीव विषय को

सम्पूर्ण विशिष्ट सत्ता का सहानुभूतिपरक भाव से प्रयत्न करती है, ज्ञेय विषय को ज्ञाता से भिन्न मान सकती है। प्रत्ययवाद—उन सहज्ञानुभूतियों के साथ भी जो हमें इसकी ओर ले जाती हैं—"प्रमाद के घाव" से पीड़ित हमें असंतुष्ट छोड़ देता है। ऐसा कहा जा सकता है कि सहजानुभूति का अन्य स्तर भी होता है, जिसमें अन्यत्व का भाव समाप्त हो जाता है और ज्ञाता स्पष्ट रूप से यह अनुभव करता है कि अपने विषय की आन्तरिक सत्ता से उसका तादात्म्य है। कम से कम, हमारे दर्शन के अन्तिम प्रकार रहस्यवाद का इस प्रकार का मत है जो यथार्थवाद के विरुद्ध यथार्थ की पूर्ण एकता का प्रतिपादन करता है। यदि यथार्थ एक है, तो हम इसे भलीभाँति तभी जान सकते हैं जब हम इसमें विलीन हो जायें, अर्थात्, जब ज्ञान का भाव इस रूप में समाप्त हो जाय कि मैं किसी ऐसी वस्तु को 'वस्तुनिष्ठ'—रूप में जान रहा हूँ जो मुझसे भिन्न है।

"वह दर्शन करना, अथवा उसका हो जाना, बुद्धि का विषय बिल्कुल भी नहीं है। दर्शन तथा वह जिसका दर्शन होता है बुद्धि से अधिक, उससे पूर्व तथा उससे आगे है। और शायद यहाँ हमें देखने की बात नहीं करनी चाहिए क्योंकि जिसे देखा जाता है वह—यदि हमें द्रष्टा एवं दृष्ट विषय एक नहीं अपितु दो मानकर कहना हो तो—न तो द्रष्टा के द्वारा इन्द्रियगोचर है और न ही वह उसके द्वारा दूसरी वस्तु के रूप में प्रत्यक्ष किया जाता है।" अतः इस दृष्टि के विषय में कुछ भी कहना कठिन है क्योंकि कोई भी व्यक्ति उस वस्तु का अपने से अलग कैसे वर्णन कर सकता है जिस का बोध होते समय उसने उसे अपने से भिन्न वस्तु के रूप में नहीं अपितु वस्तुतः स्वयं अपने में ही स्थित देखा हो?"*

यथार्थवाद ज्ञेय तथा ज्ञाता को पृथक् कर देता है, प्रत्ययवाद की मान्यता है कि सभी विषय किसी ज्ञाता से सम्बन्धित होते हैं, रहस्यवाद मानता है कि विषय एवं ज्ञाता एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं,—वे एक ही प्रकार के सत् हैं, वे एक हैं।

(२४५) अपने सामान्य प्रयोगों के कारण 'रहस्यवाद' नाम हमारे प्रकार-नामों में से किसी भी अन्य की तुलना में अधिक भ्रामक है। दर्शन के एक प्रकार के रूप में, रहस्यवाद को न तो किसी गुह्यविद्या अथवा अन्धविश्वास से जोड़ना चाहिए, और न ही मनोवैज्ञानिक शोध से। न ही यह कहना चाहिए कि वह मनोविज्ञान पर चतुर्थ आयाम का प्रयोग है, न ही यह कि वह अस्पष्टता का कोई सम्प्रदाय है। और न ही उसे स्वयं रहस्यपरक के प्रति प्रेम से जोड़ना चाहिए।

वस्तुतः रहस्यवाद की यह मान्यता है कि हमारे समस्त बौद्धिक प्रयासों के बावजूद भी सत् में एक ऐसा तत्त्व रह जाता है जो रहस्यात्मक होता है। इस पक्ष से, रहस्यवाद श्रद्धालुता की अपेक्षा संशयवाद अथवा अज्ञेयवाद से अधिक सम्बद्ध है। परन्तु दर्शन के इतिहास में रहस्यवादी दीक्षित है, वह एक ऐसा व्यक्ति है जिसने वास्तविकता का प्रत्यक्ष दर्शन कर लिया है, एक ऐसा दर्शन जिसका वर्णन करने में वह अपने को असमर्थ पाता है। पुरातन यूनानी रहस्यानुष्ठानों में दीक्षित के समान, जब उसे तत्त्वमीमांसात्मक सत्य

---

* प्लोटिनस, ऐनियड्स, ६/९/१०।

के चित्रात्मक रूप में पवित्र नाटक को दिखा दिया जाता है तब रहस्यवादी इसलिए मौन नहीं रहता कि उसे ज्ञान नहीं है अपितु वह इसलिए मौन रहता है कि वह उसका वर्णन नहीं कर सकता। (रहस्यवाद शब्द 'मौन' ['मम'] शब्द से जुड़ा हुआ है,—यह एक ऐसे व्यक्ति की अवस्था है जो जानता तो है परन्तु जिसे या तो उसके विषय में बताना नहीं चाहिए अथवा बता नहीं सकता।

उसकी "जानने की प्रणाली" को यहाँ सहजानुभूतिवादी प्रणाली के सदृश तो देखा ही जा सकता है, परन्तु जैसा हमारा सुझाव है, उसे और आगे की अवस्था में ले आया गया है।* परन्तु अपने विश्वास को अथवा यथार्थ की अपनी दृष्टि [झाँकी] को अभिव्यक्त करने में कठिनाई के होते हुए भी वह कभी-कभी ही पूर्ण मौन के उस नियम को स्वीकार करता है जो इस अवस्था के लिए आवश्यक प्रतीत होता है। चीन का रहस्यवादी लाओ त्से (ईसा पूर्व ६ठी शताब्दी) इस निष्कर्ष पर पहुँचता है :

जो जानता है वह बात नहीं करता।

जो बात करता है वह जानता नहीं है।

इसीलिए मुनि अपने मुख को बन्द रखता है तथा अपनी ज्ञानेन्द्रियों के द्वार बन्द कर देता है।....

धर्मात्मा व्यक्ति का व्यवहार उसके मौन के अनुकूल होता है और मौन के द्वारा वह अपनी शिक्षा को प्रेषित करता है।....

अल्पभाषी होना ही स्वाभाविक तरीका है।‡

फिर भी, लाओ त्से अपने विचारों को एक छोटी पुस्तक में लिपिबद्ध करने के लिए सहमत हो गया जो ताओ तेह किंग के नाम से प्रसिद्ध हुई; और रहस्यवादियों ने वर्णनातीत [अनिर्वचनीय] को अभिव्यक्त करने के लिए अथक प्रयास किए हैं। जब हम संगति की माँग को ध्यान में रखते हैं तो इन प्रयासों के परिणाम हमें रहस्यात्मक अथवा विरोधाभासी लगते हैं। जिसे सुनिश्चित सम्प्रत्ययात्मक आकार में परिभाषित नहीं किया जा सकता उसको अभिव्यक्त करने के लिए रहस्यवादी बहुधा प्रतीक अथवा रूपक की भाषा का उपयोग करते हैं : विलियम ब्लेक, दान्ते, याकोव बॉयमे (जर्मन रहस्यवादी १५७५–१६२४), डायोनी-सियस ऐरियोपेगाइट (ईसा की मृत्यु के ५०० वर्ष पश्चात् के किसी अज्ञात लेखक का छद्म नाम) ऐसे ही रहस्यवादी थे। इनमें से अनेक कृतियों की अमरता, जैसे प्लोटिनस का ग्रन्थ ईनियड्स अथवा स्वयं गूढ़ ताओ तेह किंग (लगभग हर साल इस ग्रन्थ को अंग्रेजी में अनुवाद करने के लिए अब निबन्ध लिखे जा रहे हैं) इस बात का संकेत है कि रहस्यवादी के ये प्रयास पूर्णत नहीं हैं। क्योंकि अधिक यान्त्रिक रूप में कल्पित विचारों की शब्दावली में अनुभव में निस्सन्देह विरोधाभास का अंश है, और विरोधाभासी कथन जो विरोधाभास के विषय में सत्य

* कुछ भी हो रहस्यवाद निस्सन्देह सहजानुभूतिवाद के समान नहीं है, क्योंकि यह जानने की प्रणाली से अधिक है : यह एक निश्चित तत्त्वमीमांसात्मक सिद्धान्त है, और एक नैतिक अथवा जीने का एक तरीका है।

‡ ताओ तेह किंग (केरस का अनुवाद) ५६वाँ, ४३, २३वाँ परिच्छेद। (५६/४/२३)

को प्रकट करने के निमित्त होता है, उस व्यक्ति के लिए कुछ अर्थ रखता है जिसने स्वयं उसका प्रत्यक्ष किया है : रहस्यवादी रहस्यवादी को समझ सकता है,—और, यदि मैं सही हूँ तो, हम सब मे रहस्यवाद का एक अंश है। और इसके आगे, वह कम से कम हमें यह बता सकता है कि यथार्थ क्या नहीं है, और इससे अप्रत्यक्ष रूप में यह संकेत मिलेगा कि वह क्या है, अतः

"वह बुद्धि जिसके विषय मे विचार किया जा सकता है शाश्वत बुद्धि नहीं है वह नाम जो दिया जा सकता है, शाश्वत नाम नहीं है। जिसे नाम नहीं दिया जा सकता वह पृथ्वी तथा आकाश का आरम्भ है।"

"तीस आरे एक धुरी पर मिलते हैं, और धुरी के उस छेद पर पहिए की उपयोगिता निर्भर होती है जिसका अस्तित्व नहीं है। मिट्टी को एक बर्तन के रूप में ढाला जाता है, और इस बर्तन की उपयोगिता उस खोखलेपन पर निर्भर करती है जिसका अस्तित्व नहीं होता। दरवाजे एव खिड़कियों को निकालकर हम किसी भवन का निर्माण करते हैं, और इस घर की उपयोगिता उस आन्तरिक दिक् पर निर्भर होती है जिसका अस्तित्व नहीं होता।........

"हम ताओ [यथार्थ] की ओर देखते हैं किन्तु यह हमे दिखाई नहीं देता : यह रंगहीन है। हम ताओ को सुनते हैं परन्तु हमें कोई आवाज सुनाई नहीं देती : यह ध्वनिहीन है। हम ताओ को पकड़ने का प्रयास करते हैं परन्तु इसको पकड नही पाते : यह देहहीन है।........हाँ ताओ सर्वदा अकथनीय रहता है : और यह बार-बार अनस्तित्व की ओर लौटता रहता है।

"जगत् के सर्वाधिक कमजोर पदार्थ जगत् के कठोरतम पदार्थों पर विजय प्राप्त कर लेते हैं (जैसे जल चट्टानों को पराजित कर देता है)। अगम्य के केन्द्र मे अनस्तित्व विद्यमान है। *उसके द्वारा मैं अ-कथन का लाभ तथा मौन का पाठ ग्रहण करता हूँ। ताओ सर्वदा* अ-कथन का अभ्यास करता है, और ऐसा कुछ नही है जो असम्पादित रह जाता हो।"

(२४६) अब हम रहस्यवाद की दर्शन के रूप मे एक संक्षिप्त रूपरेखा बना सकते हैं। इसकी मान्यता है :

(१) कि यथार्थ एक है। वह समस्त परमाणवीय अथवा बहुतत्त्ववादी तत्त्वमीमांसात्मक सिद्धान्तों के विरुद्ध एक चरम एकत्व है :

(२) कि यथार्थ अकथनीय [अनिर्वचनीय] है, जिसके विषय मे हम जिन विधेयों अथवा वर्णनों को प्रयुक्त करते हैं, वे संशोधन की अपेक्षा रखते हैं—इनमे वे विधेय भी सन्निविष्ट हैं जिनका अब उल्लेख होगा,

(३) कि यथार्थ (जिस प्रकार हम इसे अपने से बाहर के जगत् में खोजते हैं) मानवीय आत्म से उसके समान रूप से अवर्णनीय सारतत्त्व से अभिन्न है,—अतः हम यथार्थ को या तो बाहर देखकर या भीतर झाँक कर प्राप्त कर सकते हैं, और हमें जो दोनों स्थितियों मे प्राप्त

---

* लाओत्से, ताओ तेह किंग, पाल कैरस के अनुवाद से लिया है।

होता है वह एक ही होता है, केवल प्रकार में ही समान नहीं, अपितु अभिन्न रूप से एक ही वस्तु होता है : दो ध्रुव वस्तुतः एक ही निकलते हैं।

(४) कि इस परम एक का सहजज्ञान अथवा इसके साथ एकता संभव (और अत्यधिक महत्त्वपूर्ण) है,

(५) कि इसको प्राप्त करने का तरीका एक ऐसा प्रयास है जो मुख्यतः सैद्धान्तिक की अपेक्षा नैतिक है।

इन सभी पक्षों में, यह स्पष्ट है कि रहस्यवाद यथार्थवाद का यथातथ्य प्रतिरूप है। इस प्रकार की तत्त्वमीमांसा के भाव को, बाह्य यथार्थ तथा आन्तरिक यथार्थ के इसके 'रहस्यात्मक' तादात्म्य को, प्राचीन भारत के गौरव-ग्रन्थों में से एक के इस उद्धरण [परिच्छेद] में देखा जा सकता है :

'इस [सामने वाले वटवृक्ष] से एक बड़ का फल ले आ'—'भगवन्! यह ले आया'—'इसमें तू क्या देखता है?'—'भगवन्! इसमें बहुत छोटे-छोटे दाने हैं।'—'इसमें से एक को फोड़।'—'फोड़ दिया भगवन्!'—'इसमें क्या देखता है?'—'कुछ नहीं भगवन्!'—तब उसने [आरुणि ने] कहा : 'हे सौम्य! इस वटबीज की जिस अणिमा को तू नहीं देखता है हे सौम्य! उस अणिमा का ही यह इतना बड़ा वटवृक्ष खड़ा हुआ है। हे सौम्य! तू [इस कथन में] श्रद्धा कर।' वह जो यह अणिमा है एतद्रूप ही यह सब है—वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो! वही तू है।"

'इस नमक को जल में डालकर कल प्रातःकाल मेरे पास आना।' उसने [श्वेतकेतु ने] वैसा ही किया। तब उसने [आरुणि ने] कहा : 'वत्स! कल तुमने जो नमक जल में डाला था उसे ले आओ।'—किन्तु ढूंढने पर भी नमक उसको नहीं मिला।—'इस [घोल को] इस दिशा से आचमन कर!—यह कैसा लगता है?'—'नमकीन है!'—'बीच में से आचमन कर!—कैसा लगता है?'—'नमकीन है!' 'उस स्थान [नीचे] से आचमन कर!—कैसा लगता है?' 'नमकीन है!' 'अच्छा इसको छोड़कर मेरे पास बैठ।' उसने [श्वेतकेतु ने] वैसा ही किया, और फिर कहा : 'यह [नमक] सदा ही [जल में] विद्यमान था।'—तब आरुणि ने कहा : 'हे सौम्य! [इसी प्रकार] वह सत् भी निश्चय यहीं [देह में] विद्यमान है, तू उसे देखता नहीं है, परन्तु वह निश्चय यहीं विद्यमान है। वह जो यह अणिमा है एतद्रूप ही यह सब है वह सत्य है, वह आत्मा है,—और हे श्वेतकेतो! वही तू है।"

"हे सौम्य! यदि कोई इस महान् वृक्ष के मूल में आघात करे तो यह जीवित रहते हुए ही केवल रसस्राव करेगा, यदि मध्य में आघात करे तो भी यह जीवित रहते हुए केवल रसस्राव करेगा और यदि इसके अग्रभाग में आघात करे तो भी यह जीवित रहते हुये ही रसस्राव करेगा। यह वृक्ष जीव—आत्मा से ओतप्रोत है और जलपान करता हुआ आनन्दपूर्वक स्थित है। परन्तु यदि इस वृक्ष की एक शाखा को जीव छोड़ देता है तो वह सूख जाती है;······ हे सौम्य! ठीक इसी प्रकार तू जान कि जीव से रहित होने पर यह शरीर मर जाता है, जीव नहीं मरता। वह जो यह अणिमा है एतद्रूप ही यह सब है। वह सत्य है, वह आत्मा है,—और हे श्वेतकेतो! वही तू है।"*

* छांदोग्य उपनिषद्, ६/१२, १३, ११।

(२४७) रहस्यवाद का लम्बा इतिहास रहा है - यह यथार्थवाद एवं प्रत्ययवाद की अपेक्षा प्राचीन है। दर्शन के इस प्रकार के प्रमुख प्रतिनिधियों से कोई भी युग, यहाँ तक कि हमारा भी, विहीन नहीं रहा।

जब यह चीन में प्रकट हो रहा था, तथा भारत में महान् विकास को प्राप्त कर रहा था (ब्रह्मवाद, वेदान्तवाद), तभी (ईसा पूर्व छठी शताब्दी के आगे) भूमध्यसागरीय पोत में भी यह असाधारण रूप से लोकप्रिय बन गया था। हम अनेक देवताओं के 'रहस्यों' के विषय में सुनते हैं, मिश्र में ओसिरिस, सीरिया में अडोनिस, यूनान [ग्रीस] में डिमिटर, डायोनिसस, ओरफियस, फारस [परशिया] तथा रोमन जगत् में मिथरा [के विषय में चर्चा है]। ये रहस्य प्रचलित धर्मों की प्रशाखाएँ थीं, और संभवतः महान् राष्ट्रीय धर्मों के उस युग की राजनैतिक उथल-पुथल में टूट जाने के कारण थीं, और उन्होंने व्यक्ति को इस योग्य नहीं छोड़ा कि वह अपनी धार्मिक निष्ठा का अपनी सामाजिक निष्ठा से तादात्म्य स्थापित कर सके, और इन्होंने उसे बिना जाति, राष्ट्र, लिंग अथवा वर्ग की ओर संकेत के, किसी सुलभ देवता के रूप में सत् के साथ प्रत्यक्ष वैयक्तिक सम्बन्ध को प्राप्त करने की सबल प्रेरणा दी, और इसके कारण उसे इस जीवन में नैतिक स्थायित्व प्राप्त हुआ तथा दूसरे जीवन में वैयक्तिक अमरता की आशा बंधी। दार्शनिक रहस्यवाद के साथ मुख्यतया उनको इस उपासना में समानता थी कि वे लोग भी नैतिक तैयारी के पश्चात् उमंग की अवस्थाओं में, ईश्वर के साथ वैयक्तिगत तादात्म्य में [विश्वास करते थे]। इन लोकप्रिय क्रियाकलापों में अत्यन्त स्थूलता, अन्धविश्वास एवं मूढ़ता विद्यमान थी,—बहुधा इनमें पूर्णरूप से बर्बरता होती थी। परन्तु इस आन्दोलन के जीवन्त तत्त्व इतने विशाल थे कि उन्होंने महानतम विचारकों और साथ ही साथ राज्य की रुचि पर भी अधिकार प्राप्त कर लिया। एथेन्स ने इल्यूसिस के रहस्यों को सार्वजनिक संस्था के रूप में स्थापित कर दिया। प्लेटो ने अपने संवाद ग्रन्थों में आरफियनों[२] का उपहास किया और उनके कतिपय विचारों को ग्रहण किया। एशिया माइनर में जब सबसे पहले ईसाई धर्म फैला तो वहाँ विभिन्न रहस्य प्रचलित थे, पॉल की ईश्वर विद्या इनसे सबल रूप से प्रभावित हुई। जॉन का सुसमाचार [गॉस्पॅल][३] एक रहस्यवादी प्रलेख [डाक्यूमेंन्ट] है : "मैं अंगूर की बेल हूँ तुम उसकी शाखाएँ हो........मैं तथा पिता एक हैं।" प्लेटो (२०४-२७०) के शिष्य प्लोटिनस ने अपने विचार की शक्ति तथा अपने चरित्र की उदात्तता से रहस्यवाद को क्लासिकी जगत् के लिए स्पष्ट दार्शनिक अभिव्यक्ति के रूप में ऊँचा उठा दिया।

प्लोटिनस का प्रभाव बहुत व्यापक था। नव्य-प्लोटिनसवादियों जैसा कि उनके स्कूल को कहा जाता है, के माध्यम से उसका प्रभाव एलैक्जैन्ड्रिया से होकर उस समस्त जगत् में फैल गया जिसमें शास्त्रीय परम्परा लुप्त होती जा रही थी। इसे अरबी दर्शन को सम्प्रेषित किया गया, और फिर पुनः एशिया के मुसलमान रहस्यवादियों की शृंखला में इसको बल मिला (अलगजाली, १०५८-११११, जो जब बगदाद में दर्शन पढ़ा रहा था, तो संदेहवाद में पड़ गया और इसी कारण उसने अपना पद एवं अपने परिवार को त्याग कर अपने आपको तपस्या में लगा दिया, और अन्ततः उसने रहस्यवादी दर्शन को अपना लिया)। इसने छद्म-वेदी-डायोनीसियस को जिसके विषय में हम कह चुके हैं, प्रभावित किया, जो ईसाई रहस्य-

वादियों की एक लम्बी शृंखला का जनक हुआ (जॉन स्काटस एरिजिना, बर्नार्ड ऑव क्लेयरवो, माइस्टर एकहार्ट, टालर, सूसो, टेरेसा, कूसा का निकोलस, ब्रूनो, सायलोसियस, बोइमे, दाते, विलियम ब्लेक, कालरिज)।

स्पिनोज़ा तथा शैलिंग के सिद्धान्तो की रहस्यवाद के इस सिद्धान्त से बहुत अधिक समानता है कि उस एक, परमतत्त्व का वर्णन नही किया जा सकता क्योंकि सभी वर्णन उसे सीमित करते हैं (ओमनिस डिटरमिनेशियो एस्ट निगेशियो)। वह परमतत्त्व मनस् एवं जड पदार्थ, शुभ तथा अशुभ, सान्त एवं अनन्त, यहाँ तक कि सख्यावाचक एक तथा अनेक के भेद से भी परे है।

स्पष्टत रहस्यवाद बहुधा एक ऐसी गहन दार्शनिक चेतना की उपज है जो दर्शन की कोरी बौद्धिकता से असतुष्ट हो गई है, और एक ऐसी गहन धार्मिक चेतना की उपज है जो सभी प्रकार के धर्मविधा मूलक रूढिगत सिद्धान्तों से असतुष्ट हो चुकी है। यह तत्त्व कही सुनी अथवा वर्णन की अपेक्षा प्रत्यक्ष रूप से जानने की वैयक्तिक आत्माओ की अतोषणीय अभिलाषा से प्रेरित होती है। परम्परा की अपेक्षा 'आन्तरिक प्रकाश' पर निर्भर होने के कारण इसकी नास्तिकता की ओर सतत प्रवृत्ति होती है। यह जोन ऑव आर्क, ब्रूनो, स्पिनोज़ा जैसे विधर्मियो को उत्पन्न कर सकता है। अथवा यह परपरा के भीतर से ही 'क्वेकर्स',[५] पाइटिस्टो[४] जिनमे से कान्ट उत्पन्न हुआ, ऍनेबैपटिस्टों[६] जो प्यूरिटनों[७] के पूर्वज थे, जैसे व्यतिक्रमों को उत्पन्न कर सकता है।

कुछ भी हो रहस्यवादी का यह आरम विश्वास कि दैवी तत्त्व का उसमे तादात्म्य है वह परम सत्य पर स्वय प्रत्यक्ष रूप मे पहुँच सकता है, महान् एवं स्वतन्त्र महापुरुषों को उत्पन्न करने के लिए पूर्ण रूप से उपयुक्त है, साथ ही उसने कट्टरपन्थी तथा रहस्यवादी अध्यात्मवादी व्यर्थ लोग भी उत्पन्न किए हैं। तथापि, हमे असफलताओ से कुछ नही लेना है। क्योंकि यदि इतिहास की अवधि मे एक भी सच्चा रहस्यवादी हुआ, जैसे कोई मोहम्मद, कोई बुद्ध, कोई सन्त फ्रान्सिस, तो उस व्यक्ति के अनुरूप एक सच्चा रहस्यवाद भी होगा जो नकली रूपो से पृथक् करके इसे पहचानने मे हमारे प्रबल प्रयासो को पुरस्कृत करेगा।

□□□

अध्याय २४

सैद्धान्तिक रहस्यवाद

(२४८) रहस्यवाद के दो पक्ष हैं : इसकी तत्वमीमांसा तथा इसकी जीवन-पद्धति, इसका सिद्धान्त तथा इसका व्यवहार।

सैद्धान्तिक रहस्यवाद, शुद्ध एकत्व की तत्वमीमांसा, उन सभी बातों से पुष्ट होती है जिन्हें द्वैतवाद के विषय में विवेचन करते समय, हमने एकवाद के पक्ष में रखने का प्रयास किया। परन्तु यदि इस एकत्व का वर्णन नहीं किया जा सकता, तो इससे यह अनुगमित होता है कि हमें इसे न तो मानसिक अथवा भौतिक कहना चाहिए और न ही प्रत्ययात्मक अथवा प्रकृत्यात्मक। इस सिद्धान्त में और अध्ययन की आवश्यकता है।

(२४९) महान् रहस्यवादी ज्ञान की अन्तिम सीढी पर पहुँचने के लिए सहजानुभूति पर विश्वास रखते हुए भी सामान्यतः प्रखर तार्किक रहे हैं। उन्होंने इस बात का प्रमाण जैसा दिया कि सत् में गुण नहीं हो सकता। जैसाकि हम पहले ही (२१८वें परिच्छेद में) देख चुके हैं उन्होंने उसी तर्क का प्रयोग किया है जो यथार्थवादी को प्रभावित करता है, अर्थात् जो सामान्यतः सब वस्तुओं में विषय में सत्य है वह किसी भी वस्तु का विशेष लक्षण नहीं हो सकता। प्रत्येक सभावित 'विधेय' किसी अन्य का बहिष्कार करता है, जैसे 'महान्', 'जो महान् नहीं है' उसका। यदि हम कहें कि 'सत् महान् है' तो उसके साथ ही उसमें यह निषेध सन्निविष्ट है कि सत् लघु हो सकता है। परन्तु यह सत् को सीमित करता है। रहस्यवादी में यह स्वीकार करने की प्रवृत्ति होती है कि यथार्थ अपनी सूक्ष्मतम स्थिति में भी पूर्ण तथा समग्र ही हो सकता है, जिस प्रकार समुद्र की छोटी से छोटी बूँद में भी क्षारीय गुण पूर्णरूप से विद्यमान रहता है अथवा जिस प्रकार थोडी सी भी चोट लगने पर व्यक्ति यह कह सकता है कि 'मैं घायल हूँ',—ऐसा कहने में वह सम्पूर्ण आत्म के रूप में अपना तादात्म्य शरीर के उस अश से कर लेता है जो घायल है। अतः सत् को न तो महान् ही कहा जा सकता है और न अ-महान् : ये परिमाणात्मक तथा सापेक्ष विचार इस पर प्रयुक्त नहीं होते।

इसी कारण, हम सत् को न तो शुभ अथवा अशुभ कह सकते हैं और न ही दोनों का मिश्रण· यह शुभ-अशुभ के भेद से परे होगा, क्योंकि यह भेद हमारे सीमित मानवीय दृष्टिकोण पर निर्भर होता है। इसी प्रकार यह मानसिक तथा अ-मानसिक के भेद से भी परे होगा। यह भलीभाँति कहा जा सकता है कि यथार्थवादी को जो तटस्थता अनुभव के अपने विश्लेषणात्मक अशों में उपलब्ध होती है वह रहस्यवादी के एकत्व [यूनिटी] में पुनः प्रकट होती है,—जो विश्वव्यापी 'तटस्थ सत्ता' है।

परन्तु यदि हम अपनी दलील मे दृढ रहे, तो हमे यह ध्यान मे रखना होगा कि 'तटस्थ', अथवा 'वैश्वक' अथवा साधारण सख्यात्मक अर्थ मे 'एक' के रूप मे भी एक का वर्णन करने का तात्पर्य होगा कि हम इससे 'अ-तटस्थ' और इसी प्रकार के अन्य लक्षणो का बहिष्कार कर रहे हैं, क्योकि ये भी वर्णनात्मक हैं। इसलिए सगति के हेतु हमे मौन ही रखना होगा। वस्तुतः, क्या हम उन्ही तर्कों [विचारो] को पुनरुज्जीविन नही कर रहे हैं जिनके अनुसार कुछ विचारक अज्ञेयवाद तथा अज्ञेय के सिद्धान्त पर पहुँच गए थे? वास्तव मे यह सत्य है कि अज्ञेयवादी अपने दर्शन के इस पक्ष मे, प्राचीन रहस्यवादी आधार का आश्रय लेता है इस सीमा तक, काट तथा हरबर्ट स्पेन्सर रहस्यवादी हैं। परन्तु इस तर्क के विषय मे दो या तीन टिप्पणियाँ देनी हैं।

(२५०) पहली, रहस्यवादी उन विभिन्न परस्पर विरुद्ध विधेयो के बीच जिन्हें हम सत् पर आरोपित करने का प्रयास करते हैं उदासीन होने के अर्थ मे तटस्थ होने का बहाना नही करता।

इस भय से हम सत् को 'शुभ' कहने से स्वय को रोक सकते हैं कि ऐसा करने पर यह 'शुभ' की हमारी अपनी सकल्पनाओ तक ही सीमित हो जायगा, परन्तु फिर भी हम यह मानते हैं कि 'अशुभ' की अपेक्षा 'शुभ' सत्य के अधिक निकट है।* और जबकि रहस्यवादी निश्चित रूप मे यह कहने मे सकोच करता है कि यथार्थ 'मानसिक' है अथवा 'वैयक्तिक' है—क्योकि जिस मानसिकता को हम जानते हैं उसे जीवित रहने तथा बढने के लिए अ-मानसिक की आवश्यकता होती है, और जिस व्यक्तित्व को हम जानते हैं उसे अपनी अत्यन्त आशिक भूमिका निभाने के लिए अपने चारो ओर अन्य व्यक्तियों के समाज की आवश्यकता होती है—तो भी, हमसे जो बाहर सत् है उसे हमारे भीतर के चरम आन्तरिक आत्म के साथ एक मानते हुए वह यह मानता है कि 'जडपदार्थ' अथवा किसी भी अ-मानसिक वस्तु की अपेक्षा 'मनस्' अथवा 'आत्म [स्पिरिट] सत्य के अधिक निकट होगा। इस प्रकार, जब रहस्यवादी अपने को उस आस्तिक परम्परा से अनुकूल नहीं पाते हैं जो ईश्वर के व्यक्तित्व पर बल देती है, तब सामान्य रूप से वे अपने सत् को 'ईश्वर' की सज्ञा देते हैं। और स्पिनोजा ने, जिसने अनेक अन्य व्यक्तियो की तुलना मे अधिक कठोर तटस्थता को अपनाया, प्रकृति अथवा ईश्वर अभिव्यक्ति का प्रयोग किया है।

(२५१) दूसरे, रहस्यवादी के इस निर्णय का कुछ कारण है कि यह जानने की अपेक्षा कि एक किस प्रकार का है यह मानना अधिक महत्त्वपूर्ण है कि उस एक का अस्तित्व है। यदि कथन की एक दार्शनिक असभ्य विधा का प्रयोग करें तो, इस स्थिति मे 'तद् [दैट]' 'किम् [ह्वाट]' की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। उदाहरणार्थ·

---

* सभी वस्तुओं का कारण उनमें से कोई एक नहीं है। इसलिए इसे शुभ के उस अर्थ में शुभ नहीं कहा जाना चाहिए जिसे यह अन्यों को प्रदान करता है। परन्तु दूसरे अर्थ में यह 'शुभ' स्वय है, एक प्रकार से यह सभी अन्य शुभों का अतिक्रमण करता है। —प्लोटिनस, ईनियाड ६/९/६

हाल का एक उपन्यास किन्हीं श्रीमन् फरगुस तथा किन्हीं श्रीमन् सैवर को शतरज की समस्याओं पर विचार करते हुए दर्शाता है। श्रीमन् फरगुस की यह धारणा है कि प्रत्येक मनुष्य का इस जीवन मे कोई लक्ष्य [मिशन] अथवा उद्देश्य होता है जो उस पर विश्व द्वारा आरोपित किया जाता है उसे इस बात का बिल्कुल भी पता नहीं होता कि वह क्या है, परन्तु यदि वह ईमानदारी से इसके लिए कार्य करता रहता है तो एक दिन वह उसके सम्मुख अवश्य प्रकट हो जायगा। उसका अपने लक्ष्य [मिशन] के 'तद्' [दैट] मे विश्वास है, बिना किसी 'किम्' [ह्वाट] के बोध हुए। सैवर सशयवादी है। वह एक सुस्पष्ट प्रश्न पूछता है

"आप किसी उद्देश्य के लिए कैसे कार्य कर सकते हैं यदि आप यह नही जानते कि वह क्या है?"

फरगुस का उत्तर है 'आप (शतरज) के किसी हल के लिए कैसे प्रयास कर सकते हैं, यदि आप यह नही जानते कि वह क्या है?"

'हाँ, परन्तु आप जानते हैं कि हल है।"

"ठीक, देखा आपने। आप जानते हैं कि [जगत् मे एक] लक्ष्य भी है।" "तद्" [दैट] आपको कार्य मे लगाए रखने के लिए पर्याप्त है।

अन्य उदाहरण भी हैं। वाल्टर बगेहाट ने जब मनुष्यों के पहले बडे राष्ट्रीय समूहों निर्माण के विषय म सोचा तो उसने कहा कि इतिहास मे ऐसा समय भी था जब अच्छे नियम की अपेक्षा नियम का होना अधिक महत्त्वपूर्ण था। नियम का 'तद् [दैट]' मात्र सभी के द्वारा मान्य होकर किसी समाज को बनाए रखने मे सहायक होना है, नियम के 'किम् [ह्वाट]' पर स्वय नियम की प्रभुता के स्थापित हो जाने के पश्चात् ध्यान दिया जा सकता है। युद्ध के आचरण मे, बार्नहार्स्ट के नियम को बहुधा उद्धृत किया जाता है युद्ध मे इससे बहुत कम अन्तर पडता है कि क्या किया गया है, [देखना यह पडता है कि] कुछ किया गया है, और उसे मिलजुलकर तथा सशक्त रूप म किया गया है—यदि कोई व्यक्ति ठिठुर रहा हो, तो उसके लिए यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि वह चलता रहे, वह किस प्रकार चलता है यह महत्त्वपूर्ण नही है। कभी कभी इसी प्रकार महानगर की पुलिस 'तद् [दैट]' तथा 'किम् [ह्वाट]' के बीच भेद करती है।*

* इन सभी स्थितियों में, भेद सापेक्ष है। बिना किसी किम् (ह्वाट) के कोई 'तद्' [दैट] नहीं हो सकता, अर्थात् आपके विषय के अभिज्ञान के लिए पर्याप्त 'किम्' [ह्वाट] होना चाहिए। इस प्रकार यदि आप किसी नियम को नियम के रूप मे जानते हैं, अथवा गति को गति के रूप में जानते हैं तो इसमें पहले से ही कुछ 'किम्' [ह्वाट] रहता है। इसलिए, यदि मैं जानता हूँ कि 'तद्' [दैट] ईश्वर है, बिना यह जाने कि वह 'क्या' है, तो मैं उस एक तत्व के विषय में पहले से ही कुछ 'किम्' [ह्वाट] को जानता हूँ जो इसके तथा ईश्वर के बीच तादात्म्य के लिए पर्याप्त है। परन्तु यद्यपि यह सापेक्ष है, तो भी यह भेद अपने अर्थ को नहीं खोता है।

तब, मान लीजिए कि हम, रहस्यवादी के कथनानुसार, बिना यह जाने कि ईश्वर क्या है यह जान सकते हैं कि ईश्वर का अस्तित्व है। ईश्वरवाद तथा निरीश्वरवाद दोनो के बीच मे यह एक प्रकार का मध्य क्षेत्र होगा। निरीश्वरवादी कहता है कि ईश्वर नही है। ईश्वरवादी कहता है कि ईश्वर का अस्तित्व है अर्थात् एक वैयक्तिक देवता का अस्तित्व है। रहस्यवादी कहता है कि निरीश्वरवादी का कथन सही है : ईश्वरवादी जिस ईश्वर की कल्पना करता है उसका अस्तित्व नही होता, ईश्वरवादी का कहना भी ठीक है,—कि ईश्वर है। इस प्रकार जो व्यक्ति ईश्वरवादी देवता को स्वीकार नही कर सकता, और फिर भी निरीश्वरवाद के आचीवरण मे विश्वास नही कर सकता, उसे, चाहे अस्थायी ही क्यो न हो, रहस्यवादी के 'तद् [दैट]' मे निरापद स्थिति प्राप्त हो सकती है।

इस स्थिति का महत्त्व यह है कि, शतरज की समस्या के समान ही व्यक्ति का काम चलता रह सकता है। निरीश्वरवादी पराप्रकृति के विषय मे आवश्यक रूप से सोचना और उसके अनुसार अपने जीवन का समायोजन करना बद कर देता है। प्रकृति के परे कुछ ऐसा है रहस्यवादी जिसको निकटतम अथवा प्रतीकात्मक सकल्पनाओं को प्राप्त करने के निमित्त सोचता रहता है तथा जिसे वह जीवन का सबल मानता है। इस प्रकार ईश्वर के अस्तित्व का 'तद् [दैट]' उस रूप मे परिचालित होता है जिसे काट ने 'नियामक' विचार की सज्ञा दी, एक ऐसा विचार जिसके अर्थ को हम किसी भी चित्र द्वारा रूपायित नही कर सकते, अपितु उसी कार्य के द्वारा कर सकते हैं जिसमे यह हमे प्रवृत्त करता है।

(२५२) तीसरे, अज्ञेयवादी के विरुद्ध रहस्यवादी का विश्वास है, कि सत् का गुण, यद्यपि वर्णनीय नहीं है, तथापि एक प्रकार के अव्यवहित ज्ञान द्वारा उसका अनुभव किया जा सकता है जो सप्रत्ययो के परोक्ष ज्ञान की अपेक्षा बहुत अधिक सतोषप्रद होता है, ठीक उसी प्रकार जैसे किसी व्यक्ति का साक्षात् परिचय सर्वाधिक उपयुक्त वर्णन की अपेक्षा अधिक सतोषजनक होता है।

सत् के इस अव्यवहित अनुभव को रहस्यवादियो के द्वारा सत्ता की एक असाधारण अथवा विशिष्ट अवस्था माना जाता है। यह एक प्रकार की दीक्षा है, जिसके पश्चात् कोई व्यक्ति जगत् मे फिर अजनबी नही रह जाता। कुल मिलाकर, वे बर्गसा की उस भाषा से सहमत होंगे जिसमें वह, जैसा हमे ध्यान आता है जीवनी शक्ति [एलाँ वाइटल] के बोध को प्राप्त करने की कठिनाई का वर्णन करता है। इस प्रकार सत् का दर्शन अथवा उसके साथ तादात्म्य कठिन तथा असाधारण है : परन्तु, यदि रहस्यवादी सही है, तो अनुभव ही बुद्धि तथा सकल्पेच्छा दोनों को सतुष्ट करता है। इसका बहुधा 'भगवद्दर्शन' के रूप मे उल्लेख किया जाता है, तथा महान् रहस्यवादियों—प्लेटो अथवा प्लोटिनस, एकहार्ट अथवा दाते—के शब्दों मे यह निहित है कि हमारे सामान्य वर्णनो द्वारा जिसका वर्णन किया जा सकता है सत् मूल्यात्मक रूप से उसका अतिक्रम करता है। उनके लिए यह अशुभ की समस्या को सुलझा देता है या यूँ कहें कि उसे समाप्त कर देता है, और मनस् मे न केवल साधारण अनुभव की कठिनाईयों के साथ सामजस्य स्थापित करता है अपितु मानो उनके लिए एक निश्चित रुचि को भी उत्पन्न करता है।

प्लेटो अपने [संवाद-ग्रंथ] सिम्पोजियम [परिचर्चा-गोष्ठी] में इस अनुभव को प्रतीकात्मक रूप में प्रस्तुत करता है

"उस व्यक्ति के लिए जिसे अभी तक प्यार की बातों की शिक्षा मिली है, और जिसने सुन्दर को यथोचित व्यवस्था तथा अनुक्रम में देखना सीख लिया है, वह जब अन्त की ओर पहुँचता है तो उसे अचानक आश्चर्यान्वित कर देने वाले सौंदर्य का दर्शन होता है—जो न विकसित होता है और न क्षीण होता है, अथवा जो न बढ़ता है और न जिसका ह्रास होता है, जो न तो किसी एक दृष्टि से उचित होता है और न किसी दूसरी दृष्टि से अनुचित ··· परन्तु जो केवल सौन्दर्य हो, परम विविक्त, सरल, शाश्वत हो तथा जिसे बिना ह्रास तथा बिना वृद्धि अथवा किसी भी परिवर्तन के अन्य समस्त वस्तुओं को नित्य विकासमान तथा विनाशशील सुन्दरताओं को प्रदान किया जा सके।' *

प्लोटिनस इसी बात को यों रखता है

"अब, बहुधा मैं अपनी देह से अपने सच्चे आत्म पर पहुँच जाता हूँ, और बाकी सभी से ऊपर उठकर अपने में प्रविष्ट हो जाता हूँ और एक अद्भुत सौन्दर्य का अवलोकन करता हूँ, और उस समय विशेष रूप से मैं यह बात स्वीकार करने के लिए बाध्य हो जाता हूँ कि मैं अपेक्षाकृत अच्छे क्षेत्र से सम्बन्धित हूँ और उत्कृष्ट रूप से एक अच्छा जीवन व्यतीत करता हूँ और सम्पूर्ण बुद्धिगम्य क्षेत्र से परे एक धरातल पर पहुँचकर, ईश्वरत्व से मेरा तादात्म्य स्थापित हो जाता है और उसमें पूरी तौर से स्थायी होकर मैं इसकी दैविक क्रिया को प्राप्त कर लेता हूँ, ··· ···

'और न ही वह (जिसको ऐसा दर्शन प्राप्त हो गया है) अपने को सुन्दरता से सम्बद्ध मानता है, क्योंकि वह सौन्दर्य से परे पहुँच गया है और उसने सद्गुणों की शृंखला का भी अतिक्रमण कर लिया है जैसे कोई पवित्रों में से पवित्र के अन्तर में पैठ गया है, और उसने देवताओं की प्रतिमाओं को अपने पीछे मन्दिर में ही छोड़ दिया है। इन प्रतिमाओं को वह पुनः तब तक नहीं देखेगा जब तक कि वह जो अन्दर रहता है उसका दर्शन करने बाहर नहीं आ जाता, और फिर वह स्वयं दिव्य तत्त्व से ही सबंध स्थापित करता है जिसकी न तो कोई प्रतिमा होती और न कोई बिम्ब होता है—और प्रतिमाएँ जिसके गौण बिम्ब हैं। और शायद उसका अनुभव दिव्य दर्शन [वीजन] नहीं था अपितु एक दूसरे प्रकार का प्रत्यक्ष था, आनन्दातिरेक तथा सरलीकरण तथा आत्म समर्पण,··· एक विचार जो ऐसी सत्ता पर केन्द्रित हो गया है जो दिव्य तत्त्व में विलय हो गई है।"‡

रहस्यवादी के इस वर्णन [रिपोर्ट] में, अपनी वैचारिक तटस्थता से चाहे हम उसे कोई अर्थ दे सकें अथवा न दे सकें हमारी एक प्रतीति की पुष्टि होती है जो हममें से सभी को कभी न कभी होती है कि जगत् का आन्तरिक मूल्य असीमित है, कि अपने अनुभव में साधारण रूप से अच्छे बुरे तत्त्वों के संकर जातीय मिश्रण में रंग बिरंगा रूप है जिसका

---

* सिम्पोजियम (परिचर्चा-गोष्ठी), २१० और आगे।

‡ बेकवैल की सीरीज़ 'सोर्स बुक इन एनशियेंट फ़िलॉसोफ़ि में' फुलर द्वारा अनुवादित, पृ ३८६, ३९२।

मूल्य मंकारद है, कि हम आशावाद तथा निराशावाद के बीच व्यर्थ समय गवा सकते हैं, और यह हमारी दृष्टि के धुंधलेपन का परिणाम है न कि वस्तुओं के अपने स्वभाव का। जीवन के तात्त्विक मूल्य के विषय में अपने कथन में, रहस्यवादी बिना सावधानी, असकरण अथवा समझौते के मौलिक है। और कम से कम कुछ रहस्यवादियों ने इस प्रकार का जीवन व्यतीत किया है मानो मूल्य का यह प्रत्यक्ष, जो उन्हें असाधारण अन्तर्दृष्टि के दुर्लभ क्षणों में प्राप्त हुआ था, उनकी साधारण चेतना में सतत विद्यमान रहने वाला घटक बन गया है, और उसने उनके निर्णय तथा कर्म को रूपान्तरित कर दिया है।

"अब क्योंकि दिव्य दर्शन के समय दो सत्ताएँ नहीं थीं अपितु द्रष्टा दृश्य के साथ एकीभाव में स्थित हो गया था...., तो वह व्यक्ति, जो इसके साथ एकीभाव में स्थित हुआ था, दिव्यतत्त्व की एक धुंधली सी तस्वीर अपने मनस् में रख सकता है।"*

इसलिए यह कहना सत्य से बहुत दूर होगा कि अकथनीय होने के कारण रहस्यवादी का एकतत्त्व लक्षणहीन तथा तटस्थ है।

परन्तु वस्तुओं के स्वभाव के विषय में इस विशेष अन्तर्दृष्टि की उपलब्धि केवल शुद्ध बौद्धिक प्रयास से नहीं हो सकती। यह एक ऐसे प्रयास का फल है जो मुख्यरूप से नैतिक है। इसलिए, अब हम रहस्यवाद के व्यावहारिक पक्ष पर विचार करेंगे।

□□□

* प्लोटिनस, फुलर का अनुवाद, पृ. ३९१।

अध्याय ३५
व्यावहारिक रहस्यवाद

(२५३) ऊपर उद्धृत प्लेटो तथा प्लोटिनस के शब्दों से, यह स्पष्ट है कि रहस्यवादी को सत् का जो अनुभव होता है, वह प्रकृति में सौन्दर्य के हमारे प्रत्यक्ष से घनिष्ठ रूप से सबद्ध है। शायद रहस्यवादी अनुभव का सरलतम तथा अत्यधिक व्यापक रूप वह है जो सौन्दर्य की इन झलकियों में रूप के रोचक नाटक तथा वस्तुओं के सतही गुणों की अपेक्षा कुछ अधिक देखता है। यह अधिक इस बात का संकेत है कि प्रकृति के अन्तर में एक ऐसा तत्त्व है जो हमारे सदृश है और जो मानो उस आन्तरिक तत्त्व से हमारी एकता को स्पष्ट रूप से अनुभव करने का निमन्त्रण है। बॅलफ़ूर के ये शब्द उन अनेक लोगों के लिए महत्त्वपूर्ण होंगे जो उस तत्त्व-दर्शन में चेतन रूप से सहभागी नहीं होते जिसके विषय में रहस्यवादी बताता है :

'परन्तु जब हम उन अत्यन्त विरल अलभ्य क्षणों पर दृष्टिपात करते हैं जिनमें किसी सुन्दर विषय के द्वारा हममें उत्पन्न भावनाएँ न केवल हमें अपने में सम्पूर्ण रूप से समोनी प्रतीत होती हैं, अपितु हमें वस्तुओं को देखने की ऐसी दृष्टि पर पहुँचा देती हैं जो दैहिक संवेद अथवा तर्कमूलक बुद्धि की पहुँच से बहुत ऊपर है, तो हम किसी भी ऐसी व्याख्या के प्रयास के लिए मौन स्वीकृति नहीं दे सकते जो मनोवैज्ञानिक तथा शरीर-क्रिया-वैज्ञानिक कारणों तथा कार्यों की मात्र गणना तक ही सीमित रहता है। ... . अत, हम लोग तत्त्व-मीमांसात्मक सौन्दर्य-शास्त्र की विशिष्ट योजना को स्वीकार करने के लिए चाहे जितने भी कम तत्पर क्यों न हों—और इनमें से अधिकांश मुझे बहुत युक्तिहीन प्रतीत होती हैं—हमें यह मानना ही चाहिए कि कहीं पर तथा किसी सत्ता [बीइंग] के लिए सौन्दर्य की एक अपरिवर्तनीय भव्यता दमकती है, जिसकी प्रकृति तथा कला [आर्ट] में हममें से प्रत्येक अपने अपने दृष्टिकोण के अनुसार विशीर्ण होती हुई झलकियाँ तथा आकस्मिक प्रतिबिम्ब देखते हैं। तथापि निरीक्षण तथा प्रयोग से इस प्रकार के किसी भी रहस्यवादी सिद्धान्त [पन्थ] को नहीं निचोड़ा जा सकता, और न ही विश्व के प्रकृतिवादी सिद्धान्त के साथ इसकी सगति को बलपूर्वक बैठाया जा सकता है।"*

रवीन्द्रनाथ टैगोर जैसे रहस्यवादी में, सौन्दर्य तत्त्वमीमांसात्मक दीक्षा के लिए मुख्य मार्गदर्शक बन जाता है, तथा कला तत्त्वमीमांसात्मक सत्य के सप्रेषण के लिए मुख्य साधन बन जाती है।‡ परन्तु जैसाकि प्लेटो के शब्द निर्देश करते हैं, रहस्यवादियों ने एकमत से यह

---

* 'दि फाउन्डेशन्स ऑव बिलीफ़' [विश्वास की आधारशिलाएँ] पृ ६५ तथा आगे।

‡ साधना, विशेष रूप से दूसरा अध्याय। चार्ल्स बैनेट की पुस्तक मिस्टिसिज्म [रहस्यवाद] का पन्द्रहवाँ अध्याय देखें।

स्वीकार किया है कि यथार्थ का, यहाँ तक कि सौन्दर्य बोध के द्वारा भी अपना विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करने के लिए, एक प्रकार की नैतिक तैयारी अथवा सकल्पेच्छा के नियमन की अपेक्षा होती है।

(२५४) रहस्यवाद के अधिक प्रचलित रूपो मे, यह अनुशासन कतिपय सयमो तथा पवित्रीकरण के सस्कारो मे निहित था। ग्रोरफिक नियम के अनुसार मास, किन्हीं प्रकार की मछलियो, सेमों[बी-स]का भोजन निषिद्ध था, एक विशिष्ट प्रकार की वेशभूषा निर्धारित कर दी गई थी, और अनेक प्रकार से जीवन के तापसी नियमन की अपेक्षा थी। रहस्यवाद के अधिक बौद्धिक रूपो को सूक्ष्म आत्म-परीक्षण, विचार करने तथा इच्छा करने के अपने स्वाभाविक तरीकों की समालोचना, तथा उनमे जो कुछ भी आंशिक अथवा असत्य मिले उसके बहिष्कार के मानसिक क्रियान्वयन की अपेक्षा होती है। फलस्वरूप साधारण स्वाभाविक रुचि तथा महत्त्वाकांक्षा के विषयो को, तत्वत बुराई के रूप मे नही, अपितु श्रेष्ठ शुभ मे कुछ कम होने के रूप मे, तदनुरूप मनस् की स्वतन्त्र उडान के लिए यह न्यूनाधिक अवरोधक के रूप मे, बहुधा इसने अस्वीकार करने का ही रूप ग्रहण किया। प्लोटिनस के अनुसार

"मेरा कहना है कि वह व्यक्ति इस प्रकाश का दर्शन नही करेगा, जो सर्वोच्च के दर्शन की स्थिति पर पहुँचने का तब प्रयास करता है जब वह उन वस्तुओ के द्वारा नीचे की ओर आकृष्ट होता है जो उस दर्शन मे व्यवधान हैं। अत वह व्यक्ति जो अभी तक वहां नही पहुँचा है वह इन बाधाओ के द्वारा अपने को अपनी विफलता का कारण मान सकता है, और उसे सभी अन्य वस्तुओ से अपने को पृथक् करने का प्रयास करना चाहिए।"*

सामान्य रूप मे, रहस्यवादी त्याग की मनोवृत्ति के रूप मे 'जगत् से' एक प्रकार की 'उडान' का निर्देश करता है जो हमारी स्वाभाविक वर्तमान वृत्तियो के अनुकूल नही होता। तदनुसार उसकी नैतिक तैयारी की प्रणाली को "निषेधपरक [नकारात्मक] मार्ग" कहा गया है।

(२५५) इस नकारात्मक मार्ग का एक सक्षिप्त चित्र देने के लिए, हम इसका भौतिक, बौद्धिक तथा नैतिक रूप से 'जगत्-उडान' अथवा निवर्तन के रूप मे वर्णन कर सकते हैं।

भौतिक जागतिक-उडान विचार की समस्त एकाग्रता मे, इन्द्रियो के द्वारा ध्यान भग [अन्यमनस्कता] से बचने की प्रवृत्ति होनी चाहिए। फीडो मे इस तथ्य पर सुकरात इस वाक्याश मे कि 'दर्शन का सच्चा शिष्य अन्य मनुष्यो के द्वारा गलत समझा जा सकता है, उन्हे यह दिखाई नहीं देता कि वह सदा मृत्यु का पीछा कर रहा है तथा मर रहा है' एक अनूठी आलोचना करता है। सवाद मे इस टिप्पणी को वह निम्न प्रकार से स्पष्ट करता है:

"ज्ञान की वास्तविक प्राप्ति के विषय मे हम क्या कहेगे? यदि देह को अन्वेषण मे भाग लेने के लिए आमन्त्रित किया जाय तो यह बाधक होगी या सहायक? जैसाकि कवि हमे सर्वदा कहते रहते हैं, क्या दृष्टि तथा श्रवण गलत साक्षी नहीं हैं?—आत्मा सत्य को

* एनियाड ६/९/४, टेलर द्वारा अनूदित।

कब प्राप्त करती है ? यदि होना ही है तो क्या सत् को विचार मे उद्घाटित नही होना चाहिए ?

हाँ।

और विचार सर्वाधिक उपयुक्त स्थिति मे तब होता है जब मनस् अपने मे ही एकाग्र रहता है, और इनमे से कोई भी वस्तु उसे परेशान नही करती—न तो ध्वनियाँ न दृष्टि न दु:ख और न ही कोई सुख—जब उसका देह से कम से कम सबध होता है, और उसे देह का न तो बोध रहता है और न अनुभूति, परन्तु सत्ता की ओर उन्मुख हो रहा होता है ?

यह सत्य है।"*

इसी प्रकार एकाग्रता के उस विशिष्ट रूप मे जिसे पूजा अथवा प्रार्थना कहा जाता है, ऐन्द्रियानुभव के सामान्य प्रवाह से हम सहज ही दूर हट जाते हैं,—मस्जिद के भीतर प्रकाश तथा ध्वनि के रूपान्तरण मे, सुगन्ध [लोबान] मे, शारीरिक क्रिया के अवरोध मे, उन आसनो मे जो ज्ञानेन्द्रियो को और अधिक अवरुद्ध कर देते हैं। इस प्रकार की कार्यप्रणाली को रहस्यवादियो ने एकाग्रता की प्रविधि अथवा 'एकाग्रता तथा शान्ति' के रूप मे विकसित किया है।

बौद्धिक जागतिक-उडान : अपने आपको व्यवस्थित रूप से याद दिलाने की प्रक्रिया है कि जितने भी सप्रत्यय इस सत् पर प्रयुक्त करने के अभ्यस्त हैं वे सभी अपूर्ण रूप से सत्य हैं, और इसलिए उनका बहिष्कार कर दिया जाना चाहिए। यह, यथार्थ, प्रकृति नही है, यह जड पदार्थ भी नही है, यह ऊर्जा भी नहीं है, यह शक्ति भी नही है, यह दिक् भी नही है, और न ही दिक् मे उपस्थित कोई वस्तु है, यह न तो समाज है और न राज्य है। कतिपय रहस्यवादियों के द्वारा इस प्रक्रिया को 'प्राणियों' अर्थात् गौण सत्ताओ को 'अलग हटा देना' कहा गया है। माइस्टर एकहार्ट इस बात को यो रखता है

"यदि कोई व्यक्ति किसी आन्तरिक कार्य को करता है, तो उसे अपनी समस्त शक्तियों को अपने भीतर मानो आत्म के एक कोने मे उँडेल देना चाहिए और उसे अपने को समस्त बिम्बो एव रूपो से छिपा लेना चाहिए। फिर उसे विस्मृत एव नही जानने की अवस्था मे आ जाना चाहिए। उसे नीरवता तथा खामोशी की अवस्था मे होना चाहिए और उसी अवस्था मे वह उस अनिर्वचनीय शब्द को सुन सकता है। जब कोई व्यक्ति कुछ नही जानता, तब यह खुल जाता है और प्रकट हो जाता है।"†

विशेष रूप से हमे यह परामर्श दिया गया है कि यह स्मरण रखना महत्त्वपूर्ण है कि हमारे सप्रत्ययो द्वारा विषयों के जगत् मे जो अन्तर तथा वर्गीकरण किए जाते हैं वे भ्रामक हैं, क्योंकि वास्तव मे सभी वस्तुएँ एक हैं। हमें उन सीमाओ को अस्वीकार करना चाहिए जो वस्तु को वस्तु से, व्यक्ति को व्यक्ति से, स्तर को स्तर से, जाति को जाति से, राष्ट्र को राष्ट्र से पृथक् करती है। जिससे यह प्रतीत होता है कि रहस्यवादी, अपने निषेधो के द्वारा वस्तुओं मे तत्त्वो की एकता के बोध पर पहुँच रहा है, जो विश्व की, बन्धुत्व तथा समता परक आधार-सरचना का साक्षात्कार है।

---

* फीदो, ६५।

† ब्रॉक्लिन्टन, II, अकर दित, ३८१।

नैतिक जागतिक-उड़ान : उसी तरीके से व्यक्ति इस अस्वीकृति का क्रियान्वयन करता है कि सभी आंशिक शुभ, शुभ होते हैं : उनमे से प्रत्येक पर विचार करने के बाद कोई भी ऐसा नही निकलता जो हमारी आत्मा के फ़ाउस्टी तत्त्व* को सदा के लिए सन्तुष्ट कर सके। इसलिए रहस्यवादी के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी इच्छा तथा आकांक्षा के विभिन्न विषयों पर ध्यान दे, और उनमे से प्रत्येक का क्रमश. बहिष्कार करे - 'यह शुभ नही हैं।' विशेषरूप से घृणित इच्छाएँ,—प्रतिद्वन्द्विताओ, प्रतिस्पर्धाओ, विरोधो [विद्वेष] का दमन करना आवश्यक है। यहां तक कि उसे अपने सद्गुणो मे भी इस रूप मे संदेह करना चाहिए कि वे पूर्ण रूप से शुभ नही हैं, और उनसे प्राप्त समस्त सन्तोष का त्याग कर देना चाहिए। क्योंकि यह तथ्य कि किसी सद्गुण को चेतन रूप से जाना जा सकता है और उसका नामकरण किया जा सकता है यह दिखाता है कि यह किसी सीमा तक आत्मसंतोष से भ्रष्ट हो गया है अथवा सकल्पेच्छा की तात्त्विक सरलता से सवलित हो गया है और सकल्पेच्छा की तात्त्विक सरलता ही पूर्ण रूप से उचित है। बुजुर्ग लाओत्से कहता है .

"यदि सौन्दर्य सौन्दर्य का प्रदर्शन करता है, तो यह कोरी कुरूपता है यदि शुभत्व शुभत्व का प्रदर्शन करता है (यदि स्वयं के प्रति भी) तो यह केवल बुराई है,

"श्रेष्ठ शुभत्व जल के समान है (पारदर्शी, बिना स्वाग्रह के प्रत्येक वस्तु को आच्छादित करते हुए) : जल की शुभता दस हजार वस्तुओ को लाभ पहुँचाती है, तो भी यह (अपनी आवाज को तेज नहीं करते हुए), किसी से झगड़ती नही।

"श्रेष्ठ सद्गुण अ-सद्गुण है : इसलिए इसमे सद्गुण है। निकृष्ट सद्गुण सद्गुण की ओर देखना कभी नही छोड़ता, इसलिए इसमे कोई सद्गुण नहीं होता। श्रेष्ठ सद्गुण निर्वाक् और प्रदर्शन-विहीन होता है। निकृष्ट सद्गुण वाचाल तथा दिखावटी होता है।

"पाण्डित्य को त्याग दो, और फिर आपको कोई परेशानी नही रहेगी। अपनी साधुता का त्याग कर दो, अपनी समझदारी को अलग रख दो (और मनुष्यों को सौगुना लाभ मिल जायगा)। अपनी परोपकारिता का त्याग कर दो, अपने न्याय को अलग कर दो (और लोग पुत्रसुलभ आज्ञाकारिता तथा पितृसुलभ निष्ठा की ओर लौट आयेंगे),

"वह जो पाण्डित्य खोजता है वह नित्यप्रति बढेगा। वह जो ताओ (सद्) को खोजता है वह नित्यप्रति घटेगा, उसका घटना तब तक जारी रहेगा जब तक कि वह निर्वाक्ता पर नहीं पहुँच जाता। और निर्वाक्ता को प्राप्त कर लेने के पश्चात् ऐसा कुछ भी नही है जिसे वह प्राप्त न कर सके।"*

व्यापक अर्थ मे इस नैतिक जागतिक-उड़ान को कभी-कभी अकिंचनता का पोषण कहा जाता है : मनस् तथा हृदय की अकिंचनता; किन्ही अवस्थाओ मे वस्तुओ का वास्तविक त्याग (यथा बौद्धो के सम्प्रदायों, पर्शिया के रहस्यवादियों, सन्त फ्रान्सिस मे), तथा अन्य किन्ही अवस्थाओं मे, समस्त अभिमान एवं रागात्मक बन्धनों मे अनासक्ति का अभ्यास।

"यहाँ मैं वस्तुओं के अभाव के विषय मे नहीं बोल रहा हूँ,—क्योंकि अभाव अनासक्ति नही है, यदि इच्छाएँ रहें तो—अपितु उस निर्लिप्तता के विषय मे कह रहा हूँ जो इच्छाओं

---

* 'ताओ तेह किन्ग', कैरस के अनुवाद से लिया गया, परिच्छेद २, ३, ३८, २०, १६, ४८।

के दमन में तथा सुखों के परित्याग में निहित रहती है। इसीमें आत्मा मुक्त होती है, यद्यपि वस्तुएँ अभी भी इसके पास रहती हैं। अनासक्ति में किसी भी वस्तु के प्रति लोलुप नहीं होने के कारण आत्मा को शान्ति तथा विश्राम मिलता है उत्थान के द्वारा इसे कोई नहीं थकाता, और न ही विषाद के द्वारा कोई इसका दमन करता है। कि तू प्रत्येक वस्तु से सुखी हो सके [इसलिए] किसी भी वस्तु में सुख की खोज मत कर। कि तू प्रत्येक वस्तु को जान सकता है, [इसलिए] किसी भी वस्तु को जानने का प्रयास न कर। तेरे पास सभी वस्तुएँ हों इसलिए तू किसी वस्तु की ममता मत कर।"*

(२५६) यह स्पष्ट है कि रहस्यवादी का नकारात्मक मार्ग मुख्यरूप से आकार की दृष्टि से नकारात्मक है। वह सकारात्मक लक्ष्य पर पहुँचने के लिए नकारात्मक विधि का प्रयोग करता है। वह अप्रधान लक्ष्यों के भ्रामक आकर्षण से मुक्त होने का प्रयास करता है जिससे परम लक्ष्य बिना किसी रुकावट के उसके मनस् के सम्मुख उपस्थित हो जाए : जो आंशिक है उसे दूर रखते हुए वह यह आशा करता है कि जो पूर्ण है उसका उसे अव्यवहित बोध हो सकेगा।

'आत्मा अब उन सभी वस्तुओं को घृणा से देखती है जिनमें उसने कभी सुख लिया था जैसे,—शक्ति, सामर्थ्य, सम्पदा, सौन्दर्य, विज्ञान। ऐसा नहीं होता यदि आत्मा को इनकी अपेक्षा किसी अधिक अच्छी वस्तु का अनुभव नहीं हुआ होता।"‡

क्योंकि जैसा स्पिनोज़ा ने कहा है—और स्पिनोज़ा रहस्यवाद के अत्यन्त निकट था, त्याग के अपने वीरतापूर्ण वैयक्तिक जीवन में और ईश्वर के बौद्धिक प्रेम के रूप में,[१] आनन्द की कल्पना में मनस् से बिना किसी अधिक उद्दाम-भावना के—किसी भावना का बहिष्कार करना असंभव है।

कतिपय रहस्यवादियों के अनुसार, यदि आपका त्याग सच्चा है, तो परम शुभ आपके सम्मुख मानो स्वतः ही आविर्भूत हो जाता है, '—"जब अर्द्ध-देवता चले जाते हैं तब देवता प्रकट होते हैं।" अन्यों के अनुसार, 'प्रबोधन [प्रदीप्ति]' का चरम अनुभव एक ऐसा उपहार है जिसके लिए पूर्ण तटस्थता तथा बिना माँग के प्रतीक्षा करनी पड़ती है। संकल्पेच्छा में एक परिवर्तन होता है जो संकल्प के द्वारा नहीं लाया जा सकता,—क्योंकि संकल्पेच्छा किसी ऐसी वस्तु पर क्रिया करती है जो उससे बाहर हो। उसके द्वारा कोई व्यक्ति उस एक से तादात्म्य की ओर बढ़ता है जो स्वयं भी शुभ है। यह ऐसा ही है मानो कोई व्यक्ति जो दूसरे व्यक्ति को 'तुम' कहता रहा है, अब 'हम' कहना आरम्भ कर दे। मध्यम पुरुष से उत्तम में जगत् के विषयनिष्ठ तथ्यों में परिवर्तन के बिना संकल्पण के अन्तर्गत तादात्म्य का एक नया तत्त्व होता है। अनिर्वचनीय सत् का बोध अनिर्वचनीय संकल्प-प्रवृत्ति के द्वारा ही हो सकता है।

यहीं प्रत्ययवादी दर्शन तथा रहस्यवाद के बीच एक मौलिक भेद निहित है। प्रत्ययवादी का मत है कि जगत् एक आत्मा है। रहस्यवादी की मान्यता है कि यह ज्ञान बिना पर्याप्त

* मास का सन्त जॉन, सुबेरा डेल मॉन्टे कारमेलो, पुस्तक पहली, अन्डरहिल द्वारा उद्धरित, रहस्यवाद पृ. २६६. २४८।

‡ प्लोटिनस, ईनियड्स, ६/७/३४, चार्ल्स बेनेट द्वारा रहस्यवाद, पृष्ठ २६, से उद्धृत।

हुए ही सुनिश्चित होता है, अथवा ज्ञान की सत्ता के पूर्णत योग्य होना है। प्रत्ययवाद कभी भी धर्म का स्थानापन्न नहीं हो सकता और केवल धर्म मे ही तत्त्वमीमांसक सत्य को सच्चे रूप मे जाना जाता है। भारत के परम्परागत दर्शन ब्रह्मवाद मे विश्व ब्रह्म है, और प्रत्येक व्यक्ति भी ब्रह्म है। परन्तु यह निर्णय कि— 'मैं ब्रह्म हूँ' केवल विश्वास का विषय नहीं है, इसका 'साक्षात्कार' भी आवश्यक है। इसका साक्षात्कार करना ही निर्वाण प्राप्त करना है। परन्तु कोई व्यक्ति सत्संकल्प के प्रबल प्रयास से ही साक्षात्कार करने का निश्चय नहीं कर सकता, ठीक उसी प्रकार जैसे कि वह प्रबल संकल्प मात्र से ही सिम्फॅनि[3] के सौन्दर्य का स्पष्ट अनुभव नहीं कर सकता। 'हम' कहने का अधिकार शक्ति के द्वारा प्राप्त नही किया जा सकता। इसका दिया जाना आवश्यक है अथवा, मानो, यह व्यक्ति को स्वतः प्राप्त होना है। इसलिए सावधानीपूर्ण, शायद आजीवन, नकारात्मक मार्ग के अनुशासन की आवश्यकता पड़ती है। जैसे हिन्दुओ के योग की, सभी महान् धार्मिक तन्त्रो मे धार्मिक रूप से महत्त्वाकांक्षियो के लिए तपश्चर्या की, सामूहिक 'आराधना' की, क्योकि सामूहिक आराधना नकारात्मक मार्ग का अत्यन्त संक्षिप्त सार है।

(२५७) परम सत् तथा परम शुभ के कदाचित् अप्राप्य इस साक्षात्कार की खोज मे शक्ति को लगाने से किस व्यावहारिक जीवन को क्या दिशा मिलेगी? क्या यह, दुनिया व इसके उचित क्रियाकलाप से जानबूझ कर अलगाव स्थापित करने का पथ नहीं है, जो मध्ययुगीन रूमानीवाद से संगत हो सकता था, परन्तु जिसे अब हमने अन्तिम रूप से अस्वीकृत कर दिया है? तत्त्व अथवा शुभ की अमूर्त पूर्णता का ध्यान एक व्यर्थ उद्यम लगता है जैसाकि प्रोफेसर ड्यूई का सुझाव है, क्या अपनी इस शिक्षा के कारण कि किसी आदर्श तत्त्व के शुद्ध दर्शन [थीअरु] अथवा मनन का विशिष्ट महत्त्व है प्लेटो अन्तत. मानव जाति को पथभ्रष्ट करने वाला पथप्रदर्शक नहीं था। आदर्श जीवन मे उतारने के लिए होते हैं, केवल तकने के लिए नही।

इसके अतिरिक्त अपनी उपलब्धि के विषय मे रहस्यवादी की संकल्पना दोषपूर्ण प्रतीत होती है। यदि उसे परम शुभ की वास्तविक चेतना प्राप्त हो जाय, तो फिर उसके लिए ऐसा और कुछ नही है जिसकी वह इच्छा करे, न ही उसे किसी अन्य प्रकार की चेतना की ओर जाने, अथवा जगत् में कुछ करने की आवश्यकता है। शायद वह जगत् मे इसलिए नहीं लौटता कि उसे जगत् म लौटने की इच्छा है, अपितु तत्त्व दर्शन की अवस्था मे निरन्तर रह पाने की असमर्थता के कारण उसे लौटना पडता है। यदि यह स्थिति है तो उसकी दशा एक ऐसे व्यक्ति के समान होगी जिसकी वास्तविक रुचियां कही और हैं और जो अन्यमनस्क की भांति इस जगत् में सखेद लौटता है।

अनुभव की दृष्टि से नियम के रूप मे यह अलगाव घटित नही होता। यह सत्य है कि, हिन्दू रहस्यवादी को परम्परा से यह शिक्षा मिलती है कि वह अपने सांसारिक कर्मों को निरन्तर करता रहे, परन्तु निस्पृह होकर। यह भगवद्गीता का मूल विषय है। हिन्दुओं की कविताओ मे से यह एक अत्यन्त प्रभावशाली कविता है, जिसमे एक राजकुमार को युद्ध के समय भगवान् से यह प्रश्न करते चित्रित किया गया है कि शुद्ध दार्शनिक आधार पर उसे

युद्ध करना चाहिए या नहीं करना चाहिए। उसे युद्ध प्रारंभ करने का परामर्श दिया जाता है, परन्तु एक ऐसे व्यक्ति के रूप में—

'जिसके लिए जय-पराजय समान हों, जिसके लिए शत्रु और मित्र समान हों'* यह मनस् की ऐसी अवस्था है जो उत्साहपूर्ण युद्ध से कुछ कम की संभावना का संकेत देती है। परन्तु विशिष्ट रहस्यवादी वह है जिसके लिए जगत् में कर्म करना कर्म के स्थान पर अधिक रम्य हो। उसे अपने अनुशासन से जो उपलब्ध होता है वह विरक्ति नहीं, अपितु आन्तरिक निश्चितता, व्यक्तित्व के स्थायित्व के साथ मौलिकता, साहस तथा ऐसी नैतिक सुदृढ़ता जो साधारण शंकाओं से ऊपर प्रतीत होती है परन्तु जो उन सकारात्मक विषयों की अपेक्षा बिल्कुल भी उत्तम नहीं है जिनके पक्ष में वह अभय है। इस सन्दर्भ में, जोन ऑव आर्क को एक विशिष्ट रहस्यवादी के रूप में लिया जा सकता है।

क्या इस सिद्धान्त में कोई गलती तो नहीं है कि पूर्ण तथा परम शुभ को उस अस्थायी अनुभव में प्राप्त किया जा सकता है, जिससे अन्य वस्तुओं की समस्त चेतना को निकाल दिया गया है?

इसका उत्तर देने के सम्बन्ध में सर्वप्रथम यह प्रश्न उठता है कि क्या रहस्यवाद हमें नैतिकी अर्थात्, जगत् में कर्म की संहिता प्रदान कर सकता है अथवा इसे अपने अव्यावहारिक परामर्श को, जगत् से संन्यास ले लेने—निवृत्ति परक मार्ग तक ही सीमित कर देना चाहिए।

(२५८) जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं कि जगत् की अधिकांश शायद सभी, मौलिक नैतिक संहिताओं को रहस्यवादियों के द्वारा प्रतिपादित किया गया है, तो इस बात में कोई संदेह नहीं रहता कि रहस्यवाद इस दिशा में उर्वर है। शायद इस विरोधाभास के समाधान

* और अपने धर्म को देखकर भी [तू] भय करने योग्य नहीं है क्योंकि धर्मयुक्त युद्ध से बढ़कर दूसरा [कोई] कल्याण कारक कर्तव्य क्षत्रिय के लिए नहीं है। . . . सुख दुःख, लाभ हानि [और] जय पराजय को समान समझकर उसके उपरान्त युद्ध के लिए तैयार हो, इस प्रकार [युद्ध करने से तू] पाप को प्राप्त नहीं होगा। . . . जो पुरुष कर्म में [अर्थात् अहंकार रहित की हुई संपूर्ण चेष्टाओं में] अकर्म [अर्थात् वास्तव में उनका न होना] देखे और जो पुरुष अकर्म में [अर्थात् अज्ञानी पुरुष द्वारा किए हुए संपूर्ण क्रियाओं के त्याग में] भी कर्म को [अर्थात्] त्याग रूप क्रिया को देखे वह पुरुष मनुष्यों में बुद्धिमान् है [और] वह योगी सम्पूर्ण कार्यों का करने वाला है। . . जो सांसारिक आश्रय से रहित, सदा परमानन्द परमात्मा में तृप्त है वह कर्मों के फल और संग [अर्थात् कर्तृत्व अभिमान को] त्यागकर कर्म में अच्छी प्रकार प्रवृत्त होता हुआ हुआ भी कुछ भी नहीं करता है। [और जिस पुरुष ने] शरीर अन्तःकरण पर विजय प्राप्त करली है तथा जिसने सम्पूर्ण भोगों की सामग्री का त्याग कर दिया है वह आशा रहित पुरुष केवल शरीर सम्बन्धी कर्म को करता हुआ [भी] पाप को प्राप्त नहीं होता है। . . . निरन्तर आत्मभाव में स्थित हुआ दुःख सुख को समझनेवाला [तथा] मिट्टी पत्थर और सुवर्ण में समान भाव वाला एवं धैर्यवान् है [तथा] जो प्रिय और अप्रिय को बराबर समझता है [और] अपनी निन्दा स्तुति में भी समान भाववाला है [तथा जो] मान एवं अपमान में सम है [और] मित्र एवं वैरी के पक्ष में [भी] सम है वह सम्पूर्ण आरम्भों में कर्तापन के अभिमान से रहित हुआ पुरुष गुणातीत कहा जाता है।

—सेक्रेड बुक्स आव द ईस्ट, [पूर्व का पवित्र पुस्तकें] आठवाँ खण्ड, पृ ४७ ४८, ६०, ११०।
[अर्थात् भगवद्गीता, २/३१.३८, ४/१८, २०, २१, १४/२४, २५]
छान्दोग्य उपनिषद्, छठे खण्ड से। डायसन, सिस्टम ऑव द वेदान्त, पृ ३६१ और आगे।

का संकेत इस तथ्य में उपलब्ध हो कि सफल कर्म के लिए अनासक्ति तथा आसक्ति की एकता की आवश्यकता है। दो प्रकार के ऐसे स्वभाव हैं जिनके सफल होने की सम्भावना बहुत कम है और जो किसी भी महत्त्वपूर्ण कार्य में सफल होने के योग्य नहीं हैं वह स्वभाव जो किसी के विषय में बिल्कुल भी परवाह नहीं करता, और वह स्वभाव जिसे उसके विषय में चिन्ता ही चिन्ता है। कोई व्यक्ति जो सार्वजनिक पद के प्रति पूर्णत उदासीन है वह उस पद को प्राप्त करने के लिए सर्वथा अयोग्य होगा, और वह तब भी उसके अयोग्य होगा जब उसको खो देने पर उसका मन टूट जाए। किसी मनुष्य के अपने प्रयास सही हैं, और हम उसका आदर करते हैं, यदि वह सफल होने के लिए अपना पूरा प्रयास करता है और फिर भी सफलता अथवा असफलता के प्रति आन्तरिक विमुक्ति को बनाए रखता है क्योंकि वह अपने विशेष उद्देश्यों में से किसी से भी अधिक महान् है। अपने निवृत्तिपरक अनुशासन में रहस्यवादी जो करता है वह इस आन्तरिक व्यक्तित्व को केवल ऊपर से ओढ़ी हुई भंगिमा नहीं अपितु चरित्र की वास्तविकता में प्राप्त करना है। वह सम्पूर्ण आनन्द की ओर नहीं अपितु आनन्द की एक अनिवार्य शर्त की ओर ध्यानरत होता है।

(२५६) नैतिकी की सभी रहस्यवादी संहिताओं के सिद्धान्त को इस सरल रूप में रखा जा सकता है,

वही बनो जो तुम हो

अर्थात्, जैसे तुम वस्तुत हो वैसे ही कर्म में बनो। वास्तव में तुम ब्रह्म हो, तुम्हारा सबसे अधिक यथार्थ से तादात्म्य का संबंध है, इसलिए, आत्मविश्वास, स्वतन्त्रता, सरलता, छोटे-मोटे ऐन्द्रिय प्रलोभन तथा सामाजिक आकर्षणों से मुक्त होकर कर्म करो, ऐसा आचरण उस व्यक्ति का होता है जो निरपेक्ष मूल्यों को जानने वाला होता है। लाओत्से के लिए ताओ "स्वर्ग तथा पृथ्वी का नियम" है, और जीवन की संहिता केवल ताओ के अनुसार कर्म करना है, ताओ को अपने आचरण में लाओ। क्योंकि ताओ आग्रह विहीन है इसलिए तुम भी आग्रह विहीन बनो, क्योंकि ताओ में प्रतिहिंसा की भावना नहीं है इसलिए तुम भी अप्रतिहिंसक बनो, अशुभ की शुभ से प्रतिपूर्ति करो।* याद रखो कि परम्परावादी समस्त सद्गुण पर्याप्त नहीं हैं, 'देशभक्ति पर्याप्त नहीं है, और न ही परोपकारिता अथवा न्याय। ताओ एक सरलतर परन्तु उच्चतर मापदण्ड स्थापित करता है :

यदि कोई ताओ को खो देता है, तो सद्गुण प्रकट हो जाता है,
यदि कोई सद्गुण को खो देता है, तो परोपकारिता प्रकट हो जाती है,
यदि कोई परोपकारिता खो देता है, तो न्याय प्रकट हो जाता है,
यदि कोई न्याय को खो देता है, तो औचित्य प्रकट हो जाता है।
औचित्य श्रद्धा का आभास है, और अव्यवस्था का आरंभ।‡

आचरण के उन प्रकारों के प्रति जिनका नाम सद्गुण है यह प्रभावशाली मनोवृत्ति रहस्यवादी के नैतिक प्रवर्तक, नियमों तथा रीति रिवाजों के सुधारक की भूमिका के उपयुक्त है। उसने इस भूमिका को इतनी अधिक बार निभाया है कि यह पता लगाना रोचक होगा कि क्या इतिहास में कोई ऐसा महान् सुधार हुआ है जिसकी तह में कोई रहस्यवादी न रहा

* 'ताओ तेह किंग', ६३, ४९।
‡ वही, ३८।

हो। दूसरी ओर, वैधानिक अनुकूलता से तत्त्वबोध की सम्भावना में आत्मविश्वास को अधिक उच्च मानना अर्थ लगन रखने वाले तथा कोमल तन्तु वाले रहस्यवादी के लिए, अधिक उच्च स्तर की स्वाधीनता के नाम पर, विरोधाभासवाद की ओर ले जाने वाले मार्ग को सरल बना देता है। यह वह प्रवृत्ति है जो रहस्यवादी तथा 'रसिक स्वभाव' के व्यक्ति में समान रूप से मिलती है। 'थर्सस ले जाने वाले अनेक हैं, रहस्यवादी बहुत कम हैं'[४] यह यूनानी कहावत है : हम कह सकते हैं कि अनेक लगभग रहस्यवादी और बिगड़े हुए रहस्यवादी हैं, बहुत कम सच्चे मसीहा हैं। परन्तु ये थोड़े से लोग इतिहास के अपरिहार्य व्यक्ति हैं।

(२६०) नैतिक प्रवर्तक को यह कैसे पता लगता है कि अब पारम्परिक नैतिकता, परोपकारिता, न्याय में संशोधन की आवश्यकता है? उदाहरण के लिए वह कैसे जानता है कि यह पुरानी कहावत, "आँख के बदले आँख और दाँत के बदले दाँत" अन्याय [क्षति] से निपटने का यान्त्रिक तथा अनुचित तरीका है? यह वह अपने 'सदसद्विवेक' [कॉनशॅन्स] के द्वारा जानता है। विवेक क्या है?

जब हम विकासवादी सिद्धान्त के विषय में बात कर रहे थे, जिसके अनुसार विवेक प्राचीन दण्डों का एक वंशानुक्रमिक अवशेष रह जाता है, तो हमने सोचा था कि यह सिद्धान्त इस तथ्य से असिद्ध हो जाता है कि ऐसे सौन्दर्य-बोध के समान जिसमें क्रमशः परिष्कार हो रहा हो, अधिक संवेदनशील बन जाता है, और किन्हीं व्यक्तियों में यह प्रतिभा के बिन्दु तक पहुँच जाता है। इस प्रकार सुकरात के जीवन में, हमें विवेक के कार्य का साहित्यिक लेखा-जोखा प्राप्त होता है—जो उसकी 'प्रेरक आत्मा' के रूप में मूर्तिमान होता है—जो द्विधाग्रस्त स्थितियों में उसके निर्णयों का पथ-प्रदर्शन करता है। उसमें, विवेक गलती के ऐसे अविश्लेषित बोध के रूप में प्रकट हुआ जो उसे कर्म की ऐसी धारा के विरुद्ध सचेत करता है जिसकी ओर उसकी प्रवृत्ति थी। ये कर्म किसी आन्तरिक मानक से असंगत थे जिनकी प्रकृति के विषय में उसे शायद ही कुछ ज्ञान था। हम मान सकते हैं कि वह आन्तरिक निकष यथार्थ के साथ एकता का केवल सतत रहस्यवादी बोध था, और विवेक इस बात का सहज अभिज्ञान था कि कर्म की कोई प्रस्तावित धारा उस एकता के साथ संगत है या नहीं।

यदि यह विवेक का सच्चा सिद्धान्त है, तो हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार रहस्यवादी विवेक के महान् विशेषज्ञ और मानव जाति के नैतिक अगुआ रहे हैं। हम यह भी समझ लेते हैं कि ऐसा क्यों है कि नैतिक साहस तथा प्रतिष्ठा के गुण विशिष्ट रूप से रहस्यवाद के साथ जुड़े हुए हैं, क्योंकि दोनों ही जीवन के जोखिमों तथा मर्यादाओं की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ हैं। इनका आधार यह विश्वास है (जिसे कांट भी मानता था) कि विवेक हमें एक ऐसी यथार्थता से जोड़ देता है जो प्राकृतिक घटनाओं के प्रवाह से गहनतर है। हम यह भी समझ लेते हैं कि विवेक परिवर्तनशील क्यों है, क्योंकि विवेक तभी स्पष्ट होगा जब यथार्थ से एकता का भाव-बोध सबल होगा, और समय-समय पर इस बोध के पुनर्जागरण की आवश्यकता हो सकती है। उस दशा में निवृत्ति-परक मार्ग को विवेक की संवेदनशीलता को पुन. जागृत करने की प्रक्रिया के रूप में समझा जा सकता है।

(२६१) अब यदि हम अपने प्रश्न (२३०वाँ परिच्छेद) पर लौट आएँ तो हम पायेंगे कि जब रहस्यवाद निवृत्ति-परक मार्ग के लक्ष्य को इस रूप में प्रस्तुत करता है कि वह सम्पूर्ण, आत्म-पर्याप्त तथा परम शुभ है तब उसमें कुछ दोष है। जगत् में स्वयं की अपनी सक्रिया के प्रति यह अन्यायपूर्ण है। यदि रहस्यवादी दर्शन [वीजन] को उसके विविक्त रूप में लिया जाय तो वह निरर्थकता में विलीन होता प्रतीत होता है। जब तक शुद्ध एकत्व को किसी अनेकता की एकता न माना जाय, वह, एक अवर्णनीय एकत्व होगा जिसे किसी भी चीज से अलग करना कठिन हो जायगा। रहस्यवादी का अनुभव, और वह अनुशासन जो हमें इस तक पहुँचाता है किसी प्रकार उस जीवन की परिधि से सम्बन्धित है जो प्रकृति-जगत् तथा मानवीय इतिहास के अन्तर्गत आता है।

□□□

अध्याय ३६

रहस्यवाद की परीक्षा

(२६२) हम कहते हैं कि अपने प्रत्यक्ष तत्त्वबोध मे रहस्यवादी किसी ऐसी वस्तु को प्राप्त कर लेता है जिसे उसकी परिभाषा के अनुसार जीवन का लक्ष्य एव चरमोत्कर्ष होना चाहिए,*— शेष अवस्थिति अपकर्ष है। तो भी शेष जीवन मे इस अनुभव की कोई भूमिका है, और वह उसका सहवर्ती होकर उसमे आन्तरिक रूप मे सक्रिय रहता है। मेरा विश्वास है कि इसका स्पष्टीकरण एक ऐसे नियम द्वारा किया जा सकता है जिसे मैं प्रत्यावर्तन का नियम [लॉ ऑव आल्टरेशन] कहूँगा।

प्रत्यावर्तन का नियम एक व्यावहारिक नियम है, शायद व्यावहारिक नियमो मे मुख्य है। यह कहता है कि हम न तो एक के एकान्तिक ध्यान द्वारा और न ही अनेक की बौद्धिक व्यवस्था द्वारा अच्छा जीवन बिता सकते हैं अपितु हमे दोनों की ही एकलय के रूप मे अपेक्षा है, जैसी लय कार्य तथा खेल, अथवा निद्रा एव जागृति के मध्य होती है।

सर्वप्रथम, जीवन कार्य के प्रति हमारे एकाग्र एव यथार्थवादी ध्यान की अपेक्षा करता है। यह विशिष्ट ध्यान अपने विषयो एव क्रियाकलापो का विश्लेषण करता है, तथा क्रम से प्रत्येक वस्तु पर अपनी बुद्धि को अधिकाधिक सकेन्द्रित करता है। अनुभव यह सिखाता है कि इस प्रकार के ध्यान को बढा देने पर शक्ति का ह्रास होता है,—केवल कर्म करने की शक्ति मे ही नही, अपितु तथ्यो को देख पाने तथा मूल्यो का अनुभव कर पाने की शक्ति मे भी। यथार्थवादी सिद्धान्तों के अनुसार ऐसा नही होना चाहिए [ऑट] क्योकि तथ्य तथ्य हैं एव मूल्य मूल्य हैं, तथा ज्ञाता को उन पर दृष्टि डालने के अतिरिक्त कुछ नही करना होता। परन्तु श्रान्त मनस् के लिए, ये 'स्वतन्त्र' विषय एक प्रकार से दुर्ग्राह्य बन जाते हैं। किसी वस्तु का मूल्य एव अर्थ केवल उसी मे निहित नहीं रहता अपितु दृष्टि की कतिपय नवीनता मे भी होता है जो श्रान्ति के कारण नष्ट हो जाती है तथा जिसे द्रष्टा द्वारा जोडा जाता है। एक पृष्ठभूमि होती है जिसके सदर्भ मे, मुझे अनुभव होता है यदि उस पृष्ठभूमि को अव्यवस्थित कर देंगे,—उदाहरण के लिए, अपराध करने के द्वारा—तो कुछ भी

---

* दांते के शब्दों में -

जिसने उस नूर को देखा है
मुमकिन ही नहीं उन आंखों को
हसरत हो और नज़ारों की
क्यों कि उस नूर में सुर बखुर
हर चाहत पूरी होती है,
हर कमी ज़माने की, उसमें
अज़खुद तमाम हो जाती है।

पैराडिसो [स्वर्ग], सर्ग, तेईसवाँ Paradiso Canto XXIII

वैसा शेष नहीं रहेगा, कोई भी परिचित विषय अब वैसा नहीं रहेगा। नित्यप्रति के कार्य में ध्यान के सतत श्रम के द्वारा, वस्तुस्थिति को देख पाने की हमारी शक्ति का ह्रास होता है। चेस्टरटन यह स्वीकार करता है कि बैंटरसी[1] को देख पाने के लिए यह आवश्यक है कि वह बैंटरसी को छोड दे। अत जीवन को अपनी अत्यधिक भौतिक सफलताओं को प्राप्त करने के लिए भी स्वय को समय समय पर पुन आवेशित करना होगा।

यह पुन आवेशीकरण अनेक प्रकार से किया जाता है, जैसे आराम, खेल, निद्रा द्वारा, ये सभी ध्यान की दिशा, विपर्यय की अपेक्षा के तथा जो पृथक् करता है उसकी तुलना मे जो एकत्व प्रदान करता है उस पर मनन की अपेक्षा रखते हैं। रहस्यवादी का नैतिक अनुशासन, उसका निवृत्त्यात्मक मार्ग, पुनर्सृजन की अत्यधिक सीधी एव उपयुक्त तकनीक प्रदान करता है। यह मानसिक आदत को तोडने की, विस्तार मे अत्यधिक ध्यान देने से मुक्ति तथा समग्र के बोध के पुनर्लाभ की अपेक्षा करता है। इसमे, मानसिक स्वभाव से निवृत्ति, विस्तार में आवश्यकता से अधिक देने से मुक्ति, समग्र के बोध की पुन प्राप्ति सनिहित है। प्रत्येक पूर्वमान्यता का अवलोकन करके उसे अस्वीकृत किया जाता है, अपनी व्यक्तिगत कपोल कल्पनाओ, पूर्वाग्रहो, विरोधो तथा जटिलताओ को इस प्रकार लचीला बनाया जाता है कि कुछ नया उद्भूत हो सके, ऐसा जो कि समग्र के बोध के निकट हो। इस प्रकार रहस्यवादी अनुभव का यह कार्य है कि वह स्वतन्त्रता तथा साथ ही मूल्यबोध का पुनर्लाभ करे। और क्योकि वस्तुओ की एकता पर किया जाने वाला मनन उस समय स्वय मन्द हो जाता है जब यह पूर्ण तथा सुदीर्घ हो जाता है, इसलिए रहस्यवादी को जगत् की ओर पुन मुडना पडता है जगत् उसके सम्मुख इस रूप मे पुन प्रकट होता है मानो उसके खोए हुए आकर्षण लौट आये हैं और उसने स्वय अपनी खोयी हुई शक्तियो को पुन प्राप्त कर लिया है।

(२६३) इस बात को हम इस प्रकार रख सकते हैं रहस्यवादी ने यथार्थवादी होने की, तथ्यों का सामना करने की शक्ति को पुन प्राप्त कर लिया है। उन अनेक स्थितियो पर ध्यान दें जिनमे ऐसा होता है

सबसे पहले सरल वैज्ञानिक निरीक्षण की शक्ति को लें। हम जिसे जगत् के विषय मे वैज्ञानिक मनोवृत्ति कहते हैं वह स्पष्टत नैतिक विकास का परिणाम है—प्रकृति के लिए एक नया आदरभाव (जैसा ब्रूनो मे था) जो तथ्य के अभिलेखन मे एक नवीन चिन्ता मे तथा प्राकृतिक नियम के बोध के रूप मे विकसित होता है। यह बात हमारे लिए वैज्ञानिक ही नहीं अपितु एक नैतिक कर्तव्य प्रतीत होती है कि हम अनुभव मे प्राप्त साक्ष्य को अपनी बुद्धि के समक्ष प्रस्तुत करें वैज्ञानिक कार्य के लिए अपेक्षित ईमानदारी, व्यक्ति जो कुछ वस्तुत पाता है उसके पक्ष मे वह जो कुछ पाने की इच्छा करता है उसका दमन, ये प्रकृति के सभी अध्येताओं के लिए नैतिक आधार मान्यताएँ बन गई हैं। अत रहस्यवादी का यह सिद्धान्त पूर्णरूपेण सही है कि सत्य को प्राप्त करने की—केवल एकतत्त्व के तत्त्वमीमांसात्मक सत्य की ही नहीं, अपितु साथ ही भौतिक विवरण के सत्य की भी—मुख्य शर्त नैतिक है।

नयी परिकल्पनाओं की खोज के लिए ईमानदारी से किए गए निरीक्षण के अतिरिक्त कुछ और भी अपेक्षित है इसके लिए कल्पना की आवश्यकता है। परन्तु किसी भी कल्पना

से काम नही चलेगा। प्रकृति के सफल और असफल अन्वेषक के बीच जो भेद है वह प्रथमतः सरलता तथा खुली दृष्टि का है,—उस प्रदर्शन तथा व्यक्तिगत मिथ्याभिमान से स्वतन्त्रता, जो अपने को भिन्न अथवा विचक्षण दिखाने की लालसा मे अथवा आश्चर्यजनक परिणाम प्राप्त करने की जल्दी मे रहते हैं—और दूसरे, प्रकृति जिस प्रणाली से कार्य करती है उसके विषय मे एक प्रकार का आन्तरिक बोध है जो केवल वस्तु के प्रेम से ही प्राप्त हो सकता है। यह दोनो ही नैतिक गुण हैं और रहस्यवादी का अनुशासन ऐसे गुणो के विकास मे विशेष रूप से योगदान करता है। रस्किन ने कहा था : "मौलिकता का गुण जिसके लिए मनुष्य इतना अधिक प्रयास करते हैं, नयापन नही है—यह तो केवल सच्चाई है—और यह उससे बहुत भिन्न नही है जिसे मैंने पारदर्शिता कहा है।...हम जिसे प्रतिभासम्पन्न कहते हैं वह अधिकाश मे अत्यधिक सच्चा होना ही है।....ऐसे लोग हैं जो मूल रूप से इतने सरल हैं कि वे उन समस्त असम्बद्ध विस्तार की बातो से भव व्याकुल नही होते जो सामान्य मनुष्य के दृष्टिकोण को धुधला बना देती हैं, वे प्रथम दृष्टि मे ही मूलतत्त्व को देख लेते हैं और फिर सीधे उसी पर पहुँच जाते हैं।"

इस प्रकार यह कोई आकस्मिक सयोग नही है कि रहस्यवादी हमे बहुधा उस देहधारी अथवा उस वैज्ञानिक प्रतिभाशाली व्यक्ति की प्रत्यक्ष परम्परा मे मिलता है।

(२६४) इसके अतिरिक्त, रहस्यवादी उस शक्ति को पुन प्राप्त कर लेता है जिसके द्वारा वह वस्तुओं के गुणों का मूल्याकन कर सकता है, और इन्द्रियो की ऐसी नवीन निष्कपटता को प्राप्त कर लेता है जिसके द्वारा मानो वह पुष्पो, ध्वनियो, रगो को ऐसे महसूस करता है मानो उन्हे पहली बार देखा जा रहा हो कम से कम विलियम ब्लेक, याकब बॉयमे, फान्सिस ऑव ऍसीसी, तथा अन्यो का अनुभव ऐसा ही प्रतीत होता है। और इसके साथ हमे यह स्मरण हो आता है कि यहाँ बहुत अधिक नूतन अन्वेषण के लिए, अथवा शायद ऐन्द्रिय मूल्याकनों के समस्त क्षेत्रो को प्रकाश मे लाने के लिए भी स्थान है, जिनका मनुष्य ने अपने यथार्थवादी अभियान मे अपने प्राचीन पाशविक उत्तराधिकार का परित्याग कर दिया था।

और वह सामाजिक समागम के तथ्यो का सामना करने की शक्ति को भी अर्जित अथवा पुन प्राप्त कर लेता है, और इस प्रकार मित्रता करने की अपनी सामर्थ्य का विस्तार कर लेता है। मूल्याकन के अन्य विषयों मे मित्रता भी एक ऐसा विषय है जो अपने ढग से अधिकतर क्षीण हो जाता है, क्योकि जैसे-जैसे मित्रता बढती है वैसे-वैसे ही ऐसे सत्यो को कहने के अवसर उपस्थित होते हैं जिनको हम अवाछनीय मानते हैं, और बिना रुष्ट किये उन्हे कहने की कला पर हमारा अधिकार नहीं होता। अपनी आलोचना से स्वार्थ को पूर्ण रूप से हटाने मे हम समर्थ नही हैं। अपने पडोसी के साथ उस समान भूमि को प्राप्त करने के लिए जो उसे पडोसी की भर्त्सना करने का अधिकार देती है, यह कहने की सामर्थ्य देती है कि 'तू ही वह मनुष्य है", इस तरह से कि मित्रता नष्ट होने के स्थान पर अधिक दृढ हो जाय, उसे स्वय से रहस्यवादी की-सी तटस्थता की आवश्यकता होती है।

(२६५) यदि हम सही हैं, तो, रहस्यवादी के लिए यह आवश्यक है कि वह पूर्णरूप से सफल यथार्थवादी हो, और यथार्थवादी के लिए यह आवश्यक है कि वह एक सफल रहस्यवादी हो।

जीवन का व्यावहारिक आचरण, कार्य तथा पूजा के सामान्य प्रत्यावर्तन के बीच पड़ता है, प्रत्येक पक्ष दूसरे पक्ष की आवश्यकता को तीव्र बनाता है।

भौतिक शक्ति के बढ़ते हुए (और उचित ही बढ़ते हुए) भार के साथ जटिल सभ्यता के वृद्धिशील दायित्व के उपयुक्त सामर्थ्य होने तथा उसके समकक्ष रहने के लिए मानव जाति को केवल किसी ऐसे ही प्रत्यावर्तन की आवश्यकता है। क्योंकि इस भौतिक भार के साथ, पारदर्शी निरीक्षण के लिए, कलात्मक संवेदनशीलता के लिए, तथा मैत्रीपूर्ण वैयक्तिक एवं राष्ट्रीय संबंधों के लिए मानवजाति की सामर्थ्य समानरूप से बढ़नी चाहिए।

(२९९) और प्रत्यावर्तन के इस व्यावहारिक सिद्धान्त के साथ एक तदनुकूल तत्त्वमीमांसात्मक सत्य भी है। सत् न तो रहस्यवादी का निरपेक्ष एक हो सकता और न ही यथार्थवादी विश्लेषण द्वारा उद्घाटित निरपेक्ष अनेक हो सकता। रहस्यवादी तथा यथार्थवादी, प्रत्येक जो कुछ देखता है उसमें वह अपने व्यावहारिक पूर्वाग्रहों से संचालित होता है, और जिससे उसे अत्यधिक व्यावहारिक सफलता प्राप्त होती है, उसे अन्तिम मानते हुए प्रत्येक जगत् के विषय में आधे ही सत्य को ग्रहण करता है। इसलिए प्रत्येक एक दूसरे का अनुपूरण है तथा एक दूसरे को सही करता है।

यथार्थवादी के विरुद्ध, रहस्यवादी के द्वारा जगत् की एकता की, तथा उस एकता के अनन्त मूल्य की घोषणा सही है। अनेक द्रव्यों का जगत् अनिश्चित होता है और इसीलिए अनिवार्य रूप से निराशाजनक जगत् होता है। और ऐसा जगत् जो किसी भी ऐसे आन्तरिक गुण से रहित है जिसका हम आदर करें अथवा जिसकी हम उचित ही पूजा कर सकें, वह मानसिक आनन्द तथा उर्वरता के उस स्रोत से भी रहित होगा जिसके बिना कुछ भी उपयोगी नहीं होता है।

रहस्यवादी के विरुद्ध, यथार्थवादी का अनेक की यथार्थता को स्वीकार करना सही है। यदि कोई ईश्वर है, तो उसके जीवन को किसी विशिष्ट जगत्-व्यवस्था के अनन्त तथ्यों में मिल जाना चाहिए: यदि वह कहीं भी है, तो उसे उन तथ्यों में भी होना चाहिए। वह एकता जो विविधता से कतराती है, और जिसके पास इस तथ्य की कोई व्याख्या नहीं है कि यह विविधता अस्तित्व में कैसे आई, विश्व के विषय में अन्तिम सत्य नहीं हो सकती। वह एक जिसमें हम विश्वास कर सकें ऐसा एक होना चाहिए जिसे अनेक की आवश्यकता हो और जो उन्हें उत्पन्न करने में समर्थ हो।

इस प्रकार यथार्थवाद तथा रहस्यवाद दोनों किसी प्रत्ययवादी विश्व दृष्टि के पहलू प्रतीत होते हैं, जो इन दोनों की व्याख्या करती है और उनके महत्त्व को निश्चित करती है, जबकि वे, अपनी बारी में, लय अथवा प्रत्यावर्तन की व्यावहारिक आवश्यकता को अधिक स्पष्ट करते हैं। श्रेष्ठ जीवन का कार्यसाधक कार्यक्रम बनाने के लिए मानवतावाद के एक अंश के साथ अतिप्रकृतिवाद (तपस्या तथा सन्यास) के एक अंश को भी लिया जाना चाहिए।

□□□

अध्याय २७

दर्शन की संरचना

(२६७) अब तक हमारा कार्य दर्शन के मौलिक प्रकारो पर निर्णय देने की अपेक्षा उनको समझना रहा है। इनमें से अनेक प्रकारो पर मैंने अन्तिम मूल्यनिर्धारण के रूप मे नहीं अपितु प्रसगवश उन प्रेरणाओ की ओर निर्देश करने के लिए विवेचनात्मक समीक्षा दी है, जिन्होंने प्रत्येक अवस्था मे सत्य की स्वय मेरी खोज मे मुझे आगे बढ़ने के लिए प्रेरित किया। अब [हममे से] प्रत्येक को इस बात पर विचार करना चाहिए कि हममे से प्रत्येक की स्थिति क्या है निश्चय ही अपनी विश्व दृष्टि के समापन की व्यर्थ आशा मे नहीं, अपितु इस रूप म कि इन विभिन्न प्रकारो पर विचार करने के फलस्वरूप हमारे मन पर कोई सामजस्यपूर्ण प्रभाव पड़ता है या नहीं, किसी साम-जस्यपूर्ण दिशा का निर्देश प्राप्त होता है या नही।

आपका दर्शन आपके द्वारा लक्षित सत्यो का योग होता है। इन प्रकारों की समीक्षा ने अनेक ऐसे विचारों को स्पष्टतर अभिव्यक्ति देकर इस दृष्टि मे अवश्य सहायता दी होगी, जिन्हे आपने पहले अस्पष्ट रूप से समझा होगा। यह हो सकता है कि इन प्रकारो मे से किसी एक को आपने अपने दर्शन के रूप मे जाना हो। दूसरी ओर, इसकी कम सभावना है कि मानवीय विचार का कोई भी महान् तत्त्व, जैसे ये प्रकार हैं, आपके लिए पूर्णत पराया हो। यह कल्पना की जा सकती है कि आप स्वय को सभी प्रकारो से सम्बन्धित पायें अथवा किसी से भी सम्बन्धित नहीं पायें। मानसिक आतिथ्य के सम्मुख यह खतरा है कि वह स्वय को विश्वासो के ऐसे अनुपयुक्त सग्रह से भारग्रस्त पाये जो विभिन्न प्रकारों के अशो का सयोग हो उन सभी 'मे कुछ न कुछ' है। मनस् की यह बौद्धिक तथा उदार अवस्था है, परन्तु दृढता तथा निश्चयात्मकता मे अपूर्ण भी है,—[यह एक ऐसी] सफलता है जो सापेक्ष रूप मे असफलता भी है। कोई भी व्यक्ति किसी खिचडी दर्शन के साथ नही रहना चाहता। आपके दृष्टि के विस्तार को सीमित किए बिना ही मैं आपको इस स्थिति से छुटकारा दिलाने वाला मार्ग बताना चाहता हूँ।

(२६८) सभवत आपने इस बात पर ध्यान दिया होगा कि महान् विचारको मे से बहुत कम ऐसे हैं जिनके विचार पूर्णत विशिष्ट प्रकार के होते हैं। स्पेन्सर शुद्ध प्रकृतिवादी नहीं है, क्योंकि उसका विश्वास है कि कोई यथार्थ तो है यद्यपि वह अज्ञेय है तथा प्रकृति से परे अथवा उसके मूल मे है। प्लेटो द्वैतवादी है, वह जडद्रव्य का एक प्रकार के 'अनस्तित्व' के रूप म वर्णन करता है, तो भी, उसका प्रत्ययवाद की ओर झुकाव है, ऐसा रोचक विविधता पूर्ण प्रत्ययवाद जिससे नव्य यथार्थवाद के तन्तु उत्पन्न हो सकें। अरस्तू जिसके स्वभाव तथा

चिन्तन शैली मे यथार्थवाद की एक अन्य शिरा उपस्थित थी, तत्त्वमीमासा मे दृढ रूप मे प्रत्ययवाद की ओर झुक जाता है। सुकरात से चिन्तन की भिन्न धाराएँ निकलती हैं, जो सभी उस महान् पात्र मे अपने मूल का दावा करती हैं, और यही बात दकार्त, कान्ट तथा हेगेल के विषय मे कही जा सकती है। अपने दर्शन मे अनेक तत्त्वो के होने से यह कतई आवश्यक नही है कि वह व्यक्ति बहुतत्त्ववादी हो। किसी विचारक का प्रेरक तथा उर्वरक बल बहुधा उसकी नैतिक तथा सहजानुभूति की शक्ति का वह लक्षण होता है जो उसके तार्किक विचारक्रम की सीमा को पार कर जाता है। इस प्रकार के व्यक्ति जहाँ भी सत्य का साक्षात्कार करते हैं और जैसे भी देखते हैं वहीं से उसे ग्रहण कर लेते हैं, चाहे उनके द्वारा इसके ग्रहण को पूर्ण सगति प्राप्त हो या न हो, यह मानते हुए कि सत्य आत्म-सगत है, तथा उन विचारो की खोज जिनकी समति पर वह आधारित है, बाद मे की जा सकती है। इस बीच वे हमारे वर्गीकरणो को चुनौती देते हैं, और हम लोग उनके बारे मे ऐसे सोचने लगते हैं कि वे महान् होने के कारण किसी 'एक-वाद' के अन्तर्गत नहीं लिए जा सकते,—मानों दर्शन की किसी प्रकार की सकल्पना मे कुछ ऐसा हो जो उच्चकोटि के प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियो के अनादर का सूचक हैं।

यही अवर्गीकरणीय गुण मे व्याप्त विशेषता हैं, अनिवार्यतया उनकी महानता के कारण नहीं अपितु उनके विश्लेषण तथा शैली की सूक्ष्मता के इतिहास की अभिज्ञता और कुछ सीमा तक मौलिकता के लिए सचेत प्रयास के कारण। परन्तु इसके अतिरिक्त, दर्शन पर पहुँचने की यह उस प्रणाली का परिणाम है जिसमे इस युग का विश्वास है, और जो किसी भी विचार-सम्प्रदाय के लिए विशिष्ट नहीं है: अर्थात् अनुभव को प्राथमिकता देने और एकीकरण करने वाली कोटियो को अनुवर्ती स्थान देने की प्रणाली। अनुभव को (सहजानुभूति को लेते हुए) हम विचार की गुप्त मन शक्ति मान चुके हैं, और इसमे किसी को सदेह नही है कि जो कोई भी अपनी उपलब्धि को उसी तक सीमित करता है जिसे वह किसी स्थान विशेष तथा कालबिन्दु पर व्यवस्थित कर सकता है वह निश्चय ही दारिद्रय को अगीकार करता है। तो, किसी व्यक्ति के दार्शनिक दृष्टिकोण मे असमजसता अथवा अव्यवस्था की मात्रा का होना ही उसका दोषयुक्त होना नही है। विलियम जेम्स के विषय मे यह उचित रूप से कहा जा सकता है कि उसका कोई विशिष्ट विचार-तन्त्र नही था, उसके विचारो मे प्रत्ययवाद, यथार्थवाद, प्रयोजनवाद तथा रहस्यवाद बिना अन्तिम सगति को प्राप्त किए एक साथ विद्यमान थे।

(२६६) विभिन्न स्रोतो से प्राप्त विश्वासो की किसी सश्लिष्ट दर्शन के रूप मे परिणति दर्शन के इतिहास मे अनेक बार हुई है और इसे एक विशिष्ट नाम मिला है—ऐक्लेक्टिसिज़्म [सर्वग्राह्यवाद]। वे सर्वग्राही जिनका नाम [इतिहास मे] सुरक्षित रहा है अधिकाश मे ओजपूर्ण होने की अपेक्षा अधिक प्रवण विचारक थे और सापेक्षतया उनमे मौलिकता का अभाव था: उनके दर्शन का आन्तरिक वैविध्य, अन्वेषणशील चेतना की अधिकता के कारण नही अपितु अन्यो के विचारों को अपनाने मे एक सवेदनशील विनय के कारण है। वे देखते हैं कि सत्य के भिन्न अश उनसे सम्बन्धित हैं, वे मान लेते हैं कि इन अशों को एक दूसरे के

साथ समायोजित किया जा सकता है, यह देखने में वे असमर्थ रहते हैं कि वे कैसे परस्पर सगत हो सकते हैं। अत सर्वग्राही नाम दर्शन में उच्चतम आदर का पद नहीं है। इसे फिलो ऑफ एलेक्जेण्ड्रिया, सिम्पलिसिमस, सिसरो, होरेस, मैन्डेलसन, विक्टर कूजें जैसे विचारकों पर प्रयुक्त किया गया है।

विक्टर कूजें* एक विशिष्ट स्थान का अधिकारी है, क्योंकि उसमें जाकर सर्वग्राह्यवाद चेतन रूप मे स्वीकृत सिद्धान्त बना। उसने कहा, 'प्रत्येक विचार-तन्त्र घटनाओं तथा विचारों के एक ऐसे क्रम को अभिव्यक्त करता है जो वास्तव में बहुत यथार्थ है, परन्तु केवल वही चेतना मे नहीं है''' इससे यह अनुमित होता है कि प्रत्येक तन्त्र असत्य नहीं अपितु अपूर्ण है, और यह कि सभी अपूर्ण तन्त्रों के पुन एकत्रीकरण मे हम एक पूर्ण दर्शन प्राप्त होना चाहिए, जो चेतना की समग्रता के लिए उपयुक्त हो।" ऐसे सिद्धान्त को कोई व्यक्ति केवल तभी अपना सकता है जब वह यह मानता हो कि जगत् के विषय मे सभी महत्त्वपूर्ण सत्यों को पहले से ही प्रस्तावित कर दिया गया है, फलस्वरूप वर्तमान मे दार्शनिक के लिए केवल विवेकपूर्ण वरण तथा समायोजन का कार्य रह गया है। सर्वग्राही की दृष्टि सीधे विचार के इतिहास पर होती है उस विचारक की दृष्टि जिसकी अव्यवस्था का कारण मौलिकता की बहुलता होती है सीधे अनुभव पर, अर्थात् उसके निरीक्षणों एव सहानुभूतियों पर होती है।

फिर भी, सर्वग्राही तथा मौलिक विचारक में मात्रा का ही भेद होता है, क्योंकि मौलिकता की कोई भी मात्रा न तो विचार के इतिहास की सरलता से उपेक्षा कर सकती है और न ही जो इसे सत्य प्रतीत होता है उसे यह किसी भी स्रोत से ग्रहण करने की स्वतन्त्रता का त्याग कर सकती है। इस सम्बन्ध में अरस्तू किसी सीमा तक सर्वग्राही है, और सन्त टॉमस एक्वीनास, जिसने अरस्तू एव ईसाईयों के ईश्वर विज्ञान का सश्लेषण किया, और भी अधिक सर्वग्राही है। जगत् की ओर देखने की यथार्थवादी मनोवृत्ति सर्वग्राही स्वभाव को प्रकृतित बढ़ावा देगी, और मूलगामी अनुभववाद हमसे पूर्णत खुले-दिमाग रखने तथा जगत् के विषय मे पूर्वसकल्पनाओं से, यहाँ तक कि पूर्ण आन्तरिक समजसता की पूर्व कल्पना से भी, मुक्त रहने का अनुरोध करते हुए, (और तब तक हमारे वस्तुओं को अन्य व्यक्तियों की दृष्टि से देखने पर आपत्ति नहीं करते हुए जब तक कि हम उन्हीं वस्तुओं को अपनी दृष्टि से भी देखते हैं) सिद्धान्त के अभाव को सिद्धान्त बनाकर, इस मनोवृत्ति को उकसाएगा।

(२७०) सर्वदर्शनग्राह्यवाद दार्शनिक सरचना की आरम्भिक अवस्था, सग्राहक अवस्था, प्रतीत होती है। इसकी चेतना उस विलक्षण गुण से सम्बद्ध है जिसे हम सहनशीलता कहते हैं, जो हमारी किसी एक पक्ष की ओर झुकने वाली समस्त चित्तवृत्तियों को इस चेतावनी के द्वारा परिमार्जित कर देती है,—विपक्षी की बात भी सुनने योग्य है, वह जिस रूप मे है सोचता है उसका कोई उपयुक्त हेतु है। उन लोगों के लिए सहनशीलता कठिन एव अबोधगम्य सद्गुण है जो अपने विश्वासों को स्पष्ट रूप से ग्रहण कर सकते हैं, और जिसमे वे

* १७९२-१८६७, फ्रांसिसी दार्शनिक तथा शिक्षक।

अविश्वास करते हैं उसमे पूर्णरूपेण अविश्वास करते हैं, क्यो वे उसी मे विश्वास करते हैं जिसमे वे विश्वास करते हैं। यदि यह शिक्षक अथवा विधायक का गुण न हो, तो यह अनिश्चित अवस्था दे मनस् का अथवा सर्वग्राही का गुण है, जो अपने सत्यो के सर्वदा अपूर्ण रहने वाले संग्रह के अशों के विषय मे सजग रहता है।

इस प्रकार सर्वग्राह्यवाद तथा संशयवाद मे घनिष्ठ संबध है। वह व्यक्ति जो सभी दिशाओ से कुछ न कुछ ग्रहण करता है उसे प्रत्येक दिशा मे संशय करना चाहिए, क्योंकि जिस किसी भी मत को वह मान्य समझता है उसी के विपक्षी अथवा इसके भविष्य के संभव समीक्षक के साथ भी कुछ बातें वह स्वीकार करता है। संशयवादी की भाँति वह पूरे मन से किसी भी वस्तु मे विश्वास करने से अपने को बचाने की योग्यता रखता है। इस प्रकार सार्वभौम आतिथ्य सार्वभौम संशय का सकारात्मक रूप है।

(२७१) सर्वग्राह्यवाद विचार के लिए संतोषजनक आश्रयस्थल नहीं हो सकता, यद्यपि इससे गुज़रना आवश्यक हो सकता है। यह किसी के भी वश की बात नही है कि वह किसी ऐसी प्रतिज्ञप्ति को जिसे वह सत्य समझता है केवल इस आधार पर अस्वीकार करदे कि वह उस समय उस प्रतिज्ञप्ति के अपने अन्य विश्वासो से संबध को नही देख पाता। जगत् के ज्ञाता के रूप में किसी भी व्यक्ति का पहला कार्य संचय करना है।

परन्तु यह सर्वदा आरंभ ही है जो संचय करता है और आरंभ ऐसी एकता है जो सदा ही न तो मानसिक अव्यवस्था के साथ रह सकता है और न भविष्य मे उसके साथ रहने की संभावना को स्वीकार कर सकता है। हमे यह मानना ही पड़ेगा कि यथार्थ जगत् स्व-संगत है, असंगति एक मनोगत अवस्था है, कोई वस्तुनिष्ठ तथ्य नही। यदि हमारे विश्वासो मे कोई बाह्य संगति नहीं है तो उनमे से जो सत्य हैं उनमे अव्यक्त संगति अवश्य ही होनी चाहिए, और हमे यह अवश्य ही उपलब्ध होगी। क्योंकि हम तब तक पूर्णरूपेण बौद्धिक जीवन नहीं चला सकते जब तक कि हमारी बिखरी हुई अन्तर्दृष्टियो मे व्याप्त उस अव्यक्त संगति को ऐसे सिद्धान्त के रूप मे ग्रहण न कर लिया जाय जो समग्र विश्व-दृष्टि को एकता देता है।

इस प्रकार बिना सर्वग्राही हुए आतिथ्य करने का एक ही तरीका है: और वह उस एकमात्र सिद्धान्त की खोज करना है जो यह बताता है कि सत्य के विभिन्न भाग एक दूसरे से कैसे सम्बन्धित हैं। आपका दर्शन आपका संचयन नहीं है: यह आपका सिद्धान्त है।

(२७२) द्वन्द्वात्मक पद्धति। दर्शन के इतिहास मे इस प्रकार के चरम सिद्धान्त की खोज के लिए व्यवस्थित पद्धति को निरूपित करने का प्रयास किया गया है। सुकरात तथा अफ़लातून ने मानसिक परीक्षण की विधि का विकास किया, जिसे अफ़लातून ने 'द्वन्द्वात्मक तर्क' कहा—यह ऐसी पद्धति थी जो सम्प्रेषण अथवा वार्तालाप के लिए पूर्ण रूप से उपयुक्त थी। यह पद्धति थी - कोई वक्ता किसी विचार को प्रस्तुत करता, उसे प्राक्कल्पना के रूप मे लिया जाता, और उससे कठोरतापूर्वक, उसके आत्यन्तिक परिणाम निकाले जाते। द्वन्द्वात्मक तर्क के इन निपुण यूनानी विशेषज्ञों के हाथों इन निगमनों के विवेचन मे विनोद का एक अंश प्रविष्ट हो जाता था जब प्राक्कल्पना का पोषण करने वाले कभी-कभी अपने आपको उस

तर्क के विपक्ष मे पाते जिसे उन्होंने प्रारम्भ मे प्रस्तावित किया था। [प्रतः] यदि किसी न किसी कारण से, प्राक्कल्पना के परिणाम अस्वीकार्य हों, तो एक नई प्राक्कल्पना की परीक्षा की जाती, और यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती जब तक एक ऐसी प्राक्कल्पना न मिल जाती जो किसी भी प्रकार की भ्रान्ति की ओर न ले जाती हो। इस प्रकार द्वन्द्वात्मक तर्क, विचार की विकासात्मक प्रक्रिया है, और अफलातून के वार्तालाप की व्यवस्था मे, जिन प्राक्कल्पनाओं पर विचार किया जाता था वे होती थीं जो उसके समय के प्रचलित दर्शनों द्वारा मानी जाती थीं : अर्थात् दर्शन के विभिन्न प्रकार मूर्तरूप मे प्रकट होते, और अन्तिम निष्कर्ष मे अपना-अपना योगदान करते। सत्य प्राक्कल्पना वह होगी जो इस द्वन्द्वात्मक तर्क मे टिकी रहेगी,—डार्विन के संघर्ष मे बची रहने वाली प्राक्कल्पना नही, क्योंकि प्रतिद्वन्द्वी मारे जाने के स्थान पर संशोधन के पश्चात् अपने उपयुक्त स्थानों पर सुरक्षित बने रहते हैं।

यह स्पष्ट है कि इस विधि और आजकल की अनुभवाश्रित एवं परीक्षणात्मक विधि मे बहुत कुछ समानता है : वस्तुत. यह एक प्रकार का आगमन है।

आधुनिक दर्शन मे यह विधि अपने कोणों को विशिष्ट रूप मे पैना करके पुन अवतरित होती है। सर्वाधिक हेगेल ने इसका उपयोग किया : उसकी दृष्टि मे, जब किसी भी अपूर्ण मत को उसके परिणामो मे घटाया जाता है, वह अपने आपको विपक्षी खेमे मे पाता है। परस्पर-विरोधी मत एक दूसरे को उत्पन्न करते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे तानाशाही अराजकता को उत्पन्न करती है, और अराजकता तानाशाही को, वे बिना अपने परस्पर संबंध को जाने तथा एक दूसरे को शुद्ध प्रतिद्वन्द्वी मानते हुए एक लम्बी अवधि तक साथ-साथ रह सकती हैं। परन्तु जब यह अवस्था स्पष्ट हो जाती है तो स्थापना तथा प्रतिस्थापना को संस्थापना [सिन्थेसिस] की आवश्यकता होती है,—एक नयी स्थापना जो प्रत्येक विपक्षी स्थापना के सत्य को सुरक्षित रखेगी, और उनकी असंगति को निष्कासित कर देगी। कभी कभी हेगेल इस संस्थापना को प्रतिस्थापना से तार्किक रूप मे निगमित करता लगता है, परन्तु अधिकांश मे, स्पष्टतया, यह एक नया विचार होता है, जो किसी भी अन्य नये विचार की भाँति इस अवस्था मे आगमनात्मक आविष्कार का परिणाम होता है। कोई भी संस्थापना अपनी अग्रभूत स्थापनाओं की तुलना में अधिक सत्य होती है, परन्तु यह स्वय एक अपूर्ण सत्य हो सकती है, और इस प्रकार स्वय की प्रतिस्थापना को जन्म देती है, जिससे एक आगे की संस्थापना की आवश्यकता पड़ती है। अन्तिम संस्थापना उस प्रतिज्ञप्ति के रूप मे उपलब्ध होती है जिसे अस्वीकार करने का प्रत्येक प्रयास उसे पुनः पुष्ट करता है।

हेगेल इस पद्धति को दर्शन के इतिहास पर प्रयुक्त करता है : वह पाता है कि भिन्न विरोधी दर्शन एक दूसरे को उत्पन्न करते हैं, और जब यह अवस्था आती है तो वे संस्थापना के लिए मार्ग बनाते हैं। इस प्रकार से, अपने अन्तिम परिणाम मे (अर्थात् वस्तुतः उसका अपना दर्शन, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसका अपना विश्वास वह सत्य विश्वास होना चाहिए जिस पर उसे विचार का इतिहास, जैसा वह उसे पढता है, पहुँचाता है) वह विरोधी प्रकारों के वैध तत्वों को सुरक्षित रखता है। साथ ही, जैसे-जैसे वह बढ़ता है वैसे-वैसे ही सत्य के इस जगत् की संरचना स्वय को उसके समक्ष उद्घाटित कर देती है : वह बिना

सर्वग्राह्यवाद के एक विस्तृत आनुभविक एवं ऐतिहासिक समृद्धि से युक्त दृष्टिकोण को प्राप्त कर लेता है यह समझते हुए कि आत्म की यह प्रकृति है कि वह स्वयं को प्रत्ययों के जगत् मे, प्रकृति मे, और इतिहास मे होने वाले द्वन्द्वात्मक विकास मे अभिव्यक्त करता है। जिस अन्तिम सत्य पर वह पहुँचता है वह यह है कि जगत् आत्म [स्पिरिट] है। विश्व किसी निरपेक्ष वैचारिक-प्रक्रिया का सजीव एवं प्रगति की ओर उन्मुख मूर्तरूप है। और यदि प्रत्ययों के सही द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध को हम जान जायें तो, यथार्थ के सार-तत्त्व को उपलब्ध कर लेते हैं, और [इस प्रकार] अपने मे ही जगत् की व्यवस्था की पुनर्रचना कर लेते हैं।

हेगेल के निष्कर्ष को नगण्य मानते हुए भी, हम उसकी 'संश्लेषणा' की अवधारणा में, विषम सत्यों के योग से अथवा किसी समझौते से कुछ सर्वथा भिन्न अर्थात् आंशिक अन्तर्दृष्टियों मे एक प्रकार का सबंध जिसे हम अपने दर्शन का, अन्तिम सिद्धान्त मानना चाहते हैं, खोज सकते हैं—जो हमें सर्वग्राह्यवाद से मुक्ति दिलायेगा। इस सिद्धान्त को प्राप्त करने के लिए द्वन्द्वात्मक पद्धति से मूल्यवान योग लिया जा सकता है। यह पहचानते हुए कि खोज के क्रम मे अन्तिम सत्य कोई अनिवार्य सत्य भी हो सकता है—जिसे अनुभववाद नहीं देख पाता यह हमारे युग की आनुभविक एव परीक्षणात्मक प्रतिभा के प्रति पूर्ण न्याय करता है। यह वह अनिवार्य सत्य है जो प्रारंभ से ही हमारे विचार में एक अनवीन्ह्य घटक रहा है। आगमनात्मक पद्धति की अन्तिम सफलता अनिवार्य प्रानुभविक [ए प्रायोराइ] सत्य के उद्घाटन मे है। हम यह जानते हैं कि हमे ऐसा सत्य कब उपलब्ध होता है, क्योकि जब हम इसे अस्वीकार करने का प्रयत्न करते हैं, तो हम इसे पुनः स्थापित करते हैं, जैसा हम सशयवादी को करता देख चुके हैं : जब वह इस कथन को कि कोई सत्य नही है एक सत्य के रूप में प्रस्तावित करता है।

(२७३) चाहे आपका कोई भी दर्शन हो, यह अंशतः परन्तु अनिवार्य रूप से इनमे से एक अथवा अधिक प्रकारों के अनुरूप होगा, क्योंकि वे मौलिक प्रश्नों पर सभव विकल्पो को प्रस्तुत करते हैं। आप अपने सग्रह मे 'वादों' को आने से नहीं रोक सकते, और मिथ्याभिमान के अतिरिक्त उनको हटाने की इच्छा का और कोई कारण नहीं है। क्योंकि पुनः चाहे आपका दर्शन कोई भी हो, यह अनिवार्य रूप से वैयक्तिक दृष्टि होगी, जगत् की ऐसी सहजानुभूति का निरूपण जो किसी भी अन्य व्यक्ति के निरूपण से एकदम नही मिलेगी क्योंकि प्रत्येक मनुष्य साथ ही साथ सामान्य [यूनीवर्सल] तथा विलक्षण दोनो है : सामान्य इसलिए कि वह ऐन्द्रिय-जगत् मे, विचार-जगत् में, तथा इतिहास के क्षेत्र मे अपनी जाति के अन्य व्यक्तियों के साथ साझेदार है, और विलक्षण इसलिए कि वह इन्हें ऐसे बिन्दु से तथा इस दृष्टि से देखता है जो उसकी विशिष्ट है, इसीलिए उसके दर्शन का सिद्धान्त भी सामान्य तथा विलक्षण होता है। मैं कहूँगा कि यह विलक्षण पहले होता है और सामान्य बाद मे। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति का जीवन पहले यथार्थ का सक्षेप तथा ऐसी सहजानुभूति होता है जिसमे कोई भागीदार नही हो सकता : उसका कार्य यह पता लगाना तथा उसे अपनी सामर्थ्य के अनुसार अभिव्यक्त एव सम्प्रेषित करना हो जाता है कि उस सहजानुभूति का क्या तात्पर्य है। यह एक साथ उसका कर्तव्य है, उसका आनन्द है।

ㅁㅁㅁ

अध्याय ३८

स्व-मत

(२७४) इतना कहने मे, मैंने बीजरूप मे पहले ही एक कथन मे अपने दार्शनिक मत को अभिव्यक्त कर दिया है, और इस कथन के लिए अनेको कारणों से मैं आपका ऋणी हूँ। *जैसाकि हमने प्रारम्भ मे कहा दर्शन का सृजन किसी भी बौद्धिक प्राणी के लिए अपरिहार्य कर्म है . यदि इसके साथ ही यह 'कर्तव्य' एव 'आनन्द का स्रोत' भी है तो यह रोचक सयोग* उस विश्व के स्वरूप के विषय मे कुछ निर्देश करता है जिसमे यह दार्शनिक चिन्तन होता है।

किसी मृत अथवा निरर्थक विश्व मे वस्तुओ के समग्र पर चिन्तन करना, कर्तव्य जैसा कुछ नही हो सकता। इसके विपरीत, मनुष्य का यह कर्तव्य हो सकता है कि वह इस सबके विषय में भूल जाए और अपने नित्यप्रति के कार्य पर ध्यान दे। ऐसे विषय के सबध मे मनन करने की कोई उपादेयता नहीं हो सकती जिस पर न तो मनुष्य के कौशल का कोई वश हो और न ही, [जिसको मानने पर] मानवीय उद्देश्य संभव हो। कर्तव्य का केवल एक ही निरपेक्ष स्रोत है, *अर्थात्, किसी नियति की ओर का मार्ग, जिसका व्यवहार मे तात्पर्य है कि* किसी के लिए विकास के आगे के चरण का मार्ग। (जैसे कोई व्यक्ति किसी विशेष रूप से अच्छे नाटक अथवा ऑपेरा अथवा पुस्तक के लिए कहता है, "तुम्हें इसे छोडना नहीं चाहिए") केवल एक कारण से दार्शनिक चिन्तन हमारा कर्तव्य हो सकता है, और वह यह है कि विश्व का एक आन्तरिक अर्थ है जिसे किसी भी व्यक्ति को छोडना नही चाहिए, अपितु उसका प्रत्यक्ष एव उपभोग करना चाहिए। वस्तुत, जब तक विश्व मे अर्थ न हो, तब तक दार्शनिक चिन्तन एक निरर्थक कार्य हो जाता है, क्योकि हम दर्शन को उस प्रयास के रूप में परिभाषित कर सकते हैं जो अनुभव की उसके समग्र रूप मे व्याख्या देता है, अर्थात् जो वस्तुओ *का अर्थ मालूम करता है। यदि वस्तुओ का कोई अर्थ नही है तो दर्शन वैचारिक रूप मे* व्यर्थ है।

इससे यह अनुगमित होता है कि प्रत्येक दर्शन, चाहे वह किसी भी प्रकार का हो, यह मानकर चलने के लिए बाध्य है कि विश्व मे कोई अर्थ है (अथवा अर्थों का एक तन्त्र है), ऐसा अर्थ इस अर्थ मे वस्तुनिष्ठ है कि यह वस्तुत है चाहे आप या मैं इसे खोजें या न खोजें परन्तु जिसका हमे ज्ञान हो सकता है।* और क्योकि अर्थ भौतिक क्रम के मात्र तथ्यो को

---

* इस विचार के आगे के विकास के लिए "ह्वाट डज फिलॉसोफि से ?" [दर्शन क्या कहता है ?] नामक लेख 'फिलॉसोफिकल' रिव्यू [दर्शन समीक्षा], मार्च १६२८ (XXXVII, अक दो) मे देखें।

तुलना में कुछ अधिक हैं, अतः समस्त दर्शन, अपनी मान्यताओं में, प्रकृतिवाद के विरुद्ध है, प्रकृतिवाद को केवल इस नकारात्मक सिद्धान्त के रूप में लेते हुए कि विश्व में यदि कुछ है तो वह प्रकृति ही है।

(२७५) और क्योंकि अर्थ तब तक अमूर्त [अमूर्तिकरण] रहते हैं जब तक उन्हें किसी प्रकार ध्यान न दिया जाय अथवा वे अनुभूत न हो जायें अथवा उनकी अनुशंसा न हो जाय, अतः जगत् में वस्तुनिष्ठ अर्थ का अस्तित्व यथार्थ के मर्म में किसी प्रकार के मानसिक जीवन की अपेक्षा रखता है। इस सीमा तक मेरा विश्वास है कि प्रत्ययवाद इतना अधिक भिन्न प्रकार का दर्शन नहीं है जितना वह सब दर्शनों का सार है, चाहे स्वीकृत हो या उपेक्षित, यह स्वयं दार्शनिक उद्यम की पूर्वापेक्षा है। अतः जहाँ तक यह तर्क हमें ले जाता है वहाँ तक मैं प्रत्ययवाद को अपनी तत्त्वमीमांसा के केन्द्र के रूप में लेता हूँ। मैं इसे सुनिश्चित मानता हूँ यह उस द्वन्द्वात्मक पद्धति द्वारा स्थापित हो चुका है जिसके विषय में हम बात कर रहे थे। मुझे ऐसा प्रतीत होता है, कि यदि कोई व्यक्ति जो यह कहता है कि "जगत् में कोई वस्तुनिष्ठ अर्थ नहीं है," अपना ही प्रतिवाद करता है।

(२७६) प्रत्ययवाद के इस परिणाम को एक प्रकार से दार्शनिक दृष्टि से न्यूनतम आवश्यक माना जा सकता है। मेरा विश्वास है कि रहस्यवादी का यह निर्णय बहुत उपयुक्त है कि जगत् महत्त्व एवं मूल्य का अछूता तड़ाग है जिसके गुण का बोध हमें कभी-कभी प्रकृति के सौन्दर्य में होता है, अथवा प्रेम में, जो सर्वदा ऐसे विस्मय के रूप में होता है जो विचित्र रूप से हमारी पहले की इस बात को न देख पाने की असमर्थता पर होता है, फलस्वरूप हम स्वतः कह जाते हैं कि,

अनीश्वरवादी इतने मन्द हैं,

जो नहीं देखने पर ईश्वर की उपस्थिति की कल्पना नहीं कर पाते,

इससे भी अधिक सतत रूप में, भविष्य के सम्भव श्रेय के अस्पष्ट परन्तु अपरिहार्य बोध में, जिसकी हम जीवन पर्यन्त आशा करते रहते हैं। जीवन क्या है, चेष्टा क्या है ? हाँ, ऐसी सतत चेष्टा जो 'अभी नहीं है। जीवन वस्तुओं के यथार्थ के एक ऐसे क्षेत्र में पहुँच रहा है, जिसमें मूल्य की खोज कभी समाप्त नहीं होती। दर्शन में, यह आस्था भी रहस्यवादी की आस्था समझी जाती है, परन्तु इस सदर्भ में मेरा विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति प्रकट या अप्रकट रूप में रहस्यवादी है,—यहाँ तक कि शॉपनहावर जैसे लोग भी।

(२७७) परन्तु इस निर्णय से सन्तोष क्यों नहीं किया जाय कि जगत् में अर्थ है (कि अन्ततः प्राचीन, उद्देश्यमूलक तर्क तत्त्वतः सही था) ? अर्थ की ऐसी परिपूर्णता में विश्वास क्यों किया जाय ? निश्चिततया ही यह एक आनुभविक पूर्व मान्यता है। यह इस अर्थ में आशावाद नहीं है कि आगे चलकर शुभ प्रत्येक को स्वतः प्राप्त होगा : शुभ के लिए प्रयास करना होगा, और, हम इसे प्राप्त नहीं कर सकें यह सम्भव है। इससे भी अधिक, वास्तव में प्रत्येक व्यक्ति इसके बड़े अंश से, शायद इसके अधिकांश से वंचित रह जाता है। जगत् में यही दुःख [त्रासदी] का व्याप्त तथा अनिवार्य तत्त्व है। परन्तु मेरा विश्वास है कि जगत् में सार्थकता है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि वस्तुओं को, जैसी वे हमें आनुभविक रूप में उपलब्ध होती हैं

यथातथ्य ग्रहण करने का हमारा जो कर्तव्य है उससे यह बात कैसे मेल खाती है, अनुभव में सार्थक तथा निरर्थक एक दूसरे से किस प्रकार मिले हुए हैं ?

निश्चिततया, शुभ की सभी प्राप्तियो मे, कुछ तथ्यात्मक है। उदाहरण के लिए, हम ध्वनि के विषय मे किसी भी पूर्वज्ञान से सगीत को निगमित नहीं कर सकेंगे, और निश्चित-तौर पर न ही किसी ऐसे सामान्य प्रमेय से कि वस्तुनिष्ठ मूल्यो का अस्तित्व होता है। जैतून की महक, नाव की दौड, सीरिया के रेगिस्तान के विषय मे जितना चाहे उतना अनुभवाश्रित हुआ जा सकता है फिर भी मूल्य 'उद्भूत' होते हैं। क्या, गुण की इस नितान्त अप्रत्याशित खोज के साथ यह अपेक्षा नहीं है कि हम निरर्थक के प्रति आनुभविक दृष्टि अपनाएँ ? जगत् मे ऐसा बहुत कुछ है जिसे हम केवल स्वीकार कर सकते हैं यह केवल प्रदत्त है,—यह है। हमारी यथार्थवादी प्रवृत्ति की यह माँग है कि हम ऐसे तथ्यो का सामना करें और उन्हे स्वीकार करें।

सहर्ष, किन्तु कब तक ? वे दर्शन जो मात्र प्रदत्तों की दीवार से टकरा जाते हैं और वहीं समाप्त हो जाते हैं, या तो अस्थायी हैं या आलसी है। वे यह कहने का साहस नहीं करते कि इन वस्तुओं का कोई अर्थ नही है वे केवल यही कहते हैं कि, हमे अभी तक कोई भी अर्थ नहीं मिला है, और इसके लिए अधिक प्रयत्न को सार्थक नहीं मानते। निरर्थक की ओर इस प्रकार का मनस्थ अनुभववाद केवल वैयक्तिक सीमा का अगीकार है जगत् के विषय को लेकर इसमे इसके अतिरिक्त कुछ भी सन्निहित नही है कि वक्ता को कवि अथवा कलाकार को मार्ग देना चाहिए जो देख सकते हैं। अनुभववाद किन्ही भी निषेधो को स्थापित नही कर सकता और हम जगत् के विषय मे यह जानते हैं कि जैसे-जैसे हम अपनी सामर्थ्य का विस्तार करते हैं और अपनी दृष्टि के उपकरणो का समायोजन करना सीख लेते हैं वैसे वैसे ही मूल्य उद्भूत होते रहते हैं।

(२७८) मुझे प्रत्ययवाद के साथ आगे जाना चाहिए और कहना चाहिए कि जगत् एक आत्म है। मुझे इसकी व्याख्या मे तत्काल यह भी जोड देना चाहिए कि आत्म पूर्ण रूप से प्रत्यक्ष तथा ग्राह्य सत्ता होने की अपेक्षा, जैसी दकार्त तथा बर्कले की मान्यता प्रतीत होती है, अपनी गहनता एव रहस्य मे अनन्त है। केवल इसी अर्थ मे इसे वस्तुओ की समग्रता के लिए अवधारणा के रूप मे प्रयुक्त किया जा सकता है अनन्त अनन्त के द्वारा तथा अज्ञात अज्ञात के द्वारा परिमित होता है। यहाँ भी अति प्रचलित प्रत्ययवाद की तुलना मे रहस्यवाद सत्य के अधिक निकट है।* यह आत्म शब्द मुख्य रूप से यह निर्देश करता है कि जगत् के अन्तर्गत मानसिक जीवन की अपनी एकता है, और वस्तुओ के समस्त अर्थ एक ही सकल्पेच्छा मे सामजस्य रखते हैं।

---

* रहस्यवादी जो आत्म के विषय में जानता है उसके बारे में जब मैं कहता हूँ, तो स्पष्टत मेरा सकेत अर्थ, गुह्यविद्या के किसी तत्त्व की ओर नहीं होता जो समकालीन मनोविज्ञान में 'अवचेतन' के नाम से प्रचलित है।

'अवचेतन' एक तथ्य है, और मानसिक जगत् का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य है। परन्तु ऐसा कोई कारण नहीं है कि इसे अनेक कल्पित वैतालों [हॉब्गॉब्लिन],[1] मनोग्रन्थियों, तथा भूतों का घर बना दिया जाय, अथवा इसे 'अचेतन' कहकर अचेतन के विषय में यह कहा जाय

{ }

क्या जगत् मे स्थित समस्त आत्म तत्त्व किसी अधिक गूढ़ अथवा उच्चतर तत्त्व की अभिव्यक्ति नहीं हो सकता ? नहीं। क्योंकि आत्म तत्त्व की अपेक्षा न तो कुछ उच्च है और न ही अधिक गहन। स्पिनोज़ा का द्रव्य, अन्य गुणों की अनन्तता के सहित, यदि वह चेतन एवं आत्म-चेतन न हो, सत्ता की दृष्टि से सरलतम मनुष्य की तुलना [अपेक्षा] में निम्नतर होगा। द्रव्य के आत्म तत्त्व के भीतर यथार्थ की समस्त अज्ञात विभूति [तेजस्विता] के लिए स्थान है।

(२७१) मानव-आत्म, जिसे हम समग्र विश्व के एक अपूर्ण बिम्ब के रूप में ग्रहण करते हैं, प्रकृति का अंश है परन्तु उससे अधिक भी कुछ है।

जैसी प्रकृतिवादी योजना की अपेक्षा है, इस मानव आत्म को, इसके परिवेश के सन्दर्भ मे वैज्ञानिक अध्ययन का विषय बनाया जाना चाहिए। सीखने के, स्वभाव के, और इसी प्रकार अन्य प्रक्रियाओं के (क्योंकि उनका उपयोग हमे व्यवस्थित करने के लिए नही किया जाता) नियम हैं, जिन्हें अस्वीकार करने अथवा तोडने का हमारे पास कोई कारण नहीं होता। प्राकृतिक विज्ञान के रूप में मनोविज्ञान हमारे विषय मे बहुत कुछ की व्याख्या दे सकता है, केवल शर्त यह है कि व्याख्या से हम एक वस्तु को दूसरी वस्तु से निर्गमित करना न समझें अपितु वैभिन्य [वेरिएशन] के नियम का प्रयोग मानें। इस प्रकार स्पन्दन रग की इस अर्थ मे व्याख्या नही करता कि रग कम्पन से व्युत्पन्न होता है, अपितु स्पन्दन-गति में भेद, रगो के भेद की व्याख्या कर सकते हैं। भौतिक तथ्य मानसिक तथ्य को उत्पन्न नहीं करता, परन्तु एक मे होने वाले परिवर्तन दूसरे के परिवर्तनो के अनुरूप होते हैं।

मानव-आत्म प्रकृति के अंश से अधिक है, क्योंकि वह तथ्य से अधिक है . तथ्य तथ्यों के विषय मे चेतन नही होता,—आत्म को उनकी चेतना होती है, तथ्य मूल्य नहीं है,—आत्म मूल्यों पर आश्रित है और स्वय एक मूल्य है, तथ्य विशेष होते हैं, सामान्य नही,—आत्म

कि उससे किसी अचेतन मानसिक अवस्था को समझा जाता है, जो मनस् तथा शरीर के मध्य की चीज होती है और यही अर्थ होता है जब कोई व्यक्ति 'शक्ति' अथवा 'मनोवेग' शब्द का उपयोग करता है और अपनी आंखों को बन्द करके तैरने के विषय में सोचता है।

'अवचेतन' अवगुंठित तथा यन्त्रीकृत रूप के अन्तर्गत जो इसने समकालीन मनोविज्ञान के अन्तर्गत ग्रहण किया है, शॉपेनहावर तथा फान हार्टमान का अनुसरण करते हुए, आत्म के नैतिककर्ता के रूप में, जिस रूप से कला के अन्वीक्षक तथा सर्जक के रूप में, तार्किक तथा दार्शनिक के रूप में, जिस रूप से आरम्भ के प्रत्ययवादी (आइडियलिस्ट्स) सम्बन्धित थे,—समस्त उपयोगी (यद्यपि अव्यवस्थित रूप से अभिव्यक्त) अन्वीक्षा को हमारी दृष्टि से छुपाने का साधन बना है। ये प्रक्रियायें उससे कहीं अधिक स्पष्ट रूप में आत्म के स्वरूप को अभिव्यक्त करती हैं जितना कि प्रयोगशाला की प्रक्रियायें तथा अवचेतन की अभिलाषाएं। मनोविज्ञान में इस समस्त प्रारम्भिक कार्य का लगभग पूर्ण अभाव वह दण्ड है जो विज्ञान को उस समय भुगतना पड़ता है [illegible] मत दूसरे की भाषा को न तो ग्रहण कर सकता है [illegible] ही समझ [illegible]।

(विशेष तथा सामान्य) दोनो है, तथ्य वर्तमान मे होते हैं,—आत्म का प्रसार भूत तथा भविष्य दोनो है। और इन बातो के कारण, जबकि तथ्य वैसे ही हैं जैसा उन्हें होना चाहिए, आत्म स्वतन्त्र है : अनेक संभावनाओ के गर्भाशय मे से कौनसी संभावना अगले क्षण का तथ्य बनेगी, इस बात को यह निर्धारित करता है।

इस प्रकार आत्म विरोधी तत्त्वो की एकता है। और क्योंकि वृहत्तर विश्व की रचना मे ठीक वैसे ही विरोधी तत्त्व देखे जाते हैं और किसी प्रकार उनमें भी एकत्व रहता है, अतः हम इस 'किसी प्रकार' की समस्या को अंशतः उसी तरह आन्तरिक जगत् मे स्थानान्तरित कर सकते हैं, जैसा हम तय करते हैं जब हमे यह ज्ञान हो जाता है कि समग्र जगत् एक आत्म है। समग्र के आत्म होने के विषय मे जो अन्तिम प्रमाण है वह प्राथमिक रूप से न तो [निगमनात्मक] तर्क का प्रमाण है और न ही सादृश्य का, अपितु प्रत्यक्षानुभव का है, जिसकी व्याख्या द्वन्द्वन्याय द्वारा होती है। मानवों के समूह के रूप में, हम यह जानते हैं कि विश्व में हम अकेले नही हैं : यह हमारा प्रथम एव स्थायी सहजबोध है।

(२८०) इस प्रतिज्ञप्ति को कि जगत् एक आत्म है, मैं दर्शन मे एक निश्चितता का बिन्दु मानता हूँ। और इसके साथ मैं एक अन्य विश्वास को अंगीकार करता हूँ,—यह विश्वास कि दर्शन का लक्ष्य निश्चितता को प्राप्त करना है, इससे कम यह किसी से भी सतुष्ट नही हो सकता। यदि कोई इस बात पर बल देना चाहता है तो वह कह सकता है पूर्ण निश्चितता, —निश्चितता तथा पूर्ण निश्चितता मे कोई तार्किक भेद नही है। ज्ञान के तन्त्र के तथा साथ ही नित्यप्रति के जीवन के प्रायोगिक व्यवहार के स्वरूप को निर्धारित करने के लिए ऐसी ही निश्चितता अपेक्षित है। मेरा विश्वास है कि ज्ञान का जीवन और साथ ही कर्म का जीवन निश्चितता के इस ध्रुव, तथा अन्वेषण, अतरिमता, संभावना, प्राक्कल्पना के क्षेत्र के बीच अनियमित आवर्तन अथवा प्रत्यावर्तन मे झूलता रहता है।

मैं जानता हूँ कि "परम" विचार के वर्तमान युग के लिए भर्त्सना का शब्द है। सत्य, नियम, तथा नैतिक नियमो [मॉरल्स] की कठोर संहिताएँ घातक मानी जाती हैं : हमारे युग की प्रतिभा इस बात मे रही है कि हम इनकी बेडियो से मुक्त रहे : वैज्ञानिक चेतना विचारो के सतत संशोधन के लिए खुली हुई है : आने वाले कल मे हमे किसी नई प्राक्कल्पना को स्वीकार करने के लिए तैयार रहना चाहिए। ठीक, परन्तु आपकी प्राक्कल्पना कितने अंश में नई है ? यदि ऐसा है तब आप दिन पर दिन एक ही आत्म नहीं रहते और आपका मानसिक जगत् एक पागलखाना बन जाता है जो रहने लायक नही रहता।

जो परिवर्तन हो रहा है उसकी मात्रा के आकलन मे हमे एक प्रकार का भ्रम हो जाता है यह अनुभव का आश्चर्यचकित कर देने वाला पक्ष है, यह वह पक्ष भी है जो हमारे विचार को चुनौती देता है और फलस्वरूप उसकी ओर हमारा आकर्षण बना रहता है। परन्तु सभी सामाजिक क्रान्तियों का इतिहास हमे यह स्मरण कराता है कि इतिहास मे नैरन्तर्य का नियम है : इसी प्रकार का नियम विचार की क्रान्तियों मे भी है। यहाँ कुछ नैरन्तर्य से भी अधिक है : वस्तुओ के आधार मे एक अपरिवर्तनीयता का नियम रहता है, जिस पर निश्चितता आश्रय ग्रहण कर सकती है और निश्चित रह सकती है। यह आत्म की

अपरिवर्तनीयता का वस्तुनिष्ठ प्रतिवर्ती है जो परिवर्तन को समझता है और उसका आनन्द उठाता है।

यह सत्य है कि हमे अपनी प्राक्कल्पनाओ में संशोधन करने के लिए तत्पर रहना चाहिए। इसीलिए हम उन्हे प्राक्कल्पना कहते हैं। इसी प्रकार हमे अपने जीवन के नियमो मे सशोधन करने के लिए तत्पर रहना चाहिए। परन्तु यदि ऐसा करने मे हम नियमबद्धता की चेतना तथा 'विधि के नियम' को भी भग कर दें तो क्या होगा ? तब नियमो का परिवर्तन निरर्थक हो जाता है। जब हम परिवर्तनशील नियमो के विषय मे बात करते हैं तो, हम 'इदम्' के स्थायित्व पर निर्भर रहते हैं जबकि 'किम्' के साथ हम परीक्षण करते हैं। जब कोई समकालीन मसीहा, "हमारे युग के सक्रमण के लक्षण" (सभी युग सक्रमण के होते हैं) के विषय में चेतावनी देता है, कि "क्योकि न तो सस्थाओ मे और न ही विचार म कुछ भी स्थायी है, अत: हम लोगो को धर्म तथा यौन के, कला तथा साहित्य के, राजनीति तथा विधि के, पुराने नियमों मे सशोधन करने के लिए तैयार रहना चाहिए," तो उसकी यह चेतावनी वस्तुत एक सामान्य कथन है जो उत्तेजना मे की हुई उद्घोषणा है। परन्तु यदि इसे समग्र सत्य के रूप मे माना जाय तो यह असत्य कथन का उदाहरण होगा। धर्म, यौन, कला, साहित्य के लिए यह प्रश्न कभी नहीं उठता कि सभी वस्तुएँ बदलती हैं या नही। प्रश्न केवल यह हो सकता है कि कौनसी वस्तुएँ परिवर्तनशील हैं, देश-काल से सापेक्ष हैं, और कौनसी स्थायी हैं। दर्शन का प्रथम कर्तव्य यह है कि वह जो स्थायी है उसे स्पष्ट करे, जिससे परिवर्तन तथा अन्त करण की स्वतन्त्रता तथा सफलता मे सगति बनी रहे। उपकरण अथवा साधनवाद आलोचना के कारण एक आवश्यक वस्तु की अवेहलना कर देता है।

सच्ची परीक्षणात्मक चेतना उस रहस्यवादी की है जो प्रत्येक स्थायी आदत को अन्तरिम और प्रत्येक अवधारणात्मक मानदण्ड को तात्कालिक मानता है, ऐसा इसलिए नहीं है कि कुछ भी निरपेक्ष नही है अपितु इसलिए है कि कुछ [निरपेक्ष] है : और क्योकि यह निरपेक्ष मानदण्ड है इसलिए—प्रत्येक अवधारणात्मक मानसिक गुण की इससे तुलना करके जाँच की जानी चाहिए। समय समय पर इस निरपेक्ष सत् एव शुभ के अपने प्रत्यक्ष को नवीनीकृत कर वह स्वय को सामाजिक तथा प्राकृतिक अनुभव के यथार्थ के उन नये सम्पर्कों के लिए तैयार करता है जो न जाने हमारी मान्यताओं तथा पूर्वाग्रहो के कठोर आवरण के कितने भाग को सशोधन करने के लिए नियत है।

वैज्ञानिक पद्धति स्वय (जिसे प्रत्येक समकालीन दर्शन यथार्थवाद, प्रकृतिवाद एव प्रयोजनवाद विशिष्टरूप में तत्काल अपना विशिष्ट मित्र मानने का दावा करता है) असीमित सापेक्षता तथा परिवर्तन की समर्थक नही है। क्योकि उस तर्कशास्त्र तथा गणित के बिना, जिसका वैज्ञानिक विधि लगातार उपयोग करती है, वह कुछ भी नही होगी। स्वय सभावना को एक ऐसे कलन [कैलकुलेस] द्वारा ही समझा जा सकता है जो सभावना की पहुँच से बाहर है। यथार्थवादियो ने सत्य के इस पक्ष के लिए एक प्रकार की स्वायत्त अन्तिमता को मानकर ठीक ही किया है। प्रयोजनवादी घोषणा—जहाँ तक यह इस स्थापना को स्थायी रूप से सत्य मानता है कि प्रायोगिक विधि ही एकमात्र विधि है, और

इसीलिए समस्त सत्य को अन्तरिम मानना चाहिए—आत्मखण्डनीय अवस्था का एक प्रमुख उदाहरण है।

इस प्रकार यथार्थवाद भी इस बात मे सहमत है कि दर्शन मे निश्चितता होती है, परन्तु यह एक अमूर्त प्रकार की निश्चितता होती है, जबकि सहजबोधवादी इस अमूर्तिकरण मे अनुभव के प्रभाव को भी समाविष्ट करता है, और इस प्रकार इसे मूर्त निश्चितता का रूप दे देता है। परन्तु इस मूर्त निश्चितता को बौद्धिक रूप से,—इस अवस्था मे द्वन्द्वात्मक न्याय से,—स्थापित किया जाना चाहिए। यही दर्शन तथा कला मे भेद उत्पन्न करता है। बौद्धिकता दर्शन की प्रतिमा है' और इस अर्थ मे समस्त दर्शन बुद्धिवाद है।

(२८१) ज्ञान-मीमासा की भाँति व्यावहारिक दर्शन मे भी मैं रहस्यवादी यथार्थवाद मे विश्वास करता हूँ जो युक्तियुक्त प्रकार का यथार्थवाद है।

नित्यप्रति के जीवन में हमे वस्तुओ को स्वतन्त्र, प्राकृतिक, अपने अलग अथवा कम से कम यह कि वे हमारे लिए नहीं है ऐसा मानना चाहिए। एक अजनबी विश्व के बीच मानव निवास के निर्माण के लिए सघर्ष, विज्ञान की सहायता से हमारी दृष्टि मे जो अशुभ है उसके निष्कासन का अथक प्रयास, विश्व मे किसी अन्य शुभ की अपेक्षा नही करना जिसका हम मनुष्य प्रकृति मे निर्माण करते हैं तथा स्वयं विश्व को छोडकर और वस्तुओ की सरचना म सनिहित किसी भी बुराई को नहीं मानना यह वह कार्यक्रम है जिसमे हम यथार्थवादी के साथ हैं।

इस तथ्य को ध्यान मे रखते हुए कि जिस कार्य की रूपरेखा को स्पष्ट किया गया है वह अनन्त से कम नही है, इस मानवतावादी कार्य को कौन देखता है और किसके पास उसके लिए अनन्त धैर्य एव शक्ति है? और उस उपलब्धि के लिए जिसे केवल सुदूर भविष्य की पीढी ही देख सकेगी कौन विकास के अन्त तक प्रतीक्षा कर सकता है? [शायद] केवल वही व्यक्ति जो किसी रूप मे लक्ष्य तक पहले ही पहुँचा हुआ है, जैसे रहस्यवादी (जो हमारे लिए धार्मिक चेतना का प्रतिनिधित्व करता है)। उसके लिए, जहाँ भी वह होता है वहीं यथार्थ अपनी सम्पूर्णता मे सर्वदा प्राप्य होता है: वह सर्वदा काल तथा देश तथा इतिहास के मध्य मे होता है, वह कभी भी अन्तिम प्रकार, स्नायविक चिन्ता से पीडित नही होता और न ही सुदूर लक्ष्य को प्राप्त करने की शीघ्रता करता है। केवल वही अनन्त साधनों की सहायता से एव धैर्य के साथ के लिए भावी परिश्रम कर सकता है जो अभी होना है, क्योंकि वह जानता है कि प्रकृति उसके साथ है। वह जानता है कि कार्य तथा उसे करने की क्षमता के बीच कोई भी अतुलनीय सबध नहीं हो सकता। वह जानता है कि उसमे जो है वह वही द्रव्य है जिसने विषय को प्रस्तुत किया है तथा उसके विरुद्ध उससे अलग स्थापित किया है। कनफ्यूशियस के साथ वह इस बात मे पूर्णत निश्चित है कि "अच्छा व्यक्ति स्वर्ग तथा पृथ्वी के साथ एक त्रयी बनाता है।"

(२८२) प्रकृतिवाद की शक्ति इस बात में भी थी कि इसके पास धर्म के प्रति जाति की प्रवणता की एक व्याख्या थी। रहस्यवादी-यथार्थवाद, जिसे हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं,

प्रकृतिवाद के प्रति जाति की प्रवणता के सम्बन्ध मे वैसी ही व्याख्या देता है, यह प्रवणनत विचार का ऐसा रूप है जो जीवन के प्रत्यावर्तन मे दूसरे छोर के लिए उपयुक्त है।

परन्तु यह प्रकृतिवाद का विध्यात्मक पक्ष है, निषेधात्मक नहीं। हम कह सकते हैं कि यह रूपान्तरित किया हुआ प्रकृतिवाद है जो भौतिक प्रकृति का, उसे एक बृहत्तर प्रकृति का क्षेत्र बनाकर परिवर्धन करता है।

प्रकृति की इस विस्तृत अवधारणा के विषय मे हम वही कह सकते हैं जो हम आत्म के विषय मे कहते हैं. वास्तव मे यह गणित की घटनाओ की कोई ऐसी योजना नही है जो नियमानुसार अनन्त दिक् एव काल मे गतिशील है। स्वय के आन्तरिक जीवन के सदर्भ में यह अनन्त है। प्रकृति का तत्व उस समस्त अर्थ का योग है जो इसमे उपलब्ध होता है। शैलिंग, ब्रूनो अथवा रॉयस ने प्रकृति को जिस रूप में ग्रहण किया था—अर्थात् इस अर्थ मे कि इसकी आन्तरिक सत्ता परमाणुओ पर आधारित नही अपितु चेतना के सर्वत्र प्रसार मे सन्निहित है—उस रूप मे प्रकृति तथा इसके नियम एक चरम उद्देश्य तथा महत्व की अभिव्यक्ति हो जाते हैं। और क्रमश प्रकृति, अपनी विस्तृत अ-वैयक्तिकता के सहित, स्वेच्छाचारिता के उस दोष को दूर कर देती है, 'मनस्' तथा ईश्वर की हमारी सामान्य अवधारणाओ के साथ जिसके चिपके रहने की सभावना है।

इस प्रकार दान्ते के नरक मे, रूपक का शाब्दिक अर्थ दोषियो के दण्डो को इस रूप मे प्रस्तुत करता है मानो उन्हें ईश्वर की सकल्पेच्छा द्वारा दण्डित किया गया हो। काव्य के गहनतर अर्थ मे इन आत्माओ के भाग्य मे कुछ भी याहच्छिक अथवा पारम्परिक नही है, अपितु कवि चित्रात्मक सकेतो के रूप मे भिन्न प्रकार के दोष, त्रुटि अथवा अच्छाई के अभाव मात्र मे निहित तार्किक परिणामो को व्यक्त करने का प्रयास करता है। वह इन अनेक आत्माओं के भाग्य पर किसी प्राकृतिक नियम के क्रियान्वयन के रूप मे विचार करता है। हिन्दुओ के कर्म के नियम के सदृश्य यह एक ऐसा नियम है जो नैतिक भेदो पर प्रयुक्त होता है और इस प्रकार पूर्ण एव अपरिवर्तनीय न्याय को व्यक्त करता है। इस प्रकार की अवधारणा प्रकृतिवाद के सदृश है। परन्तु यह प्रकृतिवाद इस प्रकार रूपान्तरित हो जाता है कि प्रकृति की आन्तरिक प्रक्रिया निर्जीव नहीं रहती अपितु नैतिक नियमबद्धता का रूप ले लेती है, और आत्म की नियति किसी भी एक देशकाल के क्रम की आवश्यकताओ से सीमित नहीं रहती।

कुछ इसी प्रकार का प्रकृतिवाद, जो प्रत्ययवादी तत्वमीमासा से असगति नहीं रखता है विश्व-दृश्य का एक अनिवार्य अग है। केवल रहस्यवादी प्रत्ययवादी ही समस्त 'कठोर-तथ्यो' को खोजने तथा अनुभव के प्रकृतिवादी तन्त्र के समस्त खतरो का मुकाबला करने के लिए प्रामाणिक व्यक्ति है, वह न तो उनकी अवेहलना करता है और न उनसे दूर भागता है।

(२८३) किसी ने कहा है कि मानवतावाद एक प्रकार की 'वर्ग-चेतना' है,—बाह्य विश्व के विरुद्ध हम मनुष्य समान हितों के कारण एक साथ इकट्ठे हो गए हैं। तो भी केवल मानवीय हित पर मनस् को स्थिर करने का अर्थ होगा कि हम उन सभी सर्वोत्तम वस्तुओं

को खो दें जो मानवजाति को प्राप्त हुई है। ये वस्तुएँ मनुष्य को कला अथवा विज्ञान के प्रति, जैसा हम कहते हैं, उन्हीं के लिए अनुराग रखने के कारण प्राप्त हुई हैं, इस अवस्था मे मानवता केन्द्र म नही हुई होती। आप विशिष्ट व्यक्तियो, जिनमे से प्रत्येक शाश्वतता का चिन्तन करता है, का भला कैसे कर सकते है जब तक आप स्वय शाश्वतता का चिन्तन न करें? किसी मनुष्य को ऐसी सहज प्रवृत्तियो के समूह के रूप में मानने पर जो पाशविक वशानुक्रम से आती हैं, जिन्हें भूत की पृष्ठभूमि मे ही भलीभाँति समझा जा सकता है, आप उस मनुष्य का अपमान करके ही उसका थोडा बहुत भला कर सकते हैं। यदि उसे मनोवृत्तियों के एक ऐसे समूह के रूप मे मानें जो अमर होने की सकल्पेच्छा की ओर बढ रही हैं तो आप पायेंगे कि भौतिक हित घटनाओं के रूप म ग्रहण कर लिए गये हैं। मानवतावाद केवल एक ऐसे जगत् मे फलीभूत हो सकता है, जिसमे मानवीय कर्म को धार्मिक निष्ठा से किये जाने का उत्साह प्राप्त करता हो। यह केवल तभी तक होता रह सकता है जब तक जगत् इस प्रकार की श्रद्धा के योग्य रहता है। मानवतावाद रूपान्तरित प्रकृतिवाद पर निर्भर है जो प्रत्ययवाद ही है।

(२८४) यह दृष्टि प्रयोजनवादी दृष्टिकोण के प्रति भी न्याय करती है। क्योंकि जगत् का अपूर्ण भाग, जिसम, विश्वास करन की इच्छा को उचित भूमिका है, उससे अधिक विस्तृत है जितना सामान्यतया प्रत्ययवाद द्वारा प्रतिपादित है। जिस रूप म हम मानव जीवन को पाते है उस रूप मे वह स्वतन्त्र, पवित्र तथा अमर नही है। इसकी स्वतन्त्रता प्राप्त करनी है, इसकी पवित्रता उस प्रदान की जानी चाहिए, इसकी अमरता को जय किया जाना चाहिए। इन पक्षो मे हम स्वय अपनी नियति के स्रष्टा हैं मानवतावादी सीमा के परे भी हमारी नियति का जगत् वैसा ही होगा जैसा हम मानेंगे तथा जैसा हम उसे बनाएँगे।

□□□

सामान्य सन्दर्भ पुस्तकें

१. दर्शन के इतिहास पर

जो टाइप्स [दर्शन के विशिष्ट प्रकार] का अध्येता है वह दर्शन का इतिहास नही पढ रहा है, और इसलिए यदि वह अपने पास दर्शन के इतिहास पर कोई अच्छी पुस्तक रखेगा तो अच्छा होगा, इससे वह उन विचारको के विषय मे जो उसे रुचें और उनके विचारो के सन्दर्भो के लिए प्रकाश प्राप्त कर सकेगा।

रॉजर्स, ए के — स्टूडेन्टस हिस्ट्री ऑव फिलॉसोफि [विद्यार्थियों के लिए दर्शन का इतिहास]। आरम्भ के विद्यार्थियो के लिए सुस्पष्ट रूप से पठनीय तथा विश्वसनीय।

रॉयस, जे — दि स्पिरिट ऑव माडर्न फिलॉसोफि [आधुनिक दर्शन की प्रवृत्ति]। अनेको आधुनिक पुस्तको मे से एक जिसमें दार्शनिक जिज्ञासा की आकांक्षा तथा चिरन्तन आकर्षण को गम्भीरतापूर्वक, विद्वत्तापूर्वक तथा भाषा के नैपुण्य द्वारा सम्प्रेषित किया गया है।

डूरैन्ट, विल — दि स्टोरी ऑव फिलॉसोफि [दर्शन की कहानी]। दर्शन की मूल भावना का सम्प्रेषण तो करती है किन्तु विस्तार मे यह विश्वसनीय नही है। मेरे मत मे, स्पिनोज़ा, स्पैन्सर, तथा नीत्शे पर लिखे गये अध्याय विशेषरूप से अच्छे है।

वैबर एण्ड पैरी — हिस्ट्री ऑव फिलॉसोफि [दर्शन का इतिहास]। अपेक्षाकृत परिपक्व बुद्धि वाले विद्यार्थी के लिए गभीर तथा पूर्ण विवरण।

पैरी, आर. बी — फिलॉसोफि ऑव द रीसैन्ट पास्ट [हाल ही के अतीत का दर्शन] तथा रॉजर्स, ए. के. इन्गलिश एण्ड अमेरिकन फिलॉसोफि सिन्स १८०० [*१८०० से इन्गलैण्ड तथा अमेरिका का दर्शन*] ऐसे अनेकों आधुनिक लेखको—यथा बर्गसां, जेम्स, रॉयस—का मूल्यवान विवरण प्रस्तुत करती है जिन के विषय मे हम विचार करेंगे।

२. दार्शनिको की रचनाएँ

पाठ्य पुस्तको के अंग्रेजी सस्करणो के लिए निम्नलिखित उपयोगी हैं :

बेकवैल, चार्ल्स — ए सोर्स बुक इन एनशियन्ट फिलॉसोफि [प्राचीन दर्शन का एक स्रोत ग्रन्थ]।

रैन्ड, बी — माडर्न क्लासीकल फिलॉसोफर्स, एण्ड क्लासीकल मॉरलिस्ट्स [आधुनिक प्रमुख दार्शनिक, तथा प्रमुख नैतिक-चिन्तक]।

स्क्रिबनर (स्क्रिबनर फिलॉसोफि सीरीज) [स्क्रिबनर (द्वारा प्रकाशित) दर्शन माला] के द्वारा चयनिकाओं [सिलेक्शन्ज] की एक सर्वोत्तम शृंखला प्रकाशित की गयी है। एवरीमैन्स लाइब्रेरी मे भी अनेकों आधार ग्रन्थ उपलब्ध हैं, और अब कुछ अन्य अच्छे तथा सस्ते संस्करण भी उपलब्ध हो गए हैं।

रोबिन्सन, डी एस एन्थॉलोजि ऑव मॉडर्न फिलॉसोफि [आधुनिक दर्शन की चयनिका]।
एन्थॉलोजि ऑव रीसेन्ट फिलॉसोफि [हाल ही के दर्शन की चयनिका]।

३ समकालीन आत्मकथा

कन्टैम्परॅरी ब्रिटिश फिलॉसोफि [ब्रिटेन का समकालीन दर्शन], जे एच म्यूरहैड द्वारा संपादित।

कन्टैम्परॅरी अमेरिकन फिलॉसोफि [अमेरिका का समकालीन दर्शन], जी. पी एडम्स तथा डब्ल्यू पी मान्टेग द्वारा संपादित।

कन्टैम्परॅरी इन्डियन फिलॉसोफि [समकालीन भारतीय दर्शन], सर एस राधाकृष्णन् द्वारा संपादित।

विज्ञान एवं धर्म से सम्बन्धित सन्दर्भ पुस्तकें

नीडहैम, जोजेफ, (संपादक) साइन्स, रिलीजन एण्ड रीयलिटि, [विज्ञान, धर्म, तथा सत्] । लन्दन, १९२५। असाधारण प्रतिभा वाले निबन्ध मैलीनोवस्की, सिङ्गर, एडीन्गटन, एव नीडहैम के लेख विशेष रूप से मूल्यवान हैं।

व्हाइट, एन्ड्र्यू डी वारफेयर ऑव साइन्स एण्ड थिओलॉजि, [विज्ञान तथा ईश्वर विज्ञान का संघर्ष] १८९६। इस विशिष्ट विषय का यह अभी भी मानक इतिहास है।

सिम्पसन, जेम्स वाई लैन्डमार्क्स इन दें स्ट्रगल बिटवीन साइन्स एण्ड रिलीजन [विज्ञान तथा धर्म के बीच संघर्ष मे युगान्तरकारी घटनाएँ], १९२५।

व्हाइटहैड, ए एन साइन्स एण्ड दें मॉडर्न वर्ल्ड [विज्ञान एव आधुनिक जगत्], १९२६।

सोलहवी तथा सत्रहवी शताब्दियों के काल के लिए दर्शन के इतिहास देखिए जिनमे कोपरनिकस, केंपलर, ब्रूनो, गैलिलियो, न्यूटन पर विशेष ध्यान दिया गया है।

यूनानियो के उस समय के धार्मिक दृष्टिकोण के लिए जब उनकी वैज्ञानिक चेतना की प्रथम आत्माभिव्यक्ति हुई थी

कॉर्नफोर्ड, एफ. एम फ्राम रिलीजन टू फिलॉसोफि [धर्म से दर्शन की ओर], १९१२।

फुलर, बी ए जी हिस्ट्री ऑव ग्रीक फिलॉसोफि [यूनानी दर्शन का इतिहास] दूसरा अध्याय।

आदिम विश्व-दृष्टियों के विषय में

ब्रिन्टन, डी. जी रिलीजन्स ऑव प्रिमिटिव पिपुल्स [आदिम मनुष्यो का धर्म], १८९५ ।

मैरेट, आर. आर दि थ्रेशहोल्ड ऑव रिलीजन [धर्म का प्रवेश], १९०९ ।

हॉपकिन्स, ई डब्ल्यू. ऑरिजिन एण्ड इवोल्यूशन ऑव रिलीजन [धर्म का उद्भव और विकास], १९२३ ।

फ्रॉयड, एस. हिस्ट्री ऑव एन इल्यूज़न [एक भ्रम का इतिहास], १९३९ ।

प्रकृतिवाद

अध्ययन के लिए निर्देश

१ वे पुस्तकें जो प्रकृतिवादी दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करती हैं इनमें से कतिपय पुस्तको के संक्षिप्त विवरण के लिए ३०वाँ परिच्छेद देखिए ।

ल्यूक्रीटियस डी रेरम नेचुरा [वास्तविक प्रकृति पर] (बैकवैल के संस्करण मे एक अंश) ।

ब्यूखनर, लुइस फोर्स एण्ड मैटर [शक्ति तथा जड द्रव्य] ।

हैकेल, अर्न्स्ट दि रिडिल ऑव दि यूनिवर्स [विश्व की पहेली], १८९९ ।

हक्सले टी एच ले सरमन्स [धर्मनिरपेक्ष प्रवचन] ।

स्पेन्सर, एच फर्स्ट प्रिन्सिपल्ज़ [प्रथम सिद्धान्त] डेटा ऑव एथिक्स [नैतिकी के प्रदत्त] ।

नीत्शे, फ्रेडरिक बियोन्ड गुड एण्ड ईविल [शुभ तथा अशुभ के परे], दस स्पोक ज़रथुस्त्र [ज़रथुस्त्र ने कहा], जीनियोलॉजि ऑव मॉरल्स [नैतिकता का विकास] ।

ओस्टवाल्ड, विल्हेम नेचुरल फिलॉसोफि [प्राकृतिक दर्शन] (सैल्ट्रसर द्वारा अनुवादित) ।

एडमैन, इरविन फोर वेज़ इन फिलॉसोफि [दर्शन की चार प्रणालियाँ] ।

ड्यूई, जॉन रीकॉन्सट्रक्शन इन फिलॉसोफि [दर्शन म पुनर्रचना], ऐक्सपीरियन्स एण्ड नेचर [अनुभव तथा प्रकृति] ।

रसल, बर्ट्रेन्ड व्हॉट आई बिलीव [मेरे विश्वास] ।

सन्तायना, जॉर्ज स्कैप्टिसिज्म एण्ड ऐनिमल फेथ [संशयवाद तथा सहज विश्वास] ।

सैलर्ज, आर डब्ल्यू इवोल्यूशनरी नेचुरॅलिज्म [विकासवादी प्रकृतिवाद] ।

मूर, बी एम दि ऑरिजिन एण्ड नेचर ऑव लाइफ [जीवन का उद्भव और उसकी प्रकृति] (होम यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी) ।

वॉटसन, जॉन बी साइकॉलोजि फ्रॉम द स्टैंड पाइन्ट ऑव ए बिहेवियरिस्ट [व्यवहारवादी की दृष्टि से मनोविज्ञान] ।

२. प्रकृतिवाद की आलोचना करने वाली पुस्तकें

यह ध्यातव्य है कि दर्शन के जिन अधिकाश प्रकारो पर आगे विचार हुआ है वे न्यूनाधिक प्रकृतिवाद के आधार की आलोचना होंगे। इस विषय मे निम्न-लिखित पुस्तकें हमारे तर्क के लिए विशेषरूप से प्रासगिक हैं :

वार्ड, जेम्स. नेचुरेलिज्म एण्ड एगनोसटिसिज्म, [प्रकृतिवाद तथा अज्ञेयवाद] दो खण्डो मे, १८९६-९८। विस्तृत, परन्तु स्पष्ट तथा सशक्त।

फिस्के, जॉन. दि डैस्टिनी ऑव मैन [मनुष्य की नियति]। थ्रू नेचर टू गॉड [प्रकृति के माध्यम से परमात्मा तक]। फिस्के, दार्शनिक, इतिहासज्ञ, एव हरबर्ट स्पैन्सर का ईश्वरवादी अनुयायी था।

ब्लाइसन, जी. एच दि लिमिट्स ऑव इवोल्यूशन [विकास की सीमाएँ]

लॉज, ऑलिवर लाइफ एण्ड मैटर [जीवन तथा जड द्रव्य]। हैकेल को एक भौतिक-शास्त्री का उत्तर।

पैरी आर. बी प्रॅजेण्ट फिलोसोफिकल टैन्डेन्सीज [वर्तमान दार्शनिक प्रवृत्तियाँ]। चौथा अध्याय, अत्युत्तम विश्लेषण, कुछ उच्चस्तरीय। ब्यूखनर (६८), स्पैन्सर (७०), हैकेल (७२) पर विचार विमर्श हुआ है।

हैण्डरसन, एल जे दि फिटनैस ऑव दें एनवायरनमैण्ट [पर्यावरण की उपयुक्तता] १९१३। एक जीवविज्ञानी रसायनशास्त्री इस बात के लिए तर्क देता है कि कारण-कार्य व्याख्या जगत् मे व्याप्त प्रयोजन के प्रति प्रवेश द्वार बन्द नही करती।

टाम्पसन जे आर्थर कनसरनिंग इवोल्यूशन [विकास के सबध मे], १९३२। एक जीव विज्ञानी द्वारा तर्क की वर्तमान अवस्था का प्रचलित साराश।

मिलिकन, रॉबर्ट ए इवोल्यूशन इन साइन्स एण्ड रिलीजन [विज्ञान तथा धर्म मे विकास], १९२७। भौतिकशास्त्र के परिवर्तित दृष्टिकोण की समीक्षा।

हॉकिंग, डब्ल्यू. ई दि सैल्फ, इट्स बॉडी एण्ड फ्रीडम [आत्मा, इसकी देह तथा स्व-तन्त्रता, १९२८।

ह्वाइटहैड, ए एन. साइन्स एण्ड दें माडर्न वर्ल्ड [विज्ञान तथा आधुनिक जगत्], १९२६। कठिन परन्तु प्रेरणादायी।

एडिङ्गटन, ए. एस. दि नेचर ऑव दें फीजिकल वर्ल्ड [भौतिक जगत् की प्रकृति], १९२९।

हल्डेन, जे. एस फिलॉसोफिकल बेसिस ऑव बायोलॉजि, [जीव-विज्ञान का दार्शनिक आधार], १९३१।

जेनिंग्स, एच एस. दि यूनिवर्स एण्ड लाइफ [विश्व तथा जीवन], १९३३।

वाइल, एच. माइन्ड एण्ड नेचर [मनस् तथा प्रकृति], १९३४।

प्रकृतिवाद पर निबन्ध के लिए पाठ्य-सामग्री

हैकेल, अर्न्स्ट रिडिल ऑव दि यूनिवर्स [विश्व की पहेली] अध्याय १ला, ६ठा, १०वाँ, ११वाँ, १२वाँ, १५वाँ। अथवा

स्पेन्सर, हरबर्ट फर्स्ट प्रिन्सिपल्ज़ [प्रथम सिद्धान्त], दूसरा भाग (रेण्ड पृ. ७०३-३२) [यह पुस्तक] तर्क की रूपरेखा प्रस्तुत करती है। १ला, ४थे-से-६ठा, ८वाँ, १०वाँ, १२वाँ, १४वें से १७वाँ, १९वाँ, २२वें से २४वाँ अध्याय विशेष ध्यान से पढ़िए।

और इसके साथ ही निम्नलिखित में से एक पढ़िए.

प्रकृतिवाद के नैतिक पक्ष पर

स्पेन्सर, डेटा ऑव एथिक्स [नैतिकी की आधार-सामग्री], अध्याय १ले से ४था, ११वाँ, १२वाँ, १४वाँ।

हक्सले, टी. एच. ले सरमन्स [धर्मनिरपेक्ष प्रवचन], १४वाँ (ऑन देकार्त), इवोल्यूशन एण्ड ऐथिक्स [विकास तथा नैतिकी]; लाइफ एण्ड लेटर्स [जीवन तथा पत्र], प्रथम खण्ड, पृ. २४१-४४।

नीत्शे, बियॉन्ड गुड एण्ड इविल [शुभ तथा अशुभ से परे], दि रिलिजियस मूड [धार्मिक मनोदशा], नचूरल हिस्ट्री ऑव मॉरेल्स [नैतिकता का प्रकृतिवादी इतिहास] आवर वरचूज [हमारे सद्गुण]।

प्रकृतिवाद के धार्मिक पक्ष पर

रोमेन्स, जी. जे. एक्ज़ामिनेशन ऑव थीइज़्म [ईश्वरवाद की परीक्षा], १८७८।

मिल, जे. एस ऑगस्त कोंत एण्ड पॉज़िटिविज़्म [ऑगस्त कोंत तथा विध्यात्मवाद], दूसरा भाग।

स्पेन्सर, एच फर्स्ट प्रिन्ज़िपल्ज़ [प्रथम सिद्धान्त], पहला भाग।

रसल, बी. ए फ्री मैन्स वर्शिप [एक स्वतन्त्र व्यक्ति की आराधना]।

हक्सले, जूलियन. रिलिजन विदाउट रैवेलेशन [श्रुति विहीन धर्म]

प्रकृतिवाद की पद्यात्मक अभिव्यक्तियाँ

ल्यूक्रिटियस. डी रेरम नेचूरा [वास्तविक प्रकृति पर] (बेकवेल, पृ ३०५-१६)।

सन्तायना. थ्री फ़िलॉसोफ़िकल पोयट्स [तीन दार्शनिक कवि], ल्यूक्रिटियस।

फिट्ज़जेराल्ड. रुबाइयत ऑव ओमर खैयाम [उमर खैयाम की रुबाईयाँ]।

प्रयोजनवाद

अध्ययन के लिए निर्देश

विलियम जेम्स, पेपर्स ऑन फिलॉसोफ़ि [दर्शन पर लेख] (एवरीमैन्स, नं० ७३६)

सातवाँ अध्याय (दि विल टू बिलीव) तथा दसवाँ अध्याय (व्हाट प्रैग्मैटिज्म मीन्स)।

प्रयोजनवाद का साहित्य

प्रोटॉगोरस बेकवैल, पृष्ठ ६७, ७८–८४

कान्ट क्रीटीक ऑव प्रेक्टिकल रीज़न (व्यावहारिक बुद्धि मीमांसा), वाटसन, जे०, सिलेक्शन्ज फ्राम काण्ट, पृ २०१–३०० रैन्ड, पृ ४७३–७८।

फिश्टे जे जी. फर्स्ट इन्ट्रोडक्शन टू साइन्स ऑव नौलेज, रैन्ड, पृष्ठ ४८६–९६, विशेषकर पृ ४९४–९६।

नीत्शे, फ्रेडरिक बियान्ड गुड एण्ड ईविल। प्रस्तावना तथा प्रथम अध्याय।

पर्स, चार्ल्स हाउ टू मेक ऑवर आइडियाज क्लियर, कौहेन द्वारा सम्पादित "चान्स, लव, एण्ड लॉजिक" मे। कलेक्टेड पेपर्स, पाँचवाँ खण्ड।

बैल्फ़र, ए फाउन्डेशन्ज ऑव बीलीफ़।

जेम्स, विलियम प्रैग्मैटिज्म [प्रयोजनवाद]। दि विल टू बीलीव [विश्वास करने का संकल्प], दि मिनिंग ऑव ट्रुथ [सत्य का अर्थ]।

शिलर, एफ सी एस रिडिल्ज ऑव दि स्फिन्क्स, पाँचवाँ व छठा अध्याय। ह्यूमैनिज्म [मानवतावाद]। एग्जियाम्स एज पास्चूलेट्स, पर्सनल आइडियलिज्म मे।

ड्यूई, जॉन इन्फ्लुएन्स ऑव डार्विन ऑन फिलासोफि [दर्शन पर डार्विन का प्रभाव]। रीकान्सट्रक्शन इन फिलासोफि [दर्शन मे पुनर्रचना]। क्वेस्ट फॉर सरटेन्टी [निश्चितता की खोज] (विशेष तौर पर दसवाँ अध्याय)। स्टडीज इन लाजिकल थ्योरी [तार्किक सिद्धान्त का अनुशीलन], १९०३ भी देखिए।

प्रयोजनवाद की समालोचना

रॉयस, जे दि ईटरनल ऐण्ड दि प्रैक्टिकल, फिलॉसोफिकल रिव्यू, मार्च १९०४। दि प्राब्लम ऑव ट्रुथ [सत्य की समस्या] (विलियम जेम्स एण्ड अदर एसेज मे)। फिलॉसोफि ऑव लायल्टी, सातवाँ अध्याय।

प्रैट, जेम्स बी व्हाट इज प्रैग्मैटिज्म ? [प्रयोजनवाद क्या है ?] १९०९।

पैरी, आर बी प्रेजेण्ट फिलॉसोफिकल टेन्डेन्सीज[वर्तमान दार्शनिक प्रवृत्तियाँ], चौथा भाग।

हॉकिंग डब्ल्यू ई दि मीनिंग ऑव गॉड [ईश्वर का अर्थ], प्रस्तावना तथा दूसरा एव तीसरा भाग।

मान्टेग, डब्ल्यू पी दि वेज ऑव नोईंग [जानने के तरीके], पाँचवाँ अध्याय, १९२८।

वूडिन, जे ई ट्रुथ एण्ड रीयलिटि, [सत्य और यथार्थ], नवाँ एव दसवाँ अध्याय।

मैकिन्टोश, डी सी पिल्ग्रिमेज ऑव फेथ [विश्वास की तीर्थयात्रा], सातवाँ एव आठवाँ अध्याय, १९३१।

प्रयोजनवाद का विकास :

ल्यूइस, सी. आई. माइन्ड ऐण्ड दें वर्ल्ड आर्डर [मनस् तथा विश्व व्यवस्था]।

ब्रिजमैन पी. डब्ल्यू. लॉजिक ऑव माडर्न फीजिक्स [आधुनिक भौतिकी का तर्कशास्त्र], (ऑपरेशॅनॅलिज्म)।

सहजबोधवाद

अध्ययन के लिए निर्देश

बर्गसां, हेनरी एन इन्ट्रोडक्शन टु मेटाफिजिक्स [तत्त्वमीमांसा की भूमिका], (पुतनम्स), १—४३; क्रियेटिव इवोल्यूशन [सर्जनशील विकासवाद] (रैण्ड, ८५२-८५)।

सहजबोधवाद का साहित्य

प्लेटो. सिम्पोज़ियम, रिपब्लिक, सातवी पुस्तक (बेकवेल २०३-१२)।

बोइथियस. कान्सोलेशन्ज ऑव फिलॉसोफि [दर्शन की सान्त्वनाएँ] पाँचवाँ खण्ड।

स्पिनोज़ा. शॉर्ट ट्रीटिस [लघु प्रबन्ध] दूसरा भाग, पहला, दूसरा, इक्कीसवाँ, बाईसवाँ अध्याय।

काण्ट, क्रिटीक ऑव जजमैण्ट [निर्णय मीमांसा] (वॉटसन, सिलैक्शन्ज, ३०७ और फिर आगे)।

शैलिङ्ग, एफ. डब्ल्यू. जे. सिस्टम ऑव ट्रान्सेन्डेन्टल आइडियलिज्म [परा-प्रत्ययवाद का विचारतन्त्र] ३रा एव ४था परिच्छेद (रैण्ड, ५४१-४६), फिला, ब्रिफे, ८वाँ।

शॉपेनहावर, ए. वर्ल्ड एज विल एण्ड आइडिया [सकल्प तथा प्रत्यय के रूप मे जगत्] (रैण्ड, ६३६-४४; ६७०-७१)।

बर्गसां, एच. टाइम एण्ड फ्रीविल [समय तथा स्वतन्त्र संकल्प] २रा व ३रा अध्याय; क्रियेटिव इवोल्यूशन; [सर्जनात्मक विकासवाद] लॉफ्टर, [हँसी] पृ. १५०-७०।

सहजबोध की समालोचना

बैनेट, सी. ए. बर्गसांज डॉक्ट्रिन ऑव इन्ट्यूशन [बर्गसां का सहजबोध का सिद्धान्त]। फिला. रिव्यू जनवरी, १९१६।

हॉकिङ्ग, डब्ल्यू. ई. दि सिगनिफिकेन्स ऑव बर्गसां [बर्गसां का महत्त्व] मेल रिव्यू, जनवरी, १९१४।

मान्टेग, डब्ल्यू. पी. दि वेज ऑफ नोइंग [जानने की प्रणालियाँ]।
ले रॉय, ई. साइन्स एण्ड फिलोसोफि [विज्ञान तथा दर्शन] रिव्यू दें मैटाफिज़ीक, १८६१।
हैमिल्टन, सर विलियम. डिस्कशन्ज ऑफ फिलॉसोफि एण्ड लिट्रेचर [दर्शन तथा साहित्य पर विचार-विमर्श] (विक्टर कूर्ज, की समालोचना)।
मिल, जॉन स्टुअर्ट. एग्जामिनेशन ऑव हैमिल्टन [हैमिल्टन की परीक्षा] ४था, ५वाँ, २४वाँ अध्याय।
एलिऐटा. आइडियलिस्टिक रिऐक्शन अगेन्स्ट साइन्स [विज्ञान के विरुद्ध प्रत्ययवादी प्रतिक्रिया] पृ. ११५-५०।
स्पैन्सर, डब्ल्यू डब्ल्यू. आवर नॉलेज ऑव अदर माइन्ड्स [अन्य मनसों का हमारा ज्ञान] १६३०।

द्वैतवाद

अध्ययन के लिए संकेत

प्लेटो फीडरस
बैल्फूर, ए. साइन्स, रिलीजन एण्ड रीयलिटी [विज्ञान, धर्म एवं यथार्थ], (जे. नीडहैम द्वारा संपादित), प्रस्तावना।
नीडहैम, जे. मैकेनिस्टिक बॉयोलाजि [यान्त्रिक जीव-विज्ञान] (विज्ञान, धर्म एवं यथार्थ में)।

द्वैतवाद का साहित्य

एनैक्जागोरस, बर्नेट, जे. अर्ली ग्रीक फिलॉसोफि [प्राचीन यूनानी दर्शन], २७२–३००। गोम्पर्ज़, टी. ग्रीक थिन्कर्स [यूनानी विचारक] पुस्तक दूसरी, अध्याय ४ था।
प्लेटो, फीदो; फीडरस; टीमियास।
दकार्त, पैशन्स ऑव दें सोल [आत्मा के मनोभाव] ३०वें–३४वें परिच्छेद तक; ऑन मैन [मनुष्य पर]।
प्रैट, जे बी. मैटर एण्ड स्पिरिट [जड द्रव्य एवं चेतन तत्त्व]
मैक्डूगल, डब्ल्यू. बॉडी एण्ड माइन्ड [देह एवं मनस्]।
ड्रीश, हैन्स. साइन्स एण्ड फिलॉसोफि ऑव दें आरगॅनिज्म [अंगी का विज्ञान एवं दर्शन], दि प्राब्लम ऑव इन्डीविजुअलिटी [व्यक्तित्व की समस्या]
बर्गसां, एच. माइन्ड-एनर्जी [मनस् ऊर्जा]; मैटर एण्ड मैमोरी [जड द्रव्य एवं स्मरण शक्ति]; क्रीएटिव इवोल्यूशन [सर्जनात्मक विकास], पहला व दूसरा अध्याय।

द्वैतवाद की समीक्षा

प्लेटो सिम्पोजियम [परिचर्चा]।

आगस्टीन कन्फैशन्स [आत्म स्वीकृति], सातवीं पुस्तक।

दकार्ते प्रिन्सीपल्स ऑव फिलॉसोफि [दर्शन के सिद्धान्त] ४५वें से ७०वें परिच्छेद तक।

स्पिनोजा एथिक्स [नीति-शास्त्र], पहली पुस्तक।

हाकिङ्ग दि सैल्फ, इट्स बाडी एण्ड फ्रीडम [आत्म, इसकी देह एवं स्वतन्त्रता]।

मूर, जे एम रिफ्ट्स इन दि यूनिवर्स [विश्व में दरार]।

बर्गसां, एच. क्रियेटिव इवोल्यूशन [सर्जनात्मक विकास], तीसरा अध्याय।

द्वैतवाद का विकास: ध्रुवता का सिद्धान्त

थीकॅनार्द, एस. आइदर/ऑर।

कोहेन, मॉरिस आर. रीजन एण्ड नेचर [बुद्धि एवं प्रकृति], १९३१।

शैल्डन, डब्ल्यू. एच. स्ट्राइफ ऑव सिस्टम्स एण्ड प्रोडक्टिव ड्यूएलिटी १९१८।

प्रत्ययवाद

बर्कले, जी. दि प्रिन्सीपल्स ऑव ह्यूमन नॉलिज [मानवीय ज्ञान के सिद्धान्त] (ओपन कोर्ट एडीशन [संस्करण], ११८वें से १३४वें परिच्छेद को छोड़कर); अथवा रैन्ड, २६३–३०६ और निम्नलिखित [पुस्तकों] में से भी एक :

(प्रत्ययवाद का तत्त्वमीमांसात्मक पक्ष)

प्लेटो फीडो (एवरीमैन्स, नम्बर ४५६)।

फिश्टे वोकेशन ऑव मैन [मनुष्य का कार्य]।

रायस जे. रीयलिटी एण्ड आयडियलिज्म [यथार्थ एवं प्रत्ययवाद], स्पिरिट ऑव मार्डर्न फिलॉसोफि [आधुनिक दर्शन की प्रेरणा], ग्यारहवाँ भाषण। (रैन्ड, ८००–८३२)।

(प्रत्ययवाद का नैतिक पक्ष)

एपिक्टीटस डिस्कोर्सेज पहली पुस्तक तथा Encheiridion जी. लाग्ग द्वारा अनूदित।

रॉयस, जे. फिलॉसोफि ऑव लॉयल्टी [निष्ठा का दर्शन] (पाँचवें एवं छठे अध्यायों को छोड़कर)।

जोन्स, सर हेनरी आइडियलिज्म एज ए प्रैक्टिकल क्रीड [व्यावहारिक धार्मिक विश्वास के रूप में प्रत्ययवाद]

कान्ट फाउन्डेशन्ज ऑव दें मैटाफिजिक्स ऑव मारल्स [आचारो की तत्वमीमासा की आधारशिलाएँ] टी के ऐंबाट द्वारा अनूदित ।

(प्रत्ययवाद एव ललित कला)

हेगेल, जी डब्ल्यू एफ फिलॉसोफि ऑव फाइन आर्ट [ललित कला का दर्शन], बी. बोसाके द्वारा अनूदित ।

(प्रत्ययवाद एव इतिहास की व्याख्या)

हेगेल फिलॉसोफि ऑव हिस्ट्री [इतिहास दर्शन] प्रस्तावना । सिब्री द्वारा अनूदित ।

(प्रत्ययवाद एव धम)

रॉयस, जे रीलिजियस आसपैक्ट ऑव फिलॉसोफि [दर्शन का धार्मिक पक्ष] ।

हाकिङ्ग मीनिङ्ग ऑव गॉड [ईश्वर का अर्थ], १७वें से २०वें अध्याय तक ।

प्रत्ययवाद का साहित्य

लाइबनित्स, बर्कले, कान्ट (अशत), फिश्टे, शैलिङ्ग, शॉपेनहॉवर, हेगेल, लोत्से, कार्लाइल, एमर्सन, टी एच ग्रीन, एफ एच ब्रैडले, जोसिया रायस, क्रोचे जेन्टिले, बोसाके, हॉर्नले, ह्वाइसन, एम सिकल्येयर, एव अन्यो की रचनाएँ । पैरी फिलासोफि ऑव दें रीसेन्ट पास्ट [अधुनातन भूतकालीन दर्शन], तृतीय भाग [तथा] ए के रोजर्स, इग्लिश एण्ड अमेरीकन फिलॉसोफि [अग्रेजी एव अमरीकी दशन], पाँचवा एव छठा अध्याय देखें ।

प्रत्ययवाद की समीक्षा

हार्नले, आर एफ ए आइडियलिज्म एज ए फिलॉसोफि [प्रत्ययवाद दर्शन के रूप म] ।
रॉयस, जे लैक्चर्स ऑन मॉडर्न आइडियलिज्म [आधुनिक प्रत्ययवाद पर भाषण] ।
यथार्थवाद एव रहस्यवाद के अन्तर्गत साहित्य को देखें आगे, विशेष रूप से
शैल्डन, डब्ल्यू एच स्ट्राइफ ऑव सिस्टम्स [प्रस्थानो का मतभेद [विवाद]]
पैरी, आर बी प्रजेन्ट फिलॉसोफिकल टैन्डेन्सीज [आधुनिक दार्शनिक प्रवृत्तियाँ], तीसरा भाग ।
सन्तायना, जी विन्ड्स ऑव डाक्ट्रिन [सिद्धान्त की झझाएँ] ।
ह्योफडिंग, एच माडर्न फिलॉसोफर्स [आधुनिक दार्शनिक] ।
मान्तेग, डब्ल्यू पी वेज ऑव नोइग [जानने के तरीके] ।

प्रत्ययवाद के समालोचक : (१) यथार्थवाद

यथार्थवाद का साहित्य

१—समकालीन यथार्थवाद के पूर्वज

प्लेटो का 'प्रत्ययो' का सिद्धान्त टीमियास तथा पारमेनीडीज मे । अरस्तू का वैयक्तिक द्रव्य

का सिद्धान्त (मैटाफिजिक्स [तत्व मीमांसा], जेड तथा एच, अनुवाद डब्ल्यू डी. रॉस द्वारा)।

टॉमस एक्वीनॉस की सृष्ट वस्तुओं तथा उनके ज्ञान के विषय में हमारी दृष्टि।

गिल्सन, ई. फिलॉसोफि ऑव टॉमस एक्वीनॉस [टॉमस एक्वीनॉस का दर्शन]।

मैक्कियोन, आर. सिलेक्शन्ज फ्राम मैडिवियल फिलॉसोफर्ज़ [मध्ययुगीन दार्शनिकों से चयन]; ऑन बीइंग एण्ड इसैन्स [सत्ता तथा सारतत्व पर]।

रीड, टॉमस. इनक्वायरी इन्टू दें ह्यू मन माइन्ड [मानव मनस् का अन्वेषण] १७६४।

हॉगसन, शैडवर्थ, फिलॉसोफि ऑव रिफ्लैक्शन [चिन्तन का दर्शन], १८७८।

२—नव्य-यथार्थवाद :

(अमेरिकी विचार-विमर्श को आरंभ करने वाले) :

रॉयस, जे. दि वर्ल्ड एण्ड दें इन्डिवीजुअल [जगत् तथा व्यक्ति], प्रथम खंड, १६००, दूसरा भाषण, ii–iv; तीसरा भाषण।

पैरी, आर. बी. मोनिस्ट [एकवादी] १६०१–११०२। रायसेज रिफ्यूटेशन ऑव रियलिज्म [रॉयस का यथार्थवाद का खण्डन]।

मूर, जी. ई. रिफ्यूटेशन ऑव आइडियलिज्म [प्रत्ययवाद का खण्डन], माइन्ड, अक्टूबर, १६०३, फिलॉसोफिकल स्टैडीज़ [दार्शनिक विचारणाएँ] में पुनर्मुद्रित, १६२२। जेम्स, डब्ल्यू. डज़ कॉनशसनैस एक्जिस्ट? [क्या चेतना का अस्तित्व है?], जरनल ऑव फिलॉसोफि, सितम्बर १. १६०४, ऐसेज इन रैडीकल इम्पिरिसिज्म [मौलिक अनुभववाद पर निबंध] में पुनर्मुद्रित; १६१२।

पैरी, आर. बी. ईगो-सैन्ट्रिक प्रैडिकामैण्ट [अहं-केन्द्रक स्थिति], जरनल ऑव फिलॉसोफि, १६१०; प्रैजेन्ट फिलॉसोफिकल टैन्डैन्सीज़, १६१२, तीसरा एवं पाँचवाँ भाग।

*होल्ट, ई. बी. एवं अन्य दि न्यू रियलिज्म [नवीन यथार्थवाद], १६१२। पृष्ठ २–३५ पर नवीन-यथार्थवाद के उद्देश्यों का एक स्पष्ट विवरण दिया गया है।

सन्तायना, जी., विन्डस ऑव डाक्ट्रिन [सिद्धान्त को झोंकाएँ], १६१३।

*रसल, बी. साइन्टिफिक मैथड इन फिलॉसोफि [दर्शन में वैज्ञानिक पद्धति], १६१४ पहला, तीसरा एवं चौथा भाषण पढ़ें।

लेयार्ड, जे. ए स्टडी इन रियलिज्म [यथार्थवाद का एक अध्ययन], १६२०।

३—आलोचनात्मक यथार्थवाद :

ड्रेक, डी. एवं अन्य एसेज इन क्रिटिकल रियलिज्म [आलोचनात्मक यथार्थवाद पर निबंध], १६२०।

---

* प्रारंभिक अभिमान के लिए इन तीन स्थलों को पढ़िए।

सन्तायना, जी. थ्री प्रूफ्स ऑव रियलिज्म [यथार्थवाद की तीन उपपत्तियाँ] (ऐसेज इन क्रिटिकल रियलिज्म, १६२० में), स्केप्टिसिज्म एण्ड एनिमल फेथ [संशयवाद तथा सहज विश्वास], १६२३।

ब्रॉड, सी. डी. दि माइन्ड एण्ड इट्स प्लेस इन नेचर [मनस् तथा प्रकृति में इसका स्थान], १६२५।

* मान्टेग, डब्ल्यू पी. वेज ऑव नोईंग [जानने के तरीके], १६२५। साहित्यिक तथा तर्कात्मक योग्यता के लिए विशेषतौर पर अन्तिम वार्तालाप पढ़िए।

प्रैट, जे. बी. पर्सनल रियलिज्म [वैयक्तिक यथार्थवाद], १६३७।

४—तत्वमीमांसा जैसा कि नव्य यथार्थवादियों ने विचार किया है

वूडिन, जे. ई. ए रियलिस्टिक यूनिवर्स [यथार्थवादी विश्व], १६१६।

अलेक्जेण्डर, एस. स्पेस, टाइम एण्ड डीइटी [दिक्, काल तथा देवता], १६२०।

५—समकालीन यथार्थवाद के विषय में

पैरी, आर. बी. फिलॉसोफि ऑव द रीसेन्ट पास्ट [अधुनातन भूतकालीन दर्शन], पाँचवाँ खण्ड।

रिले, जे. डब्ल्यू. अमेरिकन थॉट [अमेरिका का विचार]।

रॉजर्स, ए. के. इन्गलिश एण्ड अमेरिकन फिलॉसोफि [अंग्रेजी तथा अमरीकी दर्शन], आठवाँ अध्याय।

रसल, बी. स्केप्टिकल एसेज [संशयवादी निबन्ध] पृ. ६८ और आगे।

वहल, जे. प्लूरेलिस्ट फिलॉसोफर्स ऑव इन्गलैण्ड एण्ड अमेरिका [बहुत्ववादी दार्शनिक], चौथा अध्याय।

प्रत्ययवाद के समालोचक : (२) रहस्यवाद

लाओत्से तेओ तेह किङ्ग [कैरस द्वारा अनूदित, ओपन कोर्ट [द्वारा प्रकाशित]।

डायसन सिस्टम ऑव दॆ वेदान्त [वेदान्त प्रस्थान] [जे. एच. वुड्स द्वारा रूपरेखा]।

अल गजाली कन्फेशन्ज [आत्म-स्वीकृति] [विजडम ऑव दि ईस्ट [पूर्व की प्रज्ञा] सीरीज]।

प्लोटिनस ईनियड्स।

थिओलागिया जर्मेनिका। एस. विन्कवर्थ द्वारा अनूदित।

दान्ते विटानुवा डी. जी. रोजेटी द्वारा अनूदित।

स्पिनोजा एथिक्स [नीतिशास्त्र], पहला और पाँचवाँ भाग।

टैगोर, देवेन्द्रनाथ ऑटोबायोग्राफी [आत्मकथा]

टैगोर, रविन्द्रनाथ साधना [१ला, २रा, ३रा, ४था, ६ठा, ८वाँ निबन्ध]।

रहस्यवाद पर विचार-विमर्श के लिए निम्नलिखित में से एक पढ़ें :

जेम्स, विलियम. वेराइटीज ऑव रीलिजियस एक्सपीरियन्स [धार्मिक अनुभव की विविधताएँ], १६वाँ, १७वाँ अध्याय।

हॉकिङ्ग, डब्ल्यू. ई. दि मीनिङ्ग ऑव गॉड [ईश्वर का अर्थ], ५वाँ एवं ६ठा भाग, विशेष रूप से २८वाँ अध्याय दि प्रिन्सिपल ऑव आल्टरनेशन [विपर्यय का सिद्धान्त]; और इसके पश्चात् २६वाँ, २४वाँ एवं ३२वाँ अध्याय पढ़े जा सकते हैं।

बेनॅट, सी. ए. ए फ़िलॉसोफ़िकल स्टॅडी ऑव मिस्टिसिज्म [रहस्यवाद का दार्शनिक अध्ययन]।

ल्यूबा, जेम्स ए साइकोलॉजिकल स्टॅडी ऑव मिस्टिसिज़्म [रहस्यवाद का मनोवैज्ञानिक अध्ययन]।

ह्यूगेल, एफ. फान मिस्टिकल ऍलीमेण्ट इन रीलिजन [धर्म में रहस्यवादी तत्त्व]।

रहस्यवाद का साहित्य

अन्डर हिल, ई. मिस्टिसिज्म [रहस्यवाद]। परिशिष्ट इस विषय के विशद साहित्य की अच्छी रूपरेखा दे देते हैं।

जोन्स, रूफ़ुस एम. स्टॅडीज इन मिस्टिकल रीलिजन [रहस्यवादी धर्म का अध्ययन]। एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका का तेरहवाँ संस्करण (नये खण्ड, २/१०१३) अधुनातन साहित्य के विषय में मूल्यवान संकेत देता है।

□□□

अनुवादक की टिप्पणियाँ

अध्याय १ पृष्ठ २ (१) यहूदियों के प्रथम धर्मगुरु को यहूदी समाज के सम्यक् सचालन के लिए जिवोहा द्वारा सिनाई पर्वत पर दस धर्मादेश प्राप्त हुए (एक्सोडस, २०/३–७)।

पृष्ठ ४ (२) हिन्दी मे 'कारण' शब्द का प्रयोग उस अर्थ मे भी होता है जिसके लिए आग्ल भाषा मे 'कॉज' शब्द का प्रयोग होता है एव उसके लिये भी जिसके लिये अग्रेज़ी मे 'रीजन' शब्द का प्रयोग होता है। सामान्यतया यह अन्तर सदर्भ से स्पष्ट हो जाता है। जहाँ यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि कारण को किस अर्थ मे ग्रहण करना है वहाँ केवल 'कारण' शब्द का प्रयोग किया गया है, अग्रेज़ी मे चाहे 'रीजन' शब्द आया हो अथवा 'कॉज'।

पृष्ठ ४ ३वी लाइन — ग्रैडलिपर हाकिङ्ग की पाद टिप्पणी है अॅपीयॅरॅन्स एण्ड रीयलिटी [आभास और सत्], पृ० xiv।

पृष्ठ ६ (३) यह शब्द 'अॅपीयॅरॅन्स' के लिए प्रयुक्त हुआ है।

अध्याय २ पृष्ठ १७ (१) प्रत्यक्ष के लिये गृहीत स्मृति बिम्ब, यह एक प्रकार से ६वी लाइन पूर्वानुभवों से उत्पन्न अथवा अभिज्ञात वस्तु है जिसे वर्तमान वस्तुगत तथ्य के रूप मे मान लिया जाता है।

पृष्ठ १८ (२) सरक्षक आत्मा अथवा सरक्षक देवदूत। व्यक्ति अथवा स्थान का सरक्षण करने वाली आत्म [अधिष्ठातृ देवता]।

टोटेम : उत्तरी अमेरिका के मूल निवासियों द्वारा ऐसा माना जाता है कि प्राकृतिक वस्तु, विशेष रूप से पशु-पक्षी, का परिवार समूह से एक गहन सम्बन्ध होता है।

जड वस्तु पूजा [फ़िटिश] विश्व के प्रमुख धर्मों मे से किसी मे भी आस्था न रखने वाले लोगो द्वारा पूजी जाने वाली वस्तु क्योंकि उनके अनुसार प्रत्येक वस्तु के पीछे किसी न किसी आत्मा का निवास होता है।

पृष्ठ १९ (३) सामाजिक अनुबन्ध [सोशियल कान्ट्रॅक्ट] जीन जॅकस रूसो (१७१२–१७७८) द्वारा लिखित निबन्ध जिसमे उसने 'श्रेष्ठ वन्य पुरुष' [नोबल सॅवेज] विषयक विचारधारा का

प्रतिपादन किया है। कानून [लॉ] के क्षेत्र में समानता को उसने व्यक्ति का 'अपरिवर्तनीय अधिकार' माना।

पृष्ठ २१ (४) मिरगी (अपस्मार)· मस्तिष्क स्नायविक रोग जिसमें व्यक्ति सज्ञाशून्य होकर गिर पड़ता है।

पृष्ठ २१ (५) फाइसिस : प्रकृति के लिए ग्रीक भाषा का शब्द।

अध्याय ३ पृष्ठ २३ दूसरे अध्याय की ५वी टिप्पणी देखें।

पृष्ठ ३० (१) जीवित प्राणियो से सम्बन्धित रासायनिक प्रक्रियाएँ।

पृष्ठ ३० (२) औषधशास्त्र मे प्रयुक्त किया जाने वाला द्रव्य जिसे बेहोशी अथवा अनुभूति शून्यता के लिए उपयोग मे लाया जाता है।

पृष्ठ ३१ (३) एक वर्णहीन, दानेदार, घुलनशील सम्मिश्रण जो दूध पिलाने वाले जीवो के मूत्र मे पाया जाता है। यह ऐसा आर्गेनिक यौगिक है जिसे सर्वप्रथम कृत्रिम रूप से तैयार किया गया था।

पृष्ठ ३२ (*) एच. बर्गसा · मैन्टल इनर्जी [मानसिक ऊर्जा] देखें।
१वीं लाइन
की पा. टि.

पृष्ठ ३२ (४) विलियम रिटर एवं हान्स ड्रीश की यह मान्यता है कि स्व-निर्माण आदि मे अगी इस प्रकार व्यवहार करता है मानो सम्पूर्ण मात्र इकाइयो के रूप मे नही अपितु स्वय के लिये ही क्रिया कर रहा हो। इसका तात्पर्य है कि सम्पूर्ण पहले था और उसने अपने अगो का चयन किया है और इस प्रकार वह एक पृथक् सत्ता के रूप मे था। ओसवाल्ड ने इस प्रश्न पर अपनी पुस्तक नेचुरल्स फिलॉसोफि में कुछ विचार व्यक्त किये हैं जिस पर कि अधिकाश प्रकृतिवादी ध्यान नहीं देते। जैकस लोअब ने अपनी पुस्तक फिजिओ-लॉजि ऑव ब्रेन मे सरलतर प्राणियो के क्रिया-कलापो के अनुवर्तन, प्रकाश पर प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया, ताप दबाव, खारा-पन, आदि पर प्रकाश डाला है। वाल्टर कैनन ने अपनी पुस्तक दि विजडम ऑव द बॉडी तथा एल. जे. हैण्डरसन ने रक्त में साम्यधारण की प्रणाली के विषय मे विभिन्न अध्ययनो में महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रदान की है। [यह हॉकिंग द्वारा दिये गए फुट नोट का अविकल अनुवाद है जो मूल पाठ मे मुद्रित नहीं हो पाया है]।

पृष्ठ ३३ (५) एच बर्गसा : मैन्टल इनर्जी [मानसिक ऊर्जा] देखें।

पृष्ठ ३३ (६) किसी प्रणी के क्रोमोजोम्स [गुणसूत्र] की रासायनिक सरचना मे परिवर्तन।

पृष्ठ ३५ (७) प्रतिवर्त चाप एक स्नायविक मार्ग है जो ज्ञानेन्द्रिय से स्नायु-केन्द्र मे होता हुआ मासपेशी तक जाता है। इसमे दो, तीन या उससे अधिक तन्त्रिका कोषो [न्यूरोन्स] की श्रृंखला अन्य न्यूरोन्स के साथ पक्तिबद्ध होकर कार्य करती है।

पृष्ठ ३६ (८) ऐसा मानवी जीव जिसका दैहिक एवं मानसिक विकास अवरुद्ध हो गया हो, और जिसे मनुष्य कहा जाना कठिन जान पडता हो। ऐसे प्राणी आल्प्स पर्वत के कतिपय प्रदेशो मे मिलते हैं।

पृष्ठ ३७ (९) विशेष रूप से मध्य अमरीका मे अत्यन्त उपजाऊ वृक्षरहित लम्बे-चौडे घास के मैदान।

अध्याय ४ पृष्ठ ४४ (१) यूनानी गाथा में होमर द्वारा ऐसे पर्वत की चर्चा की गई है जहाँ देवता निवास करते हैं।

(२) वह द्रव्य जिसके द्वारा जैव कोषिका निर्मित होती है।

अध्याय ५ पृष्ठ ५२ (+) नीचे से तीसरी लाइन, पा. टि. जार्ज हरबर्ट पामर की पुस्तक दि फील्ड ऑव इथिक्स [नीति-शास्त्र का क्षेत्र] का अन्तिम अध्याय देखें।

अध्याय ६ पृष्ठ ५४ यहाँ (ग) की दो लाइनो के बाद यह बात जोडनी है: 'प्रकृति रुक रुक कर कार्य नही करती' (नेचर डज नॉट वर्क्स इन जर्क्स)।

(१) गरम काली सतह से प्राप्त विकिरण से प्राप्त वर्ण पट्ट को समझने के प्रारम्भिक प्रयास वीन्स और जीन्स ने किए जिन्होंने विकिरण को एक सतत तरंग के रूप मे स्वीकार किया। यद्यपि दोनो के प्रयास गणितीय तौर पर दोपरहित एव चिरसम्मत भौतिकी के अनुसार सही थे फिर भी सैद्धान्तिक तौर पर वर्णपट्ट को कुछ अश तक ही प्राप्त कर सके। मैक्स प्लान्क ने सोचा कि चिरसम्मत आधार पर सैद्धान्तिक तौर से यह व्यवहार नही समझा जा सकता तब उन्होने माना कि विकिरण सन्तत नहीं है वरन् विविक्त है। वह छोटे-छोटे पैकिट्स (प्रकोष्ठो) का बना हुआ है जिसकी ऊर्जा hν, 2hν,....nhν तक है (यहाँ h प्लैंन्क का यूनिवर्सल कान्सटैन्ट है) इस प्रकार चिरसम्मत धारणा मे नया मोड़ आया। तब तक यह समझा जाता

था कि प्रतिकोप ऊर्जा $\frac{1}{2}$Kt है [यहाँ K बोल्टमैन कान्सटेन्ट है], किन्तु यह गलत सिद्ध हो गया। प्लान्क की धारणा से प्राप्त सूत्र द्वारा काली सतह से प्राप्त विकिरण का सैद्धान्तिक तौर पर निरूपण तो हो ही गया और साथ ही इसके दूरगामी वैज्ञानिक परिणाम भी प्राप्त हुए। आइन्स्टीन ने इसी आधार पर प्रकाश विद्युत् प्रभाव समझा एवं बोर ने हाइड्रोजन के वर्णपट्ट को पूर्णत सैद्धान्तिक रूप से समझाया। वर्तमान क्वान्टम सिद्धान्त का जनक प्लैंक है।

पृष्ठ ५४ (२) चिरसम्मत धारणा यह थी कि प्रकाश तरंग की भांति ही है [हाइगन, यन्ग]। इस प्रकार इससे सम्बद्ध कोई भी सवेग [मोमैन्टम=mv] नही हो सकता। काम्पटन ने १९२३ मे कारबन स्कैटरर पर जब प्रकाश पुन्ज आपतित किया तो पाया कि कारबन से इलेक्ट्रोन निकला जिसका एक सवेग था और इसके साथ ही कारबन से निकले इलेक्ट्रोन से अलग दिशा मे एक प्रकाश पुन्ज निकला जिसकी आवृत्ति [फ्रीक्वेन्सी] आपतित प्रकाश पुन्ज से कम थी। इसका अर्थ है कि आपतित प्रकाश पुन्ज का कोई सवेग होना चाहिए जिसकी पुष्टि उत्पादन इलेक्ट्रोन एव प्रकाश पुन्ज के सवेग सरक्षण से हुई। विपरीत आपतित किरण पुन्ज का एक सवेग है जोकि चिरसम्मत धारणा मे नही माना गया। सवेग किसी कण का ही हो सकता है अत. प्रकाश पुन्ज का व्यवहार किरण [तरग] की भांति ही नही वरन् कण की भांति भी है। इसे 'काम्पटन इफैक्ट' कहा गया और इस किरण पुन्ज को 'फोटोन' नाम दिया गया।

पृष्ठ ५४ (३) १९१८ मे मिन्कोवस्की ने एक स्मारिका प्रकाशित की जिसमे उसने यह मत प्रतिपादित किया कि कोई भी घटना देशकाल मे घटित होती है अतः देशकाल को एक-दूसरे से पूर्णत स्वतन्त्र नही मानना चाहिए।

पृष्ठ ५५ (४) यूनानी गाथा मे थीबीज मे रहने वाली राक्षसी—जिसका ऊपर का हिस्सा मानवी जैसा शेष शरीर शेर जैसा होता था—जो उन राहगीरो को खा जाती थी जो उसके द्वारा प्रस्तुत पहेली को हल नहीं कर पाते थे। स्फिक्स से यही राक्षसी अभिप्रेत है। परन्तु अब स्वय स्फिक्स शब्द लाक्षणिक अर्थ में पहेली के लिये प्रयुक्त होने लगा है।

अध्याय ८ पृष्ठ ७० (१) पासकल का कथन है कि "जो दर्शन का उपहास कर सकता

पा टि है वही वास्तविक दार्शनिक है।" (पॉसे २५/५७)

पृष्ठ ७४ (२) एनसाइक्लोपिडीया ऑव फिलॉसोफि के ईलिया के जीनो पर लेख (खण्ड ८; पृष्ठ ३६९–३७८) मे इन विरोधाभासो पर विस्तार से चर्चा हुई है।

पृष्ठ ७५ (३) चार्ल्स पर्स ने दकार्त के सार्वभौम सन्देह की समीक्षा करते हुए इस प्रकार के सन्देह को झूँठा बतलाया है और इसी के आधार पर उन्होंने अपने अन्वेषण के सिद्धान्त [थ्योरी ऑव इन्क्वायरी] का प्रतिपादन किया है (१८७७ मे पापुलर साइन्स मन्थली मे लिखा लेख "फिक्शेसन ऑव बिलीफ")

अध्याय ६ पृष्ठ ८८ (१) अन्तिम भोज-संस्कार. यूखारिस्टो का यह मत है कि परमात्मा के जब हम कोई चढावा चढाते हैं तो उस प्रसाद मे वस्तुत परमात्मा की दैवी शक्ति उपस्थित हो जाती है [रीयल प्रेजेन्स]। रोमन कैथोलिक शब्दकोष के अनुसार उस विशिष्ट भोज मे रोटी [ब्रेड] तो ईसा का शरीर बन जाती है और शराब [वाइन] ईसा का रक्त बन जाती है। यह रूपकात्मक भाषा है जिसके द्वारा यह बतलाया गया है कि जब हम भोग लगाते हैं तो ईसा या परमात्मा के आशीर्वाद से वह भोग दिव्य हो जाता है और उस समय इसमे भी परमात्मा या ईसा की दिव्यता आ जाती है और हमारा जीवन पावन बन जाता है। इसका दार्शनिक महत्त्व यह है कि यदि द्रव्य को बिना उसके गुणो को प्रभावित किये बदला जा सके अर्थात् यदि उसे उसके गुणों से अलग कर पाना सभव हो सके तो दर्शन-जगत् मे एक क्रान्ति ही हो जायगी। ईसा ने परमात्मा को भोग लगा कर रोटी अपने शिष्यो मे बाँटी और परमात्मा को धन्यवाद दिया। प्रोटेस्टैण्ट लोग इसे 'लार्डस सपर' या 'होली कम्यूनियन' कहते हैं।

पृष्ठ ८९ (२) यहाँ फलित 'कैश वैल्यू' के लिये हिन्दी शब्द है जिसे विलियम जेम्स ने सत् के निकष के रूप मे स्वीकार किया है।

अध्याय १० पृष्ठ ९४ (१) मनोगत 'सब्जैक्टिव' के लिये हिन्दी शब्द है।

अध्याय ११ पृष्ठ १०३ (१) यहाँ बर्गसाँ ने लिखा है "कार्य किसी ऐसी दिशा मे फलीभूत नही होता जिसे गलत कहा जाय" [क्रियेटिव इवोल्यूशन]।

अध्याय १२ पृष्ठ १०८ (१) बर्गसाँ (१८५९–१९४१)

पृष्ठ १११ (२) सभी कोटियाँ टूट जाती हैं [तू ले क्वाद्र शार्के]।

अध्याय १४ पृष्ठ ११३ (१) यहाँ हाकिंग के काल से अभिप्रेत है अर्थात् उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध।

अध्याय १५ पृष्ठ ११७ (१) अनुसवेदी शब्द 'सिम्पैथेटिक' के लिये प्रयुक्त हुआ है।

पृष्ठ ११८ (२) यहाँ नियम शब्द 'लॉ' का हिन्दी रूपान्तरण है 'रूल' का नहीं।

पृष्ठ १२२ (३) यहाँ प्रज्ञा शब्द 'विजडम' के लिये आया है।

अध्याय १६ पृष्ठ १२४ याग्न-यिन (११०वाँ परिच्छेद): चीनी विचार में दो परस्पर विरोधी सिद्धान्त जो सभी सत् पदार्थों में विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार याग्न पुरुषवाचक, प्रकाशयुक्त, शुष्क, विध्यात्मक, सूर्य एव निर्गामी है और यिन स्त्रीवाचक, कालिमायुक्त, गीला, निषेधपरक, चन्द्रमा एव अन्तर्गामी होता है। प्रकृति अथवा आत्म मे प्रत्येक मौलिक विरोध याग्न और यिन के रूप मे प्रकट होता है। याग्न और यिन अमूर्तिकरण के द्वारा ही अलग किये जा सकते हैं, वास्तव मे तो ये दोनों परस्पर साथ-साथ ही उपलब्ध होते हैं।

अध्याय १८ पृष्ठ १३८ (१) याग्न और यिन पर १६वें अध्याय मे टिप्पणी की जा चुकी है। ऊपर देखें।

(२) ल्यूसीफर[शुक्रग्रह] जब यह प्रभात मे उदित होता है, तो इसे भोर का तारा कहा जाता है शैतान को ल्यूसीफर इसलिए कहा गया है क्योंकि इसाया ने बेबीलोन के किसी सम्राट् के पतन की भविष्यवाणी शुक्रग्रह की स्थिति को देखकर कर दी थी। इसकी व्याख्या यह दी गई कि इसका संकेत स्वर्ग से च्युत मुख्य बागी देवदूत अर्थात् शैतान की ओर है

अध्याय १९ पृष्ठ १४२ (१) यह मुद्रण दोष है। यहाँ कोई टिप्पणी नही देनी है।

अध्याय २० पृष्ठ १४४ (१) चू ह्सी चीन में आरम्भिक दार्शनिकों ने नीतिशास्त्र के व्यावहारिक अध्ययन पर बल दिया। बौद्धों ने सत्ता-मीमांसा एवं ज्ञान-मीमासा से सम्बन्धित समस्याओं को उठाया। सुग दार्शनिकों ने प्राचीन नीतिशास्त्र अर्वाचीन बुद्धिवादी तत्त्व-मीमासा का सश्लेषण प्राप्त करने का प्रयास किया। इस प्रस्थान के विचारों को व्यवस्थित तथा निश्चित रूप देने का कार्य चू ह्सी (११३०–१२००) ने किया। व्यक्ति की उन्नति में ज्ञान को एक घटक मान कर और वस्तुनिष्ठ अध्ययन पर बल देकर उन्होंने वैज्ञानिक शोध का

मार्ग प्रशस्त किया ।

अध्याय २२ पृष्ठ १५६ (१) सिलेबल्स : पदांश, एक बार में उच्चरित शब्द का एक भाग ।

अध्याय २५ पृष्ठ १८१ (१) गाइस्ट : यह जर्मन शब्द है । इसका प्रयोग हेगेल के दर्शन में मनस्, बुद्धि एवं आत्म तीनों के लिये हुआ है ।

अध्याय २८ पृष्ठ १९९ शैफ्ट्सबरी का तीसरा अर्ल (१६७१–१७११) । उसने नैतिकी पर कैरक्ट्रिस्टिक्स ऑव मैन, मैनर्स, ओपिनियन्स, टाइम्स (१७११) नामक पुस्तक लिखी । इसका नाम एन्थोनी एशले कूपर था ।

पृष्ठ २०० फीड्रस : प्लेटो के रचना-कालक्रम में मध्यकालीन रचना । इसे कुछ विद्वानों द्वारा प्रदार्शनिक संवाद-ग्रन्थ माना गया है ।

पृष्ठ २०६ स्वर्ण नियम (गोल्डन रूल) : शायद यह बीच के स्वर्णिम-मार्ग को अपनाने की ओर संकेत है ।

अध्याय २९ पृष्ठ २१६ 'परम' . यहाँ 'एब्सोल्यूट' को संज्ञा के रूप में प्रयुक्त किया गया है ।

अध्याय ३० पृष्ठ २२८ टॉमस एक्वीनास : इतालवी स्कोलिस्टिक दार्शनिक । एल्बर्ट मैग्नस का शिष्य । अपने ग्रन्थ सम्मा थियोलॉजिका में उसने बुद्धि एवं धर्म में सामन्जस्य स्थापित किया, तथा शास्त्रीय अध्ययन एवं ईसाई ईश्वर-विज्ञान का समायोजन किया । उसके दर्शन को कैथोलिक ईश्वर-विज्ञान के अध्ययन, अध्यापन के लिये मूलभूत माना जाता है ।

अध्याय ३१ पृष्ठ २३४ (१) २३१में परिच्छेद का २रा पैरा . यहाँ प्रत्यक्ष शब्द 'परसेप्शन के लिये प्रयुक्त हुआ है ।

पृष्ठ २३६ (२) नियाग्रा [प्रपात] : इसके पूर्वी किनारे पर अमेरिका और पश्चिमी किनारे पर कनाडा है । इसका पानी ३६ मील लम्बी धारा में ३२६ फीट से गिरता है । कनाडा के 'हार्सशू' प्रपात की ऊँचाई १६० फीट है और अमरीका के प्रपात की १६७ फीट किन्तु कनाडा का प्रपात चौड़ा है ।

अध्याय ३२ पृष्ठ २५० (१) व्यंग्य : यह शब्द सुकरात की 'आयरनि' के लिये प्रयुक्त हुआ है ।

अध्याय ३३ पृष्ठ २६१ पाद टिप्पणी (१) यहाँ हाकिंग ने इसे डायसन की पुस्तक सिस्टम ऑव दें वेदान्त (पृष्ठ २६५–६६) से उद्धृत किया है । हमने इसे मूल छान्दोग्य उपनिषद् से उद्धृत किया है । न जाने क्यों उन्होंने ६/११, १२, १३ के स्थान पर ६/१२, १३, ११ के क्रम में उद्धृत किया है ।

अध्याय ३४ पृष्ठ २६८ (१) सिम्पोजियम : प्लेटो द्वारा रचित सवाद ग्रथ जिसमें प्रत्ययो के सिद्धान्त का पूर्वाभास उपलब्ध होता है। इस सिद्धान्त की रूपरेखा हमे इसमें मिल जाती है। इसमे मुख्यत प्रेम के सम्प्रत्यय पर चर्चा हुई है।

अध्याय ३५ पृष्ठ २७३ (१) फाउस्टी तत्त्व : ऐसा कहा जाता है कि १६वी शताब्दी में डॉ० फाउस्ट नाम का कोई व्यक्ति था जिसने ज्ञान-प्राप्ति के लिये कठोर प्रयास किया। किन्तु अन्तत उसने श्रान्त-क्लान्त होकर और उस दिशा मे कुछ न पाकर अपनी आत्मा को शैतान के हाथों सासारिक भोगो के बदले बेच दिया। इसी व्यक्ति के आधार पर अनेक कलात्मक एव साहित्यिक रचनाओ का सृजन हुआ। इनमे गेटे का 'फाउस्ट' प्रमुख है।

पृष्ठ २७५ (२) सिम्फनि · वाद्यवृन्द की कोई स्वर रचना।

पृष्ठ २७८ थसर्स ले जाने वाले : यूनानी गाथा मे मदिरा के देवता बैकस के तत्वावधान में होने वाले उत्सव मे भाग लेने वाले अर्थात् भोगी-जन।

अध्याय ३६ पृष्ठ (१) बैटरसी केन्द्रीय नगर, लन्दन, इगलैण्ड। टैम्स नदी के दक्षिणी किनारे पर बसा, चेरिंग क्रास से तीन मील दक्षिण-पश्चिम मे नदी के किनारे २०० एकड का मनोहारी उद्यान। पुराने जमाने में बैटरसी तामचीनी बनाने के लिये विख्यात था।

अध्याय ३८ पृष्ठ २६७ दांते का नरक दांते (१२६५–१३२१) इटली का महानतम् कवि हुआ है जिसने 'डिवाइन कॉमिडी' [दैवी प्रहसन] के नाम से विख्यात एव विशाल ईसाई गीत की रचना की है। इसके तीन खण्ड हैं : (१) इनफरनो (नरक) (२) परगेटोरियो (शुद्धिकरण) (३) पैराडिजो (स्वर्ग)। पहले का विषय भयानक एव विभत्स है किन्तु वह आगे दोनों मे आकर इच्छित एव सुखकर हो जाता है।

(२) आर्फ़ियस के मत को मानने वाले रहस्यवादी।

अध्याय ३३ पृष्ठ २६२ (३) ईसाइयों के धर्मग्रन्थ बाइबिल के न्यू टेस्टामेन्ट की चार पुस्तको में से अन्तिम पुस्तक।

पृष्ठ २६३ (४) सोसायटी ऑव फ्रेन्ड्स के सदस्य। मूल रूप से इस शब्द को उपहास के लिए प्रयुक्त किया जाता था। इनके सस्थापक का कहना था कि हमे ईश्वर के समक्ष भय से कॉपने की

आवश्यकता नही है।

(५) ऐसे लोग जिनकी ईश्वर के प्रति अपार श्रद्धा और आदर होता है और जो सहृदय, दयालु एव पवित्र होते हैं।

(६) एक ऐसा पथ जो स्विट्जरलैण्ड में १५२० के लगभग उठ खड़ा हुआ। इसके अनुयायियो का यह मत था कि बच्चो को बैपटाइज [बपतिस्मा] नहीं किया जाना चाहिए। ये लोग गिरजाघर की सदस्यता को वयस्को तक ही सीमित रखने के पक्ष मे थे और यह भी धर्म मे श्रद्धा की स्वीकृति के पश्चात्।

(७) १६वी और १७वी शताब्दी के प्रोटैस्टैण्ट लोग जिन्होंने धार्मिक सिद्धान्तो के सरलीकरण पर जोर दिया, किन्तु साथ ही इन्होंने नैतिक और धार्मिक जीवन को व्यतीत करने मे पूर्ण कट्टरता भी निभायी।

□□□

नामानुक्रमणिका

□□□

विषयानुक्रमणिका

नोट : यहाँ कुछ कोष्ठक पर्यायवाची (समानार्थक) शब्द [illegible] अथवा विज्ञान [illegible] नहीं करते अपितु सजातीय [illegible] सामान्य रूप से, अन्य [illegible] को देखा जा सकता है।